हिन्दू विश्वविद्यालय की पीएच० डी० उपाधि के लिए स्वीकृत

हिन्दी आलोचना का इतिहास

डा० रामदरश मिश्र, एम० ए०, पीएच० डी०

अध्यक्ष-हिन्दी विभाग,

सेंट जेवियर्स कालेज, अहमदाबाद

तथा

हिन्दी एम० ए० केन्द्र

गुजरात विश्वविद्यालय

श्रद्धेय डा० जगन्नाथ प्रसाद जी शर्मा को
प्रणति-पूर्वक

प्रस्तुत प्रकाशन-योजना

बहुत दिनों से सभी विश्वविद्यालयों में इस प्रकार का अनुभव हो रहा था कि शोध और अनुशीलन परक जितने प्रबन्ध उपाधि-प्रदान के लिए प्रत्येक वर्ष स्वीकृत हो जाते है उनके प्रकाशन की भी समुचित व्यवस्था की जाय। इस व्यवस्था का उत्तम रूप तो यही हो सकता है कि विभिन्न विश्वविद्यालय स्वयं ऐसी उपादेय और विमर्शपूर्ण रचनाओं को प्रकाशित और प्रसारित करे। इस दिशा में कुछ संतोष होता है यह देखकर कि इधर कई विश्वविद्यालयों में अपने शोध प्रबन्धों के प्रकाशन की यथासाध्य व्यवस्था होने लगी है। इसी कार्य के लिये काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की प्रकाशक समिति ने भी गत वर्ष पन्द्रह हजार रुपयों की स्वीकृति दी है। कुछ वर्षों पूर्व इसी प्रकार के उद्देश्यों की सिद्धि के लिए श्रीमती बिरो देवी ने इसी मूल्य की निधि विश्व-विद्यालय को प्रदानित की थी। गत वर्ष प्रशासक समिति ने चार व्यक्तियों का एक परामर्श-मण्डल स्थापित किया—इस अभिप्राय से कि वह कुछ स्वीकृत प्रबन्धों को छापने का प्रबन्ध करे। उस मण्डल की स्वीकृति के अनुसार और उक्त योजना के अन्तर्गत प्रस्तुत ग्रंथ को प्रकाशित किया जा रहा है।

हिन्दी विभाग
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
बसंत पंचमी, वि० सं० १२१७

जगन्नाथप्रसाद शर्मा
अध्यक्ष, हिन्दी विभाग,
(संयोजक)

आमुख

हिन्दी समीक्षा की प्रवृत्तियों के विश्लेषण का प्रयत्न तो यदाकदा स्वतंत्र निबन्धों द्वारा होता रहता है किन्तु विविध प्रवृत्तियों और उनके प्रमुख व्यक्तित्व्यों के सांगोपांग विस्तृत अध्ययन की आवश्यकता बनी हुई थी। इस प्रबन्ध में इसका प्रयास किया गया है। इस बीच डा० भगवत्स्वरूप की इस ढंग की एक पुस्तक 'हिन्दी आलोचना का उद्भव और विकास' प्रकाशित हुई जो निश्चय ही इस अभाव की पूर्ति करती है। किन्तु वह पुस्तक इस विषय पर पर्याप्त है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। अभी इस दिशा में अन्य प्रयत्नों की सार्थकता बनी हुई थी (और मेरे इस प्रयत्न के बाद भी इस क्षेत्र में अन्य प्रयत्नों की सार्थकता नहीं बनी रहेगी, कैसे कहा जा सकता है ?)। मैंने अपने अध्ययन, दृष्टि और आलोचनात्मक प्रतिभा के अनुसार इस दिशा में कार्य किया है अतएव पहले प्रयत्न मे अनेक भिन्नताएँ इसमें दीखेंगी, ऐसा मेरा विश्वास है। सबसे नया कार्य इस क्षेत्र में जो मैंने किया है, वह है प्रवृत्तियों की भूमिकाओं का विश्लेषण। किन कारणो से आलोचना की प्रवृत्ति विशेष फूटी, इसकी वस्तुवादी व्याख्या करने की चेष्टा की गई है।

हिन्दी आलोचना के विकास की कई स्पष्ट मंजिलें हैं, अर्थात् एक प्रवृत्ति के कुछ दूर तक चलने के उपरान्त दूसरी प्रवृत्ति फूटी है, दूसरी के बाद तीसरी, तीसरी के बाद चौथी······। इस तरह क्रम चलता रहा है। होता तो ऐसा है कि नई प्रवृत्ति के फूटने पर भी पुरानी प्रवृत्ति समाप्त नही हो जाती, वह भी चला करती है और कुछ दूर तक जाती है। किंतु मेरा मुख्य प्रयोजन विविध भूमिकाओं के साथ विविध प्रवृत्तियों के भेदकता-विधायक तत्त्वों के निरूपण का रहा है और इस प्रकार मैंने प्रवृत्तियों का क्रमिक इतिहास भी देना चाहा है। यदि किसी नवीन प्रवृत्ति के काल में पुरानी प्रवृत्ति का समर्थ लेखक समीक्षा की श्रीवृद्धि करता रहा है तो अवश्य ही उसके प्रयत्नों का आकलन किया गया है, किंतु विशेषतः कोशिश यही की गयी है कि यदि अधिक कालान्तर नहीं है तो उसे पुरानी प्रवृत्ति के व्यक्तित्वों के साथ ही रखकर उसका परीक्षण किया जाय—जैसे स्वच्छंदतावादी और प्रगतिवादी समीक्षा के

अभ्युदय और विकास काल में भी आचार्य शुक्ल की मान्यताओं को लेकर आलोचना लिखने वाले लेखकों का अभाव नही है। ऐसे लेखकों को—कुछ अधिक नये लेखकों जैसे डा० केसरीनारायण शुक्ल, पं० कृष्ण-शंकर शुक्ल और डा० सत्येंद्र को छोड़कर—आचार्य शुक्ल के साथ ही रखा गया है। लेकिन नवीन प्रवृत्ति काल में पुरानी प्रवृत्ति के व्यर्थ के प्रयासों को गिनाने की प्रवृत्ति मेरी नही है। हाँ, उस काल में दिखाई पड़ने वाले साहित्यिक दृष्टि से सामान्य किंतु ऐतिहासिक दृष्टि से महत्व-पूर्ण कृतियों को निश्चय ही ग्रहण किया गया है और ऐसा करने का मेरा ध्येय रहा है ऐतिहासिक विकास दिखाना। द्विवेदी जी के समय में दिखाई पड़ने वाली सामान्य कृतियों का महत्व है किंतु आचार्य शुक्ल की प्रौढ़ आलोचनाओं के पश्चात् दिखाई पड़ने वाली अतिसामान्य कृतियों की क्या देन कही जा सकती है ?

इन विविध प्रवृत्तियों के कालों के नामकरण की भी समस्या जटिल रही है। विविध प्रवृत्तियों की मंजिलें ये हैं—भारतेंदु के समय में दिखाई पड़ने वाली प्रवृत्ति, द्विवेदी जी के समय में दिखाई पड़ने वाली प्रवृत्ति, आचार्य शुक्ल की आलोचना पद्धति और उसकी परंपरा, स्वच्छंदतावादी आलोचना, प्रगतिवादी आलोचना, मनोविश्लेषण-प्रभावित आलोचना, स्वच्छंद आलोचना, नवीनतम विकास। कालों के नामकरण में एकरूपता का ध्यान रखना आवश्यक होता है। व्यक्तियों के नाम पर काल का नाम-करण करना बहुत वैज्ञानिक नही है फिर भी भारतेंदु काल और द्विवेदी काल नाम चल पड़े हैं और मान्य हो गए है। ये नाम बहुत कुछ अपने युग की विशेषताओं को अपने में समेट लेने में समर्थ हैं फिर भी इससे दो कठिनाइयाँ सामने आती हैं। एक तो यह कि द्विवेदी काल के पश्चात् किन व्यक्तियों के नाम पर काल का नामकरण किया जाय ? स्पष्ट है कि ऐसा कोई व्यक्ति आगे नहीं दीखता। दूसरे स्वयं द्विवेदी जी के समय में द्विवेदी जी प्रभृति नये ढंग के आलोचक एक ओर थे और लाला भगवानदीन, पद्मसिंह शर्मा, कृष्ण.बहारी मिश्र आदि रीतिवादी समीक्षक दूसरी ओर। इस प्रकार 'द्विवेदी युग' नाम भी आलोचना के क्षेत्र में बहुत उपयुक्त नहीं प्रतीत होता। आलोचना की शैलियों या प्रवृत्तियों के आधार पर नामकरण हो सकता है। प्रवृत्तियों की दृष्टि से भारतेंदु के समय में लक्षित आलोचना को कोई स्पष्ट नाम देना संभव

नहीं प्रतीत होता क्योंकि उस समय आलोचना का सूत्रपात हो रहा था। द्विवेदी जी के काल की समीक्षा को निर्णयात्मक समीक्षा नाम तो दिया जा सकता है और शुक्ल जी से प्रारंभ होने वाली समीक्षा को व्याख्यात्मक। किंतु व्याख्यात्मक के भीतर शुक्ल स्कूल, प्रगतिवादी और मनोविश्लेषण प्रभावित तथा स्वच्छंद सभी प्रकार की समीक्षाएँ आ सकती हैं। इन सबका वर्गीकरण किन आधारों पर होगा? यदि इनका वर्गीकरण स्वच्छंदतावादी, प्रगतिवादी, मनोविश्लेषणवादी आदि प्रवृत्तियों के आधार पर किया जाय तो ये तो व्याख्यात्मक समीक्षा के अतर्गत आने वाले विभिन्न दृष्टिकोण हैं फिर भारतेंदु काल और द्विवेदी काल की निर्णयात्मक समीक्षा तथा शुक्ल जी की व्याख्यात्मक समीक्षा में कौन से दृष्टिकोण काम कर रहे हैं और यदि कोई दृष्टिकोण है तो उन्हीं के आधारों पर इनका भी नामकरण क्यों न हो? स्पष्ट है कि इन युगों में एक नैतिकतावादी दृष्टिकोण था किंतु उनमें आपस में अन्तर भी है। उन अन्तरों को किन दृष्टिकोणों के आधार पर स्पष्ट किया जाय। द्विवेदी काल में रीतिवादी दृष्टिकोण भी काम कर रहा था, अतः कोई एक दृष्टिकोणमूलक नाम इसके लिये उपयुक्त नहीं हो सकता।

द्विवेदी काल की आलोचना का नाम तुलनात्मक समीक्षा भी रक्खा जाता है किन्तु यह तो आलोचना की एक शैली है और इस शैली में निर्णयात्मक, व्याख्यात्मक और अनेक दृष्टिकोण सम्पन्न समीक्षाओं का समावेश हो सकता है फिर इसका भेदकता-विधायक गुण कहाँ रहा? इसलिए मैंने हिन्दी आलोचना के विकास-क्रम को ध्यान में रख कर नामकरण किया है अर्थात् कालों का विभाजन आलोचना के आरंभ, विकास और उत्कर्ष को आधार बना कर किया है। इस प्रकार विभिन्न अध्यायों के नाम हुए—आरंभ युग, विकास युग, उत्कर्ष युग—प्रथम उत्थान, द्वितीय उत्थान, तृतीय उत्थान, चतुर्थ उत्थान, पंचम उत्थान और विविध। इन नामों के भीतर विभिन्न कालों की सारी विशेषताएँ आ जाती हैं जब कि किसी अन्य एक नाम के भीतर विभिन्न युगों की एकाधिक विशेषताओं को समेट लेने की क्षमता नहीं दिखाई पड़ती। इस नामकरण से विभाजन की एकरूपता भी बनी रहती है। इन प्रधान शीर्षकों के साथ-साथ युग की प्रमुख विशेषताओं को भी उपशीर्षकों के रूप में कोष्ठ में रख दिया गया है और जहाँ तक हो सका है युगों

होता है । समीक्षा भी साहित्यिक कृति है, उसमें समीक्षक की अपनी भावुकता, दृष्टि, प्रत्यक्ष या सांकेतिक निर्णय तरंगित हो ही जाते हैं । मौलिकता भी इन्ही स्थलों पर दीख पड़ती है ।

मैंने इस प्रबंध में विभिन्न प्रवृत्तियों और उनके व्यक्तित्वों की परीक्षा करते समय उनके मूल तत्त्वों और विशेपताओं के उद्घाटन के साथ-साथ उनकी उपलब्धियों और सीमाओं के संबंध में अपना मत देने का भी दुस्साहस किया है । मेरी अपनी सूझ-बूझ, अध्ययन और ग्रहण शक्ति की सीमाएँ हैं, इसलिए निर्णय देना दुस्साहस ही है । किन्तु इसे मैं साहित्यिक समीक्षा के लिए एक अनिवार्य वस्तु मानता हूँ ।

प्रस्तुत प्रबंध रचना में जिन-जिन विद्वानों के प्रत्यक्ष सुझावों और पुस्तको से अमूल्य सहायता मिली है उन सबके प्रति मैं आभार प्रकट करता हूँ । श्रद्धेय डा० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा तो मेरे प्रबंध निर्देशक ही रहे हैं, उनके दिशानिर्देशों एवं अनेक गंभीर वैचारिक सुझावों की गणना भी कैसे हो सकती है ? डा० साहब ने अत्यन्त स्नेह के साथ मेरे लिए अनेक पुस्तकों की व्यवस्था भी की है । पूज्य पं० हजारी प्रसाद द्विवेदी के मूल्यवान परामर्श तो मेरी कृति की विचार-समृद्धि में योग देते ही रहे हैं साथ ही साथ उनकी पुस्तकों ने सतत मेरा पथ आलोकित किया है । इन दोनों विद्वानों को धन्यवाद देने से आत्मीयता दुखेगी । वे दोनों मेरे गुरुजन हैं और मुझे उनका अन्तेवासी होने का गर्व है ।

अहमदाबाद
२९–८–६०

विषय-क्रम

पृष्ठ

आठवाँ अध्याय

नवाँ अध्याय

विषय प्रवेश

हिन्दी आलोचना का जन्म भारतेन्दु काल में हुआ यह बात सुनने में कुछ विचित्र सी लगती है किन्तु यह सत्य है। हिन्दी साहित्य में आलोचना के पूर्व रूप में कोई चीज न रही हो ऐसी बात नही, किन्तु अपने वास्तविक अर्थ में आलोचना आधुनिक युग की उपज है, यह निर्विवाद सत्य है।

संस्कृत साहित्य में आलोचना के सिद्धान्त-निरूपणवाले पक्ष को लेकर प्रभूत सामग्री रची गई। सिद्धान्तग्रंथों को आधार मान कर विविध सम्प्रदायों ने काव्यात्मा के सम्बन्ध में विवध आधारिक विचार व्यक्त किए हैं। इस प्रकार की आलोचना को डा० भगीरथ मिश्र ने सूत्रमयी सैद्धान्तिक आलोचना कहा है[1]। सूत्रमयी सैद्धान्तिक आलोचना की पद्धति से काव्यात्मा की खोज करनेवाले मुख्यतया पाँच संप्रदाय है—

(१) **अलंकार संप्रदाय**—इसके आचार्य दण्डी, भामह और उद्भट आदि विद्वान हुए। दण्डी ने काव्य में अलंकारों को ही शोभा का कारण बताया—

'काव्यशोभाकरान्धर्मानलंकारान् प्रचक्षते[2]।

(२) **वक्रोक्तिसंप्रदाय**—इसके आचार्य कुन्तक हैं। कुन्तक ने वैदग्धभंगी भणिति को वक्रोक्ति कहा—

'वक्रोक्तिरेव वैदग्ध भंगी भणितिरुच्यते[3]।'

(३) **रीति संप्रदाय**—इसके आचार्य वामन है, वामन ने रीति को काव्य की आत्मा माना—

'रीतिरात्मा काव्यस्य', 'विशिष्टपदरचना रीतिः[4]।'

---

[1] आलोचना।

[2] काव्यादर्श (२।१) (बाबू गुलाबराय द्वारा लिखित 'सिद्धान्त और अध्ययन' से उद्धृत)

[3] वक्रोक्तिजीवित (१)।

[4] काव्यालंकारसूत्र, १।२।

(४) **ध्वनि संप्रदाय**—ध्वनिकार तथा आनन्दवर्धन इसके आचार्य हैं। इन्होंने ध्वनि को काव्य की आत्मा माना—

'काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति[१]।'

(५) **रस संप्रदाय**—इस संप्रदाय के आचार्य भरत मुनि और आचार्य विश्वनाथ है। यह संप्रदाय सबसे अधिक व्यापक प्रभाववाला रहा। भट्ट-लोल्लट, शंकुक और अभिनवगुप्त पादाचार्य ने इसकी विस्तृत व्याख्याएँ प्रस्तुत की हैं। इस संप्रदाय ने रस को ही काव्य की आत्मा माना—

'वाक्यं रसात्मकं काव्यं[२]।'

यद्यपि इन विभिन्न संप्रदायों के आचार्यों ने किसी विशेष पक्ष पर ही ज़ोर दिया किन्तु उन लोगों ने अन्य पक्षों को भी समझा था और बड़ी बारीकी और पांडित्य के साथ उनका खण्डन और अपने मतों की स्थापनाएँ की हैं।

सिद्धान्त-निरूपण का एक और स्वरूप दिखाई पड़ता है। रचनात्मक साहित्य के आधार पर काव्य के भेदोपभेद किए गए हैं। उनकी शैली के नियम बनाए गए हैं। वर्ण्य विषयों के मान निर्धारित कर उनके ग्रहण और त्याग के विधान बनाए गए हैं गुण और दोषों के स्वरूप निर्धारित किए गए हैं।

यह सैद्धान्तिक आलोचना थोड़े-थोड़े अन्तरों के कारण सूत्र, कारिका, फक्किका, वृत्ति, टिप्पणी, भाष्य, वार्तिक, समीक्षा, वचनिका, टीका, व्याख्यान आदि अनेक नाम धारण करती है[3]।

संस्कृत साहित्य में व्यावहारिक आलोचना कई रूपों में दिखाई पड़ती हैं—

(१) किसी कवि की कविता पढ़ कर उसके किसी विशेष समुन्नत पक्ष को प्रशंसात्मक ढंग से सूत्ररूप में कहना—इस प्रकार की प्रशंसाएँ प्रायः तुलनात्मक हुआ करती थीं, अर्थात् एक ही साथ कई कवियों की भिन्न-भिन्न विशेषताएं सूत्ररूप में कह दी जाती थी। किसी विशेष कवि के सम्बन्ध में—

'ध्वनिताऽति गभीरेण काव्य तत्व निषेविना।
आनन्द वर्धनः करय नासीदानन्दवर्धनः॥'

---

[१] ध्वन्यालोक (१।१)

[२] विश्वनाथ कृत (साहित्य दर्पण)।

[3] राजशेखर-काव्यमीमांसा।

तुलनात्मक ढंग से कई कवियों के सम्बन्ध में—

'उपमा कालिदासस्य, भारवेरर्थ गौरवम् ।
दण्डिनः पदलालित्यं माघे सन्तित्रयो गुणाः ।।'

(२) गुणदोष-विवेचन के रूप में—

'जब कोई आचार्य या साहित्य-मीमांसक कोई नया लक्षण ग्रंथ लिखता था तब जिन काव्य-रचनाओं को वह उत्कृष्ट समझता था उन्हें रस, अलंकार आदि के उदाहरणों के रूप में उद्धृत करता था और जिन्हें दुष्ट समझता था उन्हें दोषों के उदाहरणों में देता था। फिर जिसे उसकी राय नापसन्द होती थी वह इन्ही उदाहरणों में से अच्छे ठहराए हुए पद्यों में दोष दिखाता था और बुरे ठहराए हुए पद्यों के दोष का परिहार करता था[१] ।'

(३) टीकाओं के रूप में—

जो टीकाएँ सिद्धान्तसूत्रों की होती थीं वे सिद्धान्त-निरूपण के क्षेत्र में परिगणित होंगी किन्तु काव्य ग्रंथों की काव्यात्मक आलोचना करनेवाली टीकाएँ व्यावहारिक आलोचना के ही क्षेत्र में रखी जायँगी। ये टीकाएँ काव्य ग्रंथों का अर्थ करते-करते बीच-बीच में उनके काव्य-सौष्ठव का भी प्रदर्शन कर दिया करती थीं।

(४) लिखित आलोचना के अतिरिक्त मौखिक आलोचना के भी दो रूप देखने में आते थे—(१) रंगशालाओं में अभिनय की सफलता और असफलता पर हर्ष और विषाद सूचक ध्वनियाँ। (२) कथावाचकों द्वारा एक कविता की व्याख्या के समय नाना प्रसंगों को लाकर किसी ंक्ति की उत्कृष्टता दिखाना।

हिन्दी साहित्य का रीतिकाल

हिन्दी साहित्य में साहित्य-शास्त्र की चर्चा कृपाराम (१५९८ सं०) से आरंभ होती है किन्तु काव्य के सभी अंगों का सम्यक् रूप से शास्त्रीय निरूपण आचार्य केशव ने किया। आचार्य केशव के पश्चात् पचास वर्षों तक शास्त्रीय निरूपण की पद्धति शुष्क रही और फिर वह चिन्तामणि से धारा के रूप में बह चली तथा पूरे रीतिकाल तक चलती रही।

---

[१] हिन्दी साहित्य का इतिहास, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ० ५८१ ।

संस्कृत साहित्य से हिन्दी साहित्य का संपृक्त सम्बन्ध है। हिंदी, संस्कृत साहित्य की विकसित परंपरा का ही रूप है। अतएव जब हिन्दी में साहित्य-शास्त्र की चर्चा आरंभ हुई तो उसका आधार संस्कृत साहित्य-शास्त्र ही रहा। यहाँ तक कि हिन्दी के इन नए आचार्यो ने कोई मौलिक उद्भावना नहीं उपस्थित की। संस्कृत साहित्य में सुविचारित प्रौढ़ साहित्य-सिद्धान्तों को इन लोगों ने हिन्दी में छन्दबद्ध कर दिया। यह बात अवश्य रही कि जिस प्रकार संस्कृत साहित्य में काव्य के विभिन्न अंगों को लेकर विभिन्न मत थे उसी प्रकार उन्हीं में से भिन्न-भिन्न आचार्यों के सिद्धान्तों पर आधारित होने के कारण हिन्दी के आचार्यों में आपस में कुछ न कुछ अन्तर रहा।

साहित्य-शास्त्र की संस्कृत में इतनी प्रौढ़ विकसित पृष्ठभूमि पाकर भी हिन्दी में साहित्य-शास्त्र की चर्चा उन्नत क्यों नहीं हो सकी सके कई कारण हैं। पहली बात तो यह कि संस्कृत साहित्य के पास विकसित गद्य था हिन्दी के पास कोई भी परिष्कृत प्रौढ़गद्य का रूप न था। अतएव छन्दों में ही सारी बातें कही जाती थीं। शास्त्र चर्चा के लिए छन्दों की भाषा अनुपयुक्त सिद्ध होती है। एक तो शास्त्रीय बातें यों ही जटिल और बुद्धिग्राह्य होती हैं दूसरे यदि उन्हें सूत्ररूप में कह दिया जाय तो उनकी जटिलता और बढ़ जाती है। तीसरे यदि छन्दों के आग्रह से इस प्रकार अंग-भंग करके उन्हें कठघरे में बैठा दिया जाय कि वाच्यार्थ भी साफ न हो तो फिर शास्त्रीय चर्चा हो चुकी। हिन्दी साहित्य शास्त्र के अविकसित रहने का दूसरा कारण यह है कि रीति काल के सभी आचार्य पहले कवि थे फिर आचार्य। उनका ध्येय दोहों-सोरठों में काव्यांगों का लक्षण देकर उदाहरण स्वरूप अपनी कविताएं प्रस्तुत करना था। अतएव वे साहित्य के विभिन्न पक्षों पर चिन्तन कर नए-नए सिद्धान्तों की उद्भावना में रस नहीं ले पाते थे बल्कि संस्कृत साहित्य के आचार्यो द्वारा कथित सिद्धान्तों को अपने छन्दों में बांध कर अपनी कविता पेश करने के लिए लपक पड़ते थे। कभी-कभी तो संस्कृत साहित्य के सिद्धान्तों को ठीक से न समझ सकने के कारण उनका गलत स्वरूप प्रस्तुत कर दिया करते थे। संस्कृत साहित्य के आचार्य सिद्धान्त-निरूपण पर सिर खपाते थे, उसमें नई-नई सूक्ष्मता, नई-नई सूझ उत्पन्न करने में रत रहते थे और उदाहरणों के लिए अपने पूर्ववर्ती या समसामयिक कवियों की कविताओं को लिया करते थे किन्तु हिन्दी के आचार्य दूसरों की कविताओं को उदाहरण के लिए नहीं प्रस्तुत करते थे। तीसरी बात यह है कि संस्कृत आचार्यों ने अपने सिद्धान्त-निरूपण

का आधार अपने पूर्ववर्ती या समसामयिक काव्यग्रंथों को रखा अतएव उनके सिद्धान्तों में वैज्ञानिकता तथा ताजगी थी। हिन्दी आचार्यों ने अपने पूर्ववर्ती और समसामयिक ग्रंथों को लक्ष्य न मानकर संस्कृत साहित्य के सिद्धान्तों का अनुकरण किया अतः उनके साहित्यशास्त्र में वैज्ञानिकता और ताजगी दोनों का अभाव रहा।

रीति काल में सैद्धांतिक आलोचना के रूप में अलंकारों, शब्दशक्तियों, नायक-नायिका भेदों और रसों का छन्द-बद्ध शैली में निरूपण हुआ। नायक-नायिका-भेदों की विस्तार से चर्चा रीतिकाल की अपनी वस्तु रही। संस्कृत परंपरा के अनुकूल वर्ण्य विषयों का निर्धारण और कवि-शिक्षा की अनेक बातें रूढ़ ढंग से कही गईं। यही रूढ़िबद्धता तत्कालीन रचनात्मक और आलोचनात्मक साहित्य में सर्वत्र लक्षित होती है।

व्यावहारिक आलोचना का रूप रीतिकाल में कुछ उसी प्रकार का रहा जिस प्रकार का संस्कृत साहित्य में। इस काल में भी कवियों की विशेषताओं को प्रायः दोहों में सूत्ररूप में व्यक्त कर देते थे। जैसे—

'सतसइया के दोहरे ज्यों नाविक के तीर।
देखन को छोटे लगें घाव करें गम्भीर।।'

कई कवियों की विशेषताओं को ध्यान में रखकर तुलनात्मक ढंग से उनका स्थान निर्धारित कर देते थे—

'सूर सूर तुलसी ससी उडगन केशव दास।
अब के कवि खद्योत सम जहँ तहँ करत प्रकाश।।'

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि रीतिकाल तक भारतीय आलोचना का रूप अधिकतर सैद्धांतिक रहा। सिद्धांत-निरूपण में भी युग और समाज के बदलते हुए रूपों तथा भावों के साथ-साथ बदली हुई साहित्यिक विषय-वस्तुओं और शैलियों को आधार मानकर चलने की प्रवृत्ति न थी; बल्कि पहले के ग्रंथों को आधार मानकर निरूपित साहित्यशास्त्रीय सिद्धांतों का ही खंडन और मंडन चलता आ रहा था। इन सिद्धांतों में गतिशीलता नही, स्थिरता और रूढ़िबद्धता थी। व्यावहारिक आलोचना का मार्ग भी प्रशस्त नहीं था। यह देखा ही जा चुका है कि गुणदोष-विवेचन के ही रूप में व्यावहारिक आलोचना अधिक दिखाई पड़ती थी। इस सीमित क्षेत्र के भीतर भी सीमाएँ

थीं, अर्थात् ये गुण और दोष शास्त्रीय रूढ़ सिद्धांतों के अनुगमन और अनानुगमन से संभूत थे। कवि शास्त्रीय मार्ग से कहीं भी विचलित हुआ कि दोष का भागी हो जाता था। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि इस प्रकार की बँधी-बँधाई आलोचना में किसी कवि की अन्तर्वृत्तियों की छानबीन, उसकी कविता में सामाजिक विकास के कारण आए हुए नए युग-सत्यों, नई समस्याओं, नई आकांक्षाओं, उसकी मानसिक बनावट तथा उस पर वस्तु जगत की प्रतिक्रियाओं की परीक्षा और इस परीक्षा के उपरांत नई कसौटी पर उसकी कृतियों का मूल्यांकन असंभव था। किसी एक कवि के एक ग्रंथ या कई ग्रंथों को लेकर स्वतंत्र रूप से पुस्तक रूप में विवेचन प्रस्तुत करने की चाल अपने यहाँ नहीं थी।

हिन्दी-आलोचना का आरंभ

(सन् १८६७-१९००)

खड़ीबोली-गद्य के आविर्भाव से हिंदी साहित्य को एक बहुत बड़ी शक्ति प्राप्त हुई। तर्क, खंडन-मंडन और शास्त्रीय चिंतन के लिए पद्य उपयुक्त नही होता। गद्य में छंदों, तुको आदि की सीमा न होने के कारण विस्तार होता है। उसमें अपने विचारों को जिस रूप में चाहें, सरलता से व्यक्त किया जा सकता है। गद्य के आविर्भाव से अनेक पत्र-पत्रिकाएं निकलने लगी। इन पत्र-पत्रिकाओं में कविता और नाटक के अतिरिक्त सामयिक राजनीति, समाज, धर्म आदि पर खुल कर विचार करने की प्रवृत्ति के दर्शन हुए। धर्म, राजनीति और दर्शन पर गद्य में विवेचनात्मक पुस्तकें निकलने लगी। स प्रकार भारतेंदु-काल में कविता के लिए व्रजभाषा और गद्य (विचारात्मक और कथात्मक साहित्य) के लिए खड़ीबोली गृहीत हुई। तात्पर्य यह है कि आलोचना के लिए उचित शैली का मार्ग खुला, जिस पर वह अपने रूढ़ पद्य रूपों की घुटन से कुछ निकल कर मनोवाछित रूप में अंग-संचालन कर सकती थी।

आरंभ काल में आलोचना के वाह्य अग ही मुक्त नहीं हुए, उसकी आत्मा में उभार और विस्तार आया। बल्कि हम कह सकते है कि आलोचना को आत्मा मिली। आलोचना में कवि विशेष की कृतियों की जिस प्रकार की मार्मिक परीक्षा अपेक्षित होती है, जिस प्रकार उस पर समाज, युग और कवि की मानसिक अवस्था के प्रभावों का आकलन आवश्यक होता है, जिस प्रकार नए-नए मानदण्डों के निर्धारण की जरूरत होती है, उसका सूत्रपात हुआ। अतएव सच्चे अर्थ में आलोचना का आरम्भ भारतेंदु-काल से ही मानना चाहिए।

आरंभ काल में आलोचना का दर्शन तत्कालीन पत्र-पत्रिकाओं की संपादकीय टिप्पणियों, प्राप्ति-स्वीकारों और कहीं-कही संपादक के नाम पत्रों के रूप में हुआ। इस काल में भी कोई स्वतंत्र पुस्तक नही लिखी गई, किंतु पत्र-पत्रिकाओं की ये आलोचनाएँ उसी विकास-दिशा की ओर अग्रसर दिखाई पड़ती

हैं। इन आलोचनाओं के स्वरूप को समझने के लिए हमें उनकी पृष्ठभूमि को समझ लेना आवश्यक है।

भारत में अंग्रेजों के आने के कारण अंग्रेजी सभ्यता, संस्कृति और साहित्य से हमारा परिचय हुआ। अंग्रेजी सभ्यता मुख्यतया भौतिकवादी है। भौतिकवादी मनुष्य के जागतिक जीवन पर जोर देते हैं। वे यथार्थ के समर्थक होते हैं। जागतिक यथार्थ यह है कि जगत् का निरंतर विकास होता है। विकास के साथ हमारी धार्मिक, राजनीतिक और सामाजिक मान्यताओं में अंतर आया करता है। अतएव सामाजिक मान्यताओं को कसने की हमारी कसौटियां भी बदला करती हैं। भौतिकवादी त्याग, तपस्या, अहिंसा, प्रकृति-प्रेम, वचनवद्धता का वह अर्थ नहीं लेते जो अध्यात्मवादी लिया करते हैं। वे त्याग और तपस्या परलोक के लिए और व्यक्तिगत रूप से नहीं करते। वे सामाजिक रूप से अपने देश के लिए सब कुछ निछावर कर सकते हैं। प्रकृति-प्रेम और अहिंसा का पालन कर भूखों मरना पसंद नहीं करते, जीविका के लिए सतत प्रकृति से संघर्ष करते हैं, जीवों को मारते भी हैं, वचनवद्ध होकर किसी व्यक्ति की रक्षा के लिए विपत्ति नहीं ले सकते, किसी को जबान देकर अपना सामाजिक जीवन व्यर्थ में नष्ट नहीं कर सकते, बल्कि भौतिक उत्थान के लिए कूटनीति और बौद्धिक चालों का व्यवहार करते हैं।

ऐसे अंग्रेज अपनी सभ्यता और संस्कृति लेकर जब भारत में आये तो अध्यात्मवादी भारत की संस्कृति से उनका पाला पड़ा। अध्यात्मवाद भौतिक सत्यों को मिथ्या और आध्यात्मिक सत्य को सत्य मानता है। आध्यात्मिक सत्य, ब्रह्म, आत्मा में कभी कोई विकार नहीं उत्पन्न होता, वह शाश्वत, निर्विकार है। अतएव अध्यात्मवादियों का आदर्श, जीवनोद्देश्य, आचरण सब पारमार्थिक होते हैं। आत्मा की अमरता और वसुधैव कुटुम्बकम् के सिद्धांत को मान कर वे अहिंसा का आचरण करते हैं, प्रकृति को ब्रह्म की अभिव्यक्ति मानकर उससे प्रेम करते हैं और अपने दिए हुए वचनों पर मर मिटते हैं। तात्पर्य यह कि उनमें एक सबल रूढ़िप्रियता होती है, निरंतर विकास के साथ कदम मिलाकर चलने का उत्साह उनमें नहीं होता। अतएव यह स्वाभाविक था कि इन दो प्रकार की संस्कृतियों के संघर्ष में कुछ लोग अपनी पवित्र संस्कृति को अपवित्रता के खतरे में पड़ते पाकर दूसरी संस्कृति से दूर भागते, उसकी भर्त्सना करते। अपनी संस्कृति की रक्षा के लिए कठोर सिद्धांत बनाते।

कुछ लोग धीरे-धीरे दूसरी आगन्तुक संस्कृति से प्रभावित हो उसकी नई चकाचौंध से आश्चर्य-चकित हो जाते, बच्चों की तरह विह्वल हो उठते और उसे एक नया वरदान समझने लगते। ऐसी स्थिति में एक तीसरा जागरूक वर्ग भी हो सकता था जो अपनी प्राचीन संस्कृति की पुष्ट पृष्ठ-भूमि पर खड़ा होकर इस नए प्रकाश को सुलझा कर अपने अनुकूल बनाने का उद्योग करता। दृष्टिहीन और आधारहीन होकर नई संस्कृति के प्रवाह में बह जाना अत्यंत निर्जीवता का लक्षण है, उससे अपनत्व का बोध ही नहीं होता-ऐसा समझता।

भारतेंदु-कालीन समाज को देखने पर ये तीनों प्रकार की प्रवृत्तियां लक्षित होती हैं, जीवन में भी और साहित्य में भी। पुरातन में आस्था रखने वाले अंग्रेजी सभ्यता को अपवित्र समझ कर घृणा करते थे। वे अपने रूढ़ धर्म को परिसीमित दुर्ग में बन्द कर युग और अन्य देशों के धर्मों के प्रवाह से अछूता रखना चाहते थे। इसी बात को ध्यान में रखकर वे लोगों को विलायत-गमन से भी रोकते थे। सामुद्रिक यात्राएँ मनुष्य को धर्मच्युत करती हैं—ऐसा प्रतिपादन करते थे।

दूसरा दल वह था जो अंग्रेजी सभ्यता की चकाचौंध में आत्मविस्मृत हो गया था। अंग्रेजी सभ्यता के मौलिक तत्त्वों को समझे बिना ये लोग उसकी ऊपरी तड़क-भड़क, आचार-व्यवहार और खान-पान को अपनाने लगे थे। मदिरा-पान में प्रवृत्त हुए थे। अंग्रेजी नर-नारियों को मुक्तरूप से घूमते-घामते, खाते-पीते और आपस में मिलते देख इन लोगों ने भी पड़ोसियों की स्त्रियों से परिचय प्राप्त करना चाहा, मुक्त विहार की कामना की। इस प्रकार धर्म और नीति का विरोध होने लगा। ये लोग अपने प्राचीन ग्रंथों, रीति-रिवाजों और सभ्यता को निकम्मी कह कर नई सभ्यता में स्वच्छन्दता से बहने लगे।

तीसरा दल वह था जो इन दोनों प्रकार की अतिवादिताओं का विरोधी था। 'राजा राममोहन राय हिंदू धर्म, इस्लाम धर्म और ईसाई धर्म का अध्ययन करने के पश्चात् इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि मध्यकालीन मनोवृत्ति, सामाजिक व्यवस्था और विचार तथा कार्य-प्रणाली भारतवर्ष को एक करने तथा उसकी रक्षा करने में असफल सिद्ध हो चुकी है। अतएव उन्होंने अपने व्यक्तित्व, विचारों और आंदोलनों द्वारा भारतीय मस्तिष्क को पुरातनवाद से मुक्त किया और वर्तमान में कार्य करने का अवसर तथा क्षेत्र देकर उसके सामने

भावी महानता का आदर्श रखा। मानवता के साथ साथ भारतवर्ष का पुनरुत्थान उनका उद्देश्य था और अंग्रेजी छत्रछाया में उनका अविचल विश्वास था। उनका कथन था कि भारत का ब्रिटिश जाति के अधीन होना एक सौभाग्य की बात थी और इसके कारण भारतीय जनता को शीघ्र ही अंगरेजों के से धार्मिक और नागरिक अधिकार प्राप्त हो जा ंगे[१]' राजा राममोहन राय ने सतीप्रथा आदि जैसी पुरानी प्रथाओं के अमानवीय रूप को बन्द कराया।

राजा राममोहन राय ने अंग्रेजी सभ्यता को पूरी तौर पर अपनाया–उसकी ऊपरी तड़क-भड़क को नहीं, उसकी भीतरी विशेषताओं को। किन्तु उनमें भारतीय गौरव के प्रति कहीं अभिमान लक्षित नहीं हुआ। यह कार्य स्वामी दयानंद सरस्वती और उनके आर्य-समाज ने किया। स्वामी जी नवीनता के विरोधी नहीं थे, वे इसे अपरिहार्य समझते थे। अंग्रेजों से मिली विचारों और ज्ञान की नवीन उपलब्धियों को देश के लिए हितकर समझते थे किन्तु उनमें देश की संस्कृति और सभ्यता का बड़ा अभिमान था, अतएव उन्होंने वेदों की नई व्याख्या करके यह सिद्ध किया कि ज्ञान की वे सभी बातें हमारे वेदों में उपलब्ध है। यह नवीन सभ्यता हमारी सभ्यता से आगे नहीं है। यह सभ्यता तो हमारे यहाँ बहुत पुरानी है। छूआ-छूत, जाति-पाँति, देवी–देवताओं की भरमार, अनमेल तथा बाल–विवाह, ये सब मध्यकाल के कुफल हैं। ये हमारे मौलिक सामाजिक और धार्मिक रूप नही। स्वामी जी ने अपनी भाषा, अपनी संस्कृति और अपने शासन की उच्चता का प्रचार किया। इन्होंने कहा–'कोई कितना ही करे परंतु जो स्वदेशीय राज्य होता है वह सर्वोपरि उत्तम होता है। अथवा मत-मतांतरों के आग्रह-रहित, अपने और पराये का पक्षपातशून्य, प्रजा पर माता-पिता के समान कृपा, न्याय और दया के साथ भी विदेशियों का राज्य पूर्ण सुखदायक नहीं है[२]।' आर्य समाज ने शिक्षा-प्रचार, जाति-भेद और बाल-विवाह के विरोध, विधवा-विवाह के प्रचार, अनाथालयों की स्थापना और शुद्धि तथा संगठन के आंदोलनों

---

[१] "फाउण्डेशन आफ इंडियन सिविक्स" पुणताम्बेकर, पृ० २४२। उद्धृत 'भारतीय राजनीति और शासन पद्धति', कन्हैयालाल वर्मा।

[२] दयानन्द शताब्दी संस्करण, प्रथम भाग, पृ० ४२।

द्वारा हिंदू समाज में एक नवीन जागर्ति उत्पन्न कर दी, जिसके कारण स्वामी दयानंद सरस्वती को राष्ट्रीय उत्थान का पथ-प्रदर्शक कहना अनिवार्य हो जाता है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि स्वामी जी ने राजनीतिक और सामाजिक दोनों प्रकार की जागर्ति पैदा की, जिसमें नए प्रकाश के साथ स्वदेशाभिमान भरा था।

इनके अतिरिक्त गोपाल हरि देशमुख, महादेव गोविन्द रानाडे, जी०वी० जोशी, बाल गंगाधर तिलक, वंकिम चटर्जी, सुरेंद्रनाथ वनर्जी, एम० जी० चंद्रावारकर, जी० के० गोखले आदि ने ब्रिटिश शासन के प्रति कृतज्ञता प्रकट करते हुए अपनी प्राचीन संस्कृति और इतिहास-परंपरा की महत्ता पर जोर दिया और जनता के राष्ट्रीय तथा जन्मसिद्ध अधिकारों की माँग उपस्थित की।

यहाँ तक राजनीतिक और सामाजिक रूप-रेखाओं को प्रस्तुत करने का ध्येय यह रहा है कि साहित्य में भी समाज की स्थिति के समानान्तर प्रवृत्तियां चलती रहती हैं। भारतेंदु और उनके सभी सहयोगी उपयुक्त तीसरे वर्ग के नेताओं की भाँति समाजधर्म और साहित्य में अपनी राष्ट्रीय परम्परा के आधार पर नवीन उपलब्धियों को अपनाने के समर्थक थे। तत्कालीन रचनात्मक और आलोचनात्मक साहित्यों में इसी प्रवृत्ति के दर्शन होते हैं।

हमने यह देख लिया है कि भारतीय साहित्य में आलोचना का क्या रूप था। काव्य की आत्मा के रूप में रस की प्रतिष्ठा हो चुकी थी, यद्यपि अन्य काव्य-संप्रदायों और काव्यांगों का विस्तृत विवेचन भी प्रस्तुत हो चुका था।

अंग्रेजी शिक्षा के प्रसार के कारण अंग्रेजी साहित्य पढ़ने की ओर लोगों की रुचि हुई। पाश्चात्य साहित्य में प्लेटो, अरस्तू, पारफामरी, अरिस्टार्कस, डायोनीसियस, लांजीनियस, होरेस, डाँटे, काडजिन, लेसिंग, वौसेन के, वाल्टर वेसेन्ट जैसे विचारक काव्य-शास्त्र के सिद्धांतों के ऊपर विचार करते आए हैं। काव्य-शास्त्र में सैद्धांतिक निरूपणों के अतिरिक्त वहाँ व्यावहारिक आलोचना का बड़ा सुलझा हुआ रूप प्रस्तुत हो चुका था। 'वहाँ (योरप में) समालोचना काव्य-सिद्धांत-निरूपण से स्वतन्त्र एक विषय ही हो गया था। केवल गुण दोष दिखानेवाले लेखों या पुस्तकों

की धूम तो थोड़े ही दिनों रहती थी, पर किसी कवि की विशेषताओं का दिग्दर्शन करानेवाली, उसकी विचार धारा में डूब कर उसकी अन्त–र्वृत्तियों की छानबीन करनेवाली पुस्तक, जिसमें गुणदोष-कथन भी आ जाता था स्थायी साहित्य में स्थान पाती थी[१]।' योरप में अठारहवीं शताब्दी तक निर्णयात्मक (Judicial) व्याख्यात्मक (Inductive) प्रभाववादी (Impressionist) शास्त्रीय (classical) आदि समा-लोचना के विविध रूपों का विकास हो चुका था।

आरंभ युग के लेखकों के सामने पाश्चात्य आलोचना-साहित्य की प्रभूत सामग्री आई जिसके प्रभाव से वे वंचित न रह सके। उन्होंने आलो-चना साहित्य के इस रूप को अपनाकर प्राचीन गुणदोष-कथन की पिटी-पिटाई लीक से कुछ मुक्ति पानी चाही। आरंभ कालीन लेखकों ने समा-लोचना के क्षेत्र में गुणदोष कथन की कटु शैली की निन्दा की। निम्न अवतरण में प्रेमधन जी ने उस काल तक की आलोचना का स्वरूप तथा असके प्रति अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त की है—'आप साक्षात मूर्ख हैं। आपको चार पंक्ति भी शुद्ध लिखना नही आता। आप ग्रामीण हैं। आप उजड्ड हैं। निर्लज्ज है और क्या नहीं हैं। अभी कुछ दिन कहीं जाकर आमुखता सुनाइए, तब फिर आकर बातें बनाइए।...........विवाद का मुख्य विषय व्याकरण था किंतु उक्त व्याकरण में इस विवाद का बहुत ही न्यून सम्बन्ध रहा। हाँ परस्पर एक दूसरे के लेखों की अशुद्धियां निकालने और उन्हें स्वयं व्याकरण से अनभिज्ञ प्रमाणित करने पर अधिक प्रयास किया गया और उससे भी अधिक दुर्वाच्यों और कटु भाषण में[२]।'

ऊपर के उद्धरण से स्पष्ट है कि गुणदोष-कथन की प्रणाली उस समय के आलोचकों को अनुचित प्रतीत होने लगी थी। उससे हट कर कृतियों की सहानुभूति पूर्ण व्याख्या की ओर वे उन्मुख होने लगे थे।

इस प्रकार इस काल की आलोचना की परीक्षा और उसके स्वरूप-ज्ञान के लिए हमें चार प्रकार की आधार-भूमि को देखना पड़ेगा।

---

[१] हिंदी साहित्य का इतिहास, पं० रामचंद्र शुक्ल, पृ० ५८२।

[२] आनन्द कादंबिनी (पत्रिका), संपादक—बद्रीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' —संपादकीय वक्तव्य (नागरी समाचार और उसके संपादकों का समाज)—सं० १९२६।

(१) पश्चिम की आलोचना का प्रभाव, (२) अपनी परंपरागत आलोचना का रूप, (३) नवीन ज्ञान को अपनाने तथा राष्ट्रीय अभिमान की सुरक्षा के कारण दोनों का सामंजस्य, (४) सामाजिक क्षेत्र में अपनी संस्कृति के आदर्शों के पुनरोत्थान की भावना।

ऊपर लिखा जा चुका है कि पश्चिम की उस व्यावहारिक आलोचना का रूप हिंदी लेखकों से परिचित हो रहा था जिसमें लेखक की कृतियों की समीक्षा या तो किसी सिद्धांत के आधार पर वृहत् रूप में होती थी या उस कृति की आंतरिक और बाहरी छानबीन करके समीक्षक एक नई कसौटी बनाकर उस पर उसे कसता था या किसी कृति को पढ़कर समीक्षक अपने प्रभावों को भावात्मक पद्धति पर व्यक्त करता था या दो लेखकों की कृतियों की तुलनात्मक समीक्षा प्रस्तुत कर उनका स्थान निर्धारित करता था। आरंभ कालीन आलोचकों में किसी कृति को लेकर उसकी व्याख्या करने की प्रवृत्ति अवश्य लक्षित होती है, किन्तु उस कृति पर पड़े बाहरी भीतरी प्रभावों की व्यापक परीक्षा का अभाव है। कुछ सिद्धांत-निरूपण संबंधी निबंध अवश्य ऐसे प्रकाशित हुए जिनमें किसी कृति पर पड़े देश-काल के प्रभाव की चर्चा की गई है। जिस देश में कवि पलता है उस देश की ही प्रवृत्ति उसकी कविता में चित्रित हो सकती है क्योंकि प्रत्यक्ष रूप से कवि उनका निरीक्षण कर उन्हें अपनी अनुभूति का विषय बना लेता है। 'तिस पर भी स्वदेशी प्रकृति का प्रभाव कहाँ जा सकता है? स्वदेशी चित्त चमत्कारिणी और मनोहारिणी शोभा जो भारतवर्षीय कवियों के सुकोमल हृदय को समधिक विमोहित करेगी इसमें क्या संदेह है? हम ये मानते हैं कि इस प्रदेश के कवियों ने अन्यान्य विषयों की वर्णना भी सुविस्तृत की है परंतु तौ भी ये लोग स्वदेशी बन-उपवन, षड़ऋतु वर्णन, औषधि-वनस्पति, विविध फल-कुसुम और कोकिल, भ्रमर, कलहंस, प्रभृति से विशेष क्रीड़ा कौतुक किया करते थे अर्थात् स्वाभाविक प्रकृति का अनुराग जो उनके हृदय में अच्छी तरह से अंकित था स विषय का प्रमाण भारतवर्षीय प्रत्येक काव्य ही से प्राप्त होता है[१]।'

'एक संस्कृत कविता की व्याख्या करते हुए अन्त में उपर्युक्त पंक्तियों का लेखक कहता है—'प्रभात समय की मनमोहिनी स्वाभाविक शोभा से सुशोभित

[१] सार सुधानिधि सन् १८७९, अंक ६।

देखना ही इतने भाव इकट्ठे करने का प्रधान कारण है वोही एक मात्र स्वाभाविक शोभा ही इस रसीली कविता की उत्पत्ति का मूल है क्योंकि ये भाव भारतवर्ष के कवियों के लिए ही स्वाभाविक हैं और वैसे उदास-भूमि के कवियों के मस्तिष्क से ऐसे भावों का विनिर्गत होना ही संपूर्ण असंभव है, कारण वहाँ की प्रकृति कुछ भारतवर्ष जैसी नहीं है ये तो हम पहले ही कह चुके हैं कि कविता तो देश की प्रकृति और स्वाभाविक शोभा ही से घनिष्ठ संबंध रखती है।' इसी प्रकार व्यावहारिक आलोचनाओं में भी उपन्यास, नाटक के पात्रों की स्वाभाविकता और अस्वाभाविकता की व्याख्या करते हुए देशकाल के निरीक्षण की बात आई, जिसकी चर्चा आगे उपयुक्त स्थान पर होगी। यहाँ मेरे कहने का तात्पर्य इतना ही है कि अंग्रेजी साहित्य के प्रभाव से गद्य में निबंधों, संपादकीय टिप्पणियों के रूप में आलोचना होने लगी। सिद्धांत-सूत्रों की बँधी बँधाई परिपाटी से निकल कर लेखकों ने अपनी दृष्टि से निरीक्षण का काम शुरू किया। देशकाल-निरपेक्ष शास्त्रीय सिद्धांतों में व्याख्यापरकता का आभास मिला। केवल गुण या केवल दोष गिना देने की प्रथा का अन्त होता हुआ दिखाई पड़ा और यथासंभव कृति के गुणदोष दोनों की निष्पक्ष और रूढ़िहीन आलोचना के साथ उसकी अन्य विशेषताओं पर भी ध्यान जाने लगा।

पाश्चात्य प्रभाव को ग्रहण करते हुए भी अपनी परंपरा की आत्मा की सुरक्षा करना इस काल के सभी अग्रणी नेताओं और साहित्यकारों का ध्येय था। अतएव ये आरंभकालीन आलोचक अपने यहाँ की आलोचनात्मक परंपरा—गुणदोष-कथन—का परित्याग नहीं कर सके। यदि राष्ट्रीय स्वाभिमान की चर्चा दूर छोड़ कर शुद्ध निरपेक्ष रूप में देखा जाय तो भी इन आलोचकों के लिए पाश्चात्य प्रणाली का सर्वथा ग्रहण और अपनी परंपरा का सर्वथा त्याग संभव नहीं था। जाने या अनजाने अपनी परंपरा, अपने संस्कार जीवन के सभी कार्यों में साथ लगे ही रहते हैं और किसी नई वस्तु की विशेषताओं का—चाहे उसमें गुण ही गुण क्यों न हों—सहसा संपूर्ण और सम्यक् रूप से ग्रहण असंभव होता है। आरंभकालीन आलोचकों के लिए पाश्चात्य आलोचना बिलकुल नई वस्तु थी। वे उससे आकृष्ट तो अवश्य हुए किंतु उसकी संपूर्ण प्रकृति से परिचित नहीं हुए थे। यदि परिचित भी हो जाते तो भी उन्हें अपनी लेखनी से माँजमाँज कर उसे

अपना बनाने में पर्याप्त समय लगता। दूसरी बात यह थी कि जिस साहित्य का अध्ययन-अध्यापन परंपरा से वे करते आ रहे थे वही साहित्य उनके लिए पृष्ठभूमि के रूप में था, उसी के रूप और गुणों के संस्कारों से उनका हृदय ग्रस्त था। दूसरा कोई ठोस आदर्श तो था नहीं। अतएव ये आलोचक इन पुरानी मान्यताओं और आलोचना-प्रणालियों को बिलकुल—उचित मात्रा तक भी—छोड़ सकने में असमर्थ रहे, यह सर्वथा स्वाभाविक है। इस काल की व्याख्यापरक आलोचनाओं में गुण और दोष-दर्शन की प्रवृत्ति का प्राधान्य रहा। गुणों का दर्शन तो व्याख्यात्मक ढंग से, कहीं प्रभावात्मक ढंग से कराया गया है। दोषों को कहीं सहानुभूतिपूर्ण ढंग से, कही बिलकुल कटु ढंग से दिखाया गया है। आलोचना की भाषा की कटुता और मृदुता लेखक के व्यक्तित्व पर निर्भर रहती थी। एक बात ध्यान देने की है कि गुण और दोष दिखाने की एक कसौटी होती है। सो इस काल में गुण और दोष-दर्शन की कसौटी कुछ नवीन हुई, कुछ रूढ़ि-मुक्त हुई। पश्चिम के प्रभाव, सामाजिक आन्दोलन, राजनीतिक आन्दोलन आदि के कारण लेखकों के दृष्टिकोण बहुत कुछ नए हुए या यों कहिए कि उन्होंने पुराने सिद्धांतों को नई दृष्टि से देखने की कोशिश की।

पश्चिमी प्रभाव और संस्कार अपने स्वाभाविक रूप में जितना मेल खा सकें खाते जायें, इस प्रकार की निष्क्रिय भावना इस काल के लेखकों में नहीं थी। इन लोगों ने बुद्धि और उपयोगितावाद की कैंची से काट कर नए और पुराने दोनों तत्त्वों को मिलाने की चेष्टा की। भारतेंदु बाबू ने अपने 'नाटक' नामक ग्रंथ में यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि हमारे नाटक के पुराने सिद्धांतों में से कितने आज के लिए अनुपयोगी हैं, कितने आज भी उपयोगी है तथा नाटक के सौंदर्य की वृद्धि कर सकते हैं और पाश्चात्य सिद्धांतों में से किन किन का ग्रहण श्रेयस्कर होगा।

इन आलोचकों ने भारतीय संस्कृति के पुनरुत्थान को ही कृतियों के नैतिक मान के रूप में स्वीकार किया। मध्यकालीन कुरीतियों के कीचड़ से निकाल कर अपनी सामाजिक सभ्यता और संस्कृति को नए आलोक में देखना ही नका आदर्श रहा। समाज सुधारक तथा कुरीतियों का त्याग और अपने पूर्वजों के शौर्य, विद्या, ज्ञान, गौरव की प्रतिष्ठा करने वाली कृतियाँ ऊँचे मूल्य की समझी जाने लगी थीं। लेकिन इन आलोचकों

ने यह भी ध्यान में रखा कि ये सामाजिक आदर्श रस के ही माध्यम से व्यक्त हों।

सैद्धांतिक-आलोचना

सैद्धांतिक-आलोचना की दृष्टि से भारतेंदु जी का 'नाटक' पहली और महत्वपूर्ण समीक्षात्मक कृति कहा जाता है। भारतेन्दु जी ने स लेख में नाटक के विविध अंगों पर गंभीरता से विचार किया है। दृश्य काव्य की परिभाषा, रूपक और उपरूपक के भेदों की परिभाषा देने के साथ लेखक ने नवीन नाटकों के ऊपर विचार किया है। भारतेंदु जी ने पश्चिम की नाटक-प्रणालियों का अध्ययन किया, नए युग की आवश्यकता का अनुभव किया और ाचीन-साहित्य के पौष्टिक और अ ौष्टिक तत्त्वों का विश्लेषण किया। अतएव उन्होंने यह स्पष्ट घोषित किया कि प्राचीन रुचि और संस्कार आधुनिक नाटकों के लिए उपयुक्त नही ठहरते।

भारतेन्दु जी ने नाटक के प्राचीन भेदों, उपभेदों की व्याख्या के साथ-साथ उसमें आए हुए नवीन तत्त्वों की ओर निर्देश किया तथा नवीनता से नाक भौं सिकोड़ने वालो की तरह उनकी उपेक्षा न कर उनके औचित्य का समर्थन किया। साथ ही साथ नाटक में किस अनुपात में उनका ग्रहण किया जाय, सका भी विचार किया।

'आज कल योरप के नाटकों की छाया पर जो नाटक लिखे जाते हैं और वंग-देश में जिस चाल के बहुत से नाटक बन भी चुके हैं वह सब नवीन भेद में परिगणित हैं प्राचीन की अपेक्षा नवीन की परम मुख्यता बारंबार दृश्यों के बदलने में है और इसी हेतु एक-एक अंक में अनेक-अनेक गर्भांकों की कल्पना की जाती है क्योंकि इस समय में नाटक खेलों के साथ विविध दृश्यो का दिखलाना भी आवश्यक समझा गया है।....... ये नवीन नाटक मुख्य दो भेदों में बँटे हैं एक नाटक, दूसरा गीति रूपक....[१]।'

भारतेन्दु जी ने उद्देश्य की दृष्टि से भी नए नाटकों पर विचार किया और विशेषतया उनके उन उद्देश्यों की ओर इंगित किया जो सर्वथा नवीन और साथ ही साथ समाज और राष्ट्र के लिए मंगलकारी है। 'इन नवीन

---

[१] भारतेंदु ग्रंथावली, भाग १, पृ० ७२०।

नाटकों की रचना के मुख्य उद्देश ये होते थे यथा---(१) श्रृंगार (२) हास्य (३) कौतुक (४) समाज-संस्कार (५) देश-वत्सलता।......समाज-संस्कार नाटकों में देश की कुरीतियों को दिखलाना मुख्य कर्तव्य कर्म है। यथा शिक्षा की उन्नति विवाह संबंधी कुरीति निवारण अथवा धर्म संबंधी अमान्य विषयों में संशोधन इत्यादि। किसी प्राचीन कथा भाग का इस बुद्धि से संगठन किया जाय कि देश की उससे कुछ उन्नति हो, इसी प्रकार के अंतर्गत हैं। देशवत्सल नाटकों का उद्देश्य पढ़ने वालों या देखने वालों के हृदय में स्वदेशानुराग उत्पन्न करना है और वे प्रायः करुण और वीर रस के होते है[१]।'

नवीनता के लिए नवीनता का समावेश तथा प्राचीनता का सर्वथा त्याग हीन वृत्ति का परिचायक है। नवीनता का समावेश इसलिए आवश्यक होता है कि युगानुकूल सहृदयों की रुचि, संस्कार और रीति-नीति बदला करती है। नये युग के सहृदयों को आनंद देने के लिए उनकी रुचि के अनुकूल नए तत्त्वों को ग्रहण करना ही पड़ता है किन्तु नया युग अपने प्राचीन युगों के अनेक मूलभूत तत्त्वों को किसी न किसी रूप में ग्रहण किए रहता है। अतएव उन तत्त्वों का सर्वथा वहिष्कार नवयुग की कृतियों को परंपरा-विच्छिन्न बना देता है जो उचित नहीं है। भारतेंदु जी ने नाटक के संबंध में विचार करते हुए इन पक्षों पर प्रकाश डाला है। 'किन्तु वर्तमान समय में इस काल के कवि तथा सामाजिक लोगों की रुचि उस काल की अपेक्षा अनेकांश में विलक्षण है इससे सम्प्रति प्राचीन मत अवलम्व करके नाटक आदि दृश्य काव्य लिखना युक्ति संगत नही बोध होता है[२]।'

'नाटकादि दृश्य काव्य प्रणयन करना हो तो प्राचीन समस्त रीति ही परित्याग करें यह आवश्यक नही है, क्योकि जो सब प्राचीन रीति वा पद्धति आधुनिक सामाजिक लोगों की मतपोषिका होंगी वह सब अवश्य ग्रहण होंगी। नाट्य कला-कौशल दिखलाने को देश-काल और पात्र गण के प्रति विशेष रूप से दृष्टि रखनी उचित है। पूर्वकाल में लोकातीत असंभव कार्य की अवतारणा सभ्यगण को जैसी हृदयहारिणी होती थी, वर्तमान काल में नहीं होती[३]।'

---

[१] भारतेन्दु ग्रंथावली, भाग १, पृ० ७२०--२१।

[२] वही, पृ० ७२१।

[३] वही, भाग १, पृ० ७२१--२२।

'अब नाटकादि दृश्य काव्य में अस्वाभाविक सामग्री परिपोषक काव्य सहृदय सभ्य मण्डली को नितान्त अरुचिकर है, इसलिए स्वाभाविक की रचना ही इस काल के सभ्यगण की हृदय ग्राहिणी है[1]।' 'पूर्व काल में मुद्रालय की सृष्टि नहीं हुई थी इस हेतु रंगस्थल में नट, नटी, सूत्रधार अथवा पारिपार्श्वक कर्तृक उपक्षेप का उल्लेख होता था। आज कल मुद्रा-यंत्र के प्रभाव से इसकी कुछ आवश्यकता नहीं रही प्रोग्राम बाँट देने ही से वह काम सिद्ध हो जाएगा[2]।'

'नाटक' में भारतेंदु जी ने नाटक के विविध भेदों अंगों का जो विवेचन किया है वह कोई मौलिक विवेचन नहीं है वरन् संस्कृत आचार्यों द्वारा किए गए भेदों-उपभेदों का संक्षिप्त हिंदी रूपांतर है। उन्होंने नवीन तत्त्वो का भी कोई गहरा विवेचन नहीं किया केवल उनकी ओर संकेत कर उनकी स्वीकृति और प्राचीन मूलभूत तत्त्वों के साथ उनके समन्वय के औचित्य का समर्थन किया जो कि उस युग की विशेष प्रवृत्ति रही। हां, भाषा, नाटक और योरपीय नाटकों के इतिहास की संक्षिप्त चर्चा कर इतिहास लेखन की ओर सूक्ष्म संकेत किया।

आरंभ कालीन सैद्धांतिक समीक्षा का थोड़ा सा परिचय बाबू देवकी नंदन खत्री के उस पत्र से मिलता है जो उन्होंने नागरी नीरद के सम्पादक प्रेमघन जी को लिखा था[3]। उस पत्र में एक तो उस प्रभावात्मक समीक्षा की ओर संकेत किया गया है जिसमें समीक्षक केवल 'वाह वाह क्या खूब' कह कर कृतिकार की प्रशंसा करता है (आरंभ युग में विवेचनात्मक समीक्षा का विकास नहीं हो पाया था अतः प्रभावात्मक समीक्षा का अस्तित्व स्वभाविक ही है)। दूसरे उपन्यास कला की कुछ उन खूबियों की चर्चा हुई जिनसे उपन्यास सफल होता है। उपन्यास की उठान, पाठकों को उलझन में डालने की शक्ति, पात्रों के गोपन और उद्घाटन के सम्यक् अवसर, कथावस्तु, नवन्यास आदि तत्त्वों पर प्रश्न पूछे गए हैं। 'दो उप-न्यासों में से कौन अच्छा है और क्यों?' जैसे भेदक तत्त्वों की ओर भी संकेत है। पत्र में इन प्रश्नों को उठाया मात्र गया है, उनका समाधान

---

[1] भारतेन्दु ग्रंथावली भाग १, पृ० ७२३।
[2] वही, पृ० ७२८।
[3] नागरी नीरद, ८ मार्च १८९४ ई०।

नहीं है। इससे उस काल के विचारकों और कृतिकारों की नये साहित्य के प्रति जिज्ञासा का स्वरूप लक्षित होता है।

पं० रामचंद्र शुक्ल के एकाध निबंध आरंभ युग में भी प्रकाशित दिखाई पड़े। ये निबंध शुक्ल जी की प्रौढ़ता के बीज स्वरूप ही हैं, इनमें अन्य लेखकों की अपेक्षा अधिक चिंतनपरकता और भाषा तथा विचारों की सफाई लक्षित होती है। इन्हें हम उस काल की समीक्षा-सरणि का अपवाद ही कहेंगे। शुक्ल जी ने अपने 'शब्द योजना' शीर्षक निबंध[१] में साहित्य में शब्दों के स्वरूप और उद्देश्य पर विचार किया है। शब्दों की अनावश्यक भरती, रूढ़ समासों, प्रतीकों, उपमाओं और रूपकों के व्यवहार, नाद उत्पन्न करने के लिए श्लेष, यमक, अनुप्रासों की झड़ी के विधान, रसों के उद्रेक के लिए बँधी बँधाई पद्धति पर कुछ शब्दों के अनावश्यक प्रयोग आदि का शुक्ल जी ने घोर विरोध किया है। शब्द अपने में साध्य नही है, वे किसी भाव, कल्पना या विचार को व्यक्त करने के साधन है। भावो की स्वच्छता से ही कोई कृति पाठकों को प्रभावित करती है, शब्दों के आडम्बर से नही। चित्त की उपज ही चित्त में धँसती है। भावों को तीव्र करने के लिए ही उपमादि अलंकारों का व्यवहार उचित है। प्राकृतिक और मनोहर साम्य उपस्थित करने वाली उपमाएँ ही सार्थक है। यह निबंध अपने विचारगत और शैलीगत उत्कर्ष के कारण तत्कालीन समीक्षाओं से अलग भले ही मालूम पड़ता हो किंतु इसकी आत्मा तत्कालीन विद्रोह के स्वर से असंपृक्त नही है। उस काल में समाज-विरोधी आडम्बरों और भाव-विरोधी शब्द-जालों, रीतिकालीन वासनात्मक रूढ़ चित्रों और निरर्थक चमत्कारों के प्रति मीठा-मीठा विद्रोह चल रहा था। उसी विद्रोह की पृष्ठभूमि पर शुक्ल जी ने साहित्य के इस पक्ष पर अपेक्षाकृत शुद्ध साहित्यिक ढंग से विचार किया।

व्यावहारिक-आलोचना

आरंभ काल में पत्र-पत्रिकाओं की संपादकीय टिप्पणियों, प्राप्ति-स्वीकारों और यदाकदा संपादक के नाम पत्रों के ही रूप में आलोचना दिखाई पड़ती है। इनमें लक्षित होनेवाली सैद्धांतिक समीक्षा की चर्चा हो चुकी, अब व्यावहारिक समीक्षा पर विचार करें। सबसे पहले 'आनन्द

---

[१] आनन्द कादम्बिनी, माला ७ मेघ ३-९।

कादम्बिनी 'में प्रेमघन जी की वाणभट्ट के संबंध में लिखित प्रशंसात्मक आलोचना का स्वरूप दिखाई पड़ता है। 'जगत् विख्यात श्री वाण भट्ट की कादम्बरी को कौन ऐसा संस्कृत का विद्वान होगा जो ध्यानपूर्वक पढ़ और परिशीलन कर मुक्त कण्ठ हो न कह उठे कि 'गद्य-लेख' की पराकाष्ठा अथवा कवित्व शक्ति की इतिश्री हो चुकी। अतः कवियों ने यथार्थ ही कहा है कि "वाणोच्छिष्टं जगत्सर्वम्"। न केवल ऐसा गद्य संस्कृत भाषा में ही किन्तु किसी अन्य भाषा में भी नहीं लिखा जा सका, कारण यह कि प्रथम तो संस्कृत ऐसा पुष्ट व्याकरण किस भाषा में होगा कि जो सैकड़ो ंक्ति तक लिखते जाइए क्रिया का कोई प्रयोग भी न हो और फिर भी पूरा पद हो जावे फिर उपमा और उत्प्रेक्षा की बाहुल्य की इस ग्रंथ में क्या कही जाय कि जहां अन्य महाकवियों को एक दो का प्रयोग कठिन साध्य होता, वहां ये मालाबह उपमा और उत्प्रेक्षाओं की धारा बहाते और विलक्षणता यह कि श्रम सूचना या हठात् प्रयोग कहीं भी लक्षित नहीं होता वरन् ऐसा जान पड़ता कि मानो इसके हृद्गत भावना की परिचित लेखनी दूती पृष्ठ से कहती हुई भी नहीं अघाती। न उसके कल्पना का अन्त मालूम होता जिससे सूचित होता कि उस कवि को विषय वर्णन करने से तृप्ति नही होती थी और फिर झी अनूठापन ऐसा कि कोई यह नही कह सकता कि यह अमुक कवि की छाया है[१]।'

'तीसरे दिन कवियों के मौलिमुकुट, रसिकों को रसज्ञता का पाठ पढ़ानेवाले, श्रृंगार रस के एक ही निपुण चित्रकार वा अद्वितीय श्रृंगार कर्त्ता, मेघ को दूत बताते हुए भी सहस्त्राक्ष या यक्ष नहीं, नाटक लोक रचयिता होते हुए भी ब्रह्मा नही, श्रृंगार रस के परमाचार्य होते हुए भी कुसुमायुध नही, जिसकी तपोवन में विहरती हुई कविता देवी वेश्या वीथी में भी विचरती थी ऐसे महानुभाव कालिदास का परम प्रिय नाटक शकुन्तला खेला गया[२]।'

उक्त उद्धरणों को देखने से ज्ञात होता है कि यद्यपि नवीन आलोचना का जन्म हो गया था किन्तु नवीन स्वर से पूर्णतया परिचित न हो सकने के कारण पुराने स्वर को प्रायः दुहराया जा रहा था। उपर्युक्त परिच्छेद

---

[१] आनन्द कादम्बिनी, मं० १८२७।

[२] वही, सं० १८७०।

आलोचना लिखने के लिए नहीं लिखे गए हैं तो भी उनमें आलोचना हो गई है। इस आलोचना को देखने से स्पष्ट ज्ञात होता है कि इसमें कवि की कृतियों की गहराई में जाकर कोई निगूढ़ तत्त्व की बात नहीं कही गई है वरन् उसके रूप और आत्मा की सामान्य प्रचलित विशेषताओं की काव्यात्मक शैली में प्रशंसा की गई है अर्थात् पुरानी आलोचना के समान इन आलोचनाओं में —(१) कृति का गुण-वर्णन है, (२) कथन का ढंग आलंकारिक है, (३) विशेषतया अलंकारों की विशेषता का निर्देश किया गया है। लेकिन एक बात ध्यान देने की है कि कवि की व्यक्तिगत विशेषता लक्षित करानेवाली कुछ बातें भी आ गई हैं। अलं-कारों के प्रयोगों के औचित्य पर भी विचार हो गया है और इनमें हृद्गत भावों का प्रेषण ही काव्य की सार्थकता माना गया है। वाण भट्ट की कल्पना की ऊँचाई उन्हें अन्य कवियों से अलग करती है, इसकी ओर संकेत है। कुछ निजी विशेषताओं के कारण वाण अन्य कवियों से अलग हैं। जैसे उनमें कल्पना की ऊँचाई है। साथ साथ हृद्गत भावों की सहज ेषणीयता है। अलंकारों का अप्रयास प्रयोग है। अनेक पंक्तियोंवाले मुख्य वाक्यों का व्यवहार है।

इस प्रकार इन टिप्पणियों मे हमें आलोचना के नए रूप का किंचित् आभास मिल जाता है। इन टिप्पणियों के पश्चात् 'सार सुधानिधि' की संपादकीय टिप्पणी में आलोचना के रूप का थोड़ा सा दर्शन होता है। संपादक का कहना है कि प्रकृति का चित्रण देशानुरूप होता है अर्थात् अपने देश की प्रकृति की शोभा कवियों के हृदय को लुब्ध करती है और उन्ही का चित्रण वह अपनी कविता में करता है। इस प्रकार प्रकृति चित्रण पर विचार करता हुआ वह जो उद्धरण प्रस्तुत करता है उससे भी प्रकृति-काव्य के संबंध में उसकी दृष्टि का पता चलता है—

प्रभातवाताऽहति कम्पिताकृती, कुमद्वती रेणुपिशंगविग्रहम्।
निरासभृगं कुपितेव पद्मिनी, न माननीशं सहतेऽन्यसंगमम्॥

'प्रभात समय कमलिनी को प्रभात सभीरणोत्थित तरंग माला के आघात से विकंपित और कुमुद्वती के पराग से धूसरित कलेवर मधुकर को घड़ी-घड़ी उपवेशन से स्खलित होते देख कवि ने कल्पना की है कि नायिका पद्मिनी मान कर बैठी है कारण उसने अपने प्यारे पति मधुप में कुमुदिनी के संसर्ग का चिह्न देख लिया है। इसी निमित्त वो मारे क्रोध के काँप

रही है और अपने प्रत्यागत नायक को निकटवर्ती होने को निषेध कर रही है (वो हिलना उसका कुछ हवा के आघात से नहीं वो निषेध करने का संकेत तथा कोप का लक्षण है) कारण मानिनी स्त्रियें अपने पति में अन्यत्र संगम का चिह्न कदापि नहीं देख सकती हैं पाठक ! आप लोग भी जरा इस कविता के भाव पर ध्यान दीजिए साफ दिखाई देगा कि ऐसी कविता स्वदेशीय स्वाभाविक प्रकृति का ही परिचय देती है केवल एक सरोवर के प्रफुल्लित शतदल कमल को प्रभात समय की मनमोहिनी स्वाभाविक शोभा से सुशोभित देखना ही इतने भाव इकट्ठे करने का प्रधान कारण है[१] ।'

उपर्युक्त उद्धरण में प्रकृति-चित्र का उदाहरण आलंकारिक युग की चमत्कारवादी रुचि को व्यक्त करता है। इसमें प्रकृति के सौंदर्य का स्वतंत्र चित्रण नहीं हुआ है बल्कि उसे मानव जगत् के एक श्रृंगारिक-चेष्टास्थल का रूपक प्रदान किया गया है। संपादक जी ने वाल्मीकि की कविताओं में उपलब्ध प्रकृति-चित्रों को न लेकर इसी चित्र को क्यों लिया ? इसलिए कि रीतिकालीन कविता का आदर्श अभी आँखों से ओझल नहीं हो पाया था और हो भी कैसे सकता था ? आलंकारिक चमत्कारप्रियता के मोह से अभी इनकी दृष्टि सर्वथा मुक्त नहीं हो सकी थी। इस कविता का सौंदर्य नायक-नायिका का रूपक जोड़े बिना अधूरा रह जाता है। इसमें प्रकृति के उस सौंदर्य के अंकन की प्रवृत्ति लक्षित नहीं होती जो कवि के मन को शुद्ध रूप में अपनी ओर खींच ले और जिसका चित्रण कवि बिना किसी ऊपरी चमत्कार का सहारा लिए तन्मय होकर कर उठे। अर्थात् जिसमें केवल चमत्कार नही, रस हो या मन पर प्रभाव डालने की शक्ति हो। किंतु इस कविता के साथ संपादक जी का जो प्रकृति-चित्रण के संबंध में निबंध है वह देशकालानुरूप प्रकृति-चित्रण की अनिवार्यता पर जोर देने वाली उनकी नवीन प्रवृत्ति का परिचायक है।

अब तक जिन आलोचनाओं की चर्चा की गई है वे आलोचना के लिए नही लिखी गई थीं। किसी विषय पर बात करते करते प्रसंगानुकूल किसी कवि या कविता के किसी पक्ष पर जो समीक्षा हो जाती थी उसी की चर्चा ऊपर की गई है, किंतु आलोचना करने के ध्येय से की गई आलोचना

---

[१] सार सुधानिधि, सन् १८७९, अंक ६।

पहले पहल आनन्द कादम्बिनी में दिखाई पड़ी। इसमें प्रेमघन जी ने बाबू रमेशचंद्र दत्त जी० सी० एस० प्रणीत वंग विजेता नामक उपन्यास के श्री बाबू गदाधर सिंह द्वारा किए गए अनुवाद की आलोचना की है। प्रेमघन जी ने अनुवाद तथा मूल दोनों के गुणों और दोषों की वृहत् समीक्षा की है '.............तो भी इसमें कोई संदेह नहीं कि उपन्यास सर्वतोभावेन उत्तम है जैसा हम पूर्व में प्रकाशित कर चुके हैं परंतु इसके गुणदोष को भी साधारण रीति पर प्रकाश करना उचित है[१]।'

प्रेमघन जी ने ग्रंथ के बाहरी उपादानों पर कम ध्यान देकर उसके भीतरी पक्ष पर ही अधिक ध्यान दिया है। उन्होने उपन्यास के कथानक, चरित्र, संवाद तत्त्वों को लेकर इस उपन्यास की सफलता और असफलता की परीक्षा की है। कथानक का चुस्त, अनावश्यक विस्तार से मुक्त, कौतूहल-वर्द्धक, सजीव और स्वाभाविक होना आवश्यक है। ऐतिहासिक उपन्यासों में कथानक से दूर हटकर इतिहास का अनावश्यक विवरण देना सर्वथा गर्हित है। 'प्रथम परिच्छेद का पूर्व भाग जो पंचम पृष्ठ के आधे में समाप्त होता है और जिसमें वंग देश का इतिहास लिखा गया है हमारी जान यहाँ न लिखा जाना चाहिए क्योंकि वह उपन्यास का कोई अंग नहीं है यह ऐतिहासिक विज्ञप्ति भूमिका द्वारा प्रकाशनीय है[२]।' अनावश्यक विस्तार से बचने और जिज्ञासावृत्ति को आदि से अन्त तक बहा ले जाने के गुण के कारण ही कथानक चुस्त होता है। प्रेमघन जी ने रहस्योद्घाटन के अवसरों की उपयुक्तता और अनुपयुक्तता का विचार कौतूहल वर्द्धन और कहीं चरित्रों की स्वाभाविकता की दृष्टि से किया है। 'गुप्त वेष में दोनों भाइयों का संयोग और विचित्र वार्तालाप उत्तम है परन्तु इसमें दो बातें आलोचना योग्य हैं, प्रथम में नाविक और इंद्रनाथ के मुंगेर में मिलने से यदि महेश्वर के मंदिर से चलते शोकाकुल हृदय इंद्रनाथ से मुंगेर की राह में नाविक मिलता तो कदाचित् और भी सुन्दरता आती। यों ही (बारहवें परिच्छेद में) नाविक को पूर्व कथ्य के पश्चात् ंद्रनाथ का यदि संबंध नाविक पर प्रकाश हो तो और अच्छा होता क्योंकि नाविक अर्थात् उपेंद्रनाथ इंद्रनाथ अर्थात् सुरेंद्रनाथ को अपना छोटा भाई

---

[१] आनन्द कादम्बिनी, सन् १८८५, माला ३।

[२] आनन्द कादम्बनी सन् १८८५, माला ३।

जान कर भी चाहे इससे फिर प्रत्यक्ष भ्रातृ संबंध होने की आगामि में आशा न भी हो परंतु फिर भी अपने प्रेम का यों खुल्ली-खुल्ला व्याख्यान करना कुछ अनुचित सा बोध होता है[१]।' उपर्युक्त परिच्छेद में घटनाओं के रहस्योद्घाटन के स्थान को आगे पीछे करने की सलाह चमत्कार बढ़ाने के लिए भी दी गई है और चरित्र की इस स्वाभाविकता के निर्वाह के लिए भी 'कि अपने प्रेम का यों खुल्ली-खुल्ला व्याख्यान कराना कुछ अनुचित सा बोध होता है'।

इसी प्रकार 'यहाँ (तेईसवें परिच्छेद में) इंद्रनाथ विषयक वार्ता होना मुझे नही पसंद है और महेश्वर के मंदिर से यहाँ तक विमला को इंद्रनाथ का प्रेम मेरी जान वर्णनीय नही है, और सरला द्वारा विमला को शोच होना भी अच्छा नहीं यदि छिपा प्रेम पीछे प्रगट होता तो भी अनुचित होता। हमारी जान सरला और इंद्रनाथ का मिलना मुंगेर में अच्छा होता। जिसकी सूचना १५वें परिच्छेद में आती है एवं २५वें परिच्छेद में भी।'

आलोचक ने पात्रों की वैयक्तिक विशेषताओं पर कम ध्यान देकर यह दिखाने का प्रयास किया है कि अमुक देश और काल में सामान्य पात्र क्या करते है, इसी दृष्टि से इन्होंने पात्रों के मनोभावों को स्वाभाविक और अस्वाभाविक कहने का प्रयास किया है—'(दूसरा परिच्छेद) महाश्वेता और सरला के प्रवेश के संग काल और समय एवं दशा संबंध और स्वभाव का सुन्दर चित्र उतरा है। चौथा परिच्छेद बहुत ही मनोहर है विशेषत: सरला और अमला से साँचे की ढली नवेली ललनाओं की स्वाभाविक रसीली और भोली भाली बातें एवं इंद्रनाथ का प्रवेश और सच्चे सरल स्नेही स्नेह भाजन और प्रेमी की स्वाभाविक मर्यादा संपन्न शुद्ध प्रीति प्रदर्शन और परस्पर सुमधुर प्रेमालाप और साथ ही वियोग सूचना अत्यंत उत्तम रीति से वर्णित है।'

'(सातवाँ परिच्छेद) पाप का प्रभाव और पापी के चित्त की चिंता का चित्र एवं दुष्टों की कुटिल शिक्षा और विपरीत वचन रचना सामर्थ्य भी उत्तमता से लिखी गई। (आठवाँ) कुटिल और दुष्टों की मनोवृत्ति अच्छी दिखाई गई। (नवाँ और दसवाँ परिच्छेद) समय और स्वाभाविक

---

[१] वही,।

सौंदर्य के वर्णन के संग चिंतित चित्त वाले जनों की चिन्ता का चित्र और शोकार्त्त हृदय वाले का अन्ततोगत्वा ईश्वर में अनन्य प्रौढ़ प्रेम दर्शन उत्तम है।'

'(पच्चीसवाँ परिच्छेद) समय और सभा एवं स्वाभाविक सौंदर्य वर्णन के साथ विमला के शोकाक्रान्त हृदय का चित्र अच्छा उतरा, अंतिम भाग में पूर्व कथा की सूचना भी उत्तमोत्तम है।'

समीक्षित चरित्र 'टाइप' के रूप में आए हैं। उनके भीतर की विविध उथल पुथल की ओर आलोचक ने संकेत नहीं किया है। यदि ग्रंथ के पात्रों में कहीं व्यक्तिगत विशेषता है, यदि परिस्थितियों की प्रतिक्रिया के रूप में उनके चरित्रों के विविध पक्ष सामने आते हैं तो आलोचक को दिखाना चाहिए था। यदि ऐसा नहीं था तो इस कमी की ओर निर्देश करना चाहिए था। मगर ऐसा क्यों नहीं हुआ? यह सर्वथा स्वाभाविक है। वर्गों में पात्रों को बाँट देना भारतीय साहित्य की परंपरा रही है क्योंकि भारतीय साहित्य रस प्रधान रहा है। पश्चिमी साहित्य में शील वैचित्र्य का निरूपण होता है जो हिंदी साहित्य में उस समय नहीं आया था। स्वाभाविक भी नहीं था। इसलिए प्रेमघन जी ने पात्रों के सरल सुलझे हुए रूप को ही सराहा है यदि कहीं उलझन है तो भीतरी प्रवृत्तियों की नहीं, बाहरी वेश-भूषाओं की। इन लोगों की दृष्टि में सरलता, प्रेम की प्रगाढ़ता, निष्कपट हृदयशीलता पात्रों की महानता की कसौटी है, विभिन्न समस्याओं और सामाजिक परिस्थितियों में दिखाई पड़ने वाली पात्रों की कुरूपता और सुन्दरता पर उनका ध्यान नहीं।

संवादों का सरल, स्वाभाविक, सजीव और चुस्त होना आवश्यक है। उनमें नाटकीयता और व्यावहारिकता होनी चाहिए। उनमें कथानक को आगे बढ़ाने, पात्रों के चरित्रों को खोलने तथा सरसता का संचार करने की शक्ति होनी चाहिए। प्रेमघन जी ने संवादों की परीक्षा केवल पात्र की वर्गगत स्वाभाविकता ओर सरसता की कसौटी पर की है...'दुष्टों की कुटिल शिक्षा और विपरीत वचन रचना सामर्थ्य भी उत्तमता से लिखी गई।' 'विशेषतः सरला और अमला से साँचे में ढली नवेली ललनाओं की स्वाभाविक रसीली और भोली भाली बातें एवं इंद्रनाथ का प्रवेश और सच्चे सरल स्नेही स्नेह भाजन और प्रेमी की स्वाभाविक मर्यादा संपन्न शुद्ध प्रीति प्रदर्शन और परस्पर सुमधुर प्रेमालाप और साथ ही वियोग-सूचना अत्यंत उत्तम रीति से वर्णित है।'

प्रेमघन जी ने भारतीय अध्यात्मवाद और सामाजिक मर्यादा की कसौटी पर पात्रों, संवादों की उत्तमता-अनुत्तमता तथा कथा की परिणति को कसा है। 'समय और स्वाभाविक सौंदर्य वर्णन के संग चिन्तित चित्त वाले जनों की चिंता का चित्र और शोकार्त्त हृदय वाले का अन्ततोगत्वा ईश्वर में अनन्य प्रौढ़ प्रेम दर्शन उत्तम है।' सुखान्त के आग्रह से आलोचक ने उपन्यास के अन्तिम परिच्छेद में विमला की मृत्यु नापसन्द की है—'यह अन्तिम परिच्छेद है इसमें ग्रंथ और कथा समाप्ति होती है, इसमें हम विमला के मृत्यु का वर्णन अत्यंत नापसन्द करते हैं, हर्षप्रद सरला के विवाह के संग विमला की मृत्यु वैसी ही बोध होती है जैसे मिश्री मिश्रित सुमधुर दुग्ध के प्याले में नीबू निचोड़ा जाय।' लेखक विमला का आत्मघात द्वारा प्राण-विसर्जन और शकुनी के अपराधों का रहस्योद्घाटन तीसवें परिच्छेद में ही चाहता है जिससे अन्त में सरला के विवाह जैसे सुखद अवसर पर यह विषाद का वातावरण न खड़ा हो।

दूसरी महत्वपूर्ण आलोचना हिंदी प्रदीप[१] में पं० बालकृष्ण भट्ट की दिखाई पड़ी। इन्होंने सच्ची आलोचना शीर्षक से दिल्ली निवासी लाला श्रीनिवास दास रचित 'संयोगिता स्वयंबर' की कटु आलोचना की। प्रेमघन जी ने जहाँ सहानुभूति पूर्ण ढंग से 'वंग विजेता' के गुणों और दोषों की परीक्षा की वहाँ पं० बालकृष्ण भट्ट ने बड़े कटु ढंग से इस नाटक के दोषों का उद्घाटन किया। आलोचना कटु होते हुए भी सच्ची है। ऐतिहासिक नाटक और इतिहास में क्या भेद होता है, ऐतिहासिक सत्यों का कैसे और कितना निर्वाह होना चाहिए नाटक में ? भट्टजी ने इन सबका बड़ा मार्मिक विश्लेषण किया है। किंतु उनकी शैली में उनके व्यक्तित्व का मौजीपन और व्यंग्यात्मक प्रवृत्ति साफ साफ पर जरा तेज होकर उभर आई है। 'क्या केवल किसी पुराने समय के ऐतिहासिक पुरावृत्त की छाया लेकर नाटक लिख डालने से ही वह ऐतिहासिक हो गया—क्या किसी विख्यात राजा या रानी के आने से ही वह ऐतिहासिक हो जायगा यदि ऐसा है तो गप्प हाँकने वाले दास्तानगो और नाटक के ढंग में कुछ भी भेद न रहा—किसी समय के लोगों के हृदय की क्या दशा थी उनके आंतरिक भाव किन पहलू पर ढलके हुए थे अर्थात उस समय

[१] हिंदी प्रदीप, अप्रैल सन् १८८६।

मात्र के भाव (Spirit of the time) क्या थे? इन सब बातों को ऐतिहासिक रीति पर पहले पहल समझ लीजिए तब उसके दरसाने का भी यत्न नाटकों के द्वारा कीजिए—केवल क्लिष्ट श्लेष बोलने ही से तो ऐतिहासिक नाटक के पात्र क्या वरन् एक प्राकृतिक मनुष्य की भी पदवी हम आपके पात्रों को नहीं दे सकते[१]।' इस प्रकार भट्ट जी ने ऐतिहासिक नाटक में इतिहास के गिने चुने पात्रों का नाम गिना देना अलम् नहीं समझा है बल्कि पात्रों के उन बाहरी और भीतरी स्वरूपों के चित्रण की ओर संकेत किया है जो युग और समाज के संस्कारों और प्रभावों के अनुकूल हों। यह कसौटी रूढ़ शाश्वत मूल्यों की अपेक्षा गतिशील मूल्यों का आकलन करने वाली है किन्तु यही यह बात भी ध्यान देने की है कि पिछले युग यथार्थों का चित्रण करते करते लेखक अपने युग की भी छाप बड़े संयत और सांकेतिक ढंग से छोड़ जाता है। केवल इतिहास का दृश्य अंकित कर देना कोई विशेष अर्थ नहीं रखता।

हाँ, तो ऐतिहासिक चरित्रों और घटनाओं के अंकन का भी अपना साहित्यिक ढंग होता है, उन्हें ज्यों का त्यों अनगढ़ और फोटोग्राफिक रूप में नहीं रखा जा सकता। केवल विवरणों से या व्याख्यानों से हम उस युग का चित्र नहीं प्रस्तुत कर सकते। उन पात्रों को जीवन्त, सरस, क्रियाशील, विशिष्ट और सामान्य गुणसंपन्न निर्मित कर अभिप्रेत प्रभाव उत्पन्न किया जा सकता है। लेकिन उपर्युक्त नाटक के पात्र निर्जीव और कृत्रिम हैं। 'बल्कि मनुष्य के बदले आपके नाटक के पात्रों को नीरस और रूखे अर्थान्तरन्यास गढ़ने की कल कहें तो अनुचित न होगा। किन्तु इसके विपरीत हम देखते हैं आपके नाटक में राजा, मंत्री, कवि यहाँ तक कि संयोगिता बेचारी भी अपना पाडित्य ही प्रकाश करने के यत्न में हैरान हो रहे हैं—भला बताइए यह कौन सा ढंग भावों के दरसाने का है? कविता के मीठे रस के बदले नैयायिकों के सदृश कोरा तर्क वितर्क भरना भाव का गला ही घोंटना है कि और कुछ?' संयोगिता स्वयंवर के पात्र जितने भी कार्य करते हैं सब नीति से प्रभावित होकर, जैसे उनकी प्रवृत्तियाँ निर्जीव हो गई हैं ये पात्र कार्य करने की अपेक्षा भाषण देते हैं जिनमें नीति की बात अधिक होती है स्वाभावानुकूल राग-द्वेष की बात कम।

---

[१] हिंदी प्रदीप, १ अप्रैल सन् १८८६।

भिन्न भिन्न पात्रों में विभिन्नता भी नहीं है, सबके चेहरे एक से हैं। हमने जहाँ तक नाटक देखे उनमें पात्रों की व्यक्ति (Characterisatior) के भिन्न भिन्न होने ही से नाटक की शोभा देखा पर आपके पात्र सबके सब एक ही रस में सने उपदेश देने की हब्स में लथर पथर पाए गए और उस रस में आप ही की विद्या के प्रकाश का ज़हर भरा है—अर्थात् नाटक में पांडित्य नहीं वरन् मनुष्य के हृदय से आपको कितना गाढ़ा परिचय है यह दरसाना चाहिए पर यदि इसके विपरीत आप एकता, सच्ची प्रीति, आबरू विषयों पर अपने पात्रों के मुख से लेक्चर दिया चाहते हैं तो एक सलाह मेरी है उसको सुनिए-इस नाटक को काट छाँट इसमें से आठ दस (पैंफ्लेट) छोटे छोटे गुटके छपवा दीजिए और दूसरी बार जब दूसरा नाटक लिखने का हौसला कीजिएगा तब कृपा कर बेचारी निरपराधिनी कवित्व शक्ति के भाव का प्राण ऐसे निर्दयता से न लीजिएगा नहीं तो जिन कवियों से आप बार बार श्लोक, दोहे, चौपाई और वैत्र उध्रित कर के लिखते हैं वह बेचारे भाव उन्हीं कवियों के सामने जाय आपकी लेखिनी के दिए हुए अपने कोमल शरीर के घाव उनको दिखलायेंगे।"

भट्ट जी ने बड़ी बारीकी से पात्रों के हृदय और संवादों के कृत्रिम संबंधों का पर्दाफाश किया है। तत्कालीन महिलाएँ संयम और शालीनता की मूर्ति थीं। वे निर्लज्ज होकर अपने प्रेम का विज्ञापन नहीं कर सकती थीं। 'मैं आपकी कंठाभरण हूँ—मैं आपकी प्रेयसी और प्राणवल्लभा हूँ—इत्यादि २ इस तरह के वचन तो कृत्रिम प्रीतिवालीयों महाव्यभिचारिणी के मुख से भी न निकलेंगे—कदाचित् आप फुटनोट देकर यह लिखना भूल गए हैं कि यह वचन नटी की निपट निर्लज्जता प्रगट करने को लिखा गया है।' इसी प्रकार पृष्ट ११ में संयोगिता पृथ्वी राज से अपने ही प्रेम के बारे में अपनी सखी करनाटकी से कहती है—'फिर प्रेम क्या केवल अपने प्रयोजन की सिद्धि के लिए किया जाता है यह तो प्रेम का सबसे निकृष्ट भाव है' जी नहीं संयोगिता जी जरा आप चूक गई अभी आपकी उमर ही क्या होगी और बेशक ऐसी कच्ची उमर में आप से किसी पक्के तजुरबे की आशा करना ही वृथा है—सबसे निकृष्ट भाव प्रेम का हमसे सुनिए—आप सौ जान से अपने प्रियतम के ऊपर न्यौछावर हों पर यह तो बतलाइए कि यह लेक्चर देना आपने किससे सीखा—आप तन मन धन सबसे आसक्त हों कुछ हरज नहीं पर यदि आप अपने दर्शकों को निरा बालक समझ एक छोटा सा व्याख्यान देने का हौसला करेंगी तो न केवल आपकी प्रीति ही को मैं झूठी समझूंगा वरन् आपको भी निरी पाखंड और

कपट की कठपुतली मानूंगा यह आपने किस प्रेमी को देखा है कि अपने प्रेम की प्रशंसा अपने ही मुँह गावें।'

इसी प्रकार अन्य स्थानों पर चरित्र-चित्रण में दुर्बलता आ गई है। चरित्रों के किस पहलू को कहाँ किस रूप में व्यक्त करना चाहिए इसका ध्यान इस पुस्तक में नहीं रखा गया है। 'लाला जी आप यह नही सोचते कि किसी पुरुष का चरित्र या व्यापार कितना ही प्रशंसा के योग्य क्यों नहीं यदि वह आप खुद अपनी दशा की समालोचना करके डींग मारना आरंभ करेगा तो उस्से बढ़ के घृणित और कुत्सित और कौन दूसरा होगा।' 'लंगरी राय अपने को जवाँ मर्द पुरुष मान यह कहता है कि जिस तरह के व्यापार में मै प्रवृत्त हूँ वह अति श्लाघनीय है--इसलिए हे पृथ्वीराज मैं मरूँगा तो मेरा यश संसार में कल्पान्त रहेगा' यदि प्रशंसा का सहारा न हो तो काहे को रण क्षेत्र में कदम भी आप रखते। इस प्रकार भट्ट जी ने चरित्रों की बड़ी सूक्ष्मता से परीक्षा कर लेखक की चरित्र-निरीक्षण और चित्रण संबंधी भूलों का उद्घाटन किया है। संयोगिता पहली ही भेंट में पृथ्वीराज को शराब पीने को उत्साहित करती है यह भी भारतीय देवियों की मर्यादा के अनुकूल नही है। भट्ट जी ने दोषों का कटु रूप में उद्घाटन किया है किंतु सत्यता में संदेह नही। दोष-उद्घाटन आलोचना की प्राचीन पद्धति है किंतु भट्ट जी की दोष-उद्घाटन की कसौटी पुरानी रूढ़ नहीं, बल्कि कृति के स्वरूप और देश-काल की प्रकृति के अनुकूल है। नाटक में चरित्रों की स्वाभाविकता, सजीवता अपेक्षित होती है। ऐतिहासिक नाटकों में चरित्रों के निरीक्षण और उनके स्वाभाविक निर्वाह की समस्या और जटिल हो जाती है, उस काल की भावनाओं, विचार-पद्धतियों और आदर्शो की सुरक्षा आवश्यक होती है। पात्रों के संवाद मनोवैज्ञानिक होने चाहिए, मन गढ़ंत नहीं। इन बातों पर विचार करके भट्ट जी ने नई आलोचना की दिशा सूचित की है।

भट्ट जी की आलोचना का दूसरा रूप श्रीधर पाठक द्वारा अनूदित गोल्डस्मिथ की हरमिट नामक काव्य पुस्तक की समीक्षा में दिखाई पड़ा[१]। पाठक जी ने एकान्त-वासी योगी नाम से इसका अनुवाद किया है। इस आलोचना में भट्ट जी ने प्रशंसात्मक ढंग पर गुणों का उद्घाटन किया

[१] हिंदी प्रदीप, १ मई सन् १८८६।

है। इस आलोचना में पाठक जी की कविता के साथ साथ अपनी मातृ-भाषा की भी स्तुति की गई है। इससे स्वदेशाभिमान स्पष्ट लक्षित होता है जो आलोचना की वैज्ञानिक दृष्टि के लिए उपयुक्त नहीं। अंग्रेजी कविता अत्यंत उन्नत और विकसित है, उसे स्वदेशाभिमान में आकर भट्ट जी ने हिंदी से बहुत ही हीन सिद्ध किया है। 'शेष प्रशंसा के योग्य यह नवीन रचना इसलिए है कि अंगरेजी में जो पद्य था उसका अनुवाद भाषा में पद्यों ही में किया गया है--जहाँ जहाँ जितना ग्रंथकार ने अपनी ओर से मिलाया है वह भाग अधिक रसीला ओर माधुर्य पूर्ण है--हमारे मित्र पाठक महाशय ने अपने इस परिश्रम से हमें यह अच्छी तरह जता दिया कि कविता के पच्छिमी संस्कार (Western idea) हमारे लिए मनोरंजक और दिलचस्प नही हो सक्ते--इसमें संदेह नहीं अंगरेजी अत्यंत विस्तृत भाषा और उन्नति के शिखर पर चढ़ी हुई है परन्तु कविता के अंश में हमारी देशी भाषाओं से कभी होड़ नहीं कर सक्ती--ग्रिफिथ साहब का रामायण, शकुन्तला प्रभृति नाटकों का अनुवाद आदि इस बात का बड़ा पक्का सबूत है कि हमारी भाषाओं के काव्यों का अनुवाद जो और और भाषाओं में किया गया है वह कितना सर्वसम्मत और विद्वज्जनादरणीय हुआ वही अंगरेजी में पहले तो इतने अनूठे कोई काव्य हैं नही जो अनुवाद के योग्य हों हैं भी तो हमारी भाषा में उनका शब्दार्थ अनुवाद कदापि चोखा रसीला सर्वसम्मत और सर्वग्राह्य न होगा[१]।'

---

[१] वही,।

विकास युग (निर्णयात्मक आलोचना)

(सन् १९०१–२०)

आरंभ काल में जिन सामाजिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक गतिविधियों की विवेचना पहले हो चुकी है और जिन प्रवृत्तियों का परिचय प्राप्त हो चुका है, उन्हींका उत्तरोत्तर विकसित रूप विकास काल में लक्षित होता है। अतः हमारी चिंतनधाराओं की मूल प्रेरणाओं में कोई मौलिक अन्तर इन दोनों कालों में लक्षित नहीं होता। राष्ट्रीय संग्राम अधिक स्पष्ट और बलवान होता जा रहा था। विदेशी शासक और भारतीय जनता के बीच अविश्वास की खाई निरंतर गहरी ही होती जा रही थी और कांग्रेस के नेतृत्व में भारतीय जनता अपने अधिकारों और विदेशी अत्याचारों के प्रति अधिक जागरूक होती जा रही थी। तो भी कांग्रेस ने अभी नरम नीति का ही आश्रय लिया था। वह क्रांति में नहीं, शांतिमय उपायों से क्रमशः सुधारों में विश्वास रखने वाली थी। कांग्रेस से भिन्न ऐसे भी राजनीतिक दल थे जिनका प्रभाव वंगभंग के रूप में सन् १९०५ में प्रस्फुटित हुआ था।

सामाजिक सुधारों का आंदोलन आरंभ युग में ही शुरू हो गया था। दयानन्द सरस्वती जैसे मनीषी आरंभ युग में ही भारतीय संस्कृति के पुन-रुत्थान के संदेशवाहक थे। विकास काल में पुनरुत्थान का यह स्वर अधिकाधिक बलवान हो उठा था। आर्यसमाज का आन्दोलन अपने अतीत के महापुरुषों, देवियों और गौरवगाथाओं को नये प्रकाश में लाकर एक ओर तो वर्तमान रूढ़ियों और भेद भावों का उन्मूलन कर रहा था दूसरी ओर अंग्रेजी सभ्यता की चकाचौंध में बेहोश हो जाने वालों की भी खबर ले रहा था। इस काल में सामाजिक सुधार की भावना अत्यंत वेगवान रूप में लक्षित होती है। भारतेन्दु बाबू ने जिस राष्ट्रीय भावना का उन्मेष किया था, विकास काल में उसका निर्वाह तो हुआ ही, उससे अधिक सामाजिक उत्थान का भाव जागरूक हुआ। विकास काल की रचनाओं और आलोचनाओं में सामाजिक उपयोगिता का जो स्वर सुनाई पड़ता है वह इसी सामाजिक जागरण का परिणाम था। राजनीतिक

और सामाजिक रचनाओं में क्रांति की उग्रता के स्थान पर सुधार का शांत आंदोलन है जिसका मूल उस काल की राजनीतिक और सामाजिक गतिविधि में दिखाई पड़ता है।

विकास कालीन आलोचना की मुख्य कसौटी सामाजिक उपयोगिता थी। इस काल में भी आरंभ काल की ही भाँति साहित्य के विविध अंगों के निर्माण और व्याख्या में साहित्य के मौलिक आभ्यंतर तत्त्वों का दर्शन कम होता है और बाहरी सामयिक प्रभावों का दर्शन अधिक। मेरे कहने का तात्पर्य यह है कि विकास काल में भी रचना तो रचना, आलोचना में भी साहित्यिक मानदण्ड का अभाव दिखाई पड़ता है। इसका कारण यही है कि इस युग के राजनीतिक और सामाजिक नेताओं के सुधारवादी आंदोलनों के साथ इस युग के साहित्यिक नेता भी देश और समाज के पुनरुत्थान के लिए व्यग्र हो उठे थे। इस व्यग्रता में साहित्य के भीतरी सौंदर्य-तत्त्वों की ओर दृष्टि न जाना स्वाभाविक था। लेखकों के सामने रीतिकालीन साहित्य का अतीत पड़ा था जो रह रह कर उन्हें पीड़ा पहुँचा रहा था क्योंकि उसमें केवल वासना और कामुकता के अनुपयोगी चित्र थे। ऐसे साहित्य से जी ऊब जाने के कारण वे इसका घोर विरोध करने लगे थे। आज देश और समाज का उद्धार करना है। इसलिए ऐसे साहित्य की रचना की आवश्यकता है जो देश के युवकों को बलिदान और त्याग का पाठ पढ़ा सके, उनमें ओज और साहस भर सके, हमारी देवियों को एक ओर घरों की चहारदीवारी से निकाल कर वीरांगना बना सके दूसरी ओर इंगलिश लेडियों की चटक मटक से दूर रख भारत के अतीत का स्मरण दिला सके। इसलिए इस काल में इस प्रकार के साहित्य की काफी धूम रही और इनका मूल्यांकन भी इसी ढंग से किया गया। जिन रचनाओं में स्पष्ट रूप से देश और समाज सुधार की कोई बात दृष्टिगत नहीं हुई उन्हें साधारण कोटि के साहित्य में रखा गया।

पुनरुत्थानवादी आवेश में ही अपने देश के वीर पुरुषों और देवियों की गाथा गाने के साथ साहित्य में अतीत के महाकवियों की रचनाओं की समीक्षा का सूत्रपात किया गया। दूसरी ओर आधुनिक आवश्यकताओं के प्रति जागरूक करनेवाली रचनाएं तथा उनकी समीक्षाएं होती रहीं।

इस काल की समीक्षा में जो दूसरी प्रमुख बात लक्षित होती है वह है समीक्षाओं का उग्र और वक्र स्वर। और यह उग्र और वक्र स्वर तत्कालीन आर्य समाजियों के स्वरों से मिलता जुलता है। विचार करना है कि तत्कालीन समीक्षाओं में इस उग्र और वक्र स्वर तथा आपसी दाँव पेंच का कारण क्या था। हमें तो सर्जन-क्रिया की अधिकता पर नियंत्रण (Restraint to Production) करना ही इसका मूल कारण ज्ञात होता है। वह युग देशी और विदेशी संस्कृतियों की संक्रांति का युग तो था ही, खड़ी बोली हिंदी के रूप-निर्माण और प्रसार का भी युग था। लेखक दूसरों की देखादेखी उपन्यास कविता या नाटक लिख चलने थे या अंधाधुंध अनुवाद ही करने लगते थे। इस कार्य में लेखक अपनी शक्ति और रुचि पर ध्यान न देकर अनुकरण पर ध्यान देते थे। इसलिए साहित्य का बाजार अनेक हीन और अनुपयोगी रचनाओं से भरा जा रहा था। इन रचनाओं में हिंदी भी मनमाने ढंग की होती जा रही थी। उपयोगिता की दृष्टि से भी कोई कोई निरर्थक सिद्ध होती थीं। "आज कल हिंदी में नाम के लिए तो बहुत से नाटकों और उपन्यासों के विज्ञापन निकला करते हैं और प्रकाशित होकर बिका भी करते है परन्तु उनमें से अच्छे बहुत ही कम हैं। लेखकों को चाहिए कि जहां तक हो सके अपनी भाषा को उन्नत करने के लिए अच्छे अच्छे शिक्षाप्रद और मनोरंजक नाटक और उपन्यास प्रकाशित करें।[1]" इस अनुपयोगी उत्पादन के ढेर पर नियंत्रण रखने के लिए ही द्विवेदी जी प्रभृति विद्वानों को अपनी तीखी लेखनी चलानी पड़ती थी। वे उन रचनाओ को काटते छांटते थे, उनकी भाषा ठीक करते थे और उनकी खरी खरी आलोचना करते थे जिससे अनियंत्रित उत्पादन बन्द हो। उन्होंने १९१७ खंड २ की सरस्वती में "समालोचना का सत्कार" शीर्षक निबंध में यह लिखा है कि लेखक समालोचकों द्वारा अपना दोष निर्देश देखकर उन्हें गाली देते है और अपने ही छद्म नामों से या मित्रों से लेख लिख लिखा कर अपनी प्रशंसा छापते फिरते है। ऐसी अवस्था में तत्कालीन समालोचना के स्वर का उग्र और वक्र हो जाना स्वाभाविक था।

---

[1] हिंदी के नाटक और उपन्यास, सरस्वती, लेखक श्यामसुंदर जोशी, सन् १९१७ खण्ड २, पृ० १२७।

उत्पादन पर नियंत्रण के कारण ही विकास काल में समीक्षा का रूप जितना व्यवस्थापरक हो उठा था उतना विश्लेषक नहीं बन सका था। जहाँ समसामयिक कवियों और लेखकों की कृतियों की इस प्रकार सामाजिक उपयोगिता, नैतिकता और हिंदी के शुद्ध स्वरूप की दृष्टि से छानबीन हो रही थी वहीं पूर्ववर्ती कवियों की रचनाओं को तुलनात्मक और रीतिपद्धति पर देखा जा रहा था। देव और बिहारी के विवाद में यही बात अधिक जोरदार ढंग से आती थी कि किसके रूपकों का निर्वाह उत्तम है और किसका बाधित हो गया है, किसके रस सर्वांग अविकल हैं, किसकी नायिकायें साहित्यशास्त्र-सम्मत हैं। रीतिकालीन कविता की समीक्षा के लिए यदि इस प्रकार की कसौटी को सामने रखा गया तो यह उस युग की कविता के साथ एक तरह से न्याय ही हुआ, क्योंकि किसी युग की रचना को देखने के पहले उस युग की मूल प्रेरणा को भी देखना आवश्यक होता है। लेकिन भिन्न-भिन्न युगों की भिन्न-भिन्न प्रेरणाओं के उपरान्त भी सभी युग के साहित्यों में एक सामान्य गुण होता है वह है मानवीय भावों और संवेदनाओं का उदात्त और स्वाभाविक चित्रण। विकास काल के समीक्षक रीतिकाल की कविताओं को इस कसौटी पर न कस कर केवल नायिकाओं की विविध अंग-भंगिमाओं और श्रृंगारिक चेष्टाओं की ही दाद देते रहे, काव्य के वहिरंगों की ही शोभा परखते रहे। इसके लिए उन्होंने शुद्ध साहित्यिक दृष्टिकोण तो अपनाया किंतु साहित्यिक व्याख्या की गहराई में वे नही उतर सके। पद्मसिंह शर्मा, कृष्णविहारी मिश्र, लाला भगवानदीन आदि इसी रुचि और विचार के समीक्षक थे। लाला भगवानदीन तो सर्वथा रीतिसमीक्षा के ऊपरी स्तर तक ही परिमित बने रहे। पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी ने भी प्राचीन कवियों की रचनाओं पर लेखनी चलाई किंतु वे उन कवियों की भावसत्ता और नैतिकता पर विशेष बल देते रहे।

आरंभ युग में गुण-दोष निर्णायक समीक्षा का ही प्रधान रूप दिखाई पड़ता है। विकास युग समालोचना के नए रूपों को समझते हुए भी उपर्युक्त पद्धति से सर्वथा मुक्त नहीं हो सका था। किन्हीं किन्हीं लेखकों में तो वही प्रधान रूप से लक्षित होती है। गुण-दोष विवेचन का ढंग भी प्रभाववादी ही रहा। प्रशंसात्मक या निन्दात्मक वाक्यों की झड़ी के

बीच में गुण-दोष के मूल रूप का पता लगाना संभव नहीं रह पाता था। संक्षेप में विकास कालीन निर्णयात्मक समीक्षा की यही रूप रेखा है ।

उपर्युक्त भूमिका के आधार पर हम विकास युग को दो प्रवृत्ति-विधायक वर्गों में विभाजित कर सकते हैं—(१) उपयोगितावादी प्रवृत्ति (२) रीतिवादी प्रवृत्ति । पहली प्रवृत्ति में वे सभी आलोचनाएं परिगणित होंगी जिन्होंने रचनाओं का मूल्यांकन करते समय सामाजिक सुधार, राष्ट्रीय हित या किसी न किसी प्रकार की नैतिकता की कसौटी को सामने रखा। इसका यह तात्पर्य नहीं कि इन आलोचनाओं ने कलात्मक सौंदर्य को नगण्य समझा, उसका भी सम्मान किया किंतु नैतिकता का स्वर प्रधान रहा । ऐसी आलोचनाओं में सामयिक कृतियों की आलोचनाएं तो थीं ही, पूर्व-कालीन संस्कृत और हिंदी कवियों की कृतियों की समीक्षाएँ भी सम्मिलित हैं । पूर्वकालीन कवियों की रचनाओं की महत्ता स्थापित करते समय उनके कलात्मक सौंदर्य की चर्चा के साथ प्रधान रूप से उनके नैतिक स्वर की ही ओर ध्यान दिया गया है । कहना चाहें तो कह सकते हैं कि इन आलोचनाओं ने रचनाओं के विषय पक्ष या आत्म पक्ष को प्रधानता दी । समाजोपयोगी नए नए विषयों की अभिव्यक्ति न आलोचकों की दृष्टि में श्रेयष्कर थी, यदि अभिव्यक्ति के स्वर में अधिक परिमार्जन और कलात्मकता नही आ पाई थी तो कोई बात नही । पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी, मिश्र बंधुओं[१] और पं० रामचंद्र शुक्ल[२] को हम इसी श्रेणी में रख सकते हैं ।

---

[१] यद्यपि मिश्र बंधुओं पर रीतिकालीन आदर्शों की भी छाप थी किंतु कुल मिलाकर वे नए समाज के साथ थे और नैतिकता का स्वर उनमें भी जागरूक था, व्याख्या आगे होगी ।

[२] पं० रामचंद्र शुक्ल को विकास काल के समीक्षकों में न रख कर स्वतंत्र रूप से ही उनकी आलोचनाओं पर विचार करना न्यायोचित होगा। क्योंकि एक तो विकास काल में उनकी अलोचना का यौवन काल नहीं था दूसरे उनकी आलोचनाओं की विश्लेषणात्मक गहराई और साहित्यिक मानदण्ड विकास काल के बहुत बाद की वस्तु थे । लेकिन चूँकि उनके छिटफुट निबंध विकास युग में भी प्रकाशित हुए और उनका नैतिक मान-दण्ड कुछ वैसा ही था (जो कि बाद में भी रहा) । इसलिए यहाँ शुक्ल जी का नामोल्लेख कर दिया गया है ।

रीतिवादी प्रवृत्ति में हम उन आलोचनाओं को ले सकते हैं जो नवीन विषय के ग्रहण के स्थान पर रीतिकालीन कविता को आदर्श मानकर कला पक्ष—भाषा, छन्द, अलंकार, चमत्कार आदि के परिमार्जन पर बल देते थे। ये उपयोगिता और नैतिकता को साहित्य के लिए आवश्यक नहीं मानते थे। देव और बिहारी इन आलोचकों के आदर्श थे। इन्हीं दो कवियों के चमत्कारों की होड़ को लेकर विकास युग में तुलनात्मक समीक्षा का स्वर अत्यंत उग्र रहा। ऊपर ऊपर से देखने पर इस प्रवृत्ति का मेल उस युग से कहीं बैठता हुआ दिखाई नहीं पड़ता। किंतु विचार करने पर यह ज्ञात होता है कि रचना-कौशल पर विशेष बल देने की यह प्रवृत्ति स्यात् इसलिए फूट निकली कि पहली प्रवृत्ति के लोग नवीन विषयों, नैतिकता और उपदेशों पर विशेष ध्यान देकर कला पक्ष की उपेक्षा करने लगे थे या स्वभावतः कला पक्ष प्रौढ़ नहीं हो पाया था। दूसरी प्रवृत्ति के अंतर्गत पं० पद्मसिंह शर्मा, कृष्णविहारी मिश्र, लाला भगवानदीन का नाम लिया जा सकता है।

लेकिन जहाँ तक आलोचना की शैली का प्रश्न है दोनों प्रवृत्तियों के लोगों में उसके कुछ समान गुण-धर्म दिखाई पड़ते हैं–जैसे हास्य और व्यंग्य से पूर्ण तार्किक शैली, व्यक्तिगत कटाक्ष, प्रभाववादी स्वर, गुण-दोष प्रदर्शन। कुल मिलाकर विकास युग में पाश्चात्य समालोचना से प्रभावित होने पर भी आलोचना का कोई साहित्यिक मानदण्ड निर्धारित नहीं हो सका था और न तो गंभीर विश्लेषणात्मक बौद्धिकता ही आ पाई थी। इन प्रमुख लेखकों के अतिरिक्त अनेक छोटे वड़े आलोचकों की आलोचनाएँ तत्कालीन पत्र-पत्रिकाओं में दिखाई पड़ती है।

पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी

विकास कालीन सैद्धांतिक समीक्षा में वे सब निबंध परिगणित होंगे जो साहित्य के किसी नए पुराने सिद्धांत को लेकर लिखे गए हैं। व्यावहारिक समीक्षा में भी विषय की दृष्टि से दो कोटियां हो सकती हैं—(१) प्राचीन कवियों के संबंध में लिखी गई समीक्षाएँ (२) समकालीन कवियों और लेखकों की कृतियों की की गई समीक्षाएँ। प्राचीन कवियों की कृतियों की समीक्षा में स्पष्ट रूप से दो बातें लक्षित होती हैं—(१) विकास कालीन समीक्षकों ने प्राचीन कवियों की जीवनियों की खोज की है (२) उनकी कृतियों की साहित्यिक परीक्षाएँ की हैं।

पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी अपने युग के अग्रगण्य आलोचक थे। अतः उनमें समीक्षा के सभी रूपों का विद्यमान रहना स्वाभाविक है। सबसे पहले द्विवेदी जी द्वारा की गई प्राचीन कवियों की समीक्षाओं पर विचार करना चाहिए। द्विवेदी जी ने "विक्रमांक देव चरित चर्चा," "नैषध चरित चर्चा" "कालिदास" कालिदास की निरंकुशता जैसे बड़े बड़े निबंध लिखकर प्राचीन कवियों की कृतियों की समीक्षा का सूत्रपात किया। इन निबंधों में से पहले दो विक्रमांक देव और श्रीहर्ष के जीवन की परिचयात्मक व्याख्या प्रस्तुत करते हैं। अन्तःसाक्ष्यों के आधार पर लेखक ने इन दोनों व्यक्तियों के जीवन का काल-निर्णय किया है। बीच बीच में लेखक ने काव्यात्मक स्थलों की प्रशंसा भी की है। कवियों और काव्य के नायकों की जीवनियों के संबंध में खोज करने की प्रवृत्ति अंग्रेजों की देन है। जब डा० बूलर, डा० ग्रियर्सन, डा० जकोबी जैसे पाश्चात्य विद्वानों ने भारतीय साहित्यकारों की जीवनियों के संबंध में खोज करनी आरंभ की तो यहाँ की साहित्यिक संस्थाओं और विद्वानों ने भी इधर पग बढ़ाया। नागरी प्रचारिणी सभा ने इस दिशा में महत्वपूर्ण कार्य आरंभ किया। द्विवेदी जी के खोज संबंधी कार्य इसी परिस्थिति के परिणाम थे। लेकिन द्विवेदी जी के खोज संबंधी कार्यों के संबंध में यह कहा जा सकता है कि उनमें अनेक ग्रंथों और अन्य वाह्य प्रमाणों की छानबीन करके गहरी गवेषणा की प्रवृत्ति लक्षित नहीं होती, वे किसी एक पुस्तक को लेकर उसी की कविताओं के आधार पर या एकाध और की सहायता से कवि या चरित नायक के जीवन के संबंध में अपना निर्णय दिया करते थे और साथ साथ उसके काव्यात्मक सौष्ठव पर भी कभी परिचयात्मक ढंग से, कभी प्रभावात्मक ढंग से प्रकाश डालते चलते थे। बीच बीच में उस काव्य के गुण-दोषों का संक्षिप्त परिचय भी दे दिया करते थे। जैसे—

"बिक्रमांक देव चरित, जिस पर हम यह निबंध लिख रहे हैं, जीवन चरितों में गिना तो अवश्य जा सकता है, परन्तु उसमें चरित सम्बन्धी सामग्री बहुत नहीं है। कवि ने साहित्य-शास्त्र के नियमों का अनुसरण करके सर्ग के सर्ग ऋतु, जल-विहार, वाटिका-विहार, सायं और प्रातःकाल आदि के वर्णन से भर दिये। इस काव्य में १८ सर्ग हैं, उनमें से यदि कवि अप्रासंगिक बातों का वर्णन न करता तो केवल आठ नौ सर्ग में

पुस्तक समाप्त हो गई होती । सातवें से तेरहवें सर्ग तक की तो कोई आवश्यकता ही न थी, उनके न होने से विक्रमांक के चरित वर्णन में कुछ भी न्यूनता न आती । परन्तु ऋतु और नायिका के सर्वांग आदि का वर्णन महाकाव्य का लक्षण माना गया है, इसलिए विल्हण को इतने सर्ग और बढ़ाने पड़े । आदि से लेकर अन्त तक इस काव्य के लिखे जाने की प्रणाली ऐसी आलंकारिक और अतिशयोक्तियों से पूर्ण है कि कहीं कही वर्णन करने योग्य मुख्य मुख्य बातें भी छूट गई हैं और यदि नही भी छूटी तो अप्रासंगिक विषयों के वर्णन से ऐसी ढक सी गई हैं कि उनका पता लगाना कठिन सा हो गया है[१] ।"

निबन्ध के अन्त में विल्हण की कुछ कविताओं का उद्धरण देकर हिंदी में अनुवाद कर दिया गया है और कहीं कहीं उन पर टिप्पणी भी जड़ दी गई है । इस पुस्तक के परिशिष्ट में "विल्हड़ काव्यम्" नामक पुस्तिका की कथा देकर उसकी ऐतिहासिकता पर विचार किया गया है । "नैषध चरित चर्चा" की भी प्रकृति यही है ।

ऐतिहासिक परिचयात्मक निबन्धों के अतिरिक्त उन्होंने प्राचीन कवियों के साहित्य का सौदर्य व्यंजित करनेवाले निबंध भी लिखे हैं । पहले ही इस बात की ओर संकेत किया गया है कि प्राचीन कवियों के साहित्य के संबंध में चर्चा करना उस युग की प्रवृत्ति थी और इसके भी मूल में वही भारतीयता, गौरवमय अतीत के प्रति गर्व की भावना निहित थी । इसीलिए इन कवियों की आलोचनाएँ प्रशंसाओं से ही भरी दिखाई पड़ती हैं । पूर्ववर्ती कवियों के संबंध में लोगों के मन में इतना आदर भाव था कि वे उन पर लिखे गए कुछ निबंधों से ही संतुष्ट नही थे । उन्हें इस बात की कमी बार बार खटकती थी कि इन कवियों पर कोई समालोचना ग्रंथ नहीं है—

"तुलसीदास, भारतेंदु, पंडित प्रतापनारायण मिश्र.......आदि हिंदी के धुरंधर लेखकों की पुस्तकों की समालोचना में कितने ग्रंथ लिखे गए हैं ? यही क्यों प्राचीन भारतवर्ष के संस्कृत कवियों पर ही कितने समालोचन ग्रंथ विद्यमान है[१] ?"

---

[१] बिक्रमांक देवचरित चर्चा, पृ० ७–८ ।

[२] समालोचना निबंध, बा० कालिदास कपूर, सरस्वती, खण्ड १, सन् १९१८, पृ० १८१ ।

इस प्रवृत्ति के मूल में पुनरुत्थान का बल तो था ही अंग्रेजी साहित्य का आदर्श भी था। उनके यहाँ पूर्ववर्ती कवियों की कृतियों पर अनेक समीक्षा ग्रंथ पाए जाते हैं। हिंदी विद्वानों को यह कमी बार बार खटकती थी। द्विवेदी जी ने अपने युग के अन्य व्यक्तियों के साथ इस दिशा में भी पैर बढ़ाया। और उन्होंने कालिदास, की समालोचना[१], कालिदास की निरंकुशता, कालिदास की विद्वता[२], मेघदूत रहस्य[३], प्राचीन कवियों के काव्यों में दोषोद्भावना[४] आदि निबंध लिखे। इन निबंधों में लेखक ने कवि कालिदास के काव्य के उदात्त वैभव की अभ्यर्थना की है। इनमें उस समीक्षा सुलभ विश्लेषणात्मक प्रणाली का अभाव है जिसमें सामाजिक, मनोवैज्ञानिक और कलात्मक दृष्टियों से साहित्य की विभिन्न और सूक्ष्म से सूक्ष्म छवियों का आकलन किया जाता है। कालिदास की कृतियों की आलोचना में भी द्विवेदी जी ने अपनी नैतिक दृष्टि को बराबर साथ रखा। कालिदास की कविताओं की अभ्यर्थना द्विवेदी जी ने इसीलिए की है कि उन्होंने वह सृष्टि की है जो पाठकों को केवल क्षणिक अस्थाई आनन्द ही नहीं देती बल्कि समाज में एक उच्च नैतिक आनन्द की भी स्थापना करती है। द्विवेदी जी सुन्दर सुन्दर चरित्रों की सृष्टि के पक्षपाती थे परन्तु उनके 'सुन्दर' से उनकी नैतिकता संपृक्त थी। "कवि का प्रधान गुण सृष्टि-नैपुण्य है। सुंदर सुंदर चरित्रों की सृष्टि और उस चरित्रावली का देश, काल और अवस्था के अनुसार काव्य में समावेश करना ही कवि का सर्वश्रेष्ठ कौशल है।"

"जिस काव्य से संसार का उपकार-साधन नहीं हुआ वह उत्तम काव्य नहीं कहा जा सकता। समुद्र के किनारे बैठ कर अस्तगमनोन्मुख सूर्य की शोभा को देखना बहुत ही आनन्ददायक दृश्य है······परंतु उनके अवलोकन से क्षण स्थायी आनंद के सिवा दर्शकों और पाठकों का और कोई हित-साधन नहीं हो सकता। उससे कोई शिक्षा नहीं मिल सकती।

---

[१] सरस्वती, सन् १९११, पृ० ३११।

[२] वही, पृ० ४२५।

[३] वही, पृ० ३६५ (भुजंग भूषण भट्टाचार्य नाम से लिखा हुआ)।

[४] वही, पृ० १५९, २२३, २६२।

जिस सृष्टि से आमोद-प्रमोद के अतिरिक्त और कोई लाभ नहीं वह काव्य उत्कृष्ट नहीं[१] ।"

द्विवेदी जी कालिदास को इसीलिए इतना महान कवि समझते थे कि उनकी काव्य-सृष्टि में कोई एक निर्दिष्ट विषय नहीं है बल्कि उसमें देश, काल और पात्र के रूप, गुण और कार्य का सामूहिक यथार्थ सौंदर्य चित्रित है, जिससे पाठकों को एक सक्रिय आनन्द की प्राप्ति होती है, उनका मन परिष्कृत होता है, उन्हें जीवन की ऊँची शिक्षाएँ मिलती हैं। जिसमें शिक्षा तत्त्व का अभाव हो वह काव्य द्विवेदी जी की दृष्टि में अपने समस्त कलात्मक और भावात्मक सौंदर्य के उपरान्त भी उच्चकोटि का काव्य होने का अधिकारी नहीं है। इसीलिए उन्होंने कवि कालिदास के मेघदूत, विक्रमोर्वशी और मालविकाग्निमित्र को उच्च श्रेणी का काव्य तो माना, लेकिन वैसा उच्चकोटि का नहीं जैसा कि रघुवंश। यह बात द्विवेदी जी ने स्वयं नहीं लिखी है, बल्कि उन्होंने 'विद्याभूषण' जी के 'कालिदास' ग्रंथ की समीक्षा करते समय जो उनके मतों से सहमति प्रकट की है या विरोध नहीं किया है उससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है। द्विवेदी जी ने विद्याभूषण के जिन अंशों को उद्धृत किया है वे ये है—"मेघदूत में कोई ऐसा आदर्श चरित्र नहीं जिससे कोई लोक हितकर या समाज हितकर शिक्षा मिल सके। राम, सीता और दुष्यन्त-शकुन्तला के आदर्श चरित्र से समाज का बहुत कुछ उपकार साधन हो सकता है परंतु मेघदूत के यक्ष और यक्ष पत्नी के चरित्र से उस तरह का कोई उच्च उद्देश्य साधन नहीं हो सकता।"

"विक्रमोर्वशी और मालविकाग्निमित्र में समाज के लिए हितकर आदर्श चरित्र नहीं। महाकवि ने वैसा चरित्र चित्रण करने का प्रयास नहीं किया।"

"नैतिकता की कसौटी साहित्य और समाज के लिए आवश्यक और उपादेय होते हुए भी सब कुछ नहीं हो सकती। साहित्य का एक रूप वह भी होता है जहाँ नैतिकता का संकेत या तो बहुत सूक्ष्म रूप से होता है या बिलकुल नहीं होता, तो भी वह साहित्य-पाठकों के हृदय को,

---

[१] सरस्वती, कालिदास की समालोचना, पृ० ३११। सन् १९११।

उनकी संवेदनाओं को किसी [१]रस-धारा में निमग्न कर देने में समर्थ होता है। पाठकों की भावसत्ता काव्य-रस में निमग्न होकर समृद्ध होती है उनके हृदय का परिष्कार होता है, सौंदर्य-बोध बढ़ता है। स्पष्ट नैतिकता का स्वरूप इतिवृत्त-काव्यों में हम भले ही आसानी से देख और दिखा सकते हैं किन्तु गीत काव्यों में उसका स्वरूप या तो व्यंग्य रहता है या बिलकुल नहीं रहता। हां, इन गीत काव्यों में भी जहाँ अति-वैयक्तिक भावनाएँ या अश्लील वासनाएँ या किसी प्रकार के समाज विरोधी तत्त्व रूप ग्रहण करते हैं वहाँ पहले तो पाठकों के हृदय में साधारणीकरण न हो सकने के कारण रसानुभूति नही हो पाती है और यदि किसी प्रकार हो भी पाती है तो बड़ी हीन कोटि की। किन्तु जहाँ इन दोषों से मुक्त होकर गीत पाठकों को रसानन्द में डुबो देते हैं वहाँ वे उच्च कोटि के काव्य माने जाते हैं। सामाजिक नैतिकता का कठोर मानदण्ड सामने रखने पर हमें सचमुच ही मेघदूत जैसे उच्च कोटि के गीत काव्य को साहित्य से वहिष्कृत करना पड़ेगा। सूरदास का "भ्रमर गीत" यदि कृष्ण ओर गोपियों के बीच के सांकेतिक संबंधों को बिलकुल छोड़ कर लौकिक संबंधों के चित्र के ही रूप में गृहीत हो तो भी उसका सौंदर्य और मूल्य किंचित् कम नहीं होता। यही बात विद्यापति और जयदेव के गीतों के संबंध में भी कही जा सकती है।

यदि नैतिकता की शिक्षा का ही मानदण्ड सामने रखिए तो भी मेघदूत आपको निराश नहीं करेगा। उसमें नैतिकता व्यंग्य है। रवींद्रनाथ टैगोर ने "मेसेज आव दी फारेस्ट" में मेघदूत के नैतिक स्वर की व्याख्या करते हुए लिखा है कि यक्ष अपनी पत्नी के प्रेम-पाश में बँध कर अपने स्वामी कुबेर का ध्यान ही भूल गया था। इस अपराध के कारण—वैयक्तिक वासना पूर्ति के लिए कर्तव्य की उपेक्षा करने के कारण—उसे देश-वहिष्कृत होने का शाप मिला और जब यक्ष ने रामगिरि पर्वत पर अपने को तपा कर शुद्ध किया तो वह शाप से मुक्त हुआ। साधना से ही जीवन उज्वल होता है।

लेकिन लगता है कि विद्याभूषण जी के उपर्युक्त मतों की प्रशंसा करते हुए भी या उनका विरोध न करते हुए भी मेघदूत आदि ग्रंथों के संबंध

---

[१] यहाँ रस का अर्थ सर्वथा शास्त्रीय रूप में न लेकर संवेदनशीलता के रूप में लिया गया है।

में द्विवेदी जी के वे ही मत नहीं थे जो विद्याभूषण जी के थे। उन्होंने भुजंग भूषण भट्टाचार्य नाम से 'मेघदूत [1]रहस्य' नामक निबंध लिखा था। उसमें उन्होंने मेघदूत काव्य की बड़ी सुन्दर प्रशंसात्मक समीक्षा की है। मेघदूत काव्य के भीतर जो स्वर है उसे द्विवेदी जी ने पहचाना है। यह अवश्य है कि द्विवेदी जी का मानदण्ड वही आदर्शवादी था जो उनके तथा उनके युग के व्यक्तित्व का स्वभाव था। मेघदूत के रस, सुन्दर उक्तियों, स्वाभाविक चित्रणों, सूक्ष्मदर्शिता तथा भाषा और छंद की उपयुक्तता और परिपक्वता पर विचार करते करते द्विवेदी जी अपने मूल विषय (आदर्श पक्ष) को कभी नहीं छोड़ते। मेघदूत में दिखाई पड़ने वाले प्रेम और करुणा की त्यागशील वृत्तियों का उन्होंने दिग्दर्शन कराया है। यदि वह आदर्श प्रेम न होता तो मेघदूत अपनी कलात्मक सफलता के बावजूद द्विवेदी जी को इतना प्रिय न होता।

"विषय-वासनाओं की तृप्ति के लिए जिस प्रेम की उत्पत्ति होती है वह नीच प्रेम है। वह निन्द्य और दूषित समझा जाता है। निर्व्याज प्रेम ही उच्च प्रेम है। निर्व्याज प्रेम अवान्तर बातों की कुछ भी परवा नहीं करता। मेघदूत का यक्ष निर्व्याज प्रेमी है, उसका हृदय बड़ा ही उदार है, उसमें प्रेम की मात्रा इतनी अधिक है कि ईर्ष्या, द्वेष, क्रोध, हिंसा आदि विकारों के लिये जगह ही नहीं[2]।"

"मनुष्य प्रेम से ईश्वर संबंधी प्रेम की उत्पत्ति हो सकती है गोपियों के प्रेम को आप लौकिक न समझिए। वह सर्वथा अलौकिक था। प्रेम की महिमा अकथनीय है जिसने उसे कुछ भी जाना वह कालिदास के मेघदूत के रहस्य को भी जान सकता है।"[3]

इससे यह स्पष्ट है कि द्विवेदी जी का मानदण्ड आदर्शवादी था लेकिन यह भी स्पष्ट है कि वे लोग आदर्शों को युगानुरूप देखने वाले थे और कलात्मक सौंदर्य की भी क़द्र करने वाले थे। वे आदर्शों को उपदेश के रूप में वर्णित नहीं वरन् स्वस्थ्य पात्रों की सृष्टि द्वारा व्यंजित करने के

---

[1] सरस्वती, सन् १९११, पृ० ३६५।
[2] सरस्वती, सन् १९११।
[3] वही।

पक्षपाती थे । "जिस कवि में देश, काल और अवस्था के अनुकूल सुन्दर सृष्टि करने की क्षमता नहीं वह सर्वश्रेष्ठ काव्य नहीं लिख सकता ।" "कवि का प्रधान गुण सृष्टि नैपुण्य है । सुन्दर सुन्दर चरित्रों की सृष्टि और उस चरित्रावली का देश-काल और अवस्था के अनुसार काव्य में समावेश करना ही कवि का सर्वश्रेष्ठ कौशल है ।"

ये गुण कालिदास में वर्तमान थे। अतएव कालिदास द्विवेदी जी के सबसे प्रिय कवि थे । और उनकी समीक्षा में द्विवेदी जी ने विश्लेषण के स्थान पर स्तुति ही अधिक की थी (या यह भी कहा जा सकता है कि अभी तक गंभीर विश्लेषणात्मक समीक्षा का स्वरूप सामने नहीं आ सका था) ।

द्विवेदी जी बड़े निर्भीक और नवीन दृष्टि संपन्न समीक्षक थे । वे अपनी सीमाओं के साथ जहाँ तक आगे बढ़ने के लिए स्थान पाते गये, बढ़ते गए । इसका प्रमाण यह है कि अनेक लोगों का विरोध और उपहास झेलते हुए भी उन्होंने कालिदास जैसे अपने श्रद्धेय कवि के दोषों (काव्य की भाषा में निरंकुशताओं) का निर्भीक भाव से दिग्दर्शन कराया। हिंदी समीक्षकों के लिए यह एक नई बात थी । इस दोष निदर्शन में उन्होंने काव्य के बाहरी और भीतरी सभी तत्त्वों की त्रुटियों पर प्रकाश डाला । जैसे—(१) उपमा की हीनता (२) उद्वेगजनक उक्ति (३) अनौचित्य दर्शक उक्ति (४) रस संबंधी अनौचित्य (५) व्याकरण संबंधी अनौचित्य (६) नाम संबंधी अनौचित्य (७) इतिहास संबंधी अनौचित्य (८) यतिभंग (९) पुनरुक्ति (१०) अधिक पदत्व (११) श्रुति कटुत्व (१२) जुगुप्सा व्यंजक (१३) ग्राम्य भाव व्यंजक (१४) अविमृष्ट विधेयांश (१५) निहतार्थता (१६) क्रमभंगता ।

इस दोष-निदर्शन से एक बात स्पष्ट हो जाती है कि विकास काल में (कम से कम द्विवेदी जी में) आलोचना की यह प्रवृत्ति तो जाग ही रही थी कि साहित्य के क्षेत्र में सबकी कृतियों के गुणदोषों की खरी समीक्षा करने का सबको अधिकार है । आज तक श्रद्धेय लोगों की दो कौड़ी की कृतियों की भी जब प्रशंसा की जाती थी या कम से कम उनका उद्घाटन न कर अच्छी कृतियों का ही स्तवन किया जाता था तब द्विवेदी जी ने एक नया काम शुरू कर आलोचना के विश्लेषणात्मक स्वरूप

की ओर संकेत किया । यह संकेत मात्र ही था क्योंकि यदि कालिदास के किसी ग्रंथ विशेष के गुणदोष की विवेचना एक ही साथ होती तो निश्चय ही विश्लेषणात्मक समीक्षा का एक रूप सामने आया होता । लेकिन हुआ यह कि एक स्थान पर उनकी भूरि भूरि प्रशंसा कर दी गई और दूसरे स्थान पर निन्दा (यद्यपि निन्दा में निन्दा का भाव नहीं था द्विवेदी जी के शब्दों में विद्वानों के लिए मनोविनोद था) । यह पद्धति अभी प्रभावात्मक या प्रशंसात्मक समीक्षा प्रणाली के ही अधिक नज़दीक थी ।

द्विवेदी जी के इस कार्य का घोर विरोध हुआ । लोगों ने कालिदास जैसे महाकवि के दोषों के संबंध में द्विवेदी जी को कलम चलाते देख कर बड़ी गालियाँ दीं । लेकिन द्विवेदी जी ने इन तमाम विरोधों के बावजूद अपने इस कार्य के औचित्य पर कभी संदेह नहीं किया । उन्होंने इसके समर्थन में कहा—"समालोचना करने की प्रणाली इस देश में बहुत पुराने समय से है परंतु वह प्रणाली पुराने ढंग की है । समालोचना करने की नई प्रणाली अंग्रेजी शिक्षा की बदौलत हम लोगों ने सीखी है । अंग्रेजी साहित्य में सच्चे समालोचकों को बड़े आदर की दृष्टि से देखा जाता है । य सब समालोचनाएँ प्रशंसात्मक ही नहीं । इनमें शेक्सपियर जैसे कवियों के दोष भी दिखाए जाते हैं और दोष भी एक तरह के नहीं सब तरह के—शेक्सपियर की भाषा के दोष, शेक्सपियर की कविता के दोष, शेक्सपियर के पात्रों के दोष । पर इन दोषों को कोई बुरा नहीं मानता ।"

द्विवेदी जी के साथ साथ उस काल के अनेक लेखकों ने संस्कृत और हिंदी के पुराने कवियों की कृतियों की समीक्षा के लिए उत्साह दिखाया । "हम्मीर हठ", "वाण भट्ट", "कवि केशवदास", "महाकवि माघ", "तुलसीदास की अद्भुत उपमाएं", "तुलसीदास के राजनैतिक विचार", "रामचरित मानस में भगवत् गीता," "महाकवि सेनापति", "भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र," "विहारी का विरह वर्णन," "शकुन्तला रहस्य" आदि निबंध इसी कोटि के हैं । इन सभी निबंधों में समीक्षोपयुक्त विश्लेषण का स्वरूप कम और प्रशंसात्मक आवेगों का उद्गार अधिक है ।

समसामयिक साहित्यकारों की आलोचना

द्विवेदी जी वास्तव में साहित्य में शासक और सुधारक के रूप में आये । इनकी दृष्टि किसी विषय विशेष पर न जमकर नये साहित्य

में दिखाई पड़नेवाले बहुमुखी स्वरूपों की काट छाँट, उनके दोषों के परिहार, उनकी अनियंत्रित गति पर नियंत्रण और नये आदर्शों के निर्माण में ही लगी रही। भाषा और विषय दोनों दृष्टियों से हिंदी साहित्य अभी अनगढ़ अवस्था में था। उसे कोई एक निश्चित स्वरूप और भारतीय सामाजिक आदर्श नहीं मिला था। द्विवेदी जी समसामयिक पुस्तकों में इन्हीं बातों को ढूँढ़ते थे और जिन पुस्तकों में इनका अभाव पाते थे उन्हें सारहीन समझते थे तथा नये लेखकों को इस दिशा में बढ़ने का प्रोत्साहन देते थे।

उन्होंने समकालीन साहित्यकारों की कृतियों पर अलग से कोई समीक्षा ग्रंथ नहीं लिखा बल्कि समसामयिक पत्र-पत्रिकाओं में—बिशेषतया सरस्वती में, जिसके वे संपादक थे—छोटी छोटी "रिव्यू" किया करते थे। उस रिव्यू में कोई गहरी मीमांसा की बात नहीं होती थी, बड़े सतही ढंग पर कृतियों की उपयोगिता, अनुपयोगिता पर थोड़े से वाक्य कह दिए जाते थे। इन ग्रंथों में से जिनमें अभारतीयता का भाव होता था या जिनकी भाषा गन्दी होती थी उन्हें द्विवेदी जी बड़ी खरी खरी सुनाते थे, लेकिन ऐसा उन्हीं के साथ करते थे जो अपने को पंडित बनते थे। नए लोगों की ग़लतियों का स्वयं परिश्रम से परिमार्जन करते थे।

द्विवेदी जी साहित्यिक ग्रंथों के अतिरिक्त साहित्येतर ग्रंथों की भी रिव्यू खूब देते थे किन्तु उसका मेरे विषय से कोई प्रत्यक्ष संबंध नहीं है। इन ग्रंथों के रिव्यू के अतिरिक्त अन्य आलोचकों की आलोचनाओं, उनकी प्रवृत्तियों और संपादकों की धाँधली पर भी व्यंग्य विनोद से भरी चटपटी आलोचनाएँ लिखा करते थे। "साहित्य सभा", "शूर समालोचक", "नायिका भेद का पुरस्कार", "कला मर्मज्ञ संपादक", "मातृभाषा का सत्कार," "समालोचना का सत्कार" आदि निबंध इसी ढंग के थे। जैसे "समालोचना के सत्कार" में द्विवेदी जी ने समालोचकों से प्रशंसा चाहने वाले लेखकों की खबर ली है। उन्होंने बताया है कि लेखक समालोचकों द्वारा अपना दोष-निर्देश देखकर उन्हें गाली देते हैं और स्वयं ही छद्म नामों से लिखकर या मित्रों से लिखा कर अपनी प्रशंसाएँ छापते फिरते हैं। द्विवेदी जी का यह लेख तत्कालीन साहित्य के मूल्यहीन विस्तार की ओर निर्देश करता है, जिस पर नियंत्रण रखने के लिए द्विवेदी जी जैसे समर्थ विद्वानों को लेखनी चलानी पड़ती थी।

इस प्रकार द्विवेदी जी ने समीक्षा के क्षेत्र में पहला महत्वपूर्ण काम यह किया कि उन्होंने प्राचीन महाकवियों के साथ साथ परवर्ती कवियों की कृतियों को भी समीक्षा की कसौटी पर रखा। दूसरे उन्होंने पूर्ववर्ती और परवर्ती सभी कवियों की कृतियों को विशेषतया उपयोगिता और नैतिकता की ही दृष्टि से देखा। किन्तु भिन्न भिन्न युगों की नैतिकताओं में भेद किया और साहित्य के कलात्मक मानदण्ड की ओर भी संकेत किया।

सैद्धांतिक आलोचना

द्विवेदी जी ने उपर्युक्त दो प्रकार की समीक्षाओं के अतिरिक्त समीक्षा सिद्धांत संबंधी निबंध भी लिखे। कहीं तो उन्होंने साहित्य के विभिन्न स्वरूपों के रूप स्थिर करने के लिए स्वतंत्र निबंध लिखे, कहीं व्यावहारिक समीक्षा में ही जगह जगह पर अपने मत व्यक्त किये। इस प्रकार के निबंधों का संग्रह "रसज्ञ रंजन" है। इस संग्रह में द्विवेदी जी ने "कवि कर्तव्य", "कवि बनने के लिए सापेक्ष साधन", "कवि और कविता", "नायिका-भेद", "कविता", "कवियों की उर्मिला विषयक उदासीनता" शीर्षक निबंधों में कविता के गुण-धर्म के संबंध में विचार किया है। सभी निबंधों में द्विवेदी जी ने विषय की उदात्तता और शैली की सादगी को ही काव्य का सुंदर धर्म माना है।

पहले निबन्ध में इन्होंने बड़ी सफाई और निर्भीकता से यह स्थापना की कि कविता गद्य और पद्य दोनों में हो सकती है। न तो सभी छंदोबद्ध वस्तुएँ कविता हो सकती हैं और न गद्य में होने के नाते कोई सरस चीज कविता के बाहर हो सकती है। गद्य या पद्य कविता की आत्मा नहीं है, कविता की आत्मा है काव्यत्व। गद्य और पद्य के इस भेद-भाव के निवारण के साथ साथ इन्होंने छन्दों की परिधि को और व्यापक बनाने की आवाज़ उठाई। छन्द का महत्व कम नहीं है इसे भी द्विवेदी जी ने पहचाना। विषय और भाव के अनुकूल छन्द हों तो अति उत्तम है। इन्होंने पिटे-पिटाये छन्दों के घेरे को तोड़कर मुक्त भाव से नये छन्दों, अनुप्रास हीन छंदों, संस्कृत के छंदों, उर्दू के छन्दों को भी अपनाने की सिफारिश की।

विषय

कविता के विषय में द्विवेदी जी ने स्पष्ट लिखा है कि वह मनोरंजक और उपदेशजनक है। उपदेशजनक से उनका तात्पर्य उदात्त से मालूम पड़ता है, क्योंकि उन्होंने आगे स्पष्ट किया है—"यमुना के किनारे केलि कौतूहल का अद्‌भुत अद्‌भुत वर्णन बहुत हो चुका। न परकीयाओं पर प्रबंध लिखने की अब कोई आवश्यकता है और न स्वकीयाओं के 'गतागत' की पहेली बुझाने की। चींटी से लेकर हाथी पर्यन्त पशु, भिक्षुक से लेकर राजा पर्यन्त मनुष्य, विन्दु से लेकर समुद्र पर्यन्त जल, अनन्त आकाश, अनन्त पृथ्वी, अनन्त पर्वत सभी पर कविता हो सकती है। सभी से उपदेश मिल सकता है, सभी के वर्णन से मनोरंजन हो सकता है।" इस प्रकार यह स्पष्ट है कि द्विवेदी जी ने विषय का असीम विस्तार कर कविता के लिए नए नए क्षेत्र तैयार किए और आलोचना की प्रकृति को उदार बनाया। कविता के नाम पर चले आते हुए खेलवाड़ों—अलंकारों के तमाशों, समस्याओं पूर्तियों, नायिकाओं की नुमाइश—का घोर विरोध किया और सामाजिक और साहित्यिक दोनों दृष्टियों से स्वस्थ प्रवृत्तियों का प्रवर्त्तन और पोपण किया।

द्विवेदी जी कविता का उद्देश्य वाग्‌विलास नही मानते। वे कवियों को अवतार मानते है जो धर्म-संस्थापनाय उत्पन्न होते हैं। हिन्दी के पूर्व-वर्ती कवियों ने अपने कर्तव्य को समझा है अर्थात् उन्होंने देश, काल, अवस्था और पात्र के अनुसार ही कविता की है। आजकल की कविता के स्वरूप के संबंध में द्विवेदी जो ने लिखा है—

(१) कविता में साधारण लोगों की अवस्था, विचार और मनोविकारों का वर्णन हो।

(२) उसमें धीरज, साहस, प्रेम और दया आदि गुणों के उदाहरण हों।

(३) कल्पना सूक्ष्म और उपमादिक अलंकार गूढ़ न हों।

(४) भाषा सहज, स्वाभाविक और मनोहर हो।

(५) छंद सीधा, परिचित, सुहावना और वर्णन के अनुकूल हो।

द्विवेदी जी अर्थ पक्ष को ही कविता का प्राण मानते हैं और अर्थ की कुशल अभिव्यक्ति के लिए ही उन्होंने कवि को अर्थ के साथ एक हो जाने

की सलाह दी है । कवि जिस विषय का वर्णन करे उस विषय से उसका तादात्म्य हो जाना चाहिए । द्विवेदी जी ने यह एक ऐसी बात कही है जो स्पष्ट करती है कि द्विवेदी जी सामाजिक आदर्शों के प्रवक्ता अवश्य थे किन्तु वे साहित्य के वास्तविक स्वरूप को समझते थे और साहित्य के स्वरूप की रक्षा करते हुए आदर्शों को ध्वनित करने के पक्षपाती थे ।

कवि और कविता के संबंध में विचार करते हुए द्विवेदी जी अंग्रेजी कवि मिल्टन की कविता की परिभाषा से सहमत जान पड़ते हैं । मिल्टन ने कविता के संबंध में लिखा है कि वह सादी हो, जोश से भरी हो और असलियत से गिरी हुई न हो । द्विवेदी जी इस परिभाषा की व्याख्या में अपनी स्वाभाविक आदर्शवादिता नहीं छोड़ते । उनका कहना है कि सादगी से मतलब यह नहीं है कि सिर्फ शब्दसमूह ही सादा हो किन्तु विचार-परंपरा भी सादी हो । भाव और विचार ऐसे सूक्ष्म और छिपे हुए न हों कि उनका मतलब समझ में न आये, या देर से समझ में आये। यदि कविता में कोई ध्वनि हो तो इतनी दूर की न हो कि उसे समझने में गहरे विचार की ज़रूरत हो । इस प्रकार यह निश्चित है कि इस व्याख्या में साहित्यिकता से अधिक सामाजिक आदर्शवादिता का पुट है । इस कसौटी पर विश्व के बहुत से उच्च कोटि के काव्य खोटे सिद्ध हो जाएँगे ।

असलियत के संबंध में द्विवेदी जी के विचार विवादहीन हैं । वे स्पष्ट स्वीकार करते हैं कि असलियत से मतलब यह नहीं कि कविता एक प्रकार का इतिहास समझा जाय । असलियत से सिर्फ इतना ही मतलब है कि कविता बेबुनियाद न हो । उसमें जो उक्ति हो, वह मानवी मनोविकारों और प्राकृतिक नियमों के आधार पर कही गई हो । स्वाभाविकता से उसका लगाव न छूटा हो ।

जोश के संबंध में आपने लिखा है कि जोश से यह मतलब है कि कवि जो कुछ कहे इस तरह कहे मानो उसके प्रयुक्त शब्द आप ही आप उसके मुँह से निकल गए हैं । उनसे बनावट न ज़ाहिर हो । यह बात निर्विवाद रूप से ठीक है । कवि को विषय का साक्षात् अनुभव होना ही चाहिए या उसकी कल्पना इतनी विराट हो कि सुनी सुनाई बातों को भी साक्षात् अनुभव का रंग दे सके । ऐसा होने पर ही उसकी कविता

पाठकों को छू सकेगी । लेकिन अनुभूति और कल्पना ही सब कुछ नहीं है, इनके सम्यक् प्रभाव की निष्पत्ति के लिए कवि को शब्दों को चुनना पड़ता है । उन्हें इस क्रम से देना पड़ता है कि कविता पाठकों पर प्रभाव उत्पन्न कर सके । द्विवेदी जी कविता के इस अभ्यास पक्ष की महत्ता को अस्वीकार नहीं करते । "कवि बनने के सापेक्ष साधन" शीर्षक निबन्ध में उन्होंने क्षेमेन्द्र के मत का उद्धरण देते हुए सहमति व्यक्त की है कि प्रतिभा और लोक-ज्ञान के साथ अभ्यास की भी आवश्यकता होती है । यह अभ्यास और कुछ नहीं कला का अभ्यास है ।

कविता के संबंध में द्विवेदी जी ने एक बहुत ही विवाद का प्रश्न उठाया है । वह यह कि असभ्यावस्था में कविता का अधिक आदर होता है और ज्यों ज्यों सभ्यता बढ़ती जाती है कविता का सम्मान घटता जाता है । कविता में भाव का प्राधान्य रहता है किन्तु ज्यों ज्यों सभ्यावस्था आती जाती है समाज भाव से बुद्धि की ओर अग्रसर होता है । इसलिए कविता तिरस्कृत होती है । इस विषय पर और अधिक गहराई से विचार करने की आवश्यकता थी । सभ्यावस्था में ज्यों ज्यों ज्ञान का विकास होता है त्यों त्यों संसार के बीच की सीमा रेखाएं मिटती जाती हैं, एक देश दूसरे देश के निकट आता है । इसलिए विषय के विस्तार के साथ भावों का भी विस्तार होता है । इस अवसर पर हम संसार की बहुत अधिक और नई नई वस्तुओं से अपना रागात्मक संबंध स्थापित कर सकते हैं । अतएव कविता के लिए और अधिक व्यापक भाव-भूमि तैयार होती है ।

"कवियों की उर्मिला विषयक उदासीनता" में द्विवेदी जी ने उर्मिला के संबंध में कवियों द्वारा दिखाई गई उदासीनता पर क्षोभ व्यक्त किया है । इस निबंध का कई दृष्टियों से महत्व है । पहली बात तो यह कि काव्य के लिए इतने उपयुक्त पात्र की जो आज तक उपेक्षा होती चली आई थी उसपर इनका ध्यान गया (यद्यपि इन्हें भी यह प्रेरणा रवींद्रनाथ टैगोर से मिली) । दूसरी बात यह कि इस मौन साधना सी पवित्र पात्रा के संबंध में कुछ न कहना मानवीय दृष्टिकोण से भी अनुचित था । तीसरे यह कि इसमें द्विवेदीकालीन नैतिकता और भारतीय पुनरुत्थानवादी धड़कन स्पष्ट है ।

पहले कहा जा चुका है कि द्विवेदी जी एक समीक्षक की अपेक्षा शासक और नियन्ता अधिक थे। उनके उपर्युक्त विचारों में भी यही बात लक्षित होती है अर्थात् "कवि और कविता" या अन्य साहित्यिक सिद्धान्त संबंधी निबन्धों में उनका अपना मौलिक चिन्तन नहीं के बराबर है। उन्होंने विभिन्न विद्वानों के सिद्धान्तों को सहेजा है और उनमें अपने युग के अनुरूप आदर्शवादिता का पुट दिया है। तो भी यह महान निर्भीकता, नई दृष्टि और एक युग-निर्माण कर सकने की क्षमता का काम था, जिस पर चल कर अगले युग की समालोचना का सम्यक् विकास हुआ।

मिश्र बंधु

विकास काल के दूसरे महत्वपूर्ण समीक्षक—जो तत्कालीन आदर्शवादी परंपरा में आते हैं—मिश्रबंधुओं ने विस्तार और अपेक्षाकृत गहराई दोनों दृष्टियों से उस समय समीक्षा के क्षेत्र में बहुत अधिक काम किया। उन्होंने हिंदी के अनेक पूर्ववर्ती ख्यात कवियों पर निबन्ध लिखे जो समय समय पर सरस्वती में प्रकाशित होते रहे। उन्होंने "हिंदी नवरत्न" नामक एक आलोचना ग्रंथ निकाला जिसमें हिंदी के नव चुने हुए कवियों की जीवनी के साथ साथ उनके काव्यों की विशेषताओं की व्याख्यात्मक और प्रशंसात्मक चर्चा थी। मिश्रबंधुओं ने चार भागों में "मिश्रबंधु"-विनोद निकाल कर हिंदी साहित्य के इतिहास की आवश्यकता की ओर विद्वोनों का ध्यान आकृष्ट किया। मिश्रबंधु-विनोद में मिश्रबंधुओं ने पुराने और नए सभी कवियों और उनके युगों की विशेषताओं पर प्रकाश डालने की चेष्टा की है। पुराने और नए सभी कवियों को एक परंपरा में रखकर ऐतिहासिक दृष्टि से सबका मूल्यांकन करना एक महत्वपूर्ण नवीन कार्य था।

समालोचना की दृष्टि

नैतिकता (विकास कालीन नैतिकता) उपयोगितावाद, सामाजिक आदर्शवाद, पुनरुत्थानवाद का प्रभाव मिश्रबंधुओं पर कम नहीं था। स्थान-स्थान पर अपनी समीक्षाओं में उन्होंने कृतियों की उपयोगी वृत्तियों की ओर संकेत करके उनका महत्व स्थापित किया है। "विषय की उप-

योगिता भी काव्योत्कर्ष बढ़ाती है ।[१] "अब भाषा में श्रृंगार कविता की आवश्यकता बहुत कम है क्योंकि भूतकाल में कविता का यह अंग उचित से अधिक ऐसे ही स्फुट छन्दों द्वारा भर चुका है । अब हिंदी गद्य में वर्तमान प्रकार के उपकारी विषयों पर रचना की आवश्यकता है और नाटक विभाग की पूर्ति और भी आवश्यक है स्फुट छन्दों के लिए अब स्थान बहुत कम है[२] । "ये अपने युग के लिए उपयोगी ग्रंथों की सृष्टि का समर्थन तो करते ही हैं पुराने कवियों की भी समीक्षा में स्थान स्थान पर अपने आदर्शवादी दृष्टिकोण को स्पष्ट कर देते हैं । जैसे देव के संबंध में लिखते लिखते इन्होंने धीरे से एक वाक्य में नैतिकता की झलक दे दी है । "उन्होंने प्रत्येक देश की स्त्रियों का उन्ही के अनुसार बड़ा ही सच्चा वर्णन किया है । इनका देश-वर्णन देखकर कहीं कहीं यह संदेह अवश्य उठता है कि इनका चाल चलन बहुत ठीक न था[3] ।"

साहित्यिकता

मिश्रबंधुओं की समालोचनात्मक दृष्टि नैतिकता के उपरान्त भी अन्य समीक्षकों की अपेक्षा साहित्यिक अधिक थी । उन्होंने कृतियों के शुद्ध साहित्यिक स्वरूपों को परखने का प्रयास अधिक किया है । मिश्रबंधु विनोद, हिंदी नवरत्न और अन्याय निबंधों में उन्होंने कवियों की जीवनियों को एक ओर, और साहित्यिक कृतियों तथा उनके मूल्याकनों को दूसरी ओर रखा है । मिश्रबंधु भी रस-परंपरा के ही समर्थक ज्ञात होते हैं और रस परंपरा का समर्थन करते हुए उन्होंने साहित्य के सर्वमान्य आलम्बनों, उद्दीपनों आदि के घेरे में ही साहित्य के स्थायी मूल्यों का आकलन किया है । सामाजिक, मानसिक परिपार्श्व में ये कवियों की कृतियों की व्याख्या नहीं कर सके हैं । अतएव समीक्षा के नवीन व्याख्यात्मक रूप का सम्यक् प्रस्फुटन उनकी आलोचनाओं में नहीं हो सका है । तो भी लगता है कि ये समालोचना के नये रूपों, और समय की बदलती हुई प्रवृत्तियों के प्रति जागरूक अवश्य थे । समालोचना के संबंध में

---

[१] मिश्रबंधु विनोद, भाग ३, पृ० ११८४ ।

[२] वही, पृ० ११८२ ।

[3] हिंडी नवरत्न, पृ० २०८ ।

उन्होंने यत्र-तत्र जो कुछ व्यक्त किया है उससे स्पष्ट है कि ये नवीन प्रवृत्तियों और पाश्चात्य साहित्य से आए हुए प्रभावों को पकड़ने के प्रयास में थे। उन्होंने समालोचना के पुराने गुणदोष-कथन के रूप और वर्तमान प्रशंसात्मक तथा निंदात्मक समीक्षा, दोनों की खामियों को पहचानते हुए शुद्ध स्वरूप की और निर्देश किया है।

"हिंदी में समालोचना की चाल बहुत थोड़े दिनों से चली है। प्राचीन प्रथा के लोग समझते थे कि समालोचना करने में किसी भी कवि की निन्दा न करनी चाहिए। इस विचार के कारण समालोचना की उन्नति प्राचीन काल में न हुई[१]।"

"संसार बड़ा सौंदर्योपासक है। बिना गुण के यह किसी का माल नहीं खरीदता। मित्रों की झूठी प्रशंसा तथा शत्रुओं की ईर्ष्यापूर्ण निन्दा का प्रभाव कुछ ही काल रह सकता है किन्तु अन्त में भवभूति की "कालोऽह्ययं निरवधिर्विपुला च पृथ्वी" वाली कहावत चरितार्थ हो जाती है। प्रयोजन केवल इतना है कि शुद्ध साहित्य सेवा और चमत्कृत ग्रंथों का अस्तित्व ही समय पर लेखकों तथा हिंदी साहित्य की गरिमा का कारण होगा। इतर कोई युक्ति काम न आवेगी[२]।"

समालोचना के नये उत्तरदायित्व के प्रति मिश्रबन्धुओं की जागरूकता स्थान स्थान पर समालोचना के संबंध में लिखित उनकी पंक्तियों से ज्ञात होती है। "कई महाशय अनेक साहित्यकारों तथा साहित्य पर समालोचना लिखते हुए कुछ विषयों पर पचास पचास, साठ साठ पृष्ठों के निबंध लिख जाते हैं और अन्त में उदाहरण की भाँति आलोच्य कवियों अथवा साहित्यिक समयों के रचयिताओं से दो मोटी मोटी बातें कह कर समझ लेते हैं कि उन्होंने विशिष्ट कवियों अथवा साहित्यिक समयों के साहित्य की समालोचना कर डाली। वास्तव में यह समालोचना न होकर उन विषयों पर निबंध मात्र होता है जिनके कथन उन्होंनें किए हैं। समालोचना में मुख्य वर्णन कवि का चाहिए और उसी की रचना के साथ जहाँ कहीं अच्छे अच्छे सिद्धांत निकलें उनका सूक्ष्मतापूर्वक विवरण लिख

---

[१] मिश्रबंधु विनोद, भाग ३, पृ० ११७७।
[२] वही, पृ० १४२।

देना उचित है। जहाँ कविता का वर्णन मुख्य तथा सिद्धांतों का गौण होगा वहाँ साहित्य समालोचना समझी जायगी, किंतु जहाँ सिद्धांतों का प्रचुर कथन होकर कविता का सूक्ष्म वर्णन उदाहरण की भाँति दे दिया जायगा वहाँ साहित्यिक समालोचना के स्थान पर रचना कथित सिद्धांतों पर निबंध मात्र मानी जायगी[१]।"

मिश्रबंधु विनोद

मिश्रबंधु-विनोद में हिंदी साहित्य के आदिकाल से लेकर नवीनतम हिंदी साहित्यकारों तक की जीवनवृत्ति और उनकी रचनाओं की परिचयात्मक आलोचना का संग्रह है। चार मोटे मोटे भागों में बँटा हुआ यह विनोद इतिहास की सामग्री प्रस्तुत करता हुआ भी स्वयं में इतिहास नहीं है। पं० रामचंद्र शुक्ल के शब्दों में वह कवि-इतिवृत्त-संग्रह मात्र है। कवियों की जीवनी तथा ऐतिहासिक तथ्यों की जो सूची तैयार की गई है उसमें विश्लेषक बुद्धि द्वारा घटनाओं का परीक्षण करने की प्रवृत्ति नहीं है बल्कि यहाँ वहाँ से उन्हें एकत्र कर देने का उत्साह ही लक्षित होता है। इतिहास में प्रवृत्तियों के अधार पर विशेष विशेष युगों की सामान्य विशेषताओं और उनकी सीमा में आने वाले साहित्यकारों की युग सापेक्ष विशेषताओं का आकलन आवश्यक होता है। इतिहास में दूसरी बात चुनाव की होती है अर्थात् काल के प्रवाह में अपनी शक्ति से जीवित रह सकने वाले कौन कौन से साहित्यकार हैं और कौन कौन अपने जोवन काल में ही अपनी अशक्ति के कारण उठ नहीं सके। साहित्य के जीवन्त तत्त्वों का संग्रह करना और निर्जीव तत्त्वों को छाँट देना इतिहासकार का काम होता है। मिश्रबंधुओं ने अपने विनोद में साहित्यिक इतिहासकार के इन दोनों दायित्वों में से किसी का सम्यक् निर्वाह नहीं किया तो भी बड़े चलते ढंग से इन्होंने विभिन्न युगों की विशेषताओं का वर्णन मात्र कर दिया है जैसे आधुनिक काल में अंग्रेजी प्रभावों की चर्चा, गद्य के नये नये साहित्यिक प्रकारों का उल्लेख आदि।

हिंदी नवरत्न

"हिंदी नवरत्न" में हिंदी के नव चुने हुए कवियों का संग्रह है। जहाँ तक ऐतिहासिक आवश्यकता की पूर्ति करने का प्रश्न है यह ग्रंथ असफल

---

[१] वही, पृ० १६५।

है क्योंकि कवियों का चुनाव-क्रम न तो समय की दृष्टि से है और न प्रवृत्तियों की दृष्टि से। मिश्रबंधुओं ने अपने मन से (बिना किसी निश्चित कसौटी के) इन कवियों को छोटा बड़ा सिद्ध करके बड़े और छोटे के क्रम से उन्हें सजा दिया है। बिना किसी निश्चित कसौटी के उन्होंने तुलसी, सूर और देव को एक कोटि में रख दिया है। यह पहले ही संकेत किया जा चुका है कि मिश्रबंधु रस-परंपरा के अनुयायी थे और स्थायी भाव, आलंबन, उद्दीपन आदि के घेरे में कविता को देखने के पक्षपाती थे। इसीलिये वे तुलसी, सूर, देव में प्रवृत्तिमूलक भेद न उपस्थित कर सके। उन्होंने भारतेंदु को भी बिना किसी भेद के उसी श्रेणी में रखा। भारतेंदु में फूटते हुए नये सामाजिक तत्त्वों का विश्लेषण नहीं किया।

मिश्रबंधु एक और नये होने का प्रयास कर रहे थे दूसरी ओर पुरानी साहित्यिक मान्यताएं उनका पीछा कर रही थी। इस प्रकार उनमें नये पुराने रीतिवाद और नए आदर्शवाद का एक बड़ा दृष्टिहीन असंतुलित संयोग दिखाई पड़ता है। नई वस्तुओं को बटोरने की ललक तो उनमें अवश्य थी किन्तु उनका सही मूल्यांकन कर सकने की न तो उनमें क्षमता ही थी, न दृष्टि ही। उदाहरण स्वरूप उन्होंने "मिश्रबंधु-विनोद" में अपने समय तक की नवीतम साहित्यिक प्रवृत्ति छायावाद को ग्रहण किया है किन्तु वे न तो उसे समझ सके हैं और न उसे अपनी सहानुभूति दे सके हैं। छायावादी कविता का गीतात्मक स्वरूप मित्रबंधुओं के कथा-प्रिय मन को अरोचक ही लगा। छायावादी काव्य के विषय भी उन्हें कथन योग्य नही ज्ञात हुए। छायावादी युग की बहुतेरी कविताओं में उन्हें असमर्थ तथा अप्रसाद दूषण दृष्टिगत हुए। सब मिलाकर मिश्र बंधुओं की समीक्षाओं का ऐतिहासिक महत्व है।

नवीन प्रवृत्तियों के अन्य आलोचक

द्विवेदी जी की समीक्षाओं में जिन विशेषताओं के दर्शन होते हैं वे विशेषताएँ उस काल के इने गिने गण्यमान आलोचकों में भले ही न दिखाई पड़ें, या कम मात्रा में दिखाई पड़ें किन्तु वे उस काल के उन अनेक नए लोगों में स्पस्ट रूप से लक्षित होती हैं जो इतिहास में न स्पष्ट रूप से लक्षित होती है जो इतिहास में न दिखाई देकर उस काल की पत्रिकाओं में दिखाई पड़ते हैं। नई शक्तियां अधिक सच्चाई से नई

बातों को ग्रहण कर लेती हैं। पुरानी जमी हुई शक्तियों के कुछ अपने संस्कार होते हैं, अपने अहं होते हैं। अतः वे नए धर्म में दीक्षित नहीं हो पातीं। द्विवेदी जी अपने विश्वासों, अपनी मान्यताओं और युगानुरूप नई संभावनाओं को अपने युग के अनेक नये कवियों और आलोचकों में उतार सके जिनका विकास भावी युगों में होता गया। सरस्वती पत्रिका को देखने से द्विवेदी जी के विश्वासों के साथ चलने वाले अनेक ऐसे साहित्यकार दिखाई पड़ते हैं। उदाहरण के लिए हम इन नामों को प्रस्तुत कर सकते हैं। (१) अंबिकादत्त वाजपेयी (हिंदी काव्य की आलोचना), (२) कन्हैयालाल पोदार (कालिदास की वैवाहिक कविता), (३) सोमेश्वरदत्त शुक्ल (तुलसीदास की अद्भुत उपमाएँ), (४) चंद्रधर शर्मा गुलेरी (जयसिंह प्रकाश काव्य), (५) विश्वनाथ (कवि का कर्तव्य), (६) पं० इंदु शर्मा (कालिदास की निरंकुशता), (७) त्रिमूर्ति (कालिदास के काव्यों में नीति-बोध), (८) इन्द्रजीत सिंह, बी०ए० (शकुन्तला रहस्य), (९) पं० बदरीनाथ भट्ट (नाटक और नाटचकला का ह्रास, हमारे कवि और समालोचक, टाल्सटाय और शेक्सपियर, आधुनिक हिंदी कविता पर दोषारोपण), (१०) हरिकृष्ण अग्रवाल (आदर्श समालोचक), (११) अक्षयवट मिश्र (तुलसीदास की नव रसमयी कविता), (१२) रामदहिन मिश्र (साहित्य किसे कहते हैं), (१३) श्यामसुन्दर जोशी (हिंदी के नाटक और उपन्यास), (१४) कालिदास कपूर (सत्य हरिश्चंद्र नाटक), सेवा सदन समालोचना, रामचरित मानस का महत्व), (१५) चंद्रबली त्रिपाठी (सत्य का कला से संबंध), (१६) मुकुटधर पाण्डेय (गीतांजलि में दुःख, भविष्यत् में हिंदी का रूप क्या हो ?), (१७) पं० नारायण शास्त्री (महाकवि भवभूति), (१८) कामताप्रसाद गुरु (हिंदी नाटकों की भाषा), (१९) मालवीप्रसाद श्रीवास्तव (हिंदू नाटक)।

इन निबंधों में कुछ तो प्राचीन साहित्यकारों की कृतियों की समीक्षा प्रस्तुत करते हैं और कुछ हिंदी साहित्य की समकालीन गतिविधि पर प्रकाश डालते हैं। लेकिन सभी निबन्धों का स्वर आदर्शवादी है। उदाहरण स्वरूप मैं श्यामसुन्दर जोशी के "हिंदी के नाटक और उपन्यास" कालिदास कपूर के "सत्य हरिश्चंद्र" और "समालोचना" निबंधों के सारांश प्रस्तुत करता हूँ।

श्यामसुंदर जोशी ने हिंदी के "नाटक और उपन्यास" में विकास कालीन नाटकों और उपन्यासों की अनियन्त्रित बाढ़ और निम्न स्तर के अनुपयोगी विषय-वस्तु के ग्रहण पर आघात किया है। जोशी जी ने लेखकों से निवेदन किया है कि जहाँ तक हो सके अपनी भाषा को उन्नत करने के लिये अच्छे अच्छे शिक्षाप्रद और मनोरंजक नाटक और उपन्यास प्रकाशित करें। "नाटकों में चरित्र परिवर्तन की अद्‌भुत क्षमता होती है लेकिन आजकल के नाटक अपने इस महत् उद्देश्य से च्युत हो गये हैं।" "वे चरित्र गठन में तो भला क्या सहायता देंगे, चरित्र बिगाड़ने में अलबत्ते सहायक होते हैं। घटनाएँ प्राय: इतनी विचित्र होती हैं कि दर्शक उन्हें शायद ही कभी सच समझते होंगे। इन सब में एक ही रोना होता है, वह क्या? निकृष्ट श्रेणी का प्रेम।.........नाटकों में श्रृंगार रस का अतिरेक न होने देना चाहिए। इस समय नाटक स्वदेश प्रेम को जगाने वाले होने चाहिए। उनमें देश और समाज की दशा का चित्र होना चाहिए......हिंदी में शिक्षादायक और मनोरंजक उपन्यासों की बड़ी आवश्यकता है। हिंदी के औपन्यासिकों को सबसे पहले देश, काल और समाज का अच्छा ज्ञान होना चाहिए।"

"सत्य हरिश्चंद्र" में कालिदास कपूर ने हरिश्चन्द्र के कथानक के नये मोड़ की प्रशंसा करते हुए लिखा है कि अधिकतर नाटक कंपिनियाँ वेश्या का नाच दिखाने के लिए शैव्या को उसी के हाथ बिकवाती हैं परंतु भारतेंदु जी ऐसा नहीं करते। शैव्या उपाध्याय के घर बिकती है। इससे उनके सामाजिक विचारों की स्वच्छता का बहुत कुछ पता चलता है।"

"स्वयुगीन समाजिक विचारों की प्रकृति का ध्यान रखते हुए कपूर जी ने "सत्य हरिश्चन्द्र" के दोष निर्देश भी किए हैं।.........."परंतु एक क्रोधी और द्वेषी ब्राह्मण की सेवा में सर्वस्व अर्पण कर देना वर्तमान विचारों से विभूषित हृदय को अवश्य खटकता है।"

लेखक ने सामाजिक आदर्शों के साथ साहित्यिक सौंदर्य की दृष्टि से भी "सत्य हरिश्चन्द्र" की परख की है—"तीसरे अंक में कवि महाशय ने काशी और भागीरथी की महिमा अपने नामराशि के मुख से कहलाई है। वह उनके काशी प्रेम का उबाल है न कि नाटक का कोई अंश। चौथे

अंक में श्मशान विषय का लम्बा वर्णन नायक से ही एकान्त में कराना भी कुछ समझ में नहीं आता ।"

निबन्ध के अन्त में "कपूर जी" ने भारत और यूरोप में परिस्थिति-जन्य भेद दिखला कर यहाँ के और वहाँ के पात्रों की मानसिक स्थिति और उसकी अभिव्यक्ति के भेदों पर प्रकाश डाला है ।

"समालोचना" नामक निबन्ध में कपूर जी ने अंग्रेजी के आलोचना साहित्य की गंभीरता की ओर संकेत करते हुए हिंदी की तत्कालीन आलोचनाओं की उत्तरदायित्वहीनता और कुरूपताओं पर व्यंग्य किया है । उन्होंने स्वीकार किया है कि "समालोचना करने का वर्तमान ढंग हमने अंग्रेजों से सीखा है परन्तु बुड्ढा लड़का जिस तरह नया सबक पढ़ाये जाने पर भी अपने पुराने सबक को नहीं छोड़ता उसी तरह हम भी प्राचीन पाठ नहीं भूले कि भाषा और व्याकरण के दोष किस तरह निकाले जा सकते हैं । क्योंकि इस गुण में संस्कृत के हमारे विद्वान् बहुत प्राचीन समय से दक्ष हैं किन्तु भाषा के दोषों के साथ साथ विचार कहाँ तक दूषित हैं, उन विचारों का समाज पर क्या प्रभाव पड़ सकता है, वर्तमान विचार प्रणाली से वे कहाँ तक भिन्न हैं, वे किस कारण से उत्पन्न हुए, कहाँ तक पुराने विचारों से मिलते हैं, कहाँ तक नये कहे जा सकते हैं, इसका विवरण करना और वह भी इस ढंग से कि किसी को बुरा मानने की बहुत कम जगह रहे, ये लक्षण विरले ही समालोचकों में पाये जाते हैं ।"

"मज़ाक उड़ाने से, गाली-गलौज करने से लेखक और समालोचक दोनों के भावों पर तो बुरा असर होता ही है, साहित्य भी कलंकित हुए बिना नहीं रहता ।" समालोचक समुदाय का यह कहना कि यह साहित्यवृद्धि में कारणीभूत होता है थोड़ी ही दूर तक सच है । क्योंकि विचारों को गढ़ने वाले होते हैं सामाजिक और उन्हीं के आश्रय पर प्रतिभाशाली लेखक उन्हीं विचारों को इस ढंग से प्रकट करते हैं कि वे सर्वथा नए मालूम पड़ते हैं ।

रीतिवादी परंपरा

पहले यह स्पष्ट किया जा चुका है कि विकास काल पुनरुत्थानवादी काल था । इसमें नई सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए भारत

के प्राचीन मूलभूत आदर्शों का अनुगमन करते हुए नवीन पाश्चात्य ज्ञान को अनुकूल अनुपात में अपनाने की भावना जाग्रत थी। द्विवेदी जी आदि जैसे समीक्षकों के लिए जहाँ पुनरुत्थान का लक्ष्य राष्ट्रीय संस्कृति, सभ्यता, आदर्श, स्वाधीनता आदि की प्राप्ति और उत्थान जैसे सामाजिक विषय थे वहीं दूसरी ओर पं० पद्मसिंह शर्मा, पं० कृष्ण विहारी मिश्र, लाला भगवानदीन जैसे समीक्षक रीतिवादी साहित्य की शैलीगत विशेषताओं पर मुग्ध होकर उनके पुनरुत्थान का स्वर पकड़े हुए थे। यह भी कहा जा सकता है कि आरंभकाल को क्षीण गति से पार करती हुई रीतिवादी परंपरा के ये अवशेष थे लेकिन इस कथन में वह प्रामाणिकता लक्षित नही होती जो पहले में है। युग का प्रभाव उन पर भी पड़ा था किन्तु दूसरे पहलू से, यही मानना समीचीन होगा। इस प्रकार की समीक्षा के कारणों और स्वरूप पर पहले विचार हो चुका है। अतः अब हम उसके स्वरूप की व्याख्या प्रस्तुत करना अलम् समझते हैं।

इस समीक्षा के स्वरूप को हम मुख्यतया इन अंगों में विभक्त कर सकते हैं—

(१) तुलनात्मकता।

(२) हिंदी रीतिकाल के कवि—विशेषतया देव, विहारी-समीक्षा के विषय।

(३) समीक्षा का मानदण्ड—

(क) समाज निरपेक्ष,

(ख) रीतिवद्ध मान्यताओं के आधार पर निर्मित—भाव से अधिक महत्वपूर्ण शैलीगत चमत्कार,

(ग) आलोच्य विषय के भीतर गुणदोषों को न परख कर भाषा संबंधी गुणदोषों का परीक्षण,

(घ) प्रबंध से अधिक महत्व मुक्तक को देना।

(४) प्रभाववादी स्वर—

(क) व्याख्या के स्थान पर दरबारी वाहवाही का ढंग,

(ख) दोष-निर्देश के समय गाली गलौज की सी पद्धति।

पं० पद्मसिंह शर्मा

तुलनात्मक समालोचना

तुलनात्मक समालोचना के संबंध में पं० कृष्णविहारी मिश्र ने लिखा है—

"कविता विशेष के गुण समझने के लिए उसमें आये हुए काव्योत्कर्ष की परीक्षा करनी पड़ती है। यह परीक्षा कई प्रकार से की जा सकती है—जाँच के अनेक ढंग हैं। कभी उसी कविता को सब ओर से उलट पलट कर देख लेने में ही पर्याप्त आनन्द मिल जाता है, कविता के यथार्थ जौहर खुल जाते हैं, पर कभी इतना श्रम पर्याप्त नहीं होता। ऐसी दशा में अन्य कवियों की उसी प्रकार की उन्ही भावों को अभिव्यक्त करने-वाली सूक्तियों से पद्य विशेष का मुकाबला करना पड़ता है। इस मुकाबले में विशेषता और हीनता स्पष्ट झलक जाती है। यही क्यों ऐसी अनेक नई बातें भी मालूम हो जाती हैं जो अकेले एक पद्य के देखने से ध्यान में भी नही आतीं। जरा सा फर्क कवि की मर्मज्ञता की गवाही देने लगता है[1]।"

इस प्रकार एक कवि की कविता के चमत्कार को दिखाने के लिए अनेक पूर्ववर्ती और समकालीन कवियों की कविताओं की परीक्षा करने-वाले आलोचकों में पं० पद्मसिंह शर्मा का नाम उल्लेख्य है। तुलनात्मक समीक्षा को ही दृष्टि में रखकर सारी आलोचनाएँ लिखनेवालों में ये प्रमुख हैं। यों यदि सूक्ष्म रूप से देखा जाय तो किसी न किसी रूप में उस काल के सभी समीक्षकों में तुलना की प्रवृत्ति मौजूद थी। पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी ने भी कालिदास की तुलना कही भवभूति से, कही शेक्सपियर से करते हुए कालिदास के विविध गुणों का उद्घाटन किया है[2]। मिश्रबंधु अनेक अवसरों पर तुलसी, सूर, देव, बिहारी आदि की तुलनात्मक ढंग से चर्चा कर आगे बढ़ जाते हैं किन्तु इन समालोचकों ने एक तो तुलनात्मक समीक्षा को ही अपना एक मात्र ध्येय नही बना लिया दूसरे इनकी तुलनाओं में पूर्वग्रहपूर्ण जोशीली प्रशस्तियाँ और फब्तियाँ नहीं हैं, तीसरे ये काव्य के भाव-पक्ष पर बल देनेवाले हैं और चौथे इनकी समीक्षाओं में व्याख्यात्मक स्वर लक्षित होता है।

---

[1] देव और बिहारी, पृ० ४९।

[2] कालिदास की विद्वता, सरस्वती, सन् १९११, पृ० ४२५।

पं० पद्मसिंह शर्मा रीतिकालीन आदर्श पर तुलनात्मक समीक्षा के प्रवर्तक थे। 'बिहारी की सतसई[१]' पुस्तक में इन्होंने बिहारी की कविताओं को कविता का आदर्श स्वरूप मानकर अनेक पूर्ववर्ती, समकालीन और परवर्ती कवियों की कविताओं के साथ उनकी कविताओं की तुलना की है और तुलना के बाद उनकी श्रेष्ठता प्रमाणित की है। शर्मा जी ने बिहारी की सतसई की आलोचना—या प्रशंसा—करने के पूर्व विकास काल के श्रृंगार विरोधी विचारों का खण्डन कर लिया है। स्पष्ट ही शर्मा जी की समीक्षा-दृष्टि में युग का प्रभाव लक्षित नहीं होता और वे एक ओर तो नवीन सामाजिक आकांक्षाओ और संभावनाओं को छोड़कर श्रृंगार रस की वकालत में अपनी सारी शक्ति खर्च करते हैं, दूसरी ओर श्रृंगारिक कविता की सूक्तियों को अपने आप में चरम लक्ष्य मानकर—यह न मानकर कि कविता बदलते हुए सामाजिक संबंधों की अभिव्यक्ति है—नये-पुराने कवियों को एक साथ तुलना की तुला पर लाद देते हैं।

श्रृंगार रस बुरी वस्तु नही है, वह तो मानव-जीवन की अपरिहार्य और मंगलमय भावना की अभिव्यक्ति है, लेकिन श्रृंगार रस जब व्यक्ति या समाज को व्यक्तिगत वासना में डुबोकर निष्क्रिय कर देता है या युगानुकूल बदलते हुए मनुष्य की प्रणयानुभूति के नए नए रूपों को अभिव्यक्त न कर केवल रूढ़ियों और कवि-समयों पर आधारित रह कर रूढ़ हो जाता है या समाज की अन्य ज्वलंत समस्याओं और आवश्यकताओं को तिलांजलि देकर साहित्य के क्षेत्र में एक छत्र शासन करने की सोचता है तो वह अग्राह्य और निंद्य बन जाता है। रीतिकालीन श्रृंगारिक कविता का स्वरूप कुछ ऐसा ही था। द्विवेदी जी आदि लेखकों ने अपने युग की माँग से प्रभावित होकर इस प्रकार की श्रृंगारिक कविताओं का विरोध किया। यह विरोध स्वाभाविक था। यह और बात है कि प्रतिक्रिया के आवेश में श्रृंगार रस के प्रति ही लोगों को अरुचि हो गई। लेकिन ऐसी भी बात लक्षित नहीं होती। उस काल में भी श्रृंगार रस का रूप कविताओं, कहानियों में दिखाई पड़ता है लेकिन वह श्रृंगार भारतीय और सामाजिक मर्यादाओं से संयत था।

पं० पद्मसिंह शर्मा ने श्रृंगार रस का गला घुटते हुए देख उसकी

---

[१] प्रथम संस्करण, संवत् १९७५।

रक्षा के लिए उसे अपने लेखों का कवच पहनाना चाहा और उन्होंने बिहारी की सतसई की भूमिका में लिखा—

"बहुत से महापुरुष कविता की उपयोगिता को स्वीकार तो किसी प्रकार कर लेते हैं पर श्रृंगार रस उनके निर्मल नेत्रों में कुछ खार सा या तेजाब सा खटकता है। वह श्रृंगार की रसीली लता को बिषैली समझ कर कविता-वाटिका से एकदम जड़ से उखाड़ फेंकने पर तुले खड़े हैं। उनकी शुभ संमति में श्रृंगार रस ही सब अनर्थो की जड़ है, श्रृंगार रस के अश्लील काव्यों ने ही संसार में अनाचार और दुराचार का प्रचार किया है। श्रृंगार के साहित्य का संसार से यदि आज संहार कर दिया जाय तो सदाचार का संचार सर्वत्र अनायास हो जाय फिर संसार के सदाचारी और ब्रह्मचारी बनने में कुछ भी देर न लगे[१]।"

"वास्तव में देखा जाय तो कवियों पर असभ्यता या अश्लीलता के प्रचार का दोषारोपण करना उनके साथ अन्याय करना है"...... "श्रृंगार रस के काव्यों में परकीयादि का प्रसंग कुरुचि का उत्पादक होने से नितान्त निन्दनीय कहा जाता है, यह किसी अंश में ठीक हो सकता है पर ऐसे वर्णनों से कवि का अभिप्राय समाज को नीति-भ्रष्ट और कुरुचि संपन्न बनाना नहीं होता, ऐसे प्रसंग पढ़कर धूर्त विटों की गूढ़ लीलाओं के दाव-घात से परिचय प्राप्त करके सभ्य समाज अपनी रक्षा कर सके—इस विषय में सतर्क रहे—यही ऐसे प्रसंग का प्रयोजन है[२]।"

श्रृंगार रस की अश्लीलता की समीचीनता सिद्ध करने के लिए यह थोंथा और बिना तर्क का तर्क है। किसी गन्दी वस्तु का लुभावने रूप में चित्रण कर देने से उससे विरक्ति नही होती, उसके प्रति खिचाव होता है। "पर्यौ जोरु विपरीत रति" वाले बिहारी के दोहे में पाठकों को वैसा करने का आमंत्रण दिया जाता है। परकीयाओं और खल नायकों के दाव-पेचों से परिचय प्राप्तकर पाठक उसी प्रकार के कार्य में रत न होगा तो क्या उससे उपदेश

---

[१] बिहारी की सतसई, पृ० ३।

[२] बिहारी की सतसई, पृ० ६-७।

लेकर सात्विक भावों की ज्योति से आलोकित हो उठेगा ? शर्मा जी और इसी प्रकार के और रूढ़िवादी आलोचक या विचारक किसी बात को पहले सही मान लेते हे तब उसे प्रमाणित करने के लिये तर्क ढूंढ़ते हैं। शर्मा जी फिर साहित्य के पाठकों की सीमा निर्धारित करते हुए लिखते हैं—

"रुचि-भेद और अवस्था-भेद से काव्यों के कुछ वर्णन किन्हीं विशेष व्यक्तियों को अनुचित प्रतीत हों, यह और बात है, इससे ऐसे काव्य की अनुपयोगिता सिद्ध नही होती। अधिकार-भेद की व्यवस्था सब जगह समान है, काव्यशास्त्र भी इसका अपवाद नही है। कौन कहता है कि वृद्ध जिज्ञासु, वाल ब्रह्मचारी, मुमुक्ष यति और जीवन भुक्त सन्यासी भी काव्य के ऐसे प्रसंगों को अवश्य पढ़ें। ऐसे पुरुष काव्य के अधिकारी नहीं है। फिर यह भी कोई बात नहीं है कि जो चीज इनके लिए अच्छी नहीं है वह औरों के लिये भी अच्छी न हो, इनकी रुचि को सबकी रुचि का आदर्श मानकर संसार का काम कैसे चल सकता है[१]।"

यह सत्य है कि जीवन से विरक्त लोगों के लिए साहित्य नहीं है किन्तु यह भो सत्य है कि साहित्य संभोगशास्त्र की पोथी नहीं है। साहित्य अपने युग की संपूर्ण प्रगति का चित्र होता है, समाज के स्पन्दनों को चित्रित कर उसे शक्ति देनेवाला होता है। द्विवेदी जी आदि समीक्षकों ने इसी सामाजिकता और युगीन विशेषताओं के आधार पर साहित्य का विचार किया और उसे नया मोड़ देने का समर्थन किया और यह सर्वथा सत्य है कि वे न तो वृद्ध जिज्ञासु थे, न बाल ब्रह्मचारी, न मुमुक्ष यति और न जीवन-मुक्त सन्यासी। वे सर्वथा साहित्य के थे, जीवन के थे। इस प्रकार श्रृंगार के समर्थन में शर्मा जी मौलिक तत्त्वों की व्याख्या न करके ऊपर ऊपर से विकृत तर्कों का योग प्रस्तुत करते हुए जान पड़ते हैं।

इस वक्तव्य के साथ शर्मा जी विहारी की सतसई की आलोचना के क्षेत्र में प्रविष्ट होते हैं। इस ग्रंथ में चार बड़े बड़े अध्याय हैं। पहले में 'सतसई का उद्भव', 'सतसई के आदर्श ग्रन्थ' 'अर्थापहरण विचार, 'सतसई के दोहे' और 'विवेचना विनोद' पर विचार व्यक्त किए गए

---

[१] वही, पृ० ७।

हैं। दूसरे अध्याय में बिहारी की सतसई के सौष्ठव को व्यक्त करने के लिए लेखक ने गाथा-सप्तशती, आर्या सप्तशती, अमरुक शतक, संस्कृत और उर्दू के कुछ कवियों से बिहारी की कविताओं की तुलना की है और यह प्रमाणित किया है कि बिहारी कहीं भी किसी से एक इंच भी पीछे नहीं दिखाई पड़ते बल्कि सबसे दो इंच आगे ही हैं। जहाँ कहीं उन्होंने पूर्ववर्ती कवियों के भावों को लिया है वहाँ उन भावों में चार चाँद लगा दिए हैं।

तीसरे अध्याय में हिन्दी कवियों जैसे केशव, सुन्दर, सेनापति, तोषनिधि, पद्माकर, घासीराम, कालिदास, रसखान से बिहारी की तुलना की गई है, फिर 'बिहारी' सतसई को 'श्रृंगार सतसई,' 'विक्रम सतसई,' 'रतन हजारा' के साथ तौला गया है। फिर बिहारी का विरह-वर्णन दूसरे कवियों का विरह-वर्णन, बिहारी का कवित्व और व्यापक पांडित्य और दोषपरिहार शीर्षक से बिहारी की महत्ता स्थापित करने का प्रयत्न किया गया है।

चौथा अध्याय 'सतसई संहार' है जिसमें ग्रंथों की वर्णक्रम सूची 'नामों की वर्णक्रम सूची,' 'पद्यों की वर्णक्रम सूची (परिशिष्ट) 'कतिपय संमतियों का सार' दिया गया है।

शर्मा जी ने वक्तव्य में अंग्रेजी, संस्कृत और उर्दू की तुलनात्मक समीक्षा की चर्चा की है और यह अनुभव किया है कि हिंदी में इस प्रकार की आलोचना का अभाव है। "हिन्दी साहित्य में जहाँ तक मालूम है इस शैली पर कभी कोई ग्रंथ नहीं लिखा गया। हिन्दी में भी यह रीति प्रचलित होनी चाहिए, इसकी आवश्यकता है यही समझ कर इस विषम मार्ग में चलने की चेष्टा की गई है[१]।" यह स्पष्ट है कि अन्य साहित्यों की तुलनात्मक समीक्षा की देखा देखी हिन्दी में तुलनात्मक समीक्षा का सूत्रपात करने का श्रेय पं० पद्मसिंह शर्मा को ही है किन्तु अन्य साहित्यों की समीक्षा-गंभीरता, विषयगत विवेचन और व्याख्यापरक शैली शर्मा जी को नहीं मिल सकी। एक तो इनका विषय सीमित था अर्थात् केवल बिहारी ही एक मात्र कवि इन्हें दृष्टिगत होते थे उन्हीं को सबसे ऊपर सिद्ध करने के लिए ये तूल

[१] बिहारी की सतसई, पृ० १४।

कलाम बाँधा करते थे, दूसरे इनकी समीक्षा का ढंग गंभीर व्याख्यापरक न होकर दरबारी हो गया था। जिसे आगे बढ़ाना हुआ उसे अनेक मुहाविरों, सूक्तियों और प्रशंसात्मक उक्तियों की मालाओं से सजा दिया। ऐसी आलोचनाओं में सार की बात बहुत कम मिल पाती है। यह शैली के चमत्कार द्वारा लेखकों की शैली के चमत्कार की की गयी आलोचना है।

"सपत्नियों के मलिन मुँह होने में विवर्णता अनुभाव से ईर्ष्या संचारी व्यंग्य का चमत्कार है, और कविता में अलक्ष्य संक्रम व्यंग्य ध्वनि का जोर है। वर्णन वैचित्र्य के अतिरिक्त असंगति, विभावना, तुल्य योगिता आवृतिदीपक और लाटानुप्रास की भरमार है। अलंकारों की क्या खूब बहार है [१]।"

"पर बिहारी लाल भी तो एक ही काइयाँ ठहरे। वह कब चुकने वाले हैं पहलू बदल कर मज़मून को साफ ले ही तो उड़े।"

"अज्यों न आए सहज रंग विरह दूबरे गात"

"वाह उस्ताद क्या कहने हैं क्या सफाई खेली है, काया ही पलट दी। कोई पहचान सकता है। वहाँ (गाथा में) केवल गुलझर पड़े केश ही थे यहाँ विरह दूबरे गात है।[२]"

जिन कवियों को छोटा सिद्ध करना हुआ उनकी त्रुटियों को खोज-खोज कर ये सामने लाते हैं या अपने कुतर्क के बल से उनकी अच्छाइयों को भी दोष के रूप में परिणत कर देते है। इस गुण-दोष दर्शन का आधार भी विषयगत सौंदर्य नहीं, भावात्मकता या रसात्मकता नहीं, ऊपरी चमत्कारों का विद्युत-जाल है। दोष-निर्देश का भी एक उदाहरण देखिये—

"सुन्दर जी ने चेष्टा रीति' के वर्णन में उल्लिखित कवित्त लिखा है। पर यह वर्णन कवितानुसारी न होकर 'भावत न पानी पान आकुल विकल प्रान' 'होत है उकावने' इस रूप में वैद्यकानुसारी हो गया है। 'उठी सतराइ' 'झूकी झहराइ' के सिवाय इसमें ऐसी क्या छवि है जो सुन्दर जी से नही कही जाती······पर बिहारी लाल अपनी प्रतिभा की आँख से गर्भ के भार से दुखित को भी सुरत सुखित सी देख रहे है[3]।"

---

[१] वही, पृ० ३९।

[२] बिहारी सतसई, पृ० ४०। [3] वही, पृ० ११२।

शर्मा जी की चटपटी शैली, नाज-अंदाज से भरे छोटे-छोटे वाक्य उनके व्यक्तित्व के निर्माण में सहायक भले ही हों किन्तु वे समीक्षा-शैली के गांभीर्य को पालने में एकदम असमर्थ हैं। यह सत्य है कि पूरे विकास काल की समीक्षा प्रभावात्मक शैली में प्रशंसात्मक है लेकिन तो भी द्विवेदी जी आदि की शैली में व्याख्यापरक गंभीरता के विकास के स्पष्ट तत्त्व लक्षित होते हैं। खेद है आलोचना के नूतन विधान को ढूँढ़ निकालने के फेर में शर्मा जी अपने युग तक की विकसित शैली को भी अपना सकने में प्रायः असमर्थ ही रहे।

'बिहारी की सतसई' के अतिरिक्त सरस्वती आदि पत्रिकाओं में इनके जो निबन्ध दिखाई पड़ते हैं वे भी कुछ इसी प्रकार के हैं जैसे संस्कृत और हिन्दी कविताओं का बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव,[1] सतसई संहार,[2] बिहारी का विरह वर्णन,[3] भिन्न-भिन्न भाषाओं की कविता का बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव।[4]

पं० पद्मसिंह शर्मा की इस आलोचना पद्धति का महत्व ऐतिहासिक है और इस अर्थ में भी उसकी महत्ता स्वीकार की जानी चाहिए कि बाद के अनेक उच्च कोटि के आलोचकों—जैसे शुक्ल जी, छायावादी, प्रगतिवादी, और प्रयोगवादी आलोचकों ने इस पद्धति का विकासकर उसे व्याख्यात्मक गांभीर्य दिया अर्थात् उन्होंने दो या कई कृतिकारों की कृतियों को एक साथ समीक्षा की कसौटी पर रखकर विश्लेषणात्मक ढंग से उनकी मार्मिक छवियों का उद्घाटन किया और हिन्दी साहित्य को समृद्धि दी।

पं० कृष्ण विहारी मिश्र

रीतिवादी परंपरा से प्रभावित समीक्षकों में दूसरे प्रमुख व्यक्ति हैं पं० कृष्णविहारी मिश्र। इन्होंने पं० पद्मसिंह शर्मा द्वारा देव की उपेक्षा देखकर 'देव और बिहारी[5]' पुस्तक लिखी जिसमें देव की विशेषताओ का

---

[1] सरस्वती, सन् १९०८ पृ० ३१८, ४०५।

[2] वही, सन् १९१०, पृ० २९, ७८, १२६।

[3] वही, सन् १९११, पृ० ३८२।

[4] वही, सन् १९०९, पृ ३५८।

[5] प्रथम संस्करण, संवत् १९७७।

तुलनात्मक ढंग से उद्घाटन किया। देव रीतिकाल के प्रमुख कवियों में से थे और उनकी भाव-संपत्ति बड़ी समृद्ध थी, लेकिन पं० पद्मसिंह शर्मा ने बिहारी के साथ अन्य रीतिकालीन कवियों की तुलना करते हुए देव को छोड़ दिया। देव को उन्होंने तुलना के योग्य भी नही समझा। उधर मिश्र बंधुओं ने देव को तुलसी और सूर की पंक्ति में बैठाया था इसलिए देव और बिहारी को लेकर विवाद खड़ा हो गया। पं० कृष्ण बिहारी मिश्र ने 'देव ओर बिहारी' में देव की उदात्त भाव-संपत्ति और कलात्मक सौष्ठव का दिग्दर्शन कराया तथा बिहारी को साथ-साथ रख कर भी पीछे कर दिया।

पं० कृष्ण बिहारी मिश्र ने अपनी उक्त पुस्तक (१) भूमिका, (२) रसराज श्रृंगार, (३) परिचय, (४) काव्य कला कुशलता, (५) बहुदर्शिता, (६) मर्मज्ञों के मन, (७) प्रतिभा परीक्षा, (८) प्रेम परिचय, (९) मन, (१०) विरह वर्णन, (११) तुलना, (१२) भाषा, (१३) उपसंहार और (१४) परिशिष्ठ इन चौदह अध्यायों में पूरी की। भूमिका में तत्कालीन आलोचना तथा सच्ची आलोचना के स्वरूप पर प्रकाश डाला गया है। समालोचना के सैद्धांतिक तथा व्यावहारिक रूपों को देखते हुए हम यह कह सकते हैं कि मिश्र जी अपनी परंपरा के अन्य आलोचकों से अधिक उदार व्याख्यात्मक प्रतिभासंपन्न और नवीन तथा संतुलित दृष्टिवाले लेखक थे। शर्मा जी तथा दीन जी की अपेक्षा इनकी दृष्टि भावों की ओर अधिक थी। इन्होंने भूमिका में विकासकालीन आलोचकों की निरकुशता, अहमन्यता आदि पर कर्कश प्रहार किया है। ये स्वयं समालोचक थे किन्तु समालोचकों की अहमन्यता, लापरवाही, उथली दृष्टि तथा आलोच्य कृतियों के प्रति उनकी उदासीनता को हेय दृष्टि से देखते थे। वे आलोच्य कृतियों के अध्ययन के उपरांत संतुलित ढंग से विस्तृत आलोचना लिखने के पक्षपाती थे। आलोचक अपने गर्व में फूला-फूला कृतिकारों की कृतियों पर चलते ढंग से कुछ लिख देता है। वह कृतियों पर आलोचना लिखने के बहाने अपना सिद्धांत और पांडित्य प्रदर्शन करने लगता है। वह समझता है कि वह कृतिकारों पर दया कर रहा है। उसके मन में आता है तो उसके छोटे-छोटे दोषों को बड़ा बनाकर ऊहापोह उत्पन्न कर देता है। "अब पुस्तकें इतनी अधिकता से प्रकाशित होती हैं कि सब प्रकार के मनुष्यों द्वारा उन सबका पढ़ा जाना असंभव है

और इसलिए कुछ ऐसे लोगों की आवश्यकता है जो पुस्तकें रसास्वादन कर के जन समुदाय को भिन्न-भिन्न रसों का परिचय दे दिया करें। परंतु इनमें पूर्ण विवेक बुद्धि होनी चाहिए। समालोचक की यही एक जिम्मेदारी ऐसी कठिन है कि इसका सदा पालन होना कठिन हो जाता है"[१]।

मिश्र जी दुराग्रह-हीन होकर स्वीकार करते हैं कि "आजकल जिस प्रकार की समालोचना प्रचलित है वह अंगरेजी चाल के आधार पर है।" चलते रूप से ही सही लेकिन वे मानते हैं कि "जैसी जिस समय लोगों की रुचि होती है वैसी ही उस समय समालोचनाएँ भी निकला करती हैं। इस कारण समालोचना भी भिन्न-भिन्न समय में भिन्न-भिन्न प्रकार की होती है।"

समालोचक के पूर्वग्रह या व्यक्तिगत मान्यताएँ समालोच्य ग्रंथ के साथ न्याय करने में बाधक होती हैं। "कभी कभी समालोचक किसी कारण विशेष से विवश होकर किसी प्रसिद्ध लेखक या कवि को आदर्श स्वरूप मान लेता है और अपने इसी आदर्श से समालोचना करता है। ऐसी दशा में यदि आदर्श कवि या लेखक के विपरीत कुछ भी भाव हुए तो नवीन लेखक के ऊपर उसे क्रोध आ जाता है और फिर वास्तविक योग्यता का विचार होने से रह जाता है[२]।" शास्त्रीय समीक्षा में उपर्युक्त भय सदैव लगा रहता है। यही दोष पद्मसिंह शर्मा, लाला भगवान दीन और मिश्र-बंधुओं में स्पष्ट दिखाई पड़ता है। शास्त्रीय समीक्षक किसी पुराने सिद्धांत को या किसी पुराने या समकालीन अच्छे कवि की विशेषताओं को शाश्वत और सार्वजनीन मानकर उन्ही अधारों पर नई नई कृतियों की समीक्षा करने लगता है। तब महान भ्रांति की सृष्टि होती है। किन्तु सिद्धांत रूप में कही गई आदर्श बातों को व्यवहार में उतार सकना सरल नहीं होता। इसीलिए मिश्र जी स्वयं 'देव और बिहारी' की आलोचना में देव से अत्यंत प्रभावित होकर उनकी विशेषताओं को अन्य कवियों में पाने की लालसा रखते हैं। हाँ, यह अवश्य कहा जा सकता है कि उन्होंने काफी दूर तक—औरों की अपेक्षा बहुत अधिक—देव और बिहारी के साथ न्याय करने की चेष्टा की है।

---

[१] देव और बिहारी, पृ० ४०।

[२] वही, पृ० ४५।

जहाँ तक साहित्य की परीक्षा का प्रश्न है उन्होंने भी देश कालानुरूप कोई मानदण्ड निर्धारित न करके, रसों के प्राचीन स्वरूप और उनके विकसित रूपों—पश्चिमी साहित्य और युगानुरूप नई आवश्यकताओं से प्रभावित रूपों—के पारस्परिक अंतर को स्पष्ट न करके केवल रसों की चर्चा करके छुट्टी पा ली है। इनका मत है कि कविता का उद्देश्य मन को शुद्ध आनन्द देना है। "यह आनन्द प्रदान रस के परिपाक से सिद्ध होता है। यों तो नीरस कविता भी मानी गई है और चित्र काव्य भी कविता के अन्तर्गत वर्णन किया गया है। पर वास्तव में रसात्मक काव्य ही काव्य है।" मतिराम ग्रंथावली की भूमिका में भी इन्होंने रसात्मक काव्य को ही उत्तम काव्य माना है।

इस रस चर्चा के प्रसंग में मिश्र जी शर्मा जी की तरह श्रृंगार रस की वकालत आरम्भ करते है। इसके लिए वे कोई गंभीर विवेचन न प्रस्तुत कर शैली आदि पाश्चात्य साहित्यकारों की सूक्तियों को आप्त वाक्यों के ढंग पर उद्धृत करते है।

"मनोविकारों के स्थायित्व और विकास की तरह श्रृंगार रस सचमुच सब रसों का राजा है। हम कुरुचि प्रवर्तक कविता के समर्थक नहीं परन्तु श्रृंगार कविता के विरुद्ध आजकल जो धर्म-युद्ध जारी कर रक्खा गया है उसकी घोर निन्दा करने से भी नही हिचकते है[1]।" श्रृंगार रस के संबन्ध में उनकी धारणा है कि वह काव्य का व्यापक और शाश्वत उपादान है। संसार में श्रृगार रस की कविता का ही प्राधान्य है। "श्रृंगार रस का स्थायी भाव प्रेम है। प्रेम विधेयात्मक सहानुभूतिमय और सत्य है। यह सबसे अधिक स्थायी और उपयोगी है[2]।"

मिश्र जी ने सभी प्रकार की श्रृंगारिक कविताओं के पक्षका जोरदार समर्थन किया है। उनका कहना है कि जो कविताएँ उपलब्ध हैं वे तो ठीक हैं उनके लिए कवियों की निन्दा नहीं होनी चाहिए। हाँ, "इन कवियों की निन्दा इस कारण होनी चाहिए कि उन्होंने श्रृंगार रस के उस सुन्दर रूप (प्रेमभक्ति) को क्यों नहीं दिखलाया[3]।" इसी प्रसंग में ये

---

[1] देव और बिहारी, पृ० ९३, ९४।

[2] मतिराम ग्रंथावली की भूमिका पृ० १।

[3] वही; पृ० २, ३।

स्पष्ट स्वीकार करते हैं कि विषय रस में शराबोर कविता में भी रमणीयता है सलिए चाहे वह उपयोगिनी न हो और चाहे उसके द्वारा समाज में किसी प्रकार के कुरुचि के भावों को आश्रय मिला हो परन्तु वह कविता अवश्य है[१] ।

जहाँ तक श्रृंगार रस के पक्ष-समर्थन का प्रश्न है—आपत्ति जनक नहीं किन्तु अश्लील श्रृंगार, अनुपयोगी श्रृंगार और एक मात्र श्रृंगार न तो कविता की शोभा है और न तो समाज की। जब हमारे जीवन में श्रृंगार के अतिरिक्त अनेक पक्ष हैं, जब समाज के लोगों से हमारा सारा संबन्ध श्रृंगारिक ही नही, जव नए युग में अनेक नई नई विषमताएँ और समस्याएँ खड़ी हो गई हैं तो श्रृंगार रस को प्रमुखता देकर परोक्ष रूप से जीवन के अन्य पक्षो को उपेक्षित कर देना समालोचक की नवीन दृष्टि का परिचायक नहीं। और यदि श्रृंगार को प्रमुखता देनी ही है तो उसकी व्याख्या नए ढंग से करनी होगी। आचार्य शुक्ल ने लोभ और प्रीति शीर्षक अपने नि ंध में प्रीति की व्यापकता की व्याख्या इसी नई दृष्टि से की थी।

यह सत्य है कि साहित्य उपयोगिता का पर्याय नही है किन्तु साहित्य को उपयोगिता से एक दम अलग करके देखना साहित्य को समाज-निरपेक्ष मानना है। साहित्य अपने में साध्य नही साधन है। यदि आप कहते है कि उसका साध्य मन का आनन्द है तो प्रश्न उठता है कि क्या मन का आनन्द समाज और युग से सर्वथा निरपेक्ष वस्तु है?

मिश्र जी ने गोपीकृष्ण की लीलाओं को काव्य का एक शाश्वत विषय सा मान लिया है। उनका कहना है कि श्रृंगार रस रसों में प्रमुख है। और श्रृंगार रस में भी विशिष्ट उत्तम घटना का होना आवश्यक है। सभी घटनाएँ या वस्तुएँ काव्य का विषय नही बन सकतीं। स्पष्ट ही उनका यह मत द्विवेदी जी प्रभृति आलोचकों की नये नये सामान्य विषयों को ग्रहण करनेवाली प्रवृत्ति का विरोधी लक्षित होता है।

मिश्र जी ने इस पुस्तक के व्यावहारिक आलोचनावाले स्थलों पर अपेक्षाकृत संतुलित दृष्टि से देव और बिहारी की विशेषताओं का उद्घाटन किया है। पं० पद्मसिंह शर्मा की देव के प्रति उपेक्षा और

---

[१] वही, पृ० २-३।

बिहारी के प्रति अनुचित पक्षपात करने की प्रवृत्ति की खूब खबर ली है। उन्होंने शर्मा जी की आलोचना में से उन स्थलों को ढूंढ़ ढूंढ़ कर पाठकों के समक्ष प्रस्तुत किया है जिनमें उन्होंने मनमाने तौर पर अन्य कवियों के दोषों और बिहारी के गुणों की चर्चा की है। "टीकाकार (शर्मा जी) हमको स्थल स्थल पर बिहारी के साथ अनुचित पक्षपात करता हुआ देख पड़ता है। बिहारी लाल श्रृंगारी कवि थे। अतएव उनकी श्रृंगारमयी सुधा सूक्तियों का हिंदी भाषा के अन्य श्रृंगारी कवियों का तादृश उक्तियों से तुलना करना उचित है। पर शर्मा जी ने इस प्रकार की जो तुलना की है, वह खेद है, पक्षपात पूर्ण है······इस पक्षपात का चूड़ान्त उदाहरण पाठकों को इसी बात से मिल जायगा कि देव सदृश उच्च कोटि के श्रृंगारी कवि की कविता से बिहारी के दोहों की तुलना तो दूर रही, उस बेचारे का नाम तक संजीवन भाष्य के प्रथम भाग में नही आने पाया है...सूरदास जी का नाम तो लिया गया है पर उनकी कविता भी तुलना रूप में नही दिखलाई गई है[1]।"

"पक्षपात का एक उदाहरण और लीजिए। तोष जी के कवित्त का एक पद इस प्रकार है। 'कूजि उठे चटकाली चहूँ दिसि फैल गई नभ ऊपर लाली' इसमें कूजि उठे चटकाली चहूँ दिसि के विषय में शर्मा जी का मन्तव्य मनन करने योग्य है। वह इस प्रकार है कूजि उठे चटकाली चहूँ दिसि में महावरा बिगड़ गया। चिड़ियों के लिये चहकना और भौंरों के लिये गुंजारना बोलते हैं कूंजना नहीं कहते। वाह शर्मा जी वाह। यह भूल तो आपने बड़े परिश्रम से पकड़ी है देखिए तोष जी ने एक स्थान पर यही भूल और भी की है, यथा-- 'कबूतर सी कल कूँजन लागी' कविवर रघुनाथ का भी गला दबाइए उन्होंने भी कह डाला है—'देखु मधुव्रत गूजै चहूँ दिसि, कोयल बोली कपोतहुं कूँजै।' यहीं क्यों यदि मैं भूलता नहीं हूँ तो, विमल सलिल सरसिज बहुरंगा, जल खग कूँजत गूँजत भृङ्गा' में महात्मा तुलसीदास से भी भूल हो गई है। बेचारे सूर तो उपेक्षणीय ही ठहरे, पर वे भी इस भूल से नहीं बचे।[2]

"बिहारी की श्रेष्ठता दिखाने के लिए मतिराम, बैरीसाल, तुलसीदास, रहीम एवं रसलीन के शतशत अनुपम दोहे उपस्थित रहते हुए भी उनका

---

[1] देव और बिहारी, पृ० ६७। [2] वही, पृ० ७७।

कहीं उल्लेख नहीं किया गया है। 'और नहीं तो बिहारी के दोष दिखानेवाले पूज्यपाद मिश्रबंधुओं पर दिग्गज विद्वान् पद्मसिंह शर्मा ने भाँति-भाँति के आक्षेप किए हैं। कहीं मेसर्स मिश्रबंधुओं का फुल्बेंच बनाया गया है तो कहीं सखुन फहमी मिश्रबंधुओं मालूम शुद लिखकर उनकी हँसी उड़ाने की चेष्टा की गई है।[1]"

मिश्र जी ने परिचय में बिहारी की प्रसिद्धि और देव की अप्रसिद्धि का कारण उनकी रचनाओं की श्रेष्ठता और हीनता न बताकर यह स्पष्ट किया है कि 'बिहारी लाल का दोहा छन्द छोटा था उनका याद करना सहज था, उनकी कविता कौतुक मय सनसनी फैलानेवाली थी तथा वे सदा जयपुर दरबार में रहें। इन कारणों से उनकी कविता अधिक लोकप्रिय हो गई। अजयशाह के दरबार में स्थायी रूप से न रहने तथा छोटे छोटे रजवाड़ों में भी अस्थायी रूप से रहने एवं ऐसे छन्द का प्रयोग करने के कारण जिनका कंठस्थ करना दोहे की अपेक्षा कठिन है, देव जी अधिक लोक प्रिय न हो सके पर पंडित—प्रिय वे सदा रहे।[2]

बहुदर्शिता में मिश्र जी ने यह दिखलाया है कि देव बिहारी की अपेक्षा बहुदर्शी और विविधदर्शी थे "विविध देशों की जानकारी रखते हुए भी देव जी की दृष्टि केवल धनी लोगों के प्रासाद ही की ओर नहीं उठती थी, निर्धनों के नग्न निवास स्थान में भी देव जी सौंदर्य खोज निकालते थे। देव जी समदर्शी थे। निम्न श्रेणी की जातियों में भी वे एक सत्कवि के समान कविता सामग्री पाते थे[3]।" मिश्र जी की यह सूझ कुछ गहरी नहीं मालूम पड़ती। यों तो बिहारी ने भी गाँव की युवतियों का चित्र खींचा है। दोनों के चित्रों में कोई मौलिक भेद नहीं। अर्थात् देव ने जो झोपड़ियों में रहनेवाली निर्धन जनता का चित्र खींचा है वह श्रृंगार की ही तूली से, और वहाँ भी उन्होंने मदमाती युवतियों की भाव भंगिमाओं को ही चुना है निर्धन जनता के जीवन के संघर्षशील पक्ष को नहीं।

मिश्र जी देव को बढ़ाते अवश्य हैं लेकिन बिहारी को तोड़ मरोड़ कर कुरूप नहीं कर देते। देव के साथ ही साथ बिहारी की भी क्षमताओं

---

[1] वही, पृ० ७८।

[2] देव और बिहारी, पृ० ९९। [3] वही, पृ० १३९।

को पहचानते हैं । "इस पुस्तक में बड़ी शिष्टता, सभ्यता और मार्मिकता के साथ दोनों बड़े कवियों की भिन्न भिन्न रचनाओं का मिलान किया गया है। इसमें जो बातें कही गई है वे बहुत कुछ साहित्यिक विवेचन के साथ कही गई है। 'नवरत्न' की तरह यों ही नहीं कही गई हैं। यह पुरानी परिपाटी की साहित्य समीक्षा के भीतर अच्छा स्थान पाने के योग्य है[1] ।" इस पुस्तक की समीक्षा शैली भी शर्मा जी की शैली की भाँति मसखरेपन से भरी उछलती कूदती नहीं चलती। उसमें गांभीर्य है, शिष्टता है और है संयम। मिश्र जी की इन सभी विशेषताओं का दर्शन उनकी 'संपादित मतिराम ग्रंथावली' की भूमिका में भी होता है।

मतिराम ग्रंथावली में कुछ साहित्य सिद्धातों (जैसे काव्य क्या है ? काव्य के महत्वपूर्ण विषय कौन से हैं ? कविता की भाषा कैसी हो ? समालोचना किसे कहते है ? आदि) की चर्चा करने के पश्चात् मिश्र जी ने मतिराम और उनके समकालीन कवियों की कविताओं की प्रकृति तथा मतों का उल्लेख किया है। मतिराम तथा अन्य रीतिकालीन कवियों की कविताओं में प्राप्त रसों, नायिकाओं, अलंकारों और गुणदोषों की सामान्य चर्चा की है। संस्कृत आचार्यों और हिंदी के रीतिकालीन आचायों के इन विषयों पर क्या मत है इसका इन्होंने सामान्य परिचय दिया है और रीतिकालीन कविताओं में इन्हीं परिपाटी विहित उपादानों को स्थूल ढंग से खोजा है। मतिराम की कविताओं की कुछ अन्य हिंदी कवियों की कविताओं से तुलना की गयी है। तुलना बँधी बँधाई गुण दोष की परिपाटी पर हुई है। फिर लेखक ने मतिराम के कतिपय ग्रंथों में आये हुए ऐतिहासिक प्रसंगों का उल्लेख किया है और मतिराम का वंश-परिचय दिया है। कविताओं का संपादन इन्होंने रीतिवादी विषयों के क्रम से किया है।

लाला भगवान् दीन

लाला भगवान दीन भी 'देव और बिहारी' के झगड़े से वंचित न रह सके। बिहारी उनके आदर्श कवि थे। अतः बिहारी की दुर्दशा देखकर वे खीझ उठे और पं कृष्णाबिहारी मिश्र के 'देव और बिहारी' के उत्तर में 'बिहारी और देव' लिखा। इस रीतिवादी परंपरा में दीन जी

---

[1] हिन्दी साहित्य का इतिहास, पं० रामचन्द्र शुक्ल, पृ० ५८७ ।

सबसे अधिक कट्टर रूढ़िवादी थे। उनमें अध्ययन था, पांडित्य था किन्तु सब पुराने सांचे में ढला हुआ। उनके पास नई दृष्टि नहीं थी। वास्तव में वे समालोचक न होकर पुराने ढंग के टीकाकार थे। पद्मसिंह शर्मा की तरह ही उनको नए साहित्य में आस्था नहीं थी। 'बिहारी और देव' में दीन जी ने सहृदयता से बिहारी और देव की काव्यात्मक विशेषताओं की विवेचना—या चर्चा ही सही—करने के स्थान पर देव को और उनके समर्थकों को बड़े निर्मम भाव से खरी खोटी सुनाई है। ग्रंथ के आरंभ में उनके कथन से ही यह व्यक्त होता है कि एक समालोचक की तटस्थ बुद्धि लेकर नहीं, एक आक्रान्त का क्षुब्ध रोष लेकर वे मैदान में उतर रहे है। "एक बिहारी पर चार चार बिहारियों (मिश्रबंधु और कृष्णबिहारी मिश्र) का धावा देखकर बेचारा हिंदी साहित्य संसार घबड़ा गया है। लखनऊ प्रान्त के निवासी बिहारियों ने रसिक राज कृष्ण की जन्म भूमि मथुरा नगर के निवासी बिहारी की कविता को हलकी ठहराकर देव पर बेतरह आसक्ति दिखाई है। यह देखकर सबको आश्चर्य हो तो अनुचित नही है[1]।"

लाला जी ने अपने ग्रंथ के पहले अध्याय में बिहारी पर लगाए ग दोषों का निराकरण किया है और उन्ही दोषों को देव पर थोपा है। इसमें दस दोषों की चर्चा है। ये रीतिशास्त्र में गिनाए गए दोषों के अतिरिक्त कोई मौलिक सूझ बूझ के दोष नही है।

बिहारी पर जो दोष लगाए गए है वे कुछ संक्षेप में ये है—

(१) "यह दिखलाया गया है कि छाकु उड़ाकु आदि पद इन्होंने बना भी लिए हैं। हम देखते हैं कि यदि यह दोष है तो इस दोष के दोषी देव भी हैं और बिहारी से कहीं अधिक दोषी है। बिहारी के बनाए हुए शब्दों का पता तो सरलता से चल जाता है और तुरन्त अर्थ भी लग जाता है। देव ने तो ऐसे ऐसे शब्द गढ़े हैं कि उनका पता लगाना कठिन हो जाता है[2]।"

(३) "तीसरा दोष मिश्रबंधु यह लगाते हैं कि इन्होंने शब्दों को बहुत अधिक मरोड़ा है और इन्होंने बहुत बिगड़े हुए रूप में रखा है। सकी

---

[1] बिहारी और देव, पृ० २। [2] बिहारी और देव, पृ० ६।

पुष्टि में मिश्रबंधुओं ने एक बहुत लम्बी चौड़ी और परिश्रम सूचक सूची दी है। समर (स्मर काम के अर्थ में) आप के लिए यह मरोड़ा हुआ है पर हम कह सकते है कि स्मर शब्द का यही रूप हो सकता है जैसे स्नेह का सनेह[१]।"

(४) "चौथा दोष यह लगाया जाता है कि तुकान्त के लिए भी इन्होंने शब्द मरोड़े है[२]।......किन्तु इनकी (देव की) सारी योग्यता अनगढ़ तुकान्त मिलाने और यमक जमकाने में ही खर्च हुई है[३]।"

(५) "पांचवा दोष यह लगाया जाता है कि बिहारी के कुछ छन्दों में यतिभंग दोष है परंतु उदाहरणवत जो दोहार्थ लिखे गए है उनमें तो हमें भी यतिभंग दोष नहीं मिलता। विपरीत इसके देव के छन्दों में सैकड़ों ऐसे छन्द मौजूद हैं जिनमें यह दोष पाया जाता है[४]।"

इसी प्रकार लाला जी ने बिहारी पर लगाए गए अन्य दोषों-जैसे दूरान्वयी दूषण, शोहदई या शोहदई वर्णन का दूषण आदि का निराकरण-कर उलटकर उन्हें देव पर लगा दिया है। पं० कृष्णविहारी मिश्र या मिश्रबंधुओं ने बिहारी पर जो गलत या सही आरोप लगाए है वे उनकी सोच समझ के फल हैं किन्तु लाला जी ने अपनी ओर से गुणों या दोषों की उद्‌भावना कम की है। उन्ही लोगों के दोषों को बिहारी के पक्ष में गुण और देव के पक्ष में दोष सिद्ध कर दिया है यह वृत्ति कुछ ऐसी ही है जैसे खेल खेल में एक लड़का दूसरे से कहे कि तुम चोर हो, तो वह उलटकर जवाब दे तुम चोर हो। लाला जी ने प्रतिक्रिया के आवेश में देव के दोषों को खींच खाँच कर उन्हें साधारण कवियों से भी तुच्छ सिद्ध करने की चेष्टा की है। इतना ही नहीं वे उनके 'शब्दों की तोड़-मरोड़,' 'व्याकरण की हत्या, 'छन्द भंगता', 'भाषासौष्ठव का विनाश' जैसे दोषों का निर्देश करते करते कटु व्यक्तिगत आक्षेप पर उतर आते हैं। 'देव में यह भारी दुर्गुण था कि वे धन लोलुपता के कारण द्वार-द्वार और देश-देश में मारे फिरते थे। धन लोलुपता कभी शान्त नहीं रह पाती।

---

[१] वही, पृ० ८।
[२] वही, पृ० १९।
[३] वही, पृ० २०।
[४] वही, पृ० २३।

बिना शांति और संतोष के अच्छी कविता बन नहीं सकती । देव को तो हम भिक्षुक कवि कह सकते हैं, बिहारी राज कवि और कविराज थे[१] ।"

स प्रकार के आक्षेप प्रगतिशील शब्दावली में लेखक के सामन्ती विचारों के द्योतक हैं । जहाँ पर किसी कवि के व्यक्तित्व का विश्लेषण कर उसके काव्य के प्रेरणा-स्रोतों का पता लगाने की चेष्टा होती है वहाँ वह आलोचना का गुण होता है किन्तु ऐसे स्थल तो आलोचक की खीझ के ही परिचायक हैं ।

पुस्तक के दूसरे अध्याय में लाला जी ने मिश्रबंधुओं और कृष्णबिहारी मिश्र की भूलों का स्पष्टीकरण किया है । लाला जी की दृष्टि में इन चारों में से किसी ने भी बिहारी की कविता समझी नहीं, उन्होंने बड़े निश्चय के साथ यह सिद्धान्त-वाक्य कहा—"देव, बिहारी, केशव इत्यादि के ग्रंथों का समझना उनका शुद्ध पाठ जानना और जिस साहित्य मर्मज्ञता का परिचय उन कविताओं में है उसकी बारीकी तक पहुँचना आज कल के ग्रेजुएटों के वश की बात नहीं ।···ऊपर लिखे हुए दावे को प्रमाणित करने के लिए हम मिश्रबंधुओं में से दो ग्रेजुएटों (पं० शुकदेव बिहारी मिश्र बी० ए० और पं० श्यामबिहारी मिश्र एम० ए०) को ही पेश करते हैं ।"

तीसरे अध्याय में लाला जी ने देव द्वारा बिहारी के भावों की चोरी का हवाला दिया है। और फिर उनकी बिहारी के साथ तुलना करते हुए दोनों का स्थान निर्धारित किया है ।

(१) बिहारी की कविता बहुत ऊँचे दर्जे की है, देव उस ऊँचाई तक नहीं पहुँचे ।

(२) बिहारी प्राकृतिक कवि थे, देव ठुक-पिट कर बने थे ।

(३) बिहारी की भाषा निहायत साफ और चुस्त है। देव तो भाषा की हत्या करते हैं और व्यर्थ शब्द गढ़ते हैं ।

(४) बिहारी का लक्ष्य कविता करना होता था, देव का लक्ष्य केवल अनुप्रास और यमक भिड़ाना और अनगढ़ तुकान्त बैठाना ।

---

[१] बिहारी और देव, पृ० ४९ ।

[२] वही, पृ० ६० ।

(५) बिहारी के दोहे अद्वितीय हैं। देव के तीन छन्दों (दोहा, कवित्त, सवैया) में से कोई अद्वितीय नहीं है। हाँ, इन तीनों में से सवैया छन्द अच्छे हैं। दोहे बिलकुल मामूली ओर कवित्त विलकुल प्रसाद गुण हीन।

(६) शब्दालंकारहीन और शब्दाडंबर को अधम काव्य मानते हुए भी देव ने अनुप्रास और यमक के हेतु भाषा पर घोर अत्याचार किया है, बिहारी ने यमक और अनुप्रास के लिए शब्दों का रूप नहीं बिगाड़ा।

(७) बिहारी हिन्दी साहित्य का चौथा रत्न है। देव बहुत नीचे दर्जे का कवि है। देव हिन्दी साहित्य को बदनाम करनेवाला प्रथम कवि है।

इसी प्रकार लाला जी ने देव के अन्य तथाकथित दोषों और बिहारी के तथाकथित गुणों का उद्घाटन किया है। देव और केशव की तुलना में भी, जहाँ तक बन पड़ा है, देव को पटकने की चेष्टा की है। यह विकास युग की रीतिवादी निर्णयात्मक आलोचना का सबसे कटु रूप है। इन दोनों कवियों में मानव जीवन की भाव-संपत्ति के विस्तार और गहराई तक कौन पहुँच सका है, उपर्युक्त समालोचना में इस बात का कहीं संकेत भी नहीं है। वे काव्य के रूढ़िबद्ध ऊपरी विधानों में ही उलझ कर रह गए हैं और उस ऊपरी विधान के परीक्षण में भी निस्संग बुद्धि से काम न लेकर पक्षपात की काई जमी भूमि पर उतर पड़े हैं। लाला जी में टीकाकार की क्षमता बहुत अच्छी थी, आलोचक की नहीं।

लाला जी के आलोचना के उपर्युक्त गुण फिर दिखाई पड़ते हैं उनके उन निबंधों में जिनमें उन्होंने 'भारत भारती' और 'जयद्रथ वध' की आलोचना[१] की है। इन निबंधों में स्पष्ट प्रकट होता है कि लाला जी, गुप्त जी और उनके गुरु पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी से खार खाए थे। अथवा यह कहा जा सकता है कि लाला जी समस्त नई प्रवृत्तियों के विरोधी थे उनकी दृष्टि में किसी भी युग में रीतिकालीन कविता ही

---

[१] लक्ष्मी पत्रिका, संपादक लाला भगवान दीन, पृ० ३३, ७३, १३६ (सन् १९१५ जनवरी, फरवरी और मई) में 'भारत भारती' की आलोचना और पृ० २१०, २६१ और २९५ (सन् १९१५, जुलाई, अगस्त और 'सितम्बर) 'जयद्रथ वध' की आलोचना।

कविता का आदर्श हो सकती थी। यह स्पष्ट है कि भारतेंदु के समय से ही कविता नया मोड़ ले रही थी। उसमें सामाजिक और राष्ट्रीय जागरण के तत्त्व उभर रहे थे। कविता रूप से वस्तु की ओर उन्मुख हो रही थी। ऐसी स्थिति में कविता में कुछ अनगढ़पन आ ही जाता है लेकिन वह अनगढपन कविता के स्वास्थ्य का सूचक है। उस अनगढ़पन में भावी साहित्य का परिमार्जन छिपा होता है। गुप्त जी आदि की कविताओं में इसी प्रकार का अनगढ़पन पहले-पहल लक्षित होता है। लाला जी ने कविता की उभरती हुई नवीन जीवन्त शक्तियों की ओर न देखकर केवल उसके खुरदरेपन को देखा और रीतिकालीन निर्जीव कविता के अलंकृत आवरण के सामने उसे फीका देखकर उस पर आघात करने के लिए वे पिल पड़े। 'भारत भारती' और 'जयद्रथ वध' की आलोचना में खोज-खोज कर व्याकरण संबन्धी, शब्द-चयन संबन्धी, छंद-भंग संबन्धी, कठिन और अनुपयुक्त शब्दों के प्रयोग संबंधी, छन्द में यति-भंग संबंधी, विराम चिह्नों के निर्वाह संबंधी, तुक सम्वन्धी अनेक दोष दिखाए गए हैं।

'जयद्रथ वध' की आलोचना में उसकी भाषा के संबंध में विचार करते हुए लाला जी लक्ष्मी में लिखते हैं "गुप्त जी ने अपनी कविता के लिए एक विशेष मिश्रित भाषा तैयार की है जिसे खिचड़ी बोली कह सकते हैं। इसमें संस्कृत भाषा के चावल, खड़ी बोली की दाल, संस्कृत और बंगला भाषा के मुहावरों की अदरख, उर्दू फारसी शब्दों की सोंठ मिर्च, व्रजभाषा और बुन्देलखण्डी मुहावरों का नमक और स्वेच्छा पूर्वक नियमोल्लंघन का घृत मिलाया गया है। थोड़े से अंगरेजी शब्दों की हल्दी भी डाल दी गई है। कुछ शब्द गुप्त जी के सखुनतकिया हैं। वे व्यर्थ पाद पूर्ति के लिए ठूंस दिए जाते हैं। यह पियाज की बघार का काम देते हैं।"

लाला जी ने गुप्त जी के काव्य में जो दोष निर्देश किए हैं वे गलत नहीं हैं किन्तु उन्होंने केवल दोष ही दोष—और वह भी ऊपरी—पकड़ा है, इन काव्यों की विशेषताओं की ओर ध्यान नहीं दिया है। लाला जी की दृष्टि में गुप्त जी का काव्य बहुत ही घटिया किस्म का है क्योंकि "काव्य का अत्यंत आवश्यक गुण मनोरंजन, विलक्षण तर्क, युक्ति और हास्य गुप्त जी की कविता में पाए ही नहीं जाते।"

लाला जी की दृष्टि जो थी सो थी ही, उनकी शैली बड़ी अक्खड़ किस्म की थी। यों तो पूरे विकास युग के लेखकों की शैली में व्यंग्य, निर्भीकता, वाद-विवाद की सी वक्रता, चुटीलापन और आक्रामक जुबांदानी दिखाई पड़ती है किन्तु इस काल की इन दो विरोधी धाराओं के स्वरों में स्पष्ट अन्तर है। द्विवेदी जी जैसे गंभीर समीक्षक कभी वैयक्तिक आक्षेप के स्तर पर नहीं उतरते थे, वे जो कुछ कहते थे निर्माण की भावना से प्रेरित होकर और लोगों में स्वस्थ निर्माण की प्रवृत्ति जागृत करने के लिये। वे इसीलिए नए-नए लेखकों की कृतियों की सहानुभूति के साथ काट-छांट कर उन्हें प्रोत्साहन देते थे। यों कहिए कि उनके व्यंग्य और कटाक्ष उनकी आत्मा की इच्छा व्यक्त करते थे किन्तु दूसरी धारा के समीक्षकों की शैलीगत वक्रता केवल शैलीगत वक्रता थी। उनमें नए निर्माण की भावना नहीं थी, बैठकर विवाद करने की प्रवृत्ति थी। उनकी वचन-वक्रता वैयक्तिक आक्षेप के स्तर तक उतरती थी और खूब उतरती थी। और ये लोग दोष के लिए दोष दिखाते थे या पुराना चश्मा लगाए रहने के कारण इन्हें सारी नई कविता सदोष ही दिखाई पड़ती थी।

लाला जी ने इसी प्रकार की आक्रामक समीक्षा पं० रामचरित उपाध्याय के 'रामचरित चिंतामणि' की की थी। इसमें भी लाला जी की उपर्युक्त समस्त प्रवृत्तियाँ दिखाई पड़ती हैं। कहना न होगा कि विकास-काल के बाद के युगों में दिखाई पड़नेवाली प्रौढ़ आलोचना या रचना आत्मा और शैली दोनों दृष्टियों से द्विवेदी जी द्वारा प्रवर्तित आलोचना और रचना का ही विकास है। दूसरी धारा (रीतिवादी परंपरावाली) दो चार पग और आगे बढ़कर धीरे-धीरे समाप्त हो गई।

श्री बालमुकुन्द गुप्त

गुप्त जी में विकास युग की दोनों प्रवृत्तियाँ लक्षित होती हैं। मूलतः वे द्विवेदी जी के समीप दिखाई पड़ते हैं किन्तु वैयक्तिक राग-द्वेषों के कारण द्विवेदी जी और उनमें बहुत चखचख मच गई थी। द्विवेदी जी का खण्डन करने के लिए ये पिल पड़े थे और उसी प्रकार द्विवेदी जी भी इनका जवाब देते थे। वास्तव में द्विवेदी जी एक प्रौढ़ विश्वास और शासकीय दृढ़ता से हिन्दी खड़ी बोली के परिमार्जन, हिन्दी व्याकरण के संशोधन तथा नई सामाजिक कविता के निर्माण में अथक योग दे रहे

थे। इस झोंक में अपने कार्य की टीका-टिप्पणी करनेवालों को खरी-खोटी भी सुना दिया करते थे। उनके कार्य की ुरुता और ईमानदारी का ध्यान न रखकर लोग उनसे टक्कर लेते थे और छिद्रान्वेषण करते थे। भाषा और व्याकरण की शुद्धता पर विचार करने का सबको अधिकार है लेकिन वास्तविक निर्माण की भावना से विचार करनेवालों में सहानुभूति की आवश्यकता है। यह निश्चित है कि यदि किसी को नीचा दिखाने के लिए कोई उसका छिद्रान्वेषण करेगा तो वह (विशेषतया जब वह निर्माण-कार्य में अत्यंत व्यस्त है) उसे स्वीकार नहीं करेगा और अपनी गलत बात को भी सही प्रमाणित करने का प्रयत्न करेगा। गुप्त जी ने इसी प्रकार द्विवेदी जी की आलोचना की है और उसी प्रकार का स्वाभाविक प्रत्युत्तर भी उन्हें प्राप्त होता गया है। 'अनस्थिरता' शब्द को लेकर दोनों पक्षों में बड़ा ऊहापोह मचा।

नई कविता, पुरानी कविता, शैली और भाव आदि विषयों पर उन्होंने कुछ कहा नहीं द्विवेदी जी के इन बिचारों से उत्तेजित होकर भी नहीं। हाँ, एक स्थान पर द्विवेदी जी की उस प्रवृत्ति पर जरूर कटाक्ष किया है जो पुराने महाकवियों का भी दोष दिखाती है। इसलिए स्पष्ट रूप से यह नही कह सकते कि गुप्त जी आलोचना के क्षेत्र में युग के साथ द्विवेदी जी की प्रवृत्ति के साथ कितना थे!

हाँ, उन्होंने जो व्यावहारिक आलोचनाएं—जिन्हें रिव्यू कह सकते हैं—की है उनमें तत्युगीन नैतिकता का अखण्ड स्वरूप लक्षित होता है। साहित्य के अंगों-उपांगों के स्वरूप और उनकी सफलता को दृष्टि में रखकर विचार नहीं किया है वरन् यह दिखाया है कि उनमें कहाँ-कहाँ विकृतियाँ हैं। उनका असत् रूप कितना घृणित और अनैतिक है तथा समाज और इतिहास की दृष्टि से असत्य। गुप्त जी ने 'अश्रुमती नाटक', 'अधखिला फूल', 'गुलशने हिन्द', 'तुलसी सुधाकर', 'तारा उपन्यास', 'प्रवासी की आलोचना', 'बंगला साहित्य' आदि की रिव्यू प्रस्तुत की है। 'अश्रुमती नाटक' बंगला का नाटक है। मुंशी उदित नारायण लाल ने हिंदी में इसका अनुवाद किया है। इसमें इतिहास का गला घोंटकर एक बड़ी जघन्य घटना की सृष्टि की गई है। महाराणा प्रताप जब जंगलों में भटक रहे हैं उस समय अकबर की सेना का एक मुसलमान

मानसिंह के संकेत से चोरी से प्रताप की (कल्पित) लड़की अश्रुमती को चुरा ले जाता है। मानसिंह इस पर बड़ा आनन्दित होता है। सलीम को जब अश्रुमती की खबर मिलती है तब वह उसको अपनी रक्षा में रखता है और अश्रुमती उसके प्रेम में पागल हो उठती है। अश्रुमती यह बात चाचा शक्त सिंह से भी कहती है। पृथ्वीराज भी अश्रुमती को प्रेम करने लगता है और इसी कारण सलीम उसे मार डालता है तथा अश्रुमती को घायल करता है। शक्तसिंह घायल अश्रुमती को प्रताप के पास पहुँचाता है। वहाँ भी वह सलीम के प्रेम का प्रलाप करती है। अन्त में प्रताप अलंकिनी अश्रुमती को भैरवी बनने का हुक्म देता है। वह महादेव की पूजा करती हुई श्मशान में रहने लगती है। वहाँ सलीम मिलता है और वह गायब हो जाती है। इस नाटक में इतिहास विरुद्ध बात कही गई है। हिंदू नैतिकता के विरुद्ध घटना रची गई है और अस्वाभाविक भी कम नही है। गुप्त जी ने इन्ही तीन दोषों के आधार पर नाटक की खिल्ली उड़ाई है और बड़ा क्षोभ व्यक्त किया है।

"अश्रुमती नाटक के लिखे जाने से वंग भाषा के साहित्य का मुँह काला हो गया है[१]।"

"किन्तु साहित्य जहन्नुम में जाय हमको साहित्य से कुछ मतलब नहीं है। हमको जो कुछ मतलब है इस पुस्तक से है, वह हिन्दू धर्म लेकर राजपूतों का गौरव लेकर हिन्दू हिन्दूपति महाराणा प्रताप सिह की उज्वल कीर्ति लेकर है। इस 'अश्रुमती' में चाहे जाने हो, चाहे बेजाने हो, हिन्दू धर्म पर बड़ा भारी आक्रमण किया गया है। राजपूत कुल में कलंक लगाया गया है[२]।"

'अधखिला फूल' भाषा का प्रयोग है। इसे भाषा की कसौटी पर ही कसा गया है और भाषा संबंधी अनेक गलतियाँ दिखाई गयी है। 'तुलसी सुधाकर' में सुधाकर द्विवेदी ने तुलसी के दोहों का कुण्डलियों में भाष्य किया है। गुप्त जी ने कटाक्ष किया है कि ये कुंडलियाँ मूल

---

[१] गुप्त निबंधावली, पृ० ५४४।

[२] गुप्त निबंधावली, पृ० ५४६।

दोहों से भी क्लिष्ट हो गई हैं। इसकी कोई सार्थकता प्रमाणित नहीं हो सकी।

'तारा उपन्यास' किशोरी लाल गोस्वामी कृत उपन्यास है। इसमें भी ऐतिहासिक सत्य का गला घोंटकर अनैतिक चरित्र-चित्रण किया गया है। 'गोस्वामी महाराज को अब तक भी यह मालूम नहीं है कि तारा कैसी कलंक भरी पोथी है[1]।' इस उपन्यास में जहाँनारा और दारा (बहिन-भाई) का संवाद कितना निर्लज्जता पूर्ण और अस्वाभाविक ढंग से कराया गया है। इसी प्रकार अर्जुन अपनी भानजी का विवाह एक मुसलमान से करना चाहता है।

जहाँनारा—ज्यादा खूबसूरत यह तसवीर यानी तारा है या मैं ?

दारा—(मुसकरा कर) मेरी निगाहों में तो तारा से तुम्हीं ज्यादा हसीन मालूम होती हो।'

'क्या दिव्य साहित्य है।······

"हम नागरीप्रचारिणी सभा को सावधान करते है कि यदि सचमुच वह हिन्दी की उन्नति चाहती है तो सबसे पहले तारा पढ़े और गोस्वामी जी महाराज को समझावे कि वह कैसा गन्दा और भयानक काम कर रहे हैं[2]।"

'गुलशने हिन्द' का गुप्त जी ने प्रशंसात्मक परिचय दिया है। प्रवासी की आलोचना में उन्होंने प्रवासी के इन मतों से सहमति व्यक्त की है—

(१) "संस्कृत से निकली हुई भारतीय भाषाओं में हिन्दी सबसे पीछे है और बंगला सबसे आगे है।"

(२) "अनुवाद में कुछ हानि नहीं पर मूल बंगला ग्रंथ के अधिकारी से आज्ञा लिये बिना हिन्दी अनुवाद करते हमने देखा है और कई बार ऐसा करनेवालों को खबरदार भी किया है।"

सहमति व्यक्त करते हुए भी गुप्त जी ने उलट कर यही काम करने वाले बंगला के लेखकों पर करारी चोटें की हैं और यह सिद्ध किया है कि बंगला में यह प्रवृत्ति सबसे अधिक है।

[1] वही, पृ० ५६३।

[2] गुप्त निबंधावली, पृ० ५६४।

इस प्रकार हम देखते हैं कि गुप्त जी विकास कालीन आलोचना के नैतिक पक्ष के समर्थक हैं और इस दृष्टि से वे मूलत: उस काल की स्वस्थ सामाजिक प्रवृत्तियों के साथ योग देते दिखाई पड़ते हैं। यद्यपि उनकी आलोचनाओं में साहित्यिक मूल्यांकन का दर्शन नही होता है फिर भी उनसे उनकी शक्ति और परिष्कृत रुचि का आभास मिलता है। यदि वे कृतियों के साहित्यिक मूल्यांकन की ओर झुके होते तो निश्चय ही इस कार्य में उन्हें विशेष सफलता मिली होती।

उत्कर्ष युग (व्याख्यात्मक समीक्षा)

प्रथम उत्थान

उत्कर्ष युग (व्याख्यात्मक समीक्षा)

प्रथम उत्थान

सन् १९२० के आसपास से हिन्दी समालोचना के स्वरूप में कुछ ऐसा परिवर्तन लक्षित होने लगा था जिसके आधार पर हम सन् २० के बाद की आलोचना को विकासकालीन आलोचना से पृथक् करके देख सकते हैं। यह नवीनता दो रूपों में दृष्टिगत हुई—(१) आचार्य शुक्ल की समीक्षा पद्धतियों में, (२) सौष्ठववादी (छायावादी, स्वच्छन्दतावादी), समीक्षकों की आलोचनाओं में। आचार्य शुक्ल की समीक्षा–पद्धति विकास-कालीन समीक्षा शैली की विकसित रूप थी। उसमें बहुत सी बातें नयी थीं और बहुत सी विकासकालीन आलोचना से प्राप्त। कुल मिलाकर आचार्य शुक्ल ने पहले पहल ऐसी आलोचना–पद्धति स्थापित की जो हिंदी में अब तक उपलब्ध नहीं थी।

सबसे महत्वपूर्ण कार्य शुक्ल जी ने यह किया कि उन्होंने आलोचना को साहित्यिक रूप प्रदान किया। समीक्षा की इस साहित्यिक शैली की प्रतिष्ठा के लिए शुक्ल जी ने अपने भारतीय साहित्य का मंथन किया और उच्च कोटि के काव्यों की महानता का रहस्य समझा। महान काव्यों के महान गुणों को ही काव्य की परीक्षा की कसौटी माना। महान काव्यों का पहला गुण है भावों की गहराई और व्यापकता के साथ साथ औदात्य। जो काव्य मानव–जीवन और जगत् के जितने ही अधिक मार्मिक और सामान्य भावों को अपने में ग्रहणकर पाठकों का मानसिक स्तर ऊँचा और संवेदनशील बना सकेगा वह काव्य उतना ही महान है। स्पष्ट हैं कि शुक्ल जी सर्वप्रथम काव्य के मूल तत्त्व भावों पर बल देते हैं अतएव उनके मूल्यांकन की पद्धति साहित्यिक है। किन्तु साथ ही शुक्ल जी काव्यगत भावों को सामाजिक परिष्कार, लोक-मंगल आदि आदर्शों की सापेक्षता में स्वीकार करते थे। अर्थात् वे भाव मानव–मन की विविध रागात्मक स्थितियों का सही और मार्मिक उद्घाटन तो करें ही साथ ही साथ उनका नियोजन इस दृष्टि से हुआ हो कि उनका समन्वित प्रभाव लोक-मंगलकारी हो।

आचार्य शुक्ल ने इसी दृष्टिकोण से रस की नवीन व्याख्या प्रस्तुत की। रस काव्य की आत्मा है अर्थात् रस काव्य के भाव और अनुभति पक्ष को प्रधानता देता है साथ ही साथ उसमें यह भी क्षमता होती है कि वह पाठकों को व्यक्तिगत सीमाओं से ऊपर उठकर एक सामान्य भाव-भूमि पर आकर मानसिक परिष्कार करने का भी अवसर देता है। शुक्ल जी ने रसों को अलौकिकता और ब्रह्मानन्द सहोदरत्व से निकाल-कर उपयोगिता और लौकिकता की आधार भूमि पर प्रतिष्ठित किया। रसवादिता और लोक-मंगल की भावना वे मूल तत्त्व हैं जिन्होंने शुक्ल जी की समस्त समीक्षात्मक मान्यताओं का निर्माण और विकास किया। विकास-काल में आलोचना को साहित्यिक मानदण्ड नहीं प्राप्त हो सका था। एक ओर आचार्य द्विवेदी प्रभृति नवीन दृष्टिवाले आलोचक थे जो साहित्य को समाज के साथ विकासशील मानते थे और जो साहित्यिक भावों का मर्म तो अवश्य पहचानते थे किन्तु वे उन्हें मूल्यांकन की कसौटी के रूप में स्वीकार नहीं कर सके थे और आवश्यकता से अधिक नैतिकता पर बल देते थे। उस काल के दूसरे लोग वे थे जो काव्य को काव्य की दृष्टि से देखने के पक्षपाती थे, जो काव्य को सामाजिक विकास से अप्रभावित एक शाश्वत अपरिवर्तनीय वस्तु मानते थे किन्तु उनका सबसे बड़ा ोष यह था कि वे काव्य के चमत्कार पक्ष पर ही रीझने-खीझने वाले रूढ़ ढंग के साहित्य-प्रेमी थे। आचार्य शुक्ल ने इन सीमाओं से आगे बढ़ कर एक साहित्यिक मानदण्ड स्थापित किया, जिसमें रस, (काव्य का भाव पक्ष) आदर्श (लोक-मंगल की कामना) और ऐतिहासिक विकासशील दृष्टि का समन्वय था।

आचार्य शुक्ल ने इसी दृष्टिकोण से काव्य के भाव, रूप और आदर्श के विविध पक्षों पर विचार किया। पहली बार हिंदी साहित्य में साहित्य के (काव्य के) विविध पक्षों का इतना समृद्ध और वस्तुगत (बावजूद इसके कि शुक्ल जी में पूर्वग्रह भी बहुत हैं) विवेचन उपलब्ध हो सका। पहली बार एक हिंदी-समीक्षक ने पश्चिम की चेतना अपने ढंग से ग्रहण कर अपनी ऐतिहासिक राष्ट्रीय साहित्यिक चेतना को इतना आगे बढ़ाया और अपने गहन पांडित्य और पारदर्शी प्रतिभा तथा दृष्टि से साहित्य का इतना व्यापक और गहरा विवेचन किया। समीक्षा-सिद्धान्तों की दृढ़ मानवीय और साहित्यिक भूमि पर परीक्षा की तो की

ही साथ ही साथ विशेष बिशेष कवियों की कृतियों का व्यावहारिक मूल्यांकन भी अद्‌भुतग्राहिका शक्ति, रसात्मक दृष्टि, संवेदनशील हृदय और संतुलित बुद्धि-वैभव से किया। आचार्य की साहित्यिक मान्यताएं आचार्य के हृदय, विवेक और लोकमंगलकारी दृष्टिकोण से एक दृढ़ व्यक्तित्व प्राप्त कर सकी थी। वह व्यक्तित्व बड़ा ही आस्था संपन्न और ऊर्जस्वित था। वह अपने प्रतिकूल तत्त्वों से समझौता बहुत कम कर पाता था, यही था उसका अपना उदात्त वैभव और यही था उसका दोष।

प्रश्न उठता है कि शुक्ल जी की समीक्षा-पद्धति को जन्म देनेवाली परिस्थितियां क्या थीं। क्या सामाजिक जीवन में कुछ ऐसी नवीन प्रवृत्तियाँ उग रही थीं जिनके कारण शुक्ल जी ने यह नयी आलोचना शैली प्रवर्तित की। मेरी समझ से शुक्ल जी की आलोचना-साहित्य में कोई नवीन प्रवृत्ति नहीं है जो नवीन सामाजिक प्रवृत्तियों के परिणाम स्वरूप लक्षित हुई हो। हम आगे चल कर देखेंगे कि शुक्ल जी समाज में उगती हुई नवीन प्रवृत्तियों और उन्हें ग्रहण करनेवाले नवीन हिंदी साहित्य को सहानुभूति नहीं दे सके और अनेक स्थलों पर वे साहित्य को ऐतिहासिक विकास के समुचित परिपार्श्व में रखकर नहीं देख सके। और इस प्रकार पं० नन्ददुलारे वाजपेयी के शब्दों में 'शुक्ल जी का साहित्यादर्श स्थिर और अटूट है, गतिशील और विकासोन्मुख नहीं।' शुक्ल जी की नवीन आलोचना शैली की आधार भूमि है शुक्ल जी का अद्‌भुत समाहारी व्यक्तित्व। उन्होंने अपने पूर्व की समीक्षाओं का समाहार कर तथा विकसित पश्चिमी आलोचना का सार-अंश उसमें मिलाकर भारतीय परंपरा के अनुकूल एक नवीन वस्तु तैयार की। नकी समीक्षाएँ पुरानी समीक्षाओं की पूर्ण परिपाक थीं।

"परन्तु इस युग (द्विवेदी युग) की समीक्षा का पूर्ण परिपाक आचार्य रामचंद्र शुक्ल के साहित्यिक व्यक्तित्व में ही दिखाई पड़ा। उन्होंने अपने पूर्ववर्ती समीक्षा कार्यों का पूर्ण समाहार करके एक नये समीक्षादर्श का निर्माण किया जिसमें युगानुरूप व्यापकता थी। नामावली या शब्द संकेत उन्होंने पुरानी समीक्षा से ही लिए थे पर व्याख्या करने में वे पूर्णतः नवीन थे। आचार्य द्विवेदी ने संस्कृत और हिंदी साहित्य के उन्नतम कवियों के साथ नव युग के काव्य रचयिताओं की जो समान सी

अभ्यर्थना की थी, शुक्ल जी उतनी दूरी तक उनका साथ नहीं दे सके। इसका अर्थ यही है कि वे समीक्षा की साहित्यिक और शास्त्रीय परंपरा के अधिक समीप थे और नवीन विकास को भी प्राचीन साहित्यिक पीठिका पर ही रख कर देखते थे। तुलसीदास जैसे नीतिवादी और मर्यादावादी कवि उनके आदर्श थे। परन्तु तुलसीदास की आध्यात्मिक और सांप्रदायिक भूमिकाओं को छोड़कर शुक्ल जी ने उनके द्वारा चित्रित महत्वपूर्ण चरित्रों को और उनकी मनोवैज्ञानिक और नैतिक जीवन स्थितियों को महत्व दिया[१]।"

इस प्रकार यह लक्षित होता है कि आचार्य शुक्ल के व्यक्तित्व और परिणाम स्वरूप उनकी आलोचनाओं पर विकासकालीन सामाजिकता, नैतिकता, स्वस्थ भारतीय परंपरा के प्रति प्रेम, परंपरा को युगानुरूप देखने की प्रवृत्ति द्विवेदी जी आदि समालोचको के शैली की अपेक्षा भाव तथा विषय को महत्व देने के आग्रह, वर्णनात्मक कविता के प्रति झुकाव, विषय और शैली को भिन्न भिन्न करके देखने की प्रणाली और अंग्रेजी साहित्य के अध्ययन की प्रवृत्ति का पर्याप्त प्रभाव है। किन्तु कहा जा चुका है कि शुक्ल जी में और भी अनेक विशेषताएं ऐसी थीं और उपर्युक्त विशेषताओं को समझने और उनका सामंजस्य करने की क्षमता ऐसी थी कि उन्होंने एक स्वतंत्र समालोचना-पद्धति को जन्म दिया।

समालोचना का सबसे व्यवस्थित और वास्तविक स्वरूप व्याख्यात्मक समालोचना है। संस्कृत साहित्य में, हिंदी के रीति-साहित्य में समालोचना के व्यावहारिक पक्ष का स्वरूप अत्यन्त अविकसित था। रीतिकाल में तो सिद्धांत-निरूपण का स्वरूप भी अत्यंत ही पिष्टपेषित और सतही था तथा ढंग भी सर्वथा संकुचित। आरंभ काल में हिंदी आलोचना जन्म ले रही थी। प्रशंसाओं और निन्दाओं का अत्यंत सामान्य रूप ही उस काल की आलोचना में दिखाई पड़ता है। विकास-काल में आलोचना आगे बढ़ी और तुलनात्मक ढंग पर निर्णयात्मक समीक्षा का कार्य आरंभ हुआ। इस काल में भी सिद्धांत-निरूपण और व्यावहारिक मूल्यांकन दोनों क्षेत्रों में वैज्ञानिक विवेचन और संतुलित, सानुक्रम तथा वस्तुगत व्याख्याओं का अभाव रहा। वह अभाव पूरा हुआ आचार्य शुक्ल की

---

[१] नया साहित्य नये प्रश्न, नन्ददुलारे बाजपेयी, पृ० २५।

आलोचनाओं में। अर्थात् व्याख्यात्मक समीक्षा का समुन्नत स्वरूप पहले पहल हिंदी-साहित्य में दृष्टिगत हुआ। अंग्रेजी साहित्य में ऐसी आलोचनाओं का निर्माण काफी दिनों से होता आ रहा था और वहाँ ये आलोचनायें प्रभूत मात्रा में उपलब्ध थीं।

आलोचना को शुक्ल जी द्वारा इतना समुन्नत रूप किन कारणों से मिला ऊपर इसका उत्तर देने की कोशिश की गयी है। परन्तु व्याख्यात्मक समीक्षा के इस उत्कर्ष का शुक्ल जी के प्रतिभा-संपन्न व्यक्तित्व के अतिरिक्त एक और कारण खोजा जा सकता है। हिंदी खड़ी बोली सरकारी उपेक्षाओं से संघर्ष करती-करती अपने अस्तित्व का सहज विकास कर रही थी। निरन्तर संघर्ष के पश्चात् जब विश्व-विद्यालयों में हिंदी के अध्ययन-अध्यापन की सुविधा प्रदान की गयी तो उच्चस्तर की पाठ्य पुस्तकों की आवश्यकता प्रतीत हुई। एम० ए० हिंदी के विद्यार्थियों को समीक्षा-शास्त्र पढ़ाने के लिए क्रमबद्ध, सुव्यवस्थित और व्याख्यापरक आलोचनानों की आवश्यकता थी। पं० रामचंद्र शुक्ल और डा० श्यामसुंदर दास ने इस क्षेत्र में अथक प्रयास किया। इसी आवश्यकता के परिणामस्वरूप 'हिंदी साहित्य का इतिहास' और 'साहित्या-लोचन' जैसी व्यवस्थित समीक्षा पुस्तकों की सृष्टि हुई और फिर क्रमशः इस व्याख्यात्रयी आलोचना का विकास होता गया। जो आगे चल कर विभिन्न वर्गों की चेतनाओं और प्रवृत्तियों को समेटती गयी।

डा० श्यामसुंदर दास की भी समस्त महत्वपूर्ण आलोचनात्मक कृतियां इसी काल की हैं। यद्यपि काल-क्रम की दृष्टि से वे शुक्ल जी से पहले पड़ते हैं किन्तु कृतियों के निर्माण काल में बहुत कुछ समानता है। डा० श्यामसुंदर दास को आचार्य शुक्ल के बाद रखने का कारण यह है कि (१) विकास कालीन समीक्षा पद्धति के पश्चात् एक नवीन समीक्षा-युग निर्मित करने का श्रेय आचार्य शुक्ल को है। बाबू साहब का महत्व इस बात में है कि उन्होंने हिंदी की उच्च कक्षाओं के अध्ययन-अध्यापन के लिए बड़े ही श्रम और उदारता से समीक्षा की सामग्रियां संकलित कीं लेकिन समीक्षा को नूतन, प्रौढ़ भारतीय व्यक्तित्व देने का कार्य शुक्ल जी ने किया। (२) बाबू साहब शुक्ल जी के साथ और पश्चात् विकसित होने वाली स्वच्छन्दतावादी समीक्षा पद्धति और पश्चिमी विचार

धारा के अधिक समीप पड़ते हैं क्योंकि बड़ी ही उदारता से उन्होंने इन नये प्रभावों को ग्रहण किया है। और शुक्ल जी की मान्यताओं पर स्वच्छन्दता वादी समीक्षकों ने जो आरोप लगाये हैं उनसे ये सहमत से हैं।

फिर प्रश्न हो सकता है कि इन्हें क्यों नहीं स्वच्छन्दतावादी समीक्षकों की कोटि में रखा गया ? ऐसा दो कारणों से नहीं हुआ। एक तो ये मूलत: विकास कालीन वातावरण में पले थे जिससे विकास कालीन संस्कार भी इन पर कम नहीं थे, यह दूसरी बात है कि वे संस्कार इनकी सीमा नहीं बन सके। दूसरे इन्होंने स्वच्छन्दतावादी कविताओं और आलोचनाओं को सहानुभूति से देखा। उनके प्रभावों को अन्य विचार-धाराओं के प्रभावों की भाँति स्वीकार किया, उनका प्रवर्तन नहीं किया।

आचार्य शुक्ल की समीक्षा-पद्धति बड़ी ही प्रभावशाली सिद्ध हुई और उसके आधार पर चलने वाली एक परम्परा दिखाई पड़ती है। ये समीक्षक शुक्ल जी की मौलिक विचार-धाराओं और पद्धतियों को आधार बनाकर अपने ढंग से विकास कर रहे हैं। इनमें बाबू गुलाब राय, डा० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा, पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पं० चंन्द्रबली पांडेय, लक्ष्मीनारायण सुधांशु, (और आधुनिकों में डा० केसरीनारायण शुक्ल, पं० कृष्णशंकर शुक्ल, डा० सत्येंद्र आदि) के नाम उल्लेख्य हैं।

आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल

हिन्दी में सैद्धान्तिक और व्यावहारिक आलोचना के प्रौढ़ रूप का दर्शन आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल की समीक्षाओं में हुआ। शुक्ल जी जिस प्रकार अध्ययनशील थे—पूर्वी और पश्चिमी साहित्य का गहरा अध्ययन किया था—उसी प्रकार गंभीर विचारक भी थे। आचार्य का वास्तविक अर्थ यही होता है कि वह समीक्षा-क्षेत्र में कोई नया चिन्तन प्रस्तुत करे। प्रचलित प्राचीन सिद्धान्तों का रूपान्तर कर देना या उन्हीं के आधार पर कोई निबन्ध लिख देना या किसी पुस्तक की दृष्टिहीन समीक्षा प्रस्तुत कर देना आचार्यत्व का विधायक नहीं होता। शुक्ल जी सच्चे अर्थों में आचार्य थे। पंडितराज जगन्नाथ के पश्चात् साहित्यक स्वरूपों पर इतना मार्मिक और मौलिक विवेचन करने वाले (हिन्दी में) शुक्ल जी ही थे।

सैद्धान्तिक समीक्षा

काव्य की आत्मा

"शुक्ल जी अपनी समीक्षा में मिश्रबंधुओं अथवा शर्मा जी की अपेक्षा द्विवेदी जी के अधिक निकट थे। उन्होंने काव्य-विषय के महत्व का आरम्भ से ही ध्यान रखा और सामाजिक व्यवहार की पृष्ठभूमि पर काव्य की भाव सत्ता को स्थापित किया[1]।"

वाजपेयी जी के उपर्युक्त कथन से हम सहमत हैं। अन्तर इतना ही है कि हम मिश्रबंधुओं को सीधे-सीधे द्विवेदी स्कूल से काट कर शर्मा जी की पंक्ति में नहीं बैठा सकते। लेकिन यहाँ विवेच्य विषय यह है कि शुक्ल जी, द्विवेदी जी और डा० श्यामसुन्दर दास की तरह काव्य की विषय-वस्तु पर विशेष ध्यान देनेवाले थे। द्विवेदी जी ने रीतिकालीन परम्परा के विरुद्ध नैतिकता का समर्थन किया। शैलीगत चमत्कार के के स्थान पर विषयगत सौंदर्य को महत्ता प्रदान की। आचार्य शुक्ल ने भी अपने यहाँ और योरप में प्रचलित उन साहित्य-सिद्धान्तों का—जिनमें कला को जीवन और जगत् से दूर अतीन्द्रिय जगत् का स्वप्न माना गया, कला को कला के लिए माना गया, अलंकारों और शैलीगत चमत्कारों को ही काव्य माना गया—विरोध किया और बहुत विश्वास और विवेचन के साथ यह प्रतिष्ठित किया कि काव्य जगत् और जीवन के नाना रूपों से जीवन ग्रहण करता है। इन्हीं नाना रूपों को ऐसी अभिव्यक्ति देना जिनको पढ़कर पाठक का हृदय स्वार्थ के घेरे से ऊपर उठकर जगत् के साथ अपना रागात्मक संबंध स्थापित कर सके, कविता का प्रयोजन है।

"जिस प्रकार आत्मा की मुक्तावस्था ज्ञान दशा कहलाती है उसी प्रकार हृदय की यह मुक्तावस्था रस दशा कहलाती है। हृदय की इसी मुक्ति की साधना के लिये मनुष्य की वाणी जो शब्द विधान करती आई है उसे कविता कहते हैं। इस साधना को हम भाव-योग कहते हैं और कर्म-योग और ज्ञान-योग का समकक्ष मानते हैं[2]।" कविता का यह स्वरूप पाठकों को चमत्कार से अभिभूत करने के लिये नहीं होता बल्कि उसके हृदय को रस में लीन कर उसे समस्त लोक जीवन को अपने में

---

[1] साहित्य संदेश, नंददुलारे वाजपेयी, सन् १९५१, पृ० २१९।

[2] रस मीमांसा, काव्य, पृ० ५-६।

समेट लेने के योग्य उदात्त बनाता है। "कविता ही मनुष्य के हृदय को स्वार्थ संबंधों के संकुचित मंडल से ऊपर उठाकर लोक-सामान्य भाव भूमि पर ले जाती है जहाँ जगत् की नाना गतियों के मार्मिक स्वरूप का साक्षात्कार और शुद्ध अनुभूतियों का संचार होता है। इस भूमि पर पहुँचे हुए मनुष्य को कुछ काल के लिये अपना पता नहीं रहता। वह अपनी सत्ता को लोक सत्ता में लीन किए रहता है। उसकी अनुभूति सबकी अनुभूति होती है या हो सकती है। इस अनुभूति योग के अभ्यास से हमारे मनोविकारों का परिष्कार तथा शेष सृष्टि के साथ हमारे रागात्मक संबंध की रक्षा और निर्वाह होता है[१]।'

इससे दो बातें स्पष्ट होती हैं। एक तो यह कि शुक्ल जी काव्य में विषय वस्तु को महत्व प्रदान करते हैं। दूसरे यह कि विषय वस्तु की अभिव्यक्ति ऐसी हो जो पाठक के हृदय को रस दशा तक ले जा सके। विषय वस्तु की कोई सीमा नहीं है। सृष्टि के छोटे से छोटे और बड़े से बड़े पदार्थ काव्य के विषय बन सकते हैं। लेकिन रस दशा उत्पन्न करने के लिये यह आवश्यक होता है कि वे विषय हमारे नित्य के परिचित हों। हमारे हृदयों से संस्कार रूप से उनका प्रभाव लिपटा हुआ हो। "जिन रूपों और व्यापारों से मनुष्य आदिम युगों से ही परिचित है, जिन रूपों और व्यापारों को सामने पाकर वह नर जीवन के आरंभ से ही लुब्ध और क्षुब्ध होता आ रहा है उनका हमारे भावों के साथ मूल या सीधा सम्बन्ध है।...इस विशाल विश्व के प्रत्यक्ष से प्रत्यक्ष और गूढ़ से गूढ़ तथ्यों को भावों के विषय या आलंबन बनाने के लिये इन्हीं मूल रूपों और मूल व्यापारों में परिणत करना पड़ता है[२]।"

"ऐसे आदिम रूपों और व्यापारों में वंशानुगत वासना की दीर्घ परंपरा के प्रभाव से, भावों के उद्बोधन की गहरी शक्ति संचित है अतः उनके द्वारा जैसा रस परिपाक संभव है वैसा कल, कारखाने, गोदान, स्टेशन एंजिन, हवाई जहाज ऐसी वस्तुओं तथा अनाथालय के लिये चेक काटना, सर्वस्व-हरण के लिये जाली दस्तावेज बनाना, मोटर की चरखी घुमाना या एंजिन में कोयला झोंकना आदि व्यापारों द्वारा नहीं[3]।"

---

[१] वही, पृ० ५-६। [२] रस मीमांसा, काव्य, पृ० ६।
[3] वही, पृ० ७।

इस संबंध में ये बातें विचारणीय हैं कि सिद्धान्त रूप में शुक्ल जी यह मानते हैं कि ज्ञान के प्रसार के कारण हमारी बोध वृत्ति विकसित होती है और भावों का विस्तार होता है। भावों की अभिव्यक्ति के लिये नए नए आलंबन मिलते हैं। अर्थात् ज्ञान के विकास हमारे भावों के चित्रण के लिए नए नए विषय प्रस्तुत तो करते ही हैं, साथ साथ हमारे रागात्मक भावों की सीमा का विस्तार भी करते हैं। "जिस प्रकार जगत् अनेक रूपात्मक है उसी प्रकार हमारा हृदय भी अनेक भावात्मक है।" अतएव नई नई आविष्कृत वस्तुएँ, नई छवियाँ, नये समाज के लोगों के भावों का आलंबन निश्चित रूप से होगी। शुक्ल जी के उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि वे काव्य या साहित्य के ऊपर नए युगों और नए वर्गों के पड़े हुए प्रभावों की उपेक्षाकर गए हैं। पहली बात तो यह है कि जब वे जगत और जीवन के नाना रूपों को कविता का विषय मानते हैं तो फिर इन नये रूपों को छोड़ते क्यों हैं ? यदि छोड़ते हैं तो इसका मतलब यह है कि इनके रस की सीमा काव्य के सभी रूपों को अपने में समेट लेने के लिए सक्षम नहीं हैं या शुक्ल जी के रस के विवेचन में कहीं कमी है। आगे चलकर हम देखेंगे कि ये दोनों बातें सही हैं। किन्तु यहाँ हम इतना कह देना चाहते हैं कि शुक्ल जी में जिन नये युग के दृश्यों को रस निष्पत्ति की दृष्टि से काव्य के क्षेत्र में कम प्रभावशाली माना है वे सचमुच इस प्रकार के नहीं है। हम वर्तमान में जीते हैं। संस्कार रूप से अतीत भी हमारे हृदय से लिपटा होता है लेकिन वर्तमान जीवन तो प्रत्यक्ष रूप से हमारे हृदय को प्रभावित करता है। हमारे हृदयों में विश्वास पैदा करने के लिए हमारा समकालीन साहित्यकार वर्तमान दृश्यों, छवियों और पदार्थों का चित्रण करता है। यदि यह मान ही लिया जाय कि सर्वत्र काव्य में रस निष्पत्ति आवश्यक है तो यह स्वीकार करना पड़ेगा कि हमारे भावों के विभाव पुराने न रहकर नये रहेंगे लेकिन शुक्ल जी ने कुछ उलटी ही बात की है इसलिए कि उन्होंने रस को युग के पारिपार्श्व में न देखकर एक शाश्वत धारा के रूप में देखा है। आज हमें यदि करुणा उत्पन्न करनी होगी तो आलंबन स्वरूप हम एक गरीब मजदूर को लेंगे जो मिल में काम करते करते हाँफ रहा है, या जो थक कर चूर हो गया है। एंजिन में कोयला झोंक रहा है और उसकी देह पर फटे गंदे कपड़े झूल रहे हैं, लेकिन गरीबी के कारण उसी में उलझा हुआ है। इसी प्रकार शीत में फटे

पुराने थोड़े कपड़े लपेटे हुए रिक्शेवाले को ले सकते हैं जो अपनी कमजोरी के कारण, भूख के कारण जल्दी जल्दी रिक्शा नहीं खीच पा रहा है और रिक्शे पर बैठा हुआ कोई मोटा सेठ जल्दी जल्दी खींचने के लिए गालियाँ उगल रहा है। इसी प्रकार जहाँ रौद्र रस की निष्पत्ति करनी होगी वहाँ हम किसी क्रूर मिल मालिक, जमींदार, जाली दस्तावेज बनाने वाले महाजन आदि को ले सकते हैं। इससे होगा यह कि हम रस निष्पत्ति के साथ साथ नये युग के जीवन को भी व्यक्त कर सकेंगे जो कि साहित्य का उद्देश्य होता है।

हाँ, तो शुक्ल जी रस को काव्य की आत्मा मानते हैं और रस का विवेचन करते हुए आपने बतलाया है कि रस-दशा हृदय की मुक्तावस्था का नाम है। रस विवेचन तो अत्यधिक प्राचीन काल से होता आ रहा है, भरत मुनि ने अपने नाट्य शास्त्र में पहले पहल दृश्य काव्य में रसों की अवस्थिति बतलाई। फिर रसों की अवस्थिति धीरे धीरे श्रव्य काव्य में भी मानी जाने लगी। आचार्य विश्वनाथ ने साहित्य दर्पण में 'वाक्यं रसात्मकं काव्यं' की घोषणा की और भट्ट लोल्लट, शंकुक, भट्ट नायक और अभिनव गुप्त पादाचार्य ने 'रस किसमें' को लेकर रस की व्याख्याएँ प्रस्तुत कीं। शुक्ल जी ने भी रस को काव्य की आत्मा मानने के कारण इसका विशद् विवेचन किया। जब व्याख्याएँ पहले से प्रस्तुत थीं तो शुक्ल जी ने रस को लेकर इतना पिष्टपेषण क्यों किया? प्रश्न हो सकता है। उत्तर भी स्पष्ट है कि शुक्ल जी ने केवल लकीर नहीं पीटी है, रसों का मौलिक विवेचन प्रस्तुत करने की चेष्टा की है। प्राचीन आचार्यों से जो बातें छूट गई थीं या जो दोष रह गए थे (शुक्ल जी की दृष्टि में) उन्हें शुक्ल जी ने दूर किया और रस विवेचन की परंपरा में एक महत्वपूर्ण योग दिया। बार बार स्थान-स्थान पर रसों के विवेचन की ओर झुक पड़ने की जो ललक शुक्ल जी में दिखाई पड़ी उसके भीतरी और बाहरी दोनों कारण हैं। शुक्ल जी स्वभाव से ही काव्य में रस निष्पत्ति के पक्षपाती थे। दूसरी ओर योरप में ऐसे ऐसे कला के स्कूल और वाद खड़े होते थे जिनमें काव्य के विषय पक्ष की पूरी अवहेलना दिखाई पड़ती थी। अभिव्यंजना को ही कवि सब कुछ मान बैठते थे, जगत और जीवन से संबंध विच्छेद कराकर किसी कल्पित लोक में कला को सैर कराते थे। अपने यहाँ भी कविता के बाहरी चमत्कारों के समर्थक कवि और आचार्य हो गए थे।

इन सबके विरोध में शुक्ल जी उठ खड़े हुए और अपने यहाँ प्रतिष्ठित रस सिद्धान्त को पकड़ कर उसे नई व्याख्याओं के आलोक में चमका कर साहित्य के क्षेत्र में फैले इन सारे चमत्कारवादी वितंडावादों से उन्होंनें लोहा लिया। "रस के विषय में आचार्य शुक्ल का आधार तो प्राचीन ही है पर उसकी प्रक्रिया प्रसार आदि पर उनके विचार कुछ नवीन हैं[१]।"

"जिस प्रकार ज्ञान की चरम सीमा ज्ञाता और ज्ञेय की एकता समझी जाती है उसी प्रकार काव्य की चरम सीमा भी आश्रय और आलंबन की एकता ही है। अभिप्राय यह कि जो ज्ञान क्षेत्र में ज्ञाता और ज्ञेय है वही भाव क्षेत्र में आश्रय और आलंबन। दोनों अपनी अपनी परिमिति में रहकर अंततः एक ही लक्ष्य तक पहुंचते हैं।"[२] रस के क्षेत्र में भरत मुनि ने विभाव, अनुभाव, संचारी भाव ये तीन पक्ष माने हैं। इन्हींके संयोग से स्थायी भाव रस दशा तक पहुँचता है। इन्हीं मूल आधारों को लेकर शुक्ल जी ने बहुत ही व्यावहारिक और मौलिक ढंग से रस की विवेचना की है। कवि मानव-जीवन के अधिक प्रभावशाली मार्मिक भावों—जिन्हें शास्त्रीय ढंग से स्थायी भाव कहा गया है—को व्यक्त करना चाहता है। उसका लक्ष्य होता है कि वह अनन्त पाठकों को अपने भाव में डुबा दे। वह अपने या जहाँ स्वयं वह आश्रय नहीं है वहाँ आश्रय के भावों को व्यक्त करने के लिये एक आलंबन खड़ा करता है। वह आलंबन ऐसा होता है जो सभी पाठकों के भावों का आलंबन हो जाता है। "जहाँ आचार्यों ने पूर्ण रस माना है वहाँ तीन हृदयों का समन्वय चाहिए। आलंबन द्वारा भाव की अनुभूति प्रथम तो कवि में चाहिए फिर उसके वर्णित पात्र में और श्रोता या पाठक में। विभाव द्वारा जो साधारणीकरण कहा गया है वह तभी चरितार्थ हो सकता है। यदि श्रोता के हृदय में भी प्रदर्शित भाव का उदय न हुआ—उस भाव की स्वानुभूति से भिन्न प्रकार का आनन्द रूप अनुभव हुआ—तो साधारणीकरण कैसा? क्रोध, शोक, जुगुप्सा आदि के वर्णन यदि श्रोता के हृदय में आनन्द का संचार करें तो या तो श्रोता स्वयं सहृदय नहीं या कवि ने बिना इन भावों का स्वयं अनुभव किए उनका रूप प्रदर्शित किया है[3]।"

---

[१] आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, शिवनाथ एम० ए०, पृ० १८१।

[२] गोस्वामी तुलसीदास, रामचंद्र शुक्ल, पृ० ९८।

[3] रस मीमांसा, पृ० ९९।

अर्थात् रस निष्पत्ति का तात्पर्य यह हुआ कि पाठक अपने व्यक्तिगत स्वार्थ संबंधों के घेरे से निकल कर उस सामान्य भाव भूमि पर पहुँचे जहाँ पहुँचने पर उसका हृदय लोक-हृदय हो जाय। इस प्रकार हृदय के उदात्त हो जाने पर आलंबन द्वारा व्यक्त कवि और आश्रय के लोक सामान्य भाव उसी (पाठक) के हो जाते हैं। वह आश्रय के साथ रोता है, हँसता है, घृणा करता है, प्रेम करता है आदि। शुक्ल जी ने हृदय की इस अवस्था को साधारणीकरण की अवस्था कहा है। यह शुक्ल जी का अपना दिया हुआ नाम है।

लेकिन साधारणीकरण के लिये कुछ ऐसी शर्तें हैं जिन पर पुराने आचार्यों ने विचार नहीं किया है। उन्होंने तो इतना भर कह दिया है कि विभाव, अनुभाव और संचारी भाव के योग से स्थायी भाव रस दशा धारण करता है किन्तु शुक्ल जी ने साधारणीकरण या रस निष्पत्ति के लिये केवल आलंबन (विभाव का भेद) अपेक्षित नहीं समझा बल्कि उसमें आलंबनत्व धर्म की स्थापना आवश्यक मानी। यह शुक्ल जी की मौलिक उद्भावना है। राम रावण पर क्रोध करते हैं तो हमारा राम के साथ तादात्म्य होता है, हम भी रावण पर क्रोध करते हैं लेकिन जब राम रावण के क्रोध का आलंबन होते हैं तब हम रावण के साथ राम पर क्रोध नहीं करते वरन् हमें रावण पर क्रोध होता है, घृणा होती है। कारण क्या है? शुक्ल जी ने बतलाया है कि राम और रावण में अलग अलग आलंबनत्व धर्म की स्थापना है। अर्थात् राम उदात्त स्वभाव के पात्र हैं, वे लोक-संरक्षक हैं। अतः वे आश्रय रूप में जिस किसी भाव पथ से होकर निकलते हैं हम भी उसी पथ से होकर निकलते हैं। दूसरी ओर रावण लोक-नाशक है जो क्रोध-घृणा आदि भावों का आलंबन है। अतः जब राम उस पर क्रोध करते हैं तब हम भी करते हैं। यदि रावण में यह लोक नाशकत्व का आलंबनत्व धर्म न होता और वह भी एक सदाचारी राजा होता तो राम का उस पर क्रोध हमारे क्रोध को जगाने में असमर्थ होता। इसलिए रस निष्पत्ति के लिये यह आवश्यक होता है कि आलंबन में अभिप्रेत भाव जगाने का गुण हो या कवि यह गुण उसमें आरोपित कर दे।

शुक्ल जी की उपर्युक्त उद्भावना नई होती हुई भी दोष-रिक्त नहीं है। शुक्ल जी ने रस निष्पत्ति के लिए चेतन आलंबनों को स्पष्टतः विभागों

में बाँटा है। कुछ शक्ति, शील सौन्दर्य संपन्न है जैसे राम और कुछ शक्ति दुःशीलता और कुरूपता से युक्त जैसे रावण। जहाँ रावण राम पर क्रोध करता है वहाँ उन्होंने रस की एक नीची अवस्था मानी है। इस दशा में श्रोता या पाठक का हृदय आश्रय रावण के हृदय के साथ तादात्म्य अनुभव नहीं करता वरन् वह तटस्थ होकर रावण के शील का अध्ययन करता है।

"यहाँ शुक्ल जी ने प्राचीन रसवाद तथा साधारणीकरण की जिस कमी का उल्लेख किया है वह उतनी साधारण नहीं है जितनी कि वे उसे समझते हैं। जब दुष्यन्त और शकुन्तला एक दूसरे के सामने होते हैं तो पाठक या श्रोता की बोध वृत्ति का विषय न तो केवल शकुन्तला ही होती है और न केवल दुष्यन्त। अतः उसकी प्रतिक्रिया भी इतनी सरल नहीं होती कि उसे केवल रति अथवा अन्य किसी भाव का उद्रेक कहकर उड़ा दिया जाय। जब दुष्यन्त शंका और अनिश्चय के कारण उपालंभ वा दोषरोपण करती हुई शकुन्तला का प्रत्याख्यान करता है तब हमारी अनुभूति का आलंबन क्या होता है? दुष्यन्त? अथवा शकुन्तला? क्या उस समय हमारा ध्यान दुष्यन्त की दुविधा और शकुन्तला के कष्ट तथा क्रोध इन सब पर नहीं होता? और क्या यह कहना अधिक ठीक नहीं होगा कि नाटक का यह स्थल हममें एक जटिल नैतिक परिस्थिति की समस्या मूलक चेतना जगाता है? स्पष्ट ही जटिल राग-बोधात्मक अनुभूति को किसी स्वीकृत स्थायी भाव से समीधृत नहीं किया जा सकता[१]।"

शुक्ल जी का यह सत् असत् का वर्गभेद प्राचीन काल की वस्तु है जब मनुष्य केवल आवेगों से काम लेता था। आज न राम दिखाई पड़ते हैं न रावण। आज के सामाजिक मनुष्य में विकसित नैतिकता और मनोवैज्ञानिक, सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक संबंधों की जटिलता भर उठी है। मनुष्य परिस्थितियों से प्रभावित होता हुआ अपनी शक्तियों का विकास करता है। ऐसी अवस्था में किसी के कृत्य की एक स्पष्ट प्रतिक्रिया का रूप निर्धारित करना बहुत कठिन है। आज की कविता, कहानी, उपन्यास (विशेषतया कथा साहित्य) मनुष्य के ऐसे ही जटिल रूप को चित्रित करते हैं। शक्ति शील सौंदर्य संपन्न राम आज हमारे बीच नहीं

[१] साहित्य चिन्ता, डा० देवराज, पृ० १७३।

हैं और न तो निरपेक्ष भाव से समाज की तोड़ फोड़ करनेवाले रावण। आज तो अनेक प्रकार के गुण आपस में गुंथे हुए हैं। अतः आज के सभी पात्र हमारे सभी प्रकार के भावों के आलंबन हो सकते हैं। ऐसा नहीं कि किसी भाव का आलंबन कोई एक पात्र है तो दूसरे भाव का आलंबन दूसरा पात्र। यदि गोदान का होरी दो रुपये के लिए झूठ बोलता है तो क्या हमें उस पर क्रोध आता है ? या झुनिया को जब वे दोनों डाँटते फटकारते हैं और घर में नहीं बैठने देते तो क्या हमें उनके इस दुष्कृत्य पर उनसे विरक्ति होती है ? मैं समझता हूँ, नहीं। बल्कि हमें उनकी सामाजिक विवशता पर तरस आती है। उस परिस्थिति में पले हुए लोगों के लिए वही संभव है जो अशिक्षा और हीन परिस्थिति के जाल में पड़ कर स्वयं तड़प रहे हैं और दूसरों के प्रति वैसा व्यवहार कर उठते हैं। हमें कहना यह है कि रस निष्पत्ति के लिए अलग अलग आलंबनों की स्थापना आज की दृष्टि से अवैज्ञानिक तो है ही पुराने विचारों से भी सही नहीं है। इसीलिए प्राचीन आचार्यों ने इस प्रकार का वर्गीकरण नहीं किया।

यदि शुक्ल जी रस को काव्य की आत्मा मानते हैं और सर्वत्र उसके पूर्णत्व के दर्शन के अभिलाषी हैं तो उन्हीं के मतानुकूल कवि के चाहने पर भी सर्वत्र पूर्ण रस का स्वरूप दिखाई नहीं पड़ सकता। मानस जैसे ग्रंथ में भी रस का बहुत सा स्वरूप हीन रस की कोटि में (जैसा कि शुक्ल जी मानते हैं) चला जायगा जैसे कि रावण का राम के ऊपर क्रोध, जिसे शुक्ल जी ने शील-निरीक्षण कहा है। लेकिन रामायण का उतना अंश क्या सचमुच आपेक्षाकृत हीन है ? क्या काव्य की दृष्टि से उसमें पाठकों को रमाये रखने की कम क्षमता है ? यदि नहीं तो रस के रूप निर्धारण में कहीं न कहीं दोष है जिससे काव्य का अधिकांश हीन कोटि में चला जाता है।

दूसरा प्रश्न होता है कि क्या रस की एक सार्वभौम और सार्वकालिक सत्ता है ? जहाँ तक हम समझते हैं, है लेकिन रूढ़ रूप में नहीं, गतिशील रूप में। रस का अर्थ क्या है। हमारे स्थायी भावों का आलंबनों, उद्दीपनों, अनुभाओं और संचारियों के योग से उद्दीप्त होकर सामान्य भाव भूमि तक पहुँचना। इसमें मुख्यतया दो पक्ष हैं, भाव पक्ष और विभाव पक्ष, अर्थात् भावों की अभिव्यक्ति के लिये अभिप्रेत आलंबन

खड़ा किया जाता है अथवा किसी आलम्बन के चित्रण में भाव अपने आप उद्दीप्त हो जाते हैं या कहीं केवल भाव का ही चित्र होता है आलंबन का हम आरोप कर लेते हैं। तात्पर्य यह कि मनुष्य के हृदय में स्थित नाना भावों का ऐसा चित्रण जिससे पाठक तादात्म्य अनुभव करता हुआ अपने भावों का विस्तार और परिशोधन कर सके, सफल कवि कर्म है। जहाँ तक रस का संबंध भावों की प्रेषणीयता से है वहाँ तक रस का स्वरूप सुरक्षित है। लेकिन हर नई-पुरानी कविता में रसों का सम्यक् विधान ढूँढ़ना व्यर्थ है। विशेषतया नई कविता को बँधे बँधाए स्थायी भावों, संचारियों, आलंबनों, उद्दीपनों के घेरे में घेर कर उसके साथ न्याय नहीं कर सकते। नये साहित्य के उपन्यास, कथा और समस्या-नाटकों को क्या हम साहित्य नहीं कहेंगे ? यदि कहेंगे तो हमें रस का रूढ़ मानदण्ड बदलना होगा क्योंकि उनमें पुराने किस्म का पूर्ण रस विधान नहीं मिलता। कारण क्या है ? मनुष्य का निरन्तर विकास हो रहा है। उसका मानसिक स्तर पहले शारीरिक प्रतिक्रियाजन्य आवेगों से निर्मित था। ज्यों ज्यों उसका विकास होता गया उसका सहज आवेग नैतिक, सामाजिक, मनोवैज्ञानिक चेतना से उलझता गया। हमारे जीवन के प्रकार बदले, सामाजिक संबंध बदले, हमारी रुचि बदली, हमारे मूल सहज भाव विकसित हुए, हमारे भावों को उद्दीप्त करनेवाले आलंबन बदले, हमारे साहित्य का स्वरूप बदला उसके मूल्यांकन का मानदण्ड बदला। सामन्त युग में तलवारों की लड़ाई हमारे रगों में उष्णता पैदा करती थी। हम उत्साह और ओज से उद्दीप्त हो उठते थे, आज की लड़ाई का नक्शा एक दम बदल गया है। आजकल बौद्धिक दाँव पेच का तमाशा दिखाई पड़ता है। आज की लड़ाई का स्वरूप हमारे हृदयों में कोई उत्साह नहीं पैदा करता, बल्कि उसके परिणाम की अनिष्टकारी आशंका की एक गहरी संवेदना हमारे हृदयों में खिच जाती है। पहले तो 'प्रान जाइ पर वचन न जाई। हमारे वीरों का उद्देश्य था। वे बाहर से भीतर तक खुले हुए थे। उनका उलझा हुआ होना अनैतिकता का परिचायक था किंतु आज के वीर देश के नेता होते हैं और वे अपने देश की नीति को कूटनीतिक ढंग से छिपाते खोलते हैं। यदि वे ऐसा न करें तो दूसरे देश वाले उस देश को खा जाने की चेष्टा करेंगे। तो क्या हम कह सकते हैं कि हमारी युद्ध वीरता या सत्य वीरता का स्वरूप वही रह गया है जो पहले था ? क्या उसका रूप मिश्रित नहीं हो गया

है ? या हम कह सकते हैं कि हमारे उत्साह के आलंबन वही पुराने प्रकार के आवेग संपन्न वीर लोग ही हो सकते हैं ? हमारा उत्तर है नहीं । हमारा कहना है कि रस का विवेचन युग और समाज के परिवेश में करना होगा, उसका कौन सा अंश आज भी जीवित है और कौन सा अंश आज के लिए उपयुक्त नहीं है, इसे देखना होगा ।

"आवेग के बिना भी केवल संवेदनाओं से साहित्य का निर्माण हो सकता है[१] ।" पुराने प्रकार के काव्य प्रायः आवेग उत्पन्न करते थे लेकिन संसार के बहुत से उत्कृष्ट कोटि के काव्य और नवीन काव्य संवेदनाओं के काव्य हैं, वे हृदय में धीमी धीमी संवेदना की एक अमिट लकीर खींच देते हैं । नई कविता की पंक्ति-पंक्ति में रूप रस खोजना एक असफल प्रयास होगा और न पाने पर नई कविता को कविता की सीमा से बाहर खदेड़ने का प्रयास उपहासास्पद ।

शुक्ल जी ने रस का बहुत वृहद् विवेचन किया है, उसके अंग प्रत्यंग को लेकर स्वतंत्र चिंतनपूर्ण निबन्ध लिखे हैं और साथ साथ नई उद्भावनाएं भी की हैं । उनकी उन उद्भावनाओं के संबंध में हम विचार कर रहे थे । पुराने आचार्यों ने रस को अलौकिक माना है । शुक्ल जी ने उनके इस कथन का विरोध कर रसों को विशुद्ध लौकिक वस्तु माना है । पुराने आचार्यों ने रस को ब्रह्मानंद सहोदर कहा है । इसलिये वे लोग काव्य को आनन्दमय कोश तक खीच ले जाते हैं । "सत्वगुण विशिष्ट परमात्मा के आवरक' का नाम आनन्दमय कोश है । जो रस मीमांसक वस्तुतः रस को ब्रह्मानन्द सहोदर, आनन्दमय, लोकोत्तर आदि रूप में ग्रहण करते हैं उनकी धारणा के अनुसार रस की पूर्ण अनुभूति इसी आनन्दमय कोश में होती है । पर आचार्य शुक्ल की दृष्टि में रस की पूर्ण अनुभूति मनोमय कोश में ही हो जाती है । आनन्दमय कोश तक पहुँचने की आवश्यकता ही नहीं पड़ती[२] ।" स्पष्ट है कि शुक्ल जी रसानुभूति या काव्यानुभूति को प्रत्यक्ष अनुभूति की कोटि की ही वस्तु मानते हैं । "कुछ लोगों का यह ख्याल है कि काव्यानुभूति एक और ही

---

[१] साहित्य चिन्ता, डा० देवराज, (टी० एस० इलियट का उद्धरण), पृ० १३१ ।

[२] आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, शिवनाथ, एम० ए०, पृ० १९६ ।

प्रकार की अनुभूति है उसका प्रत्यक्ष या असली अनुभूति से कोई संबंध नहीं, या तो कोई ख्याल नहीं या गलत है।...अपने को भूलकर अपनी शरीर यात्रा का मार्ग छोड़कर जब मनुष्य किसी व्यक्ति या वस्तु के सौंदर्य पर प्रेम मुग्ध होता है, किसी ऐसे के दुःख पर जिसके साथ अपना कोई संबंध नहीं, करुणा से व्याकुल होता है; दूसरे लोगों पर सामान्यतः घोर अत्याचार करनेवाले पर क्रोध से तिलमिलाता है।...इसलिये यह धारणा कि शब्द रंग या पत्थर के द्वारा जो अनुभूति उत्पन्न की जाती है केवल वही काव्यानुभूति हो सकती है ठीक नहीं है[१]।'

अतः यह स्पष्ट है कि एक ओर शुक्ल जी रस को ब्रह्मानन्द सहोदर मानने से इनकार करते हैं दूसरी ओर उसमें और उदात्त लोकानुभूतियों में अन्तर नहीं मानते। उनका पक्ष है कि चाहे काव्य हो, चाहे जीवन की घटना, जिस किसी से प्रभावित हो कर हम कुछ क्षणों के लिए वैयक्तिक राग-द्वेष से मुक्त होकर सामान्य भाव भूमि पर पहुँच जाते हैं, उच्च कोटि की अनुभूति है और इस प्रकार काव्यानुभूति और लोकानुभूति में साम्य है। इस विषय के दूसरे पहलू को भी शुक्ल जी अविवेचित नहीं छोड़ते। अर्थात् उनका कहना है कि जीवन में अनेक ऐसे अवसर आते रहते हैं जब हम अपने ही राग द्वेष में बँधे रहने के कारण काव्यानुभूति का अनुभव नहीं कर पाते। दूसरी ओर काव्य के क्षेत्र में भी बहुत सी घटिया रचनाएँ मिलती हैं जिनमें या तो चामत्कारिक तमाशे खड़े होते हैं या वैयक्तिक अनुभूतियाँ होती हैं।

शुक्ल जी की इन नवीन उद्भावनाओं में बल है। वे काव्यानुभूति और लोकानुभूति में कोई मौलिक अन्तर न दिखाते हुए भी काव्यानुभूति को लोकानुभूति का उदात्त और अवदात्त रूप मानते हैं। "रसानुभूति प्रत्यक्ष या वास्तविक अनुभूति से सर्वथा पृथक् कोई अन्तर्वृत्ति नहीं बल्कि उसी का एक उदात्त और अवदात्त स्वरूप है[२]।" शुक्ल जी की धारणा है कि रसानुभूति का इस रूप में (ब्रह्मानन्द सहोदर के रूप में) ग्रहण केवल 'अर्थवाद' के रूप में है। काव्यानुभूति की उच्चता सिद्ध करने के लिये उसे यह नाम दे दिया गया है। "प्रतीत ऐसा होता है कि जिसे

---

[१] चिन्तामणि, रामचन्द्र शुक्ल, पृ० ५१-५२।

[२] वही, पृ० ३४४।

आचार्य शुक्ल उदात्त और अवदात्त कहते हैं प्राचीन मीमांसकों ने उसी को महत्व देने के लिये लोकोत्तर आदि के रूप में ग्रहण किया[१] ।" लेकिन बात ऐसी नहीं, दोनों में मौलिक अन्तर है । प्राचीन आचार्य रस को आनन्दमय मानते हैं, चाहे वह करुण रस हो चाहे रौद्र, चाहे वीभत्स, चाहे भयानक । किन्तु शुक्ल जी रस को सुखात्मक और दुःखात्मक दोनों मानते हैं । उनका कहना है कि करुण रस के काव्य या नाटक पढ़ने या देखने पर आँसू का आना मनोवैज्ञानिक दृष्टि से दुःखानुभूति का ही लक्षण है । "यह कहना कि आनन्द में भी तो आँसू आते हैं, केवल बात टालना है । दर्शक वास्तव में दुःख ही का अनुभव करते हैं[२] ।"

प्राचीन आचार्यों के आनन्दवादी मत का भी एक पुष्ट आधार है । हम उसे व्यावहारिक ढंग से समझने की कोशिश करें । लोक में हम दुःखप्रद स्थिति को देखने को लालायित नहीं होते । हमें यह कामना नहीं होती कि रास्ते में कोई अत्याचारी किसी दीन हीन गरीब को मारता मिल जाय । जीवन में हम हमेशा आनन्दमय दृश्यों की कामना करते हैं । यह बात दूसरी है कि दुखात्मक परिस्थितियों और दृश्यों के आ जाने पर हम उन्हें झेल लेते हैं और तज्जन्य अनुभूति का अनुभव करते हैं । किसी विधवा का एकलौता बच्चा मर गया हो और वह विकल क्रन्दन कर रही हो तो क्या आप बड़े उत्साह से उसका क्रन्दन सुनने को जायँगे ? हम समझते हैं, नहीं । लेकिन काव्य में ऐसा नहीं होता । जब कोई हम से यह कहता है कि अमुक उपन्यास या काव्य या नाटक बहुत करुण है, तब उसे पढ़ने के लिये हम खोजते फिरते हैं । एक करुण दृश्य देखकर उससे अधिक करुण दृश्य देखने के लिये तैयार रहते हैं । ऐसे ही किसी दुष्ट व्यक्ति के सम्पर्क में हम जाना पसन्द नहीं करते । हमें दुःख होता है । लेकिन महाकाव्यों में रावण, कुम्भकर्ण जैसे आततायियों का चरित्र भी चाव से पढ़ते हैं । यहाँ तो कहा जा सकता है कि चूँकि हमें काव्य के अन्त में इन आततायियों के नष्ट होने का विश्वास रहता है इसलिये उनके कुकृत्यों को भी भावी परिणाम की आशा में पढ़ते चलते हैं लेकिन जो काव्य दुखान्त होते हैं वहाँ ! तात्पर्य यह है कि काव्यानुभूति

---

[१] आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, शिवनाथ, एम० ए०, पृ० १९५ ।
[२] चिन्तामणि, रामचन्द्र शुक्ल, पृ० ३४१-४२ ।

आनन्दमय ही होती है। और इसीलिये वह प्राचीन आचार्यों के मत से अलौकिक है ब्रह्मानन्द सहोदर है।

जो हो इसका परिणाम अच्छा नहीं हुआ। शुक्ल जी का कहना है कि रस की इस व्याख्या से काव्य में अलौकिक आलंबनों और नकली आध्यात्मिक अनुभूतियों का बोलबाला हो गया। काव्य जगत् का प्रकृति आधार छोड़ कर रहस्यमय लोक से अपने उपादान ग्रहण करने लगा।

शुक्ल जी ने अपनी उपर्युक्त मान्यता के आधार पर रस की कई कोटियाँ निर्धारित की हैं जैसा कि पुराने आचार्यों ने नहीं किया है। उत्तम कोटि और मध्यम कोटि के रस की चर्चा ऊपर हो चुकी है। क्षणिकदशा, स्थायीदशा और शीलदशा के आधार पर उन्होंने रस के विभाग किए हैं। भाव की क्षणिक दशा की अभिव्यक्ति मुक्तक रचनाओं में, स्थायीदशा की अभिव्यक्ति प्रबन्ध काव्यों में और शीलदशा की अभिव्यक्ति पात्रों के चरित्र-चित्रण में होती है। 'रसात्मक बोध' शीर्षक निबन्ध (रस मीमांसा) में उन्होंने रूप विधान के तीन भेद किए हैं (१) प्रत्यक्ष रूप विधान (२) स्मृत रूप विधान (३) संभावित या कल्पित रूप विधान। इन तीनों रूप विधानों में शुक्ल जी ने रसानुभूति मानी है। वे यह मानते हैं कि कविता में तीसरे प्रकार का रूप विधान ही ग्राह्य हुआ है और यह ठीक भी है क्योंकि "काव्य शब्द व्यापार है। वह संकेतों के द्वारा ही अंतस में वस्तुओं और व्यापारों का मूर्ति विधान करने का प्रयत्न करता है। अतः जहाँ तक काव्य की प्रक्रिया का संबंध है वहाँ तक रूप और व्यापार कल्पित ही होते हैं। कवि जिन वस्तुओं और व्यापारों का वर्णन करने बैठता है वे उस समय उसके सामने नहीं होते, कल्पना में ही होते हैं। पाठक या श्रोता भी अपनी कल्पना द्वारा ही उनका मानस साक्षात्कार करके उनके आलंबन से अनेक प्रकार के रसानुभव करता है। ऐसी दशा में यह स्वाभाविक था कि कवि कर्म का निरूपण करनेंवालों का ध्यान रूप विधान के कल्पना पक्ष पर ही रहे, रूपों और व्यापारों के प्रत्यक्ष बोध और उससे संबद्ध वास्तविक भावानुभूति की बात अलग ही रखी जाय।"

प्रत्यक्ष रूप विधान की चर्चा ऊपर कहीं हो चुकी है। प्रत्यक्ष रूप विधान में सब जगह तो नहीं पर कहीं-कहीं शुक्ल जी रसानुभूति मानते हैं।

इसी प्रकार स्मृति रूप विधान का विवेचन करते हुए शुक्ल जी अपना पक्ष प्रस्तुत करते हैं—"यों तो नित्य न जाने कितनी बातों का हम स्मरण किया करते हैं पर इनमें से कुछ बातों का स्मरण ऐसा होता है जो हमारी मनोवृत्ति को शरीर यात्रा के विधानों की उलझन से अलग करके शुद्ध मुक्त भाव-भूमि में ले जाता है। प्रिय का स्मरण, बाल्यकाल या यौवन काल के अतीत जीवन का स्मरण, प्रयास में स्वदेश के स्थलों का स्मरण ऐसा ही होता है। स्मरण संचारी भावों में माना गया है जिसका तात्पर्य यह है कि स्मरण रस कोटि में तभी आयेगा जब कि उसका लगाव किसी स्थायी भाव से हो[1]।" स्मृत रूप विधान के अन्तर्गत भी शुक्ल जी ने विशुद्ध स्मृति, प्रत्यभिज्ञान और स्मृत्याभास, कल्पना तीन कोटियाँ मानी हैं और तीनों का गंभीर युक्तिसंगत विवेचन किया है। तीनों में जो सूक्ष्म भेद होते हैं उन्हें दिखाया है।

लोक धर्म

शुक्ल जी साहित्य को जीवन की रसात्मक अभिव्यक्ति मानते हैं। रसात्मक अभिव्यक्ति औचित्य के निर्वाह से हो सकती है। यदि आलंबन किसी एक व्यक्ति—कवि या आश्रय—के वैयक्तिक भाव का आलंबन होगा तो रसानुभूति नहीं होगी। रसानुभूति के लिए यह आवश्यक है कि आलंबन सामाजिक भावों को जगानेवाला हो। सामाजिक भावों को जगा सकने की क्षमता वाले आलंबन निश्चय ही सामाजिक मर्यादाओं के पोषक होंगे। जहाँ कहीं सामाजिक मर्यादा का उल्लंघन होगा वहाँ रसानुभूति नहीं हो सकती। जैसे किसी सुन्दर नारी को देखकर हम प्रेम करते हैं। वह सुन्दर नारी यदि राक्षसी प्रवृत्तियोंवाली हुई—सामाजिक मर्यादाओं का उल्लंघन करने वाली हुई—तो श्रृंगार रस की पूरी अनुभूति उससे न हो सकेगी। ज्यों ही पाठक इसके सौंदर्य वर्णन से मुग्ध होकर इस पर रीझेगा त्योंही उसके वीभत्स कार्यों से संकुचित होकर विरक्त हो उठेगा और श्रृंगार रस की पूरी अनुभूति नहीं हो पायेगी। इसी प्रकार कोई व्यक्ति किसी कायर, कपटी, कुचाली को वैयक्तिक कारणों से भले ही श्रद्धा प्रदान कर दे लेकिन सामाजिक या पाठक तो उसी को श्रद्धा सौंपेगे जो सामाजिक मर्यादाओं का पालन

---

[1] रस मीमांसा, रामचन्द्र शुक्ल, पृ० २७७।

करने वाला उदात्त पात्र होगा। इसी को रस के क्षेत्र में औचित्य निर्वाह कहते हैं। अतएव यह स्पष्ट है कि रस निष्पत्ति के क्षेत्र में सामाजिक धर्म का निर्वाह अपने आप हो जाता है। यह शुक्ल जी का पक्ष था। रस में इस प्रकार सामाजिक औचित्य का पुट देना नई बात नहीं थी, लेकिन जहाँ पुराने आचार्यों ने—औचित्य और रस संप्रदाय के आचार्यों ने—औचित्य को रस निष्पत्ति का साधक माना है वहाँ शुक्ल जी ने दोनों को अन्योन्याश्रित माना। अर्थात् औचित्य से रस निष्पत्ति है और रस निष्पत्ति से औचित्य का संप्रसारण और संशोधन होता है। इसीलिए शुक्ल जी ने रस की दृष्टि से विचार करते समय सभी रस मग्न कवियों की सहृदय व्याख्या की है लेकिन तारतम्य निरूपण के अवसर पर उन्होंने उन कवियों को ऊँचा स्थान दिया है जिनमें सामाजिक औचित्य के विविध और उदात्त स्वरूप दिखाई पड़ते हैं। और इसकी चरम परिणति 'लोक धर्म' में होती है।

शुक्ल जी का लोक-धर्म रामचरित मानस के अध्ययन और आलोचना से निर्मित हुआ। मानस के राम शक्ति, शील और सौंदर्यमय हैं। शक्ति के द्वारा वे बहुत बड़े से बड़े लोक-पीड़कों का संहार करते हैं—जहाँ क्रोध और युद्ध की आवश्यकता होती है वहाँ उग्र रूप दिखाते हैं। वे शील द्वारा समाज के सुन्दर संबंधों की रक्षा करते हैं। भाई-बन्धु, पिता-माता, परिजन-पुरजन, राजा-प्रजा, पत्नी, गुरु आदि सबके साथ शास्त्र संमत व्यवहार करते हैं और सौंदर्य के द्वारा वे कठोर से कठोर व्यक्तियों—यहाँ तक कि पशु पक्षियों—का मन मोह लेते हैं। वज्र से हृदय को कुसुम सा कोमल बना देते हैं। राम के ये सारे कार्य लोक धर्म के अन्तर्गत हैं। इस लोक धर्म के अन्तर्गत जीवन के कोमल, कठोर, सुख-दुःखमय, सभी प्रकार के पक्ष आ जाते हैं। आवश्यकता इस बात की है कि मनुष्य भावों के विविध रूपों का प्रदर्शन उपयुक्त अवसरों पर करे। ऐसा न हो कि उसका क्रोध किसी अनाथ पर बरस पड़े, करुणा किसी अत्याचारी पर, प्रेम किसी कुरूप पर।

"इस लोक धर्म की दो विशाल बाहुएँ हैं—सत् की रक्षा और असत् का दलन। साधुओं का परित्राण और दुष्टों का विनाश गीता में श्रीकृष्ण ने अपने अवतार का प्रयोजन बताया है। शुक्ल जी इन दोनों पक्षों के

पूरे हिमायती हैं। मानव जीवन का सौंदर्य इन उभय पक्षों के पूर्ण परिपालन में ही है[१]।"

इसी लोक धर्म के आधार पर शुक्ल जी ने काव्य के दो भेद किये। (१) आनंद की साधनावस्था (२) आनंद की सिद्धावस्था। "अभिव्यक्ति के क्षेत्र में ब्रह्म के आनंद के स्वरूप का सतत् आभास नहीं रहता, उसका आविर्भाव और तिरोभाव होता रहता है। इस जगत् में न तो सदा और सर्वत्र लहलहाता वसन्त विकास रहता है, न सुख समृद्धि पूर्ण हास-विलास। शिशिर के आतंक से सिमटी और झोंके झेलती वनस्थली की खिन्नता और हीनता के बीच से ही क्रमशः आनन्द की अरुण आभा धुंधली-धुंधली फूटती हुई अन्त में वसन्त की पूर्ण प्रफुल्लता और प्रचुरता के रूप में फैल जाती है; इसी प्रकार लोक की पीड़ा, बाधा, अन्याय, अत्याचार के बीच दबी हुई आनन्द ज्योति भीषण शक्ति में परिणत होकर अपना मार्ग निकालती है और फिर लोक मंगल और लोक रंजन के रूप में अपना प्रकाश करती है।...कुछ कवि और भक्त तो जिस प्रकार आनन्द मंगल के सिद्ध या आविर्भूत स्वरूप को लेकर सुख सौंदर्यमय माधुर्य, सुषमा, विभूति, उल्लास, प्रेम व्यापार इत्यादि उपभोग पक्ष की ओर आकर्षित होते हैं, उसी प्रकार आनन्द मंगल की साधनावस्था या प्रयत्न पक्ष को लेकर पीड़ा, बाधा, अन्याय, अत्याचार आदि के दमन में तत्पर शक्ति के संचरण में भी—उत्साह, क्रोध, करुणा, भय, घृणा इत्यादि की गतिविधि में पूरी रमणीयता देखते हैं।......ये ही पूर्ण कवि हैं क्योंकि जीवन की अनेक परिस्थितियों के भीतर ये सौंदर्य का साक्षात्कार करते हैं।"[२]

आनन्द की सिद्धावस्था वह है "जहाँ सब प्रकार के प्रयत्नों की अशान्ति तिरोहित और उपभोग की कला जगी रहती है। आनन्द का ध्वज यहाँ चलता नहीं दिखाई पड़ता है।...इस भूमि का प्रवर्तक भाव है प्रेम[३]"।

शुक्ल जी आनन्द की साधनावस्था में मंगल का विधान करने वाले दो भाव मानते हैं करुणा और प्रेम। करुणा की गति रक्षा की ओर

---

[१] बीसवीं शताब्दी, नंददुलारे वाजपेयी, पृ० ७६-७७।

[२] रस मीमांसा, रामचंद्र शुक्ल, पृ० ५६।

[३] वही, पृ० ७३।

होती है और प्रेम की रंजन की ओर। अतः रवींद्रनाथ टैगोर, टाल्स्टाय आदि जो साधनावस्था को लेकर भी माधुर्य और कोमलता के बाहर नहीं झाँकना चाहते, शुक्ल जी के आदर के पात्र नहीं दिखाई पड़ते। ऐसे लोग लोकं-रक्षा की साधनावस्था के विधान में प्रेम को ही बीज भाव बनाना चाहते हैं।

आनन्द की सिद्धावस्था में मुख्य भाव प्रेम है। अतः इस क्षेत्र में कितने अन्य भाव आयेंगे प्रेम के वशवर्ती होकर। आश्चर्य दोनों क्षेत्रों में जाकर दो रूप धारण करता है।

यह पहले ही संकेत किया गया है कि शुक्ल जी आनन्द की साधनावस्था लेकर चलने वाले साहित्य को दूसरे की अपेक्षा श्रेष्ठ मानते हैं क्योंकि उसमें जीवन और जगत के विविध मंगलकारी पक्षों के दर्शन होते हैं। उसमें जगत के पालन और रंजन दोनों स्वरूप दिखाई पड़ते हैं।

प्रबन्ध काव्यों में लोक-मंगल का यह विधान अपने आप हो जाता है क्योंकि उनमें प्रयत्न होते हैं, जीवन की विविध घटनायें होती हैं, मानव के विविध भावों की एक साथ छटा दिखाई पड़ती है। मुक्तक काव्यों में आनन्द की सिद्धावस्था ही लक्षित होती है। उनमें जीवन के विविध पक्ष, विविध भाव और विविध प्रयत्न नहीं वरन् एक सिद्ध भाव का—विशेषतया प्रेम का—चित्र होता है। इसलिये शुक्ल जी प्रबन्ध काव्यों को मुक्तक काव्यों से श्रेष्ठ मानते हैं। "वे एक ओर गोस्वामी तुलसीदास और उनके मानस महाकाव्य के सामने सूरदास जी के भाव भरे पदों को स्थान नहीं देते और दूसरी और नवीन समुन्नत गीत काव्य के ऊपर ऐसी साधारण प्रबन्ध रचनाओं को रखना चाहते हैं जैसे काव्य में नूरजहाँ या 'हल्दीघाटी' अथवा गद्य में शेष स्मृतियाँ[१]।"

शुक्ल जी ने काव्य में लोक धर्म की स्थापना कर धरातल छोड़ते हुए साहित्य को लोक जीवन की भूमिका दी। विश्वास भरे और सशक्त स्वर में काव्य को लोक-जीवन के बीच प्रतिष्ठित किया। अपनी व्याख्यात्मक प्रतिभा से आनन्द के दो पक्षों का मार्मिक उद्घाटन किया। किन्तु यहाँ भी प्रश्नवाची चिह्न लग सकता है।

काव्य से लोक मंगल की साधना हो, लोक धर्म का उत्थान हो, एक

---

[१] बीसवीं शताब्दी, नंददुलारे बाजपेयी, पृ० ७६।

स्तुत्य विचार है, लेकिन उस साधना का क्या स्वरूप हो ? यह संकेत किया गया है कि तुलसी के मानस की विवेचना करते समय ही शुक्ल जी का यह लोक धर्म निर्मित हुआ था। राम लोक-धर्म-साधक के एक आदर्श रूप हैं। शुक्ल जी के लोक धर्म का स्वरूप राम के लोक धर्म से प्रभावित है। राम का लोक धर्म हिंदू वर्णाश्रम व्यवस्था पर आधारित था। शुक्ल जी यद्यपि ठीक-ठीक वर्णाश्रम व्यवस्था की बात तो नहीं करते किन्तु उससे भिन्न स्पष्ट रूप से किसी नवीन विचारणा और प्रगति के आधार पर युगोचित नैतिकता की स्थापना भी नहीं करते। अधिक से अधिक यही कहा जा सकता है कि उनकी वर्णाश्रम व्यवस्था रूढ़ न होकर भिन्न-भिन्न वर्गों के पारस्परिक कर्तव्य ज्ञान की चेतना जगाने वाली है। लेकिन कुल मिलाकर हिंदू समाज पद्धति और आदर्शों ने इनके लोक धर्म का स्वरूप निर्मित किया है।

रामचरित मानस का लोक धर्म नैतिक और आदर्शात्मक है। वहाँ कर्तव्य-चेतना अव्यावहारिक रूप में व्याप्त है। शुक्ल जी के लोक धर्म का स्वरूप भी नैतिक और आदर्शात्मक है। शुक्ल जी के युग तक समाज के पारस्परिक संबंधों का वैज्ञानिक और मनोवैज्ञानिक विवेचन होने लगा था। युग ज्यों–ज्यों आगे बढ़ता है त्यों–त्यों समाज का रूप जटिल होता जाता है। उस जटिल रूप की व्याख्या करने के लिये यह जरूरी है कि हम उस काल तक के विकसित चिन्तनों, मनोवैज्ञानिक, वैज्ञानिक उपलब्धियों को ग्रहण करें। शुक्ल जी ने ऐसा नहीं किया। वे नवीनता के प्रति उतने उदार नहीं हो सके जितना उनके ऐसे गंभीर आलोचक के लिये होना उचित था।

क्या टाल्सटाय या रवींद्र (या गान्धी) की विश्व वन्धुत्व की भावना प्रेम का विस्तार बात बात में टाल देने की चीज है। क्या उसके पीछे एक सुपुष्ट मनोवैज्ञानिक पीठिका नहीं है और वह यह कि मनुष्य परि-स्थितियों की चपेट में आकर बुरा बनता है. उसके असत् को हम प्रेम और सहानुभूति से फाड़ सकते हैं और क्या इसी आधार पर कुछ देशों में कैदियों को सुधारने के सफल प्रयोग नहीं हो रहे हैं। शुक्ल जी के क्रोध और करुणा का स्वरूप सामाजिक दृष्टि से स्पष्ट नहीं है। आत्याचारी पर क्रोध करो लेकिक अत्वाचारी का क्या स्वरूप हो ? इस बात का विवेचन शुक्ल जी ने आधुनिक सामाजिक पृष्ठभूमि पर नहीं किया। नये समाज

में जो नए वर्ग उत्पन्न हो गए हैं और उनमें नए संबंध स्थापित हो गए हैं, क्या उनके बीच सौहार्द स्थापित करने के लिए नवीन समाधानों को न खोज कर या उनका समर्थन न कर हमें प्राचीनता पर आधारित भावना मूलक नैतिकता से काम लेना पड़ेगा ? इन सब प्रश्नों का उत्तर शुक्ल जी के लोक धर्म से नहीं मिलता है। फिर भी शुक्ल जी ने लोक धर्म की स्थापना द्वारा साहित्य के क्षेत्र में घुसती हुई वैयक्तिक ऐकान्तिकता कोरी कलावादिता और सामन्ती विलासप्रियता का खण्डन किया। इसीलिए उन्होंने लोक जीवन विच्छिन्न रहस्योन्मुखी कविताओं का विरोध किया, इसीलिए उन्होंने आश्रयदाता सामान्तों और राजाओं की वासनात्मक वृत्ति के रंजन के लिये निर्मित होते हुए रीतिकालीन साहित्य के तमाशों का मजाक उड़ाया। इसीलिए उन्होंने व्यापक जीवन के सहज और विविध संबन्धों के चित्रण को महत्व दिया। शुक्ल जी सामन्ती समाज की सभ्यता और संस्कृति की ह्रासोन्मुखी वृत्तियों को खूब पहचानते थे। लोक-मंगल की कसौटी पर ऐसे साहित्य को कस कस कर उन्हें जो खोटा सिद्ध किया उसका परिणाम शुभ हुआ। शुक्ल जी की यह नैतिकतावादी दृष्टि ह्रासोन्मुखी समाज के विकृत सम्बन्धों को खूब पहचानती थी (यह दूसरी बात है कि वे उनकी जगह पर कोई नूतन युगानुकूल वैज्ञानिक समाधान न दे सके हों)। किन्तु लोक मंगल का सिद्धान्त सिद्धान्तरूप में साहित्य के लिए बड़ा ही आवश्यक है। इसकी व्याख्याएँ भिन्न भिन्न हो सकती हैं।

प्रकृति-प्रेम

"ज्यों ज्यों मनुष्य अपनी सभ्यता की झोंक में इन प्राचीन सहचरों से दूर हटता हुआ अपने क्रिया कलाप को कृत्रिम आवरणों से आच्छन्न करता जा रहा है त्यों त्यों उसका असली रूप छिपता जा रहा है, इस असली रूप का उद्‌घाटन तभी हुआ करेगा जब अपने बुने हुए घने जाल के घेरे से निकल कभी कभी प्रकृति के अपार क्षेत्र की ओर दृष्टि फैलायेगा और अपने इन पुराने सहचरों के संबन्ध का अनुभव करेगा। अपने घेरे से बाहर की क्रूरता और निष्ठुरता के अभ्यास का परिणाम अन्त में अपने घेरे के भीतर प्रकट होता है[१]।" उपर्युक्त पंक्तियों से स्पष्ट है कि शुक्ल जी प्रकृति के अपार क्षेत्र में उन्मुक्त (कृत्रिम आवरणों से मुक्त) हृदय का

---

[१] काव्य में रहस्यवाद, रामचन्द्र शुक्ल, पृ० १९।

प्रेम लेकर विचरण करने के पक्षपाती हैं। प्रकृति के ये सहज रूप हमारे हृदय को कोमल और सहज रूप प्रदान करते हैं क्योंकि हम सृष्टि के आदि काल से उन्हीं के बीच होते आ रहे हैं, उनका साहचर्य जनित प्रेम हमारे हृदयों पर संस्कार रूप में पड़ा हुआ है। अतः जब कभी हम उनके बीच पहुँचते हैं तो हम आज के अपने कृतिम आवरणों को कुछ क्षण दूर रख कर शुद्ध मनुष्य के रूप में बच रहते हैं और हृदय सहज राग से अभिभूत हो उठता है "न जाने क्यों हमें मनुष्य जितना चर और अचर प्राणियों के बीच अच्छा लगता है उतना अकेले नहीं। हमारे राम भी हमें मन्दाकिनी या गोदावरी के किनारे बैठे जितने अच्छे लगते हैं उतने अयोध्या की राजसभा में नहीं। अपनी-अपनी रुचि है[१]।" प्रकट है कि शुक्ल जी 'प्रकृति की ओर लौट चलो, की रुचि के हैं। शुक्ल जी में अपार प्रकृति-प्रेम है। वे प्राकृतिक दृश्यों को मानवकृत साज सामानों और विलास-सर्जक वातावरणों की अपेक्षा सहज, सुन्दर और काव्योत्कर्ष के लिये सुन्दर मानते हैं। यह ठीक भी है। और साहित्य पर उनकी इस मान्यता का स्वस्थ प्रभाव भी पड़ा। किन्तु इस चित्र का दूसरा भी पहलू है। यह सत्य है कि प्रकृति के दृश्य हमें अच्छे लगते हैं। इसके कारण परंपरा से चले जाते हुये साहचर्यजन्य संस्कार भी हैं। लेकिन जो प्राकृतिक दृश्य बहुत मनोरम लगते हैं वे कभी-कभी भयावह भी लगते हैं और मनुष्य उनसे त्राण पाने को सोचने लगता है। काले-काले बादल बहुत अच्छे लगते हैं लेकिन आठ दिन जम कर बरसने वाले बादल अनिष्टकर भी सिद्ध होते हैं, वे हमें अच्छे नहीं लगते। शहर के लोग जिस ललक से पहाड़ों और वनों के सौंदर्य देखने को झुकते हैं उसी ललक से पहाड़ों के लोग भी शहरों की ओर। पहाड़ों और बनों में रहने वाले लोगों को वहाँ कोई बड़ा आनन्द नहीं मिलता, संघर्ष करते-करते उनका जीवन थक जाता है। यदि रुचि की ही बात ली जाय तो हमें तो बिजली के प्रकाश में पढ़ना अच्छा लगता है, दीपक के प्रकाश में नहीं, अच्छे से फ्लैट में रहना पसन्द है पहाड़ की कन्दरा में या झोपड़ी में नहीं।

समाज शास्त्रीय अध्ययन से यह सिद्ध है कि मनुष्य अपनी प्रारंभावस्था से ही जीविकोपार्जन के लिये अपने परिवेश से संघर्ष करता आया है।

---

[१] चिन्तामणि भाग २, पृ० ७९।

वह प्रकृति की जिन वस्तुओं से जीविका पाता रहा उनका जीविका के रूप में उपयोग करता रहा। जिनको निवास स्थान के योग्य देखा उन्हें उस रूप में ग्रहण किया। प्रकृति के साथ उसके प्रेम का वैसा निरपेक्ष रूप नहीं रहा जैसा शुक्ल जी सोचते हैं। आज की सभ्यता उसी प्रारंभिक संघर्ष का विकसित रूप है।

'मनुष्य का असली रूप छिपता जा रहा है" वाक्य भी भ्रामक है मनुष्य का असली रूप क्या है? इसे देखना हो तो आज के जंगली लोगों और पहाड़ी लोगों में देख सकते हैं जो सारा काम चेतना-शून्य-आवेगों से करते हैं वे किसी मामूली बात पर क्रुद्ध होकर क्षण में किसी को मौत के घाट उतार देते हैं या अनावश्यक रूप से जोश में आकर दल के दल भेड़ों, बकरों की तरह कट जाते हैं। मनुष्य की नई सभ्यता में यदि थोड़ा सा दिखावा है तो उसमें चेतना का संजीवन तत्त्व भी है। आज उसे इतना अवकाश नहीं रह गया है कि बैठ कर बिल्ली का म्याऊँ-म्याऊँ सुने और दीवार फोड़ कर निकलते हुये वासुदेव जी की छटा निहारे।

'प्रकृति दृश्यों का काव्य में कैसे ग्रहण हो और कैसे हुआ है?' इस पर शुक्ल जी ने बहुत विस्तृत और मार्मिक रूप में विवेचन प्रस्तुत किया है। "कालिदास के समय से या उसके कुछ पहले ही से दृश्य वर्णन के संबंध में कवियों ने दो मार्ग निकाले। स्थल वर्णन में तो वस्तु वर्णन की सूक्ष्मता कुछ दिनों तक वैसी ही बनी रही पर ऋतु वर्णन में चित्रण उतना आवश्यक नहीं समझा गया जितना कुछ इनी गिनी वस्तुओं का कथन मात्र करके भावों के उद्दीपन का वर्णन। जान पड़ता है, ऋतु वर्णन वैसे ही फुटकर पद्यों के रूप में पढ़े जाने लगे जैसे बारहमासे पढ़े जाते हैं; रीति ग्रंथों के अधिक बनने और प्रचार पाने से क्रमशः यह ढंग जोर पकड़ता गया। प्राकृतिक वस्तु व्यापार का सूक्ष्म निरीक्षण धीरे-धीरे कम होता गया। किस ऋतु में क्या-क्या वर्णन करना चाहिए इसका आधार प्रत्यक्ष अनुभव नहीं रह गया 'आप्त शब्द' हुआ।... कहना नहीं होगा हिन्दी के कवियों के हिस्से में यही आया। गिनी-गिनाई वस्तुओं के नाम लेकर अर्थ ग्रहण मात्र कराना अधिकतर उनका काम हुआ, सूक्ष्म रूप विवरण और आधार आधेय की संश्लिष्ट योजना के

साथ बिम्ब ग्रहण कराना नहीं[१] ।"..."ऋतु वर्णन की यह प्रथा निकल ही रही थी कि कवियों को भी औरों की देखादेखी दंगल का शौक पैदा हुआ ।...जो कल्पना पहले भावों और रसों की सामग्री जुटाया करती थी वह बाजीगर का तमाशा करने लगी[२] ।"

उपर्युक्त उद्धरण से यह ज्ञात होता है कि शुक्ल जी काव्य में प्राकृतिक दृश्यों के विकृत चित्रण से क्षुब्ध होकर उसके सही रूप की ओर निर्देश करना चाहते हैं। शुक्ल जी ने इस संबंध में दो काम किए हैं। एक तो काव्य में वर्णित प्रकृति दृश्यों के सभी रूपों का अलग-अलग विश्लेषण किया है और दूसरे बहुत ही युक्तिसंगत ढंग से उनका मूल्यांकन करते हुए उनका तारतम्य निरूपित किया है। शुक्ल जी ने वाल्मीकि, कालिदास आदि पुराने कवियों की कविताओं से उद्धरण देकर यह सिद्ध किया कि प्राकृतिक दृश्य उद्दीपन मात्र नहीं हैं वे हमारे भावों के आलंबन हैं। कहीं तो वे आलंबन की परिस्थिति को अंकित करते हैं और कहीं वे स्वतंत्र रूप में हमारे भावों के आलंबन होते हैं। शुक्ल जी ने आचार्यों द्वारा निर्मित सिद्धान्तपरिमिति को बराबर तोड़ा है। यहाँ भी उन्होंने प्रकृति को स्वतंत्र आलंबन मानकर ऐसी ही नई उद्भावना की है। विचार करने पर ज्ञात होता है कि यह उद्भावना बड़ी ही चिंतनपूर्ण है और इस प्रकार शुक्ल जी प्रकृति दृश्यों का संश्लिष्ट चित्रण प्रस्तुत करने के पक्षपाती हैं न कि उद्दीपन रूप में उनके नाम गिनाने के या बाजीगर कल्पना द्वारा तमाशा खड़ा करने के। प्रकृत दृश्यों को आलंबन रूप में ग्रहण करने के क्षेत्र में भी उनकी धारणा यह है कि जो लोग सुखदायी या असाधारण दृश्यों को ही खोज-खोज कर चित्रित करते हैं उनकी वृत्ति राजसी है। प्रकृति के सभी रूपों का आनन्द के साथ दर्शन करना वास्तविक कवि का काम है। इस संबन्ध में शुक्ल जी का यह कथन "उसका (आलंबन) शब्द चित्र यदि किसी कवि ने खींच दिया तो वह एक प्रकार से अपना काम कर चुका। उसके लिए यह अनिवार्य नहीं कि वह आश्रय की भी कल्पना करके उसे उस भाव का अनुभव करता हुआ दिखावे। मैं आलंबन मात्र के विशद् वर्णन को श्रोता में रसानुभव उत्पन्न करने में पूर्ण समर्थ मानता हूँ।" जितना सही है, यह कहना उससे कम सही

---

[१] चिन्तामणि भाग २, रामचन्द्र शुक्ल, पृ० २०।

[२] वही, पृ० २०-२१।

नहीं है कि भावों के चित्रण से आलंबन का रूप अपने आप खड़ा हो जाता है। यदि आलंबन का रूप न भी खड़ा हो और भावानुभूति हो जाय तो कुछ बिगड़ता नहीं, क्योंकि आलंबन तो हमारे भाव खड़ा करने के लिये ही होते हैं। इस प्रकार उमर खैयाम की रुबाइयाँ, सूरदास के 'निसदिन बरसत नैन हमारे' जैसे पद या आधुनिक भावभरे-गीत स्पष्ट आलंबन के चित्रण के अभाव में भी नीची कोटि में नहीं ठहराए जा सकते। प्रकृति को स्वतंत्र आलंबन के रूप में चित्रित करना अच्छा है। लेकिन तारतम्य निरूपण के समय शुक्ल जी अपनी व्यक्तिगत रुचियों के कारण यहाँ भी विवादग्रस्त प्रश्न छोड़ गए हैं। यहाँ भी उन्होंने नयी कविता और नये समाज पर ध्यान न देकर वाल्मीकि को ही अपना आदर्श माना है। आज का कवि वाल्मीकि की भाँति जंगलों में नहीं रहता है। वह मानव कोलाहल के बीच रहता है, और उसका ध्येय इस नई सामाजिक परिस्थिति में उत्पन्न मनुष्य की मानसिक प्रतिक्रियाओं को व्यक्त करता है, और वह उन मानसिक प्रतिक्रियाओं को भिन्न-भिन्न माध्यमों से व्यक्त करता है, प्राकृतिक उपादान उनमें मुख्य हो सकते हैं, उनके साथ-साथ वैज्ञानिक आविष्कारजन्य नए पदार्थ हमसे नये रागात्मक संबंध जोड़ते रहते हैं, वे भी भावों को व्यक्त करने के आधार बनते जाते हैं।

काव्य सम्बंधी अन्य मान्यताएँ

(१) कला और काव्य में भिन्नता है। "सारा उपद्रव काव्य को कलाओं के भीतर लेने से हुआ है। इसी कारण काव्य के स्वरूप की भावना भी धीरे-धीरे बेल-बूटे और नक्काशी की भावना के रूप में आती गई। हमारे यहाँ काव्य की गिनती चौसठ कलाओं में नहीं की गई है। इसी से यहाँ वाग्वैचित्र्य के अनुयायियों द्वारा चमत्कारवाद, वक्रोक्तिवाद आदि चलाए जाने पर भी इस प्रकार का वितंडावाद नहीं खड़ा किया गया। इधर हमारी हिन्दी में भी काव्य-समीक्षा के प्रसंग में 'कला' शब्द की बहुत अधिक उद्धरणी होने लगी है। मेरे देखने में तो हमारे काव्य-समीक्षा-क्षेत्र से जितनी जल्दी यह शब्द निकले उतना ही अच्छा। इसका जड़ पकड़ना ठीक नहीं[१]।"

(२) काव्य के उपादान प्रत्यक्ष अनुभव जगत् से लिये जाते हैं क्योंकि काव्य का मुख्य विषय जागतिक अनुभूति और भाव ही है। इसलिये

---

[१] चिन्तामणि, भाग २, रामचन्द्र शुक्ल, पृ० १८०।

वे रहस्यवादी जो संसार की प्रत्यक्ष अनुभूतियों को छोड़कर किसी निर्गुण, निर्विकार ब्रह्म की ओर ताकते हैं वे कविता में धोखा (नकली अनुभूति) खड़ा करते हैं। असीम के प्रति जिज्ञासा हो सकती है, उससे हमारे रागात्मक संबंध नहीं हो सकते। इसलिये इस कोटि का काव्य चाहे अंग्रेजी में हो, चाहे बंगला में, चाहे हिन्दी में, उच्च कोटि का काव्य नहीं कहा जा सकता। कबीर, रवीन्द्र, हिन्दी के छायावादी कवि शुक्ल जी के प्रशंसाभाजन नहीं बन सके। स्वाभाविक रहस्य भावना ही श्लाघ्य है। यह स्वाभाविक रहस्य भावना किसी भी सौन्दर्य या मुग्धकारी या आश्चर्यजनक वस्तु को देखकर हो सकती है—'कहाँ-कहाँ हे बाल विहंगिनि पाया तूने यह गाना।' जैसी कविताओं के लेखक पन्त इसी प्रकार के हिन्दी कवि हैं और शुक्ल जी ने उनकी प्रशंसा भी की है।

(३) भाव का निरूपण—"प्रत्यक्ष बोध, अनुभूति और वेगयुक्त प्रवृत्ति इन तीनों के गूढ़ संश्लेष का नाम भाव है। मन के प्रत्येक वेग को भाव नहीं कह सकते, मन का वही वेग भाव कहला सकता है जिसमें चेतना के भीतर आलंबन आदि प्रत्यक्ष रूप से प्रतिष्ठित होंगे।" मनोवैज्ञानिक आधार पर भावों का वड़ा ही सांगोपांग और विचारपूर्ण विवेचन हुआ है। अपनी प्रकृति के अनुकूल ही शुक्ल जी ने अनेक छोटी-छोटी दशाओं का सूक्ष्म अन्तर भी स्पष्ट किया है। इन्हीं भावों की अभिव्यक्ति ही काव्य का लक्ष्य होती है। भावों का वर्गीकरण करते समय शुक्ल जी ने परंपरा और नवीन मनोवैज्ञानिक शोध, दोनों का सम्यक् सामंजस्य किया है। शुक्ल जी जहाँ कहीं किसी विशेष विषय को लेकर विवेचन प्रस्तुत करते हैं वहाँ वे उच्च कोटि के विचारक के रूप में दिखाई पड़ते हैं।

(४) कल्पना का स्वरूप और काव्य में उसका स्थान—कल्पना काव्य के लिये अपरिहार्य उपादान है। विभाव पक्ष में, भाव पक्ष में और रूप विधान में अर्थात् सब में कल्पना का योग है। किन्तु कल्पना साधन है साध्य नहीं। साधन के रूप में उसका लक्ष्य होना चाहिए भाव संचार करना। "योरपीय साहित्य-मीमांसा में कल्पना को बहुत प्रधानता दी गई है। है भी यह काव्य का अनिवार्य साधन, पर है साधन ही, साध्य नहीं, जैसा कि उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है। किसी प्रसंग के अंतर्गत कैसा ही विचित्र मूर्ति विधान हो पर यदि उसमें उपयुक्त भाव-संचार

की क्षमता नहीं है तो वह काव्य के अंतर्गत न होगा ।[१]" "अतएव काव्य विधायिनी कल्पना वही कही जा सकती है जो या तो किसी भाव द्वारा प्रेरित हो अथवा भाव का प्रवर्तन या संचार करती हो । सब प्रकार की कल्पना काव्य की प्रक्रिया नहीं कही जा सकती । अतः काव्य में हृदय की अनुभूति अंगी है, मूर्तरूप अंग भाव प्रधान है, कल्पना उसकी सहयोगिनी[२] ।"

विभाव के क्षेत्र में कल्पना का काम है ऐसी वस्तुओं का बिम्ब-ग्रहण कराना जो हमारे भावों का उपयुक्त आलंबन बन सकें । विभाव-चित्रण कल्पना का ही काम है क्योंकि एक तो वे वस्तुएँ कवि के सामने रहती नहीं उन्हें वह कल्पना से ही खड़ा करता है और दूसरे वह कई समयों और कई स्थानों पर देखी सुनी या अनुभूत वस्तुओं का आवश्यकतानुसार एक स्थान पर एक समय में गुंफन करता है । विभाव चित्रण में कल्पना को प्रत्यक्ष अनुभव के आधार पर ही काम करना चाहिये ।

आश्रय के अनुभावों के चित्रण में भी कल्पना ही काम करती है । लेकिन यहाँ भी कल्पना को भावों के स्वाभाविक स्वरूप का ध्यान रखना चाहिये । ऐसा नहीं कि विरह के कारण देंह से आग की लपटें उठ रहीं हैं और ऊपर से छिड़के जाते हुये गुलाब जल बीच ही में सूख जाते हैं ।

इसी प्रकार अलंकार-विधान भी भावों को तीव्र स्पष्ट और प्रभावोत्पादक बनाने के लिये आता है और अलंकार विधान कल्पना की ही उपज है । यहाँ भी कल्पना का यह कर्तव्य है कि वह ऊटपटाँग, भावों अनुभूतियों से असंपृक्त केवल तमाशा दिखाने में व्यस्त अलंकारों का विधान न करे । कल्पना के निरूपण में भी शुक्ल जी की विचारणा शक्ति असंदिग्ध है । परंपरा और नवीनता का योग अत्यंत संतुलित होकर आया है ।

(५) वादों की भीड़ का विरोध—"कविता के सम्बन्ध में कई प्रवाद जो कुछ दिनों से योरप में प्रचलित चले आ रहे हैं उनकी नकल हिन्दी में भी इधर उधर सुनाई पड़ने लगी है[३] ।" "योरप में जो साहित्यिक वाद

---

[१] चिन्तामणि, भाग २, रामचन्द्र शुक्ल, पृ० २२०-२१ ।

[२] वही, पृ० १८१ ।

[३] चिन्तामणि, भाग २, पृ० १०६ ।

या प्रवाद चलते हैं उनमें से अधिकतर प्रतिवाद की धुन में अर्थात् प्रतिवर्तन (रिऐक्शन) के रूप में उठते हैं। सबमें कोई स्थान मूल्य या तत्त्व नहीं होता, होता भी है तो बहुत थोड़ा। इसी से बहुत से 'वाद' जिनका कुछ दिनों तक फैशन रहता है, आगे चलकर हवा हो जाते हैं। विज्ञान के वादों में जिस ईमानदारी और सचाई से काम लिया जाता है, साहित्यिक वादों में नहीं। साहित्य के क्षेत्र में हर एक अपनी अलग हवा बहाने के फेर में रहता है और जरा सा बढ़ावा पाने पर किसी एक बात को लेकर हद से बहुत दूर निकल जाता है। योरप के समीक्षा क्षेत्र में नवीनता और अनूठेपन की झोंक में काव्य के सम्बन्ध में न जाने कितनी अत्युक्त बातें चला करती हैं—जैसे 'कला कला ही के लिए है—' 'अभिव्यंजना ही सब कुछ है अभिव्यंग्य कोई वस्तु नहीं', 'काव्य में अर्थ ध्यान देने की कोई वस्तु नही' 'काव्य में बुद्धि घातक होती है, इत्यादि इत्यादि[1]।' शुक्ल जी ने उन्हीं वादों का विरोध किया है जो काव्य को जीवन और जगत् से विच्छिन्न चमत्कार की वस्तु मानते हैं। कविता के मल में भाव या मनोविकार ही रहते हैं, काव्य की आत्मा रस ही है। इस मानदण्ड से वादों का चोंगा पहने तमाम नकली कविताओं का शुक्ल जी ने पर्दाफाश किया है। पश्चिम के वादों के बीच फैली अराजकता का खण्डन करने के लिए उन्होंने रिचर्ड, एवरक्राम्बी आदि समालोचकों के मतों का उद्घाटन किया है। कविता की विषय-वस्तु, नैतिकता, कलात्मक स्वरूप, आलोचना का मानदंड, सभी दृष्टियों से शुक्ल जी रिचर्ड को आदर्श मानते थे। इसीलिए उन्होंने अपने पक्ष का समर्थन करने के लिए स्थान स्थान पर रिचर्ड को उद्धृत किया है। लेकिन शुक्ल जी की समस्त कृतियों का मूल प्रेरणा-स्रोत रही है भारतीय रस-परम्परा। इस रस-परम्परा के मेल में जिन भारतीय और पाश्चात्य विद्वानों या वादों का मेल बैठा है शुक्ल जी ने उन्हें मान्यता दी है।

फैशन या प्रतिक्रिया या कुछ अपनी विशेषता व्यक्त करने लिए चलाए गए वादों की निस्सारता स्वयं प्रमाणित है और शुक्ल जी ने ऐसे वादों का घोर विरोधकर साहित्य के क्षेत्र को परिष्कृत करने की जो अदम्य क्षमता दिखाई है वह स्तुत्य है। किन्तु इस सम्बन्ध में कुछ छूटता हुआ

[1] वही, पृ० १६६।

सा दिखाई पड़ता है। एक तो उन्होंने सभी वादों को एक ही लाठी से हाँक दिया है। युग की आवश्यकता से प्रेरित होकर नई वस्तु सत्ता की अभिव्यक्ति लेकर भी वाद निकलते रहते हैं। ऐसे वादों की भिन्नता की ओर कोई निर्देश नहीं किया गया है। काव्य की आत्मा रस है, इसे मान लेने पर भी इतना और मानना होगा कि भिन्न भिन्न युगों का यथार्थ उन कालों के पाठकों के रसावलम्बनों को बदला करता है इसलिए युग की यथार्थ सत्ता की ओर निर्देश आवश्यक प्रतीत होता है। ऐसा न कर सकने के ही कारण भारत के छायावाद, रहस्यवाद को शुक्ल जी ने अपने देश और युग की उपज न मानकर उन्हें पश्चिमी वादों का अनुकरण मान लिया है।

व्यावहारिक समीक्षा

आलोचक में—और विशेषतया व्यावहारिक समीक्षा लिखनेवाले आलोचक में—सबसे पहली विशेषता होनी चाहिए उसकी ग्राहिका शक्ति अर्थात् वह कविता में व्यक्त गूढ़ से गूढ़ भावों को ग्रहण कर सके। इसे रसज्ञता भी कह सकते हैं। दूसरी विशेषता यह होनी चाहिए कि वह ग्रहण किए हुए भावों का बौद्धिक विवेचन कर सके। और तीसरी विशेषता यह होनी चाहिए कि उसके पास एक दृष्टि हो। शुक्ल जी में तीनों विशेषताएँ अत्यन्त उत्कर्ष को पहुँची हुई हैं। "शुक्ल जी की सबसे बड़ी विशेषता है रसग्राहिता, इतनी ठोस रसज्ञतावाले पाठक और आलोचक बहुत कम पैदा होते हैं। जो कोई भी शुक्ल जी के गहरे संपर्क में आता है वह उनकी इस शक्ति से चकित और अभिभूत हुए बिना नहीं रह सकता। स्वदेश में अथवा विदेश में रसग्राहिता के ऐसे असंदिग्ध क्षमता सम्पन्न समीक्षक कम मिलेंगे। कौन सा काव्य वस्तुतः सुन्दर, वस्तुतः महान है इसे पहचानने में शुक्ल जी की अन्तर्भेदिनी दृष्टि कभी धोखा नहीं खाती, भले ही वे सदैव उस दृष्टि का सफल विवेचनात्मक मण्डन प्रस्तुत न कर सकें[१]।" डा० देवराज का उपर्युक्त कथन सर्वांशतः सत्य प्रतीत होता है। जहाँ कहीं विशेष कवि या विषय पर शुक्ल जी लिखने बैठते हैं, वहाँ शुक्ल जी की रसज्ञता, सूक्ष्म से सूक्ष्म तत्त्व की पकड़ और वैज्ञानिक विश्लेषण का दिव्य स्वरूप लक्षित होता है। जहाँ उस कृति या कवि के मूल्यांकन का प्रश्न होता है वहाँ कहीं

---

[१] साहित्य चिन्ता, डा० देवराज, पृ० १६७।

कहीं शुक्ल जी की वैयक्तिक रुचि या आदर्श बीच में टाँग अड़ा देते हैं और इस प्रकार यह कार्य बड़ा निष्पक्ष नहीं हो पाता लेकिन ऐसा सर्वत्र नहीं होता और फिर यदि कवि शुक्ल जी के मन लायक उतर गया तो फिर क्या कहना ? वे उसी में रम जाते हैं।

शुक्ल जी की व्यावहारिक आलोचनाओं का उत्कृष्ट स्वरूप सूर, तुलसी और जायसी पर लिखे गए उनके प्रबन्धों में दिखाई पड़ता है। इसके अतिरिक्त 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' में हिन्दी साहित्य के सभी प्रमुख साहित्यकारों का मार्मिक विश्लेषण दृष्टिगत होता है।

उन्होंने सूर, तुलसी और जायसी की कृतियों की सर्वाङ्गीण व्याख्या करते समय यह दिखाने की चेष्टा की है कि इन कवियों की मुख्य मुख्य प्रवृत्तियों की परम्पराएँ क्या रहीं हैं, उनका क्रमिक विकास कैसे हुआ ? उस विकास में कवि विशेष का क्या योग और स्थान है ? अमुक कवि की भाव-संपत्ति कितनी समृद्ध और कितनी गहराई तथा स्पष्टता से व्यक्त है ? उस भाव संपत्ति का मानव जीवन के कितने क्षेत्रों से संबंध है ? शुक्ल जी के समक्ष मुख्यरूप से कवि की कृति ही रहती है। वे व्याख्यात्मक समीक्षा के प्रौढ़ आलोचक हैं। इसलिये किसी भी कृति के पहले अपने दुराग्रह या रूढ़ सिद्धान्त नहीं छोप देते। कृति का गहरा मनन और अध्ययन करने के पश्चात् वे यह देखना चाहते हैं कि कृति का सम्बन्ध मानव जीवन के मार्मिक स्थलों या गहरी संवेदनाओं से है या योंही फैशन के लिए लिखी गई है। लेकिन जहाँ कवियों में क्रम निरूपित करना पड़ता है, वहाँ वे अपने लोक धर्म का सिद्धान्त आगे कर देते हैं और सिद्धान्त के साथ साथ और कई आग्रह उससे लिपटे चले आते हैं। जैसे प्रबन्ध काव्यत्व, रस-धारात्व, प्रकृत का आलम्बन के रूप में चित्रण आदि। और यहाँ तुलनात्मक पद्धति पर उनकी निर्णयात्मक आलोचना दिखाई पड़ती है। निर्णयात्मक आलोचना का रूप विकासकाल से ही प्रारम्भ होता है किन्तु शुक्ल जी की इस प्रकार की आलोचना और विकासकाल की निर्णयात्मक आलोचना में आकाश और पाताल का अन्तर है। शुक्ल जी की आलोचना के मूल में व्याख्या की प्रधानता है और विकासकालीन आलोचना के मूल में प्रायः वैयक्तिक रुचि की। शुक्ल जी की शैली बौद्धिक और युक्तिसङ्गत है और विकासकाल की शैली भावात्मक और प्रशंसात्मक।

व्यावहारिक समीक्षाओं में शुक्ल जी की एक और मुख्य प्रवृत्ति का दर्शन होता है। वे किसी कृति की कोई मार्मिक बात पकड़कर सामान्य सिद्धान्त निरूपण करने लगते हैं। या किसी कवि के किसी कथन को सिद्ध करने के लिये किसी सामान्य सिद्धान्त की चर्चा करने लगते हैं।

व्यावहारिक आलोचना का प्रौढ़ रूप वहीं लक्षित होता है जहाँ आलोचक किसी कृति के सामाजिक, पारम्परिक, दार्शनिक तथा कृतिकार की वैयक्तिक छाप और विभिन्न मनोविकारों सम्बन्धी पहलुओं पर आवश्यकतानुसार विचार करता है। शुक्ल जी ने सर्वत्र आलोचना का यह स्वरूप बनाए रखने का प्रयास किया है। जिस कृति में जितनी वस्तुएँ उपलब्ध हैं उन्हीं की छानबीन न्यायसंगत है, हाँ यदि किसी दूसरे ने अपेक्षाकृत अधिक वस्तुएँ दी हैं तो हमें यह कहना ही पड़ेगा कि उसने अधिक दिया है। क्या क्या अधिक है, इसका भी विश्लेषण करना पड़ेगा।

शुक्ल जी में एक बहुत बड़ी विशेषता है—मनोविकारों के सूक्ष्म-सूक्ष्म रूपों और उनके भेदों को समझने की। आचार्यों ने जितने मनोविकार गिनाये हैं उनसे अधिक भाव हो सकते हैं और शुक्ल जी स्थान स्थान पर उन्हें पहचानकर उनका निर्देश करते हैं। जैसे—"आश्चर्य को लेकर कविजन अद्‌भुत रस का विधान करते हैं जिसमें कुतूहल वर्द्धक बातें हुआ करती हैं। पर इस आश्चर्य से मिलता जुलता एक और हलका भाव होता है जिसे और कोई अच्छा नाम न मिलने पर चकपकाहट कह सकते हैं और आश्चर्य के संचारी के रूप में रख सकते हैं। पाश्चात्य मनोविज्ञानियों ने दोनों (वंडर और सरप्राइज) में भेद किया है। आश्चर्य किसी विलक्षणबात पर होता है—ऐसी बात पर होता है जो साधारणतः नहीं हुआ करती। चकपकाहट किसी ऐसी बात पर होती है जिसकी कुछ भी धारणा हमारे मन में न रही हो और जो एकाएक हो जाय। जैसे, किसी दूर देश में रहने वाले मित्र को सहसा अपने सामने देखकर हम चकपका उठते हैं। राम का सेतु बाँधना सुन रावण चकपका कर कहता है—

बाँधे जलनिधि नीरनिधि जलधि सिंधु बारीस
सत्य, तोयनिधि कंपती उदधि पयोधि नदीस ?[1]"

---

[1] गोस्वामी तुलसीदास, रामचन्द्र शुक्ल, पृ० १०८।

सूर, तुलसी और जायसी में सूर मुक्तपद लिखने वाले हैं और शेष दो प्रबंधकार हैं। तुलसी और जायसी के प्रबन्ध काव्यों रामचरित मानस और पद्मावत को प्रबन्ध काव्य की कसौटी पर और सूरसागर को मुक्तक काव्य की कसौटी पर रखा गया है। शुक्ल जी ने प्रबन्ध काव्य के भीतर इतिवृत्त, वस्तु व्यापार वर्णन, भाव व्यंजना और संवाद ये चार अवयव माने हैं। इन चारों अवयवों को लेकर मानस और पद्मावत की कथा की मार्मिक परीक्षा हुई है। सूरदास का सूरसागर मुक्तक पदों का उत्कृष्ट संग्रह है और शुक्ल जी ने मुक्तकों की ही कसौटी पर इसे कसा है।

तुलसी की शमीक्षा करते समय शुक्ल जी को 'लोक धर्म' 'मंगलाशा' और 'लोक नीति' तथा 'मर्यादावाद' जैसे विषय दिखाई पड़े। राम शक्ति, शील और सौंदर्य के प्रतीक ज्ञात हुए। शुक्ल जी ने तुलसी के काव्यों के अन्तर्वाह्य के मार्मिक उद्घाटन, उनकी भक्ति-दर्शन, ज्ञान-भक्ति-समन्वय के स्वरूपों के विश्लेषण के साथ उनके लोक, धर्म और मर्यादावादवाले पक्षों पर गहरा प्रकाश डाला। यदि शुक्ल जी ने तुलसी की इन विशेषताओं का उद्घाटन कर तुलसी के काव्य की महत्ता दिखाई होती तो बात अति उत्तम होती लेकिन शुक्ल जी ने इसे उच्च काव्य की एक सामान्य कसौटी बना ली। लोकधर्म के लिये प्रबन्ध काव्य की आवश्यकता हुई, नायक का शक्तिशीलसौंदर्यमय होना अनिवार्य हो गया, प्रेम का आदर्श स्वरूप वांछित हुआ। निर्गुण धारा से सगुण धारा श्रेष्ठ हुई। यह सत्य है कि शुक्ल जी ने सर्वप्रथम कवि की सारी सीमाओं में पैठकर सहानुभूतिपूर्वक उसकी कृतियों को देखा और उनका विवेचन किया। लेकिन उसकी महत्ता की जाँच के लिये अपनी उपर्युक्त कसौटी का उपयोग किया।

सूरदास के सम्बन्ध में शुक्ल जी ने तुलसी और जायसी की अपेक्षा थोड़ा लिखा लेकिन जितना लिखा उतना खूब जम कर। शुक्ल जी ने सूर के काव्यक्षेत्रकी सीमा संकीर्ण मानी लेकिन यह भी स्वीकार किया कि एक सीमित क्षेत्र में जितनी मौलिक उद्भावनाएँ सूर ने की हैं उतनी अन्य कवियों ने नहीं। दूसरी बात यह कि मानवीय अंतर्वृत्तियों की जो मार्मिक पकड़ सूर ने की है वह अतुलनीय है। जिस सीमित क्षेत्र में सूर ने लेखनी चलाई उसका कोई कोना अछूता न छोड़ा। वात्सल्य और श्रृंगार (संयोग और वियोग) के पक्ष में तन्मयता और

रस का जो सागर सूर ने बहाया वह अन्यतम है । सूक्ष्म सूक्ष्म वृत्तियों का चित्रण बड़े ही प्रभावोत्पादक ढंग से हुआ है । जहाँ तक शुद्ध काव्य के स्वरूप, रस की गहराई का प्रश्न है, शुक्ल जी सूर को अत्यंत ऊँचे पहुँचा देते हैं लेकिन उन्हें तुलसी को सूर से बड़ा सिद्ध करना है और इसके लिये तर्क है—सूर का क्षेत्र सीमित था, उनके कृष्ण केवल सौंदर्यमय हैं, उनमें शील और शक्ति नहीं । सूर के काव्य में लोक मंगल का कोई विधान नहीं है । उसमें लोक मर्यादा का उल्लंघन है । सूर द्वारा चित्रित प्रेम ऐकांतिक प्रभाववाला है । इतना ही नहीं उन्होंने प्रबन्ध काव्यों को मुक्तक काव्यों से श्रेष्ठ माना है । इसलिये भी सूर तुलसी से छोटे सिद्ध हुए ।

"रस संचार से आगे बढ़ने पर हम काव्य की उस उच्च भूमि पर पहुँचते हैं जहाँ मनोविकार अपने क्षणिक रूप में न दिखाई देकर जीवन-व्यापी रूप में दिखाई पड़ते हैं । इसी स्थायित्व की प्रतिष्ठा द्वारा शील निरूपण और पात्रों का चरित्र-चित्रण होता है । कहने की आवश्यकता नहीं कि इस उच्च भूमि में जाने पर फुटकरिये कवि पीछे छूट जाते हैं, केवल प्रबन्ध कुशल कवि ही दिखाई पड़ते हैं । खेद के साथ कहना पड़ता है कि गोस्वामी जी को छोड़ हिन्दी का और कोई पुराना कवि इस क्षेत्र में नहीं दिखाई पड़ता[१] ।" फिर भी शुक्ल जी इतना मानते हैं कि समान क्षेत्रों में सूर तुलसी से अधिक सफल हैं ।

इस संबंध में शुक्ल जी को कवियों के संप्रदायों के दार्शनिक आधारों की सीमाएँ ध्यान में रखनी चाहिए थीं । भिन्न भिन्न संप्रदायों की भिन्न भिन्न दार्शनिक पीठिकाएँ होती हैं । और कवियों की दृष्टि उससे संबद्ध रहती है । देखने की वस्तु यह होती है कि कवि ने ग्रहण किये गये जीवन को कितनी सफलता और गहराई से उतारा है । उसकी संवेदनाएँ कितनी गहरी हैं । इस तरह कवि के रूप में सूर तुलसी से किसी भी प्रकार छोटे नहीं ठहरते हैं । तुलसी को कवि के अतिरिक्त अलग अलग और महोपाधियाँ दी जायें तो इसमें किसी को क्या इतराज़ हो सकता है ?

जायसी की समीक्षा भी मूलतः बहुत ही तटस्थ एवं विस्तृत है । प्रबंध काव्यत्व की दृष्टि से पद्मावत की परीक्षा हुई है और ठीक प्रकार से उसकी सफलता असफलता का निर्देश भी । पद्मावत की प्रेम-पद्धति

---

[१] गोस्वामी तुलसीदास, रामचन्द्र शुक्ल, पृ० ११३ ।

की परंपरा का शोध किया गया है। चूंकि इसमें इतिहास का भी अंश है अतः ऐतिहासिक और काल्पनिक अंशों का पता लगाया गया है तथा उनके सामंजस्य के औचित्य और अनौचित्य पर काव्य की सफलता की दृष्टि से बिचार हुआ है। सूफियों के दार्शनिक मतों की चर्चा हुई है फिर यह विवेचन किया गया है कि वे दार्शनिक मत पद्मावत में काव्य के माध्यम से किस रूप में (सफल या असफल रूप में) व्यक्त हुए हैं। जायसी के रहस्यवाद पर विचार हुआ है और इस रहस्यवाद को शुक्ल जी ने कबीर के रहस्यवाद से श्रेष्ठ ठहराया है क्योंकि इसमें चित्रात्मकता अधिक है। शुक्ल जी की रस-मग्नता अवसर पाकर उभर उठती है। नागमती के मार्मिक विरह वर्णन की इन्होंने बड़ी ही रसमग्न समीक्षा की है। भारतीय गृहस्थी की भूमिका में यह विरह-सागर का प्रवाह बड़ा ही हृदयस्पर्शी है। इस मार्मिकभाव-विवेचन के साथ साथ शुक्ल जी का जीवन संबंधी दृष्टिकोण लगा हुआ है और अवसर पाकर सिर उठा देता है।

"जायसी ऐकान्तिक प्रेम की गूढ़ता और गंभीरता के बीच बीच में जीवन के और और अंगों के साथ भी उस प्रेम के संपर्क का स्वरूप कुछ दिखाते गये हैं इससे उनकी प्रेम गाथा पारिवारिक और सामाजिक जीवन से विच्छिन्न होने से बच गई है। उसमें भावात्मक और व्यवहारात्मक दोनों शैलियों का मेल है। पर है वह प्रेमगाथा ही, पूर्ण जीवनगाथा नहीं। ग्रंथ का पूर्वार्द्ध—आधे से अधिक भाग प्रेम मार्ग के विवरण से ही भरा है। उत्तरार्द्ध में जीवन के और और अंगों का सन्निवेश मिलता है, पर वे पूर्णतया परिस्फुट नहीं हैं। दाम्पत्य-प्रेम के अतिरिक्त मनुष्य की और वृत्तियां जिनका कुछ विस्तार के साथ समावेश है, वे यात्रा, युद्ध, सपत्नी-कलह, मातृ-स्नेह, स्वामिभक्ति, वीरता, कृतघ्नता, छल, और सतीत्व हैं। पर इनके होते हुए भी पद्मावत को हम श्रृंगाररस प्रधान काव्य ही कह सकते हैं। रामचरित के समान मनुष्य जीवन की भिन्न भिन्न बहुत सी परिस्थितियों और संबंधों का इसमें समन्वय नहीं है[१]।"

यहाँ जायसी और तुलसी की तुलना भी समीचीन है और पद्मावत से जीवन के विविध अंशों की अभिव्यक्ति की माँग करना भी जायज। क्योंकि वह प्रबन्ध काव्य है। प्रबन्ध-काव्य में जीवन की विविध अवस्थाओं का चित्र तो होना ही चाहिए। लेकिन सूर, तुलसी, जायसी, कबीर इन

[१] जायसी ग्रंथावली की भूमिका, रामचन्द्र शुक्ल, पृ० ३०।

सभी भक्त कवियों का मूल उद्देश्य था कविता के माध्यम से भक्ति की अभिव्यक्ति करना न कि जीवन और जगत के विभिन्न स्वरूपों को खोज खोजकर उनका दृश्य उपस्थित करना । हाँ, यह अवश्य कहा जा सकता है कि अपनी अपनी सांप्रदायिक सीमा में रहते हुए भी जिसने अपनी भक्ति का स्वरूप अधिक व्यापक और मार्मिक जीवन-छवियों के माध्यम से अंकित किया वह उतना ही बड़ा कवि हुआ ।

इन तीन महाकवियों के अतिरिक्त हिन्दी साहित्य के अन्य कवियों की कृतियों के सम्बन्ध में भी शुक्ल जी ने बड़ी मार्मिकता से विचार किया है । रीतिकालीन कवियों में भी घनानन्द आदि भावों की सच्चाई और उनकी मार्मिक अभिव्यक्ति के कारण शुक्ल जी की श्रद्धा प्राप्त कर सके हैं । किन्तु अन्य कवि कलाबाजी दिखाने के कारण स्वाभाविक कवियों की कोटि में भी नहीं खड़े किये गये । घनानन्द का विवेचन करते हुए शुक्ल जी अधिक तटस्थ रहे अर्थात् उन्होंने अपने जीवन-दर्शन के सिद्धान्त का आरोप नहीं किया । केवल भावों की दृष्टि से उन्हें परखा । अन्य कवियों में इन भावों की तीव्रता का अभाव है । ठाकुर, बोधा, द्विजदेव जैसे नातिप्रसिद्ध कवियों की भाव सहजता को विशेष महत्व दिया और बिहारी आदि अति प्रसिद्ध कवियों की ऊहात्मक पद्धति और कृत्रिम उछलकूद का उपहास किया और जहाँ कहीं भाव और कला की दृष्टि से उनमें उत्कृष्टता है उसे जी भर सहारा भी ।

शुक्ल जी ने विशेष उपेक्षा की कबीर, केशव और आधुनिक गीतकारों की । कबीर पर पिल पड़ने का कारण कबीर का निर्गुणवादी और वर्णव्यवस्था-विरोधी स्वर था । यह सत्य है कि कबीर में बहुत से दोहे और पद शुष्क ज्ञानमय हैं किन्तु ऐसे दोहे भी हैं जो अत्यन्त सरस हैं । शुक्ल जी ने कबीर की वर्णव्यवस्था, जाति-पाँति, वेद-शास्त्र विरोधी स्वर की घोर निन्दा की है (क्योंकि शुक्ल जी आज भी पुरानी वर्णव्यवस्था की मर्यादा में विश्वास रखनेवाले हैं) । उन्होंने उसके उज्वल पक्ष पर विचार नहीं किया और न इस प्रकार स्वर उठानेवाले सन्त कवियों के स्वरों के कारणों की उदार व्याख्या की । तुलसी ने यदि कबीर का विरोध किया तो ठीक है, वे उनके समकालीन थे । किन्तु आज के समीक्षक के लिए इन ऐतिहासिक महत्व के कवियों की तटस्थ व्याख्या करनी चाहिए । केशव कलावादी कवि हैं उनमें हृदय

की झलक कम है इसलिए शुक्ल जी ने केशव को कुछ भी महत्व नहीं दिया। हाँ, जहाँ जहाँ उनमें गुण हैं—जैसे संवाद-पटुता—उनकी चर्चा भी शुक्ल जी ने अवश्य की है। नये छायावादी, रहस्यवादी कवि दार्शनिक उड़ान, लोक जीवन के व्यापक क्षेत्र से असम्बद्धता तथा अपनी गीति शैली के कारण शुक्ल जी की मान्यता के पात्र नहीं बन सके और शुक्ल जी ने उन्हें पश्चिम का अनुकरण कर्त्ता मात्र कहा। इसी लपेट में रवीन्द्रनाथ टैगोर जैसे महाकवि भी आ गए। इस सम्बन्ध में हमें कहना यह है कि शुक्ल जी ने छायावाद-रहस्यवाद की जो व्याख्या की उसमें उनका अपना लोकधर्मवाला सिद्धान्त अवश्य जुड़ा हुआ था तो भी उन्होंने जिन दोषों की ओर निर्देश किया वे दोष किसी न किसी अंश में इन कविताओं में थे। उनमें सामाजिकता और स्पष्टता का अभाव था, उनमें सचमुच दार्शनिक कृत्रिमता घर कर रही थी। लेकिन उनका उज्ज्वल पक्ष भी था कि उन्होंने सड़ी गली सामन्ती प्रथा के विरोध में एक क्रान्ति की और उनमें राष्ट्रीय जीवन का स्वर भी बहुत ही परोक्ष रूप में स्पन्दित था। दूसरी बात यह कि वे पश्चिम से प्रभावित थीं किन्तु उनकी अनुकरण नहीं थीं।

जहाँ तक छायावादी कविताओं की भावगत विशेषताओं का सम्बन्ध है उन्हें शुक्ल जी ने खूब पहचाना था और छायावादी कविताओं की लक्षणा, व्यंजना तथा नये नये प्रतीक-विधानों में लिपटी भाव-छवियों का बड़ा ही मार्मिक उद्घाटन किया था।

इस प्रकार यह देखा गया कि शुक्ल जी ने सुन्दर का शिव के साथ जितना गहरा सम्बन्ध जोड़ने का प्रयास किया उतना सत् के साथ नहीं। दूसरे शब्दों में उन्होंने सौंदर्य को नैतिकता के साथ बाँधना चाहा है जो केवल सुन्दर है या सत् सुन्दर है यह उतना उत्कृष्ट नहीं जितना कि शिव से मिला हुआ सुन्दर या सत् सुन्दर। उनके शिव का रूप भी युगानुरूप गतिशील नहीं वरन् पुराना और स्थिर है। इसीलिए शुक्ल जी जहाँ रसग्राही विवेचक के रूप में अत्यन्त प्रौढ़ता प्राप्त कर लेते हैं वहाँ वैज्ञानिक तटस्थता का सर्वत्र निर्वाह नहीं कर पाते। इसी कारण वे ऐसा कोई सर्वमान्य सिद्धान्त स्थापित नहीं कर पाते जिसके भीतर सारी की सारी समस्याओं की सही व्यवस्था हो सके। अलग अलग उनके सिद्धान्त-स्थापन तो बहुत ही तथ्यपरक और मार्मिक हैं किन्तु सबको समेट लेने वाला कोई वैज्ञानिक सिद्धान्त सूत्र नहीं दिखाई पड़ता।

शुक्ल जी अपनी कुछ त्रुटियों के बावजूद हिन्दी आलोचना क्षेत्र में ऐतिहासिक और स्थायी मूल्यों की दृष्टि से अद्वितीय हैं। शुक्ल जी की अपनी मान्यताएँ—जो बहुत कुछ उनके नैतिक सिद्धान्तों और रुचियों के आग्रह से युक्त थीं—सर्वत्र कृतियों के वैज्ञानिक विवेचन में समर्थ नहीं हुई लेकिन उनसे अन्य कई महत् कार्यो की सिद्धि हुई। एक तो यह कि उनकी आलोचनाएँ वैज्ञानिक रुक्षता से संपन्न न होकर रसयुक्त विवेचन से ओतप्रोत हैं अर्थात् उन्हें पढ़ने में रस मिलता है। (मेरे कहने का तात्पर्य यह नहीं है कि शुक्ल जी में वैज्ञानिक विवेचन का अभाव है)। दूसरी बात यह कि एक दृढ़ और प्रौढ़ दृष्टिकोण संपन्न समालोचक में जिस विश्वास, दृढ़ता और गंभीरता की उपलब्धि स्वाभाविक होती है वह शुक्ल जी में है। ये बड़े विश्वास से, बड़ी गंभीरता से अपने पक्ष-विपक्ष को प्रस्तुत करते हैं और अपने पक्ष से कहीं भी डिगते नहीं। इस प्रकार उन्होंने हिन्दी आलोचना को विश्वास और आत्मनिर्भरता दी। "भारतीय काव्यालोचन शास्त्र का इतना गंभीर और स्वतंत्र विचारक हिन्दी में तो दूसरा हुआ ही नहीं अन्यान्य भारतीय भाषाओं में भी हुआ है या नहीं ठीक नहीं कह सकते, शायद नहीं हुआ। अलंकार शास्त्र के प्रत्येक अंग पर उन्होंने सूक्ष्म विचार किया था—शब्द शक्ति, गुण दोष अलंकार विधान रस आदि सभी विषयों पर उनका सुचिन्तित मत था। वे प्राचीन भारतीय आलंकारिकों को खूब समझते थे।"

हमने ऊपर देखा है कि शुक्ल जी ने सर्वत्र अपने व्यक्तित्व की छाप छोड़ी है। जिसे भी ग्रहण किया अपना बना कर। शुक्ल जी की इन विशेषताओं के कारण हिन्दी आलोचना पर उनका गहरा प्रभाव पड़ा और उनके पीछे चलनेवाला एक स्कूल दिखाई पड़ता है जिसने इस परंपरा में अनेक महत्वपूर्ण कार्य किये हैं।

शुक्ल जी और आइ० ए० रिचर्ड्स

शुक्ल जी रिचर्ड्स से बहुत दूर तक सहमत जान पड़ते हैं। अपने पक्ष का समर्थन करने के लिये उन्होंने स्थान स्थान पर रिचर्ड्स को उद्धृत भी किया है। बात यह थी कि शुक्ल जी नये सौंदर्यवाद से प्रभावित छायावाद, रहस्यवाद की कविताओं से खिन्न थे। वे छायावाद, रहस्यवाद को भी पश्चिम से उधार ली हुई वस्तु मानते थे। छायावाद और रहस्यवाद में ये लोकमंगल और जीवनजगत् के व्यापक संबंधों

की अभिव्यक्ति का अभाव देखते थे। शुक्ल जी ने इन जीवन शून्य कविताओं का संबंध पश्चिम की कलावादी कविताओं से जोड़ा और यह दिखाने की चेष्टा की कि पश्चिम की इन कविताओं और समीक्षा सिद्धान्तों में कितना खोखलापन है ? पश्चिम में ब्रैडले 'कला कला के लिये, सिद्धान्त की स्थापना कर चुके थे। आइ० ए० रिचर्ड्स ने ब्रैडले के इस कलावादी सिद्धान्त पर प्रहार करने के लिये साहित्य को जीवन की सापेक्षता में खड़ा किया। इसीलिये शुक्ल जी को अपना पक्ष उपस्थित करने में बड़ा बल मिला। हिन्दी में बहती हुई जीवन-निरपेक्ष (शुक्ल जी के मत से) नई काव्य धारा के मूल स्रोत पश्चिम के 'कला कला के लिये' सिद्धान्त को निर्मूल सिद्ध करने के लिये शुक्ल जी ने पश्चिम के ही एक समर्थ आलोचक को लाकर खड़ा कर दिया।

इससे यह ज्ञात होता है कि साहित्य और साहित्य सिद्धान्तों के प्रश्न पर इन दोनों आलोचकों में बहुत दूर तक साम्य है। रिचर्ड्स ने अपने 'पोयट्री फार पोयट्री सेक' निबन्ध में ब्रैडले के 'कविता कविता के लिये[1]' वाले सिद्धान्त का खण्डन किया। ये ब्रैडले की काव्यानुभूति को अपने

---

1. First this experience is an end in itself, is worth having on its own account, has an intrinsic value. Next its poetic value is this intrinsic worth alone. Poetry may have also an ulterior value as a means to culture or religion ; because it conveys insrruction or softens the passions or furthers a good cause, because it brings the poetic fame or money or a quiet convenience. So much the better ; let it be values for these reasons too. But its ulterior work niether is nor can directly determine its poetic worth as a satisfying imaginative experience ; and this is to be judged entirely from within...... The consideration of ulterior ends whether by the poet in the act of composing or by the reader in the act of experiencing, tends to lower poetic value. It does so because it tends to change the nature of poetry by taking it out of its own atmosphere. For its nature is to be not a part, nor yet a copy of the real world (as we commonly understand that phase) but to be a world by itself, independent, complete, autonomous.

Oxford Lecture on poetry, H. C. Bradley, quoted from Principle of Criticism by I. A. Richards. p. 74.

आप में चरम लक्ष्य नहीं मानते। और उस काव्यानुभूति का जीवन और जगत् के नाना पक्षों से संबंध विच्छेद भी नहीं मानते[1]।

शुक्ल जी ने भी काव्यानुभूति को प्रत्यक्षानुभूति से भिन्न नहीं माना है और यह भी उनका मत है कि काव्य की सीमा जगत् और जीवन है, उसके बाहर की बात कहना नकलीपन है। उन्होंने कलावादियों का घोर विरोध किया है।

रिचर्ड्स ने कला का नैतिकता से संबंध माना है। नैतिकता मूल्यांकन की कसौटी को प्रभावित करती है और उसे ऐसा करना चाहिए। विद्वानों

The world of poetry has in no sense any different reality from the rest of the world and it has no special laws and no other worldly peculiarities. It is made up of experience of exactly the same kinds as those that come to us in other ways. Every poem however is a strictly limited piece of experience, a piece which breaks up more or less easily if alien elements intrude. It is more highly and more delicately organized than ordinary experience of the strength or of the hill side, it is fragile further it is communicable. It may be experienced by many different minds with only slight variations. ......For these reasons we establish a severence, we draw a boundary between the poem and what is not the poem in our experience. But this is no severence between unlike things but between the different systems of the same activity. (p. 78)

It is impossible to devide a reader into so many men an aesthetic man, an intellectual man, a political man, a moral man and so on. (p. 79).Ibid.

The common avoidance of all discussion of the wider social and moral aspects of the arts by people of sleady judgement and strong heads is misfortune, for it leaves the fiels free for folly and cramps the scope of good critics unduly.

The basis of morality, as Shelley insisted is laid not by preachers but by poets. Bad taste and crude responses are not mere flows in an otherwise admirable person. They are actually a root evil from which other defects follows. No life can be excellent in which the elementary responses are disorganised and comfused.

द्वारा कला के सामाजिक और नैतिक पक्ष का विचार-त्याग एक दुर्भाग्य है क्योंकि इससे गलत धारणाओं के लिये मैदान खुल जाता है[१]।

शुक्ल जी भी काव्य की नैतिकता में विश्वास रखते हैं। विश्वास ही नहीं रखते वरन् नैतिकतासमर्थककाव्य को अन्य प्रकार के काव्यों से उच्चतर स्थान देते हैं। रिचर्ड्स और शुक्ल जी की नैतिकता में अन्तर यह है कि रिचर्ड्स ने नैतिकता को भी युग सापेक्ष रूप में देखा है और उसका वैज्ञानिक विवेचन किया है। शुक्ल जी ने नैतिकता (लोक धर्म) का समर्थन किया है, युग के प्रभावों की बात छोड़ दी है और उनके समर्थन का ढंग भी वैसा वैज्ञानिक नहीं जैसा रिचर्ड्स का है।

कविता के स्वरूप और उसके उद्देश्य के संबंध में भी दोनों आलोचक समीप हैं। अर्थात् दोनों कविता को उद्देश्यगर्भित मानते हैं। न्यूनाधिक अंतर से दोनों कविता का उद्देश्य मनोविकारों का परिष्कार और शेष सृष्टि के साथ रागात्मक संबंधों की रक्षा और निर्वाह मानते हैं।

फिर भी दोनों में अपने अपने व्यक्तित्वों का अन्तर है। रिचर्ड्स के सिद्धान्त वैज्ञानिक व्याख्या पर अवलम्बित हैं और शुक्ल जी के सिद्धान्त नैतिकता पर। "रिचर्ड्स का दृष्टिकोण कहीं अधिक व्यापक है, उनका सत्य गत्यात्मक है, शुक्ल जी का स्थिर। इसलिए विषमताओं का समन्वय जिस सरलता से रिचर्ड्स कर लेते हैं उस सरलता से शुक्ल जी नहीं। इसी कारण शुक्ल जी बहुत शीघ्र सी समय से पीछे रह गए, रिचर्ड्स कभी नहीं रह सकते। वे टी० यस० इलियट की कविताओं का आदर हृदय खोलकर करते हैं, शुक्ल जी को प्रसाद के साथ समझौता करने में कठिनाई पड़ी। कविता के लोकपक्ष ने उन्हें इतना पकड़ रखा था कि रस की एकान्त साधना उन्हें मुश्किल से ही ग्राह्य हो सकती थी। इसी कारण गीति-काव्य के प्रति शुक्ल जी का भाव सदा कठोर ही रहा[१]।"

"परन्तु सूक्ष्मता, व्यापकता और मौलिकता की क्षति पूर्ति शुक्ल जी अपने विवेक शक्ति और गाम्भीर्य से कर लेते हैं। शुक्ल जी प्राणवान पुरुष थे, उनमें जीवन था, गति थी। यह गति संस्कारवश आगे को

---

[१] विचार और अनुभूति, डा० नगेन्द्र, पृ० ९१-९२।

अधिक नहीं बढ़ी, भीतर को बढ़ती गई और उसका परिणाम हुआ अतुल गांभीर्य और शक्ति[१] ।"

डा० श्यामसुन्दर दास

हिन्दी में साहित्यालोचन के सिद्धान्तों को लेकर कोई भी पुस्तक ऐसे व्यवस्थित ढंग से नहीं लिखी गई थी जिसमें पूर्वी और पश्चिमी साहित्य सिद्धान्तों का एक साथ समाहार हो और जिसके आधार पर हिन्दी साहित्य के विद्यार्थी आलोचना के विविध रूपों और विकासों से परिचित हो सकें। इस अभाव की पूर्ति पहले पहल हम डा० श्यामसुन्दर दास के 'साहित्यालोचन' में पाते हैं। इसमें "काव्य, नाटक, उपन्यास आदि विविध साहित्यांगों की पहली बार सुन्दर व्याख्या पाते हैं[२] ।" इस पुस्तक का निर्माण ही इसी दृष्टिकोण से हुआ था जैसा कि हम पुस्तक की भूमिका में लेखक का वक्तव्य पढ़कर समझ सकते हैं—

"एम० ए० के पाठ-क्रम में तीन विषय ऐसे रखे गए जिनके लिए उपयुक्त पुस्तकें नहीं थी। वे विषय थे भाषा विज्ञान, हिन्दी भाषा और साहित्य का इतिहास और साहित्यिक आलोचना। इन तीनों विषयों के लिए अनेक पुस्तकों के नामों का निर्देश कर दिया गया जिनकी सहायता से इन विषयों का पठन-पाठन हो सके परन्तु आधार स्वरूप कोई मुख्य ग्रन्थ न बताया जा सका। सबसे पहले मैंने साहित्यिक आलोचना का विषय चुना और उसके लिए जिन पुस्तकों का निर्देश किया गया उन्हें देखना आरम्भ किया। मुझे शीघ्र ही अनुभव हुआ कि इस विषय का भली भाँति अध्ययन करने के लिए यह आवश्यक है कि विद्यार्थियों को पहले आलोचना के तत्वों का प्रारम्भिक ज्ञान करा दिया जाय। इसके लिये मैंने सामग्री एकत्र करना आरम्भ किया और सम्पूर्ण ग्रन्थ के परिच्छेदों का क्रम, विषय का विभाग आदि अपने मन में बनाकर उसे लिखना आरम्भ किया।"

इस वक्तव्य से यह स्पष्ट है कि लेखक ने एक तात्कालिक आवश्यकता से प्रेरित होकर जल्दी जल्दी में साहित्यालोचन के सर्वांगों की व्याख्या प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। इसलिए साहित्यालोचन का एक व्यापक

---

[१] वही, पृ० ९२।

[२] साहित्य संदेश, पं० नन्ददुलारे वाजपेयी, अक्टूबर-नवम्बर सन् १९५१

अध्ययन तो अवश्य प्रस्तुत हुआ किन्तु उसमें अपेक्षित गहराई और मौलिक विश्लेषण का अभाव रहा। इस अभाव की पूर्ति इस ग्रन्थ के संशोधित और परिवर्द्धित संस्करण में हुई।

लेखक के वक्तव्य से ही यह प्रकट है कि लेखक ने प्रस्तुत ग्रंथ में भारतीय और यूरोपीय विद्वानों द्वारा आलोचना के संबंध में व्यक्त किये गये मत-मतांतरों को तारतम्य से एक साथ इस प्रकार उपस्थित किया है जिससे हिन्दी के विद्यार्थियों को किसी ग्रंथ के गुण-दोष की परख करने और साथ ही ग्रंथ निर्माण या काव्य रचना में कौशल प्राप्त करने अथवा दोषों से बचने में सहायता मिल जाय। लेखक ने यह स्पष्टतया स्वीकार किया है कि ग्रंथ की भाषा और विषय के प्रतिपादन का ढंग उसका है परन्तु विचारों के संग्रह में उसने बिना किसी संकोच के अनेक ग्रंथों से अमूल्य सहायता ली है और भारतीय तथा यूरोपीय सिद्धान्तों को मिलाने का यथाशक्ति उद्योग किया है।

उपर्युक्त पृष्ठभूमि पर साहित्यालोचन का परीक्षण करना सुविधाजनक होगा। साहित्यालोचन का पहला अध्याय कला का विवेचन प्रस्तुत करता है। डा० साहब की दृष्टि बहुत पैनी भले न रही हो लेकिन उदार बहुत थी, उदार इस अर्थ में कि वे प्राचीनता के व्यामोह में फँसकर नई बातों की उपेक्षा नहीं करते थे। पश्चिम में जो साहित्य की नवीन प्रौढ़ व्याख्याएँ हुई हैं उनको स्वीकार करते थे और अपने पूर्वग्रहों को दूर हटाकर साहित्य को साहित्य की दृष्टि से देखते थे।

इसी उदारता के कारण उन्होंने साहित्य को भी कला के अंतर्गत सन्निविष्ट किया। संस्कृत साहित्य के आचार्यों ने काव्य को कला से भिन्न माना है, कला को उन्होंने विदग्ध पुरुषों की स्त्रियों की शिक्षा के अंग माना है और उनकी संख्या ६४ मानी है। वर्तमान काल में भी बहुत से विद्वान (अब तक) संस्कृत के आचार्यों के मतों का उद्धरण देकर काव्य को कला के क्षेत्र से दूर रखने में ही कल्याण समझते हैं। उनका कहना है कि कलाएँ सस्ते मनोरंजन की वस्तुएँ हैं जब कि काव्य का लक्ष्य सहृदयों को रस-निमग्न करना है। भर्तृहरि का 'साहित्यसंगीत-कलाविहीनः' दण्डी का 'नृत्यगीतप्रभृतयः कलाः कामार्थसंश्रयाः' आदि मत कला और काव्य का पार्थक्य सिद्ध करनेवालों का उत्साह बढ़ाते हैं। कुछ विद्वान ऐसे भी हैं जो पुराने आचार्यों के मतों का उद्धरण

देकर कला और काव्य में गाढ़ा संबंध दिखाने का प्रयास करते हैं। किन्तु पश्चिम वाले (अरस्तू से लेकर अब तक) काव्य को भी कला के अन्तर्गत मानते हैं। इन दोनों देशों की मान्यताओं में दोनों देशों के काव्य के स्वरूप संबंधी अपने अपने दृष्टिकोण काम कर रहे हैं अर्थात् पश्चिम वाले वस्तु जगत् की अनुकृति को काव्य मानते हैं और पूरब वाले रस निष्पत्ति को। रस निष्पत्ति में अनुकृति ही नहीं आदर्शीकरण की भावना रहती है। चूँकि पश्चिम में सभी कलाओं में अनुकृति ही मुख्य मानी गई है और काव्य में भी, अतः दोनों में मौलिक भेद न होने के कारण दोनों को एक ही क्षेत्र में रख लिया गया। लेकिन भारत में अन्य कलाओं का रूप केवल मनोरंजन और वाह्य सौन्दर्य तक सीमित माना गया इसलिए रस और ध्वनिमयी कविता से उसका पार्थक्य स्थापित किया गया। लेकिन वास्तव में यह कला का वास्तविक स्वरूप नहीं, विकृत स्वरूप है। नृत्य संगीत चित्र आदि कलाएँ भी रस उत्पन्न करने की क्षमता रखती हैं और करती हैं। उनके माध्यम भले ही भिन्न भिन्न हों लेकिन आत्मा एक है इसलिए इन कलाओं को हम काव्य के साथ रख सकते हैं यह और बात है कि इन सबों की शक्तियों की सीमाओं के अनुसार उन्हें हम छोटा बड़ा कह दें। भारतीय आचार्यों ने इस प्रकार इन उच्च कोटि की कलाओं के साथ काव्य का संबंध स्थापित करने की ओर संकेत किया है किन्तु स्पष्ट व्याख्या का अभाव है। दूसरी बात यह कि भारतीय रस सिद्धान्त आज के साहित्य में ज्यों का त्यों व्यवहार्य नहीं है। आज की कविताओं में या अन्यान्य साहित्य-प्रकारों में पश्चिम के सिद्धान्तों और रचनाओं का गहरा प्रभाव पड़ रहा है। उनमें रस निष्पत्ति अपने पारिभाषिक रूप में न उतरकर प्रेषणीयता के रूप में शेष रह गई है और बहुत सी कविताएँ केवल चित्र खींचती हैं बहुत सी कविताएँ व्यंग्यात्मक होती हैं। इस प्रकार उनके स्वर को अन्य कलाओं के स्वर से अलग करना संभव नहीं जान पड़ता। तो भी आज के बहुत से पंडित व्यवहार की ओर न देखकर रस सिद्धान्त का दामन पकड़े हुए हैं और काव्य को कला के क्षेत्र से बाहर हाँकने की जी जान से कोशिश करते हैं।

डा० श्यामसुन्दर दास ने पहलीबार हिन्दी में काव्य को कला के अन्तर्गत माना और कला का विशद् विवेचन प्रस्तुत किया। डा० साहब

का यह विवेचन अंग्रेजी साहित्य के समर्थ समीक्षक वार्सफोल्ड की समीक्षा पुस्तक 'जजमेंट इन लिटरेचर' के कला शीर्षक अध्याय की विचार भूमि पर आधारित है बल्कि हम कह सकते हैं कि थोड़े-घने अन्तर से यह उसी का उल्था है। वार्सफोल्ड ने भी यह कला-विभाजन हीगेल के कला-विभाजन के आधार पर किया है। बाबू साहब ने इस निबन्ध में अपनी ओर से कुछ भी मौलिक चिन्तन नहीं दिया है किन्तु अंग्रेजी साहित्य के विचारकों की इन मान्यताओं को हिन्दी में निर्भीकता पूर्वक रखकर विचार के लिए एक नया क्षेत्र खोला। हाँ, साहित्यालोचन के परिवर्द्धित और संशोधित संस्करण में अवश्य ही इस निबन्ध के मौलिक विचार के साथ अपनी ओर से कुछ महत्वपूर्ण बातें जोड़कर स्वतन्त्र निबन्ध बनाने की उन्होंने कोशिश की है। संस्कार और वृत्तियाँ, अभिव्यंजना की शक्ति, कला और अभिव्यंजना, कला और मनःशक्तियाँ, कला और प्रकृति, कला और आचार, जैसे नये विषयों के विवेचन की पृष्ठभूमि पर कला सम्बन्धी पश्चिमी धारणा को अपनी शास्त्रीय परम्परा से मिलाने का प्रयत्न किया है।

इसी प्रकार बाबू साहब ने भिन्न-भिन्न अध्यायों में साहित्य, कविता, गद्य काव्य, दृश्य काव्य, रस, शैली, साहित्य की आलोचना विषयों पर पूर्वी और पश्चिमी आचार्यों के मतों के आधार पर विचार किया है या कह सकते हैं कि उनके विचारों को बड़ी कुशलता से एक में गूँथा है। पुस्तक में आदि से अन्त तक बड़ी ही समन्वयात्मक बुद्धि का परिचय मिलता है। साहित्य के अंगों और उपागों के विवेचन में लेखक के स्वतंत्र चिन्तन का कहीं उत्फुल्ल उभार भले न दिखाई पड़ता हो लेकिन अथक परिश्रम और अध्ययन के आधार पर साहित्यालोचन सम्बन्धी सभी पूर्वी-पश्चिमी उपलब्धियों को एकत्र कर देना हिन्दी साहित्य के लिए नई अतः अत्यन्त महत्वपूर्ण वस्तु थी। फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि लेखक निर्लिप्त भाव से केवल दूसरों की बातों को बटोरता गया है वह विभिन्न मतों का खण्डन और समर्थन भी करता है अपनी ओर से निष्कर्ष भी निकालता है और हिन्दी साहित्य में दिखाई पड़नेवाली रचना या आलोचना की नवीन प्रवृत्तियों के पक्ष-विपक्ष में बहस भी करता है।

डा० साहब ने हिन्दी में पहले पहल साहित्य को इतने बड़े 'कनवास' में देखने का प्रयत्न किया। उन्होंने साहित्य के ऊपर प्रभाव डालने

वाले जगत और जीवन, ज्ञान-विज्ञान की अनेक शाखाओं से साहित्य का सम्बन्ध बताकर साहित्यालोचन के दृष्टिकोण को उदार बनाया। 'साहित्य का विवेचन' अध्याय में लेखक ने आत्म और अनात्म के दार्शनिक सिद्धान्त का साहित्य के आनन्दात्मक और विवादात्मक भावों के रूप में व्याख्या करके उसे साहित्य के लिए स्थायी वस्तु माना है, साहित्य का सौन्दर्य उसके भावों की विविधता में है लेकिन वे भाव अन्य व्यावहारिक सुखात्मक और दुःखात्मक भावों की भाँति लौकिक नहीं हैं बल्कि हमारी भावना और कल्पना से परिष्कृत होकर साहित्य में आकर अलौकिक हो उठते हैं। आचार्य शुक्ल जी ने साहित्य के भावों और रसों को लौकिक भावों और रसों से भिन्न नहीं माना है लेकिन बाबू साहब ने उन्हें अलौकिक माना है किन्तु उनके अलौकिक की व्याख्या जाने बिना गलतफहमी हो सकती है। उन्होंने साहित्य के भावों को ब्रह्मविद्या, परलोक, अध्यात्म, भूतविद्या के से अलौकिक अर्थ में नहीं लिया है बल्कि ऐसा समझनेवालों का घोर विरोध किया है। उन्होंने अलौकिक का सीधा-सादा अर्थ लिया है। "लौकिक आनन्द इसी लोक में—हमारे इसी स्थूल शरीर और इन्द्रियों के लोक में—मिलता है पर अलौकिक आनन्द सूक्ष्म मानस लोक में और कभी-कभी उससे भी ऊपर उठने पर प्राप्त होता है। अतः लौकिक-अलौकिक के पारिभाषिक अर्थ को समझे बिना आलोचना करना बड़ी भारी भूल है।.........साधारण आहार और निद्रा के सुख का आधार हमारी सहज प्रवृत्तियाँ और इन्द्रियाँ दोनों होती हैं पर प्रवृत्तियों का ही प्राधान्य रहता है आगे बढ़ने पर जिसे हम इन्द्रिय सुख अथवा लौकिक सुख कहते हैं उसमें इन्द्रियों के साथ मानस कल्पना का भी योग रहता है पर प्राधान्य रहता है इन्द्रियों का ही, इसी से यह सुख भौतिक और स्थूल प्राकृतिक सुख माना जाता है। अन्त में वह भूमिका आती है जिसमें कल्पना ही प्रधान हो जाती है और कल्पना के द्वारा विचित्र अनुभूति होती है। इसे कहते हैं अलौकिक। इसका भी सम्बन्ध मनुष्य के भौतिक जगत् से रहता है पर गौण रूप से। लौकिक आनन्द में पहले लोक आता है तब आती है कल्पना और अलौकिक आनन्द में पहले कल्पना आती है और फिर उस मानस अनुभव का स्थूल इन्द्रियों पर प्रभाव पड़ता है[1]।"

---

[1] साहित्यालोचन, डा० श्यामसुन्दर दास, परि० संशो० सं०, पृ० ३१-३२

बाबू साहब ने साहित्य के ऊपर साहित्यकार के प्रभाव को प्रमुख प्रभावों में से माना है। "साहित्यकार जो कुछ लिखता है उस पर उसके विचारों और मनोभावों की अटल छाप रहती है। वह मनुष्य मात्र की आकांक्षाओं, इच्छाओं और भावनाओं को प्रकट करता है। किन्तु वह इन सबको अपने ढंग से स्वरूप देकर अपनी रुचि के अनुसार उपस्थित करता है। जहाँ उसने अपने को न पहचान कर और अपनी रुचि को दबा कर किसी दूसरे का स्वर गाना प्रारंभ किया, तुरन्त वह अपने पक्ष से भ्रष्ट हो जाता है और उसकी कृति अपना मूल्य खो बैठती है। साहित्यकार में आत्मनिर्भरता एक आवश्यक गुण है और अनुचित रीति से दूसरे का पदानुगामी होना अक्षम्य दोष है। संसार में जितने बड़े बड़े साहित्यकार हुए हैं उनकी रचनाओं में एक विशेषता होती है जो वाह्य कारणों और परिस्थितियों से परे है। उसका संबंध सीधा लेखक की मनोवृत्तियों और जीवन से होता है। इसी विशेषता के द्वारा हम लेखक की रचना को पहचानते हैं[१]।" अब तक साहित्यकार के व्यक्तिगत जीवन को देखे बिना साहित्य की समीक्षा होती रही है और उसके जीवन के प्रभावों को उसके साहित्य में पहचाने बिना अनेक वे सिर पैर की बातें होती रही हैं और अब तक साहित्य का संबंध समाज, धर्म और राजनीति से माना जाता रहा है किन्तु बाबू साहब ने साहित्य में साहित्यकार के व्यक्तित्व के प्रभाव की छानबीन करने की ओर हिन्दीवालों को प्रेरित किया। यह स्वाभाविक भी था क्योंकि छायावादी कविता का स्वरूप इस प्रकार सूक्ष्म, वायवी और कवि के वैयक्तिक संस्कारों से लिप्त होता जा रहा था कि उसको समझने के लिए कवि के व्यक्तिगत जीवन की गहराइयों में उतरना ही पड़ता। बाबू साहब के इस विचार को आप चाहे पश्चिमी आलोचकों और दार्शनिकों का प्रभाव माने या तत्कालीन कविता की उपज माने, उसकी सत्यता में संदेह नहीं कर सकते।

आगे चलकर हम देखेंगे कि इस व्यक्तिगत जीवन की छानबीन साहित्य में इतनी बढ़ गई कि वह एक अति वैयक्तिक वस्तु बनकर रह गई। किन्तु बाबू साहब का मन्तव्य यह नहीं था। उन्होंने साहित्य पर अनेक वस्तुओं का प्रभाव माना है। साहित्य किसी जाति की परंपरा

---

[१] साहित्यालोचन डा० श्यामसुंदर दास, परि० संशो० सं०, पृ० ३८।

और उसके नये युग दोनों को व्यक्त करता है। साहित्य पर नये युग का प्रभाव बहुत सीधा और प्रत्यक्ष पड़ता है किन्तु सत्साहित्य वर्तमान तक ही सीमित नहीं रहता वह अपनी पूरी जातीय परंपरा को व्यक्त करता है। "किसी साहित्य के अध्ययन में ऐतिहासिक दृष्टि से हमें दो बातों का विचार करना पड़ता है—एक तो उसके परंपरागत जीवन पर अर्थात् उसके जातीय भाव पर और दूसरे उस जीवन के परिवर्तनशील रूप पर अर्थात् इस बात पर कि वह जातीय जीवन किस प्रकार भिन्न भिन्न समयों के भावों को अपने में अंतर्हित करके उन्हें व्यंजित करता है अतएव किसी जाति के काव्य समूह या साहित्य के अध्ययन से हम यह जान सकते हैं कि उस जाति या देश का मानसिक जीवन कैसा था और वह क्रमशः किस प्रकार विकसित हुआ[१]।" कहना न होगा कि जाति के परिवर्तनशील रूप में विकसित होती हुई राजनीति, अर्थनीति, धर्मनीति, विज्ञान सभी आ जाते हैं।

'काव्य का विवेचन' में डा० साहब ने काव्य का सर्वांग परीक्षण किया है। उन्होंने काव्य को मानव जीवन का विशद चित्र माना है। काव्य समाज से विच्छिन्न होकर कवि की वस्तु निरपेक्ष कल्पना और प्राणहीन रूप-विलास को लेकर नहीं जी सकता। फिर उन्होंने काव्य का संबंध लोक-हित से जोड़ा। उन्होंने काव्य की परिभाषा, काव्य और मनोवृत्ति, काव्य के विषय, काव्य के विभाग, काव्य और व्यक्तित्व, ग्रंथ और ग्रंथकर्ता, समयानुक्रम रचना प्रणाली, तुलनात्मक रचना प्रणाली, रचना शैली आदि काव्य के सभी अंगों पर बहुमूल्य सामग्रियों को प्रस्तुत कर अपनी दृष्टि के अनुसार उनमें एक सूत्रता स्थापित की। परिवर्द्धित और संशोधित संस्करण में डा० साहब ने और गहराई से विचार किया। सन् १९३८ तक हिन्दी साहित्य में और भी अनेक लब्धप्रतिष्ठ आलोचक आ चुके थे और अंग्रेजी साहित्य का अध्ययन भी गाढ़े रूप से छाता जा रहा था। इस बीच स्वयं लेखक का अध्ययन और चिन्तन प्रौढ़ तो हो ही गया था अन्य आलोचकों के विचारों के प्रसार के कारण साहित्य के क्षेत्र में मत मतान्तर भी फैलने लगे थे। अतः

---

[१] साहित्यालोचन, डा० श्यामसुन्दर दास, परि० संशो० सं०, पृ० ४६–४७।

बाबू साहब ने इस संशोधित संस्करण में कुछ संशोधन भी किया और कुछ बढ़ाया भी। उन्होंने अपने दृष्टिकोण और मान्यताओं के अनुसार साहित्य में उठे हुए मतों का उत्तर किया।

'गद्य काव्य का विवेचन' में उन्होंने उपन्यास और नाटक के भेद-अभेद, उपन्यास के तत्वों, उपन्यास में जीवन की व्याख्या, उपन्यास में सत्यता, वास्तविकता, उपन्यास में नीति और कहानी के रूप, रचना-सिद्धान्त, उद्देश्य और फिर निबन्ध के ऊपर बड़ा साँगोंपांग विचार प्रस्तुत किया है।

दृश्य काव्य के प्रकरण में भिन्न भिन्न देशों के नाटकों का विकास दिखाने के लिए लेखक को मौलिक ढंग से शोध करना पड़ा है वह उसकी अपनी चीज है लेकिन रूपक की परिभाषा, उसके अंग और अंगों का विवेचन आदि पूर्वी और पश्चिमी आचार्यों के मतों का संग्रह मात्र है।

'रसों का विवेचन' में बाबू साहब ने मनुष्य की मौलिक वृत्तियों की छान-बीन की है। रस इन्हीं मौलिक वृत्तियों से सन्बन्ध रखते हैं। दोनों का पारस्परिक सम्बन्ध दिखाते हुए सुन्दर विवेचन किया गया है। यद्यपि इसमें भी लेखक की अपनी कोई मौलिक विचारणा नहीं है।

साहित्य के भीतरी तत्त्वों के विवेचन के पश्चात् उसकी शैली पर उचित अनुपात से विचार किया गया है जिसमें शब्दों के महत्व, वाक्यों की विशेषता, भारतीय शैली के आधार, अलंकारों का स्थान, पद-विन्यास शैली के गुण आदि शैली सम्वन्धित विषयों का उचित और सम्यक् प्रतिपादन किया गया है।

अन्त में बाबू साहब ने साहित्यालोचन के सिद्धान्तों, उसकी उपयोगिता उसके उचित स्वरूप और उद्देश्य तथा स्थायी साहित्य के गुणों की मीमांसा की है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि साहित्यालोचन हिन्दी साहित्य में पहली बार आलोचना के सर्वांगीण स्वरूप को लेकर आया। डा० साहब ने अपने परिश्रम और मंथन से इस सम्वन्ध में कोई ज्ञातव्य बात छोड़ी नहीं। बाबू साहब की दृष्टि में अद्भुत उदारता, विशद्ता और गतिशीलता थी उसी का परिणाम यह हुआ कि उन्होंने साहित्य को बहुत व्यापक पैमाने पर देखा, पूर्वग्रह से युक्त होकर किसी उत्तम वस्तु को बुरा नहीं कहा और न किसी वस्तु को नगण्य जानकर छोड़ ही दिया। ग्रहण

सबको किया और बड़ी सहानुभूति से उन पर विचार किया (उनकी इस प्रवृत्ति का अधिक खुला हुआ और प्रत्यक्ष रूप उनकी व्यावहारिक आलोचनाओं में दिखाई पड़ेगा)। यही कारण है कि साहित्यालोचन हिन्दी साहित्य के सिद्धान्त पक्ष पर विचार करने वालों के लिए अनुकरणीय हो गया। इस सम्बन्ध में इतनी पुस्तकों के लिखे जाने के बावजूद इस ग्रंथ का महत्व ज्यों का त्यों बना हुआ है। पं० नन्ददुलारे वाजपेथी के ये वाक्य माननीय हैं—

"इनमें से प्रथम ग्रंथ (साहित्यालोचन) का हिन्दी-साहित्य-समीक्षा पर अभीष्ट प्रभाव पड़ा और साहित्य को नैतिक सीमा से ऊपर उठा कर सार्वजनिक कला वस्तु के रूप में देखने की अपूर्व प्रेरणा पैदा हुई।··· शुक्ल जी का समीक्षा कार्य पाण्डित्यपूर्ण होता हुआ भी उनकी वैयक्तिक रुचियों का द्योतक है। इसी कारण वह मार्मिक है किन्तु वस्तुगत और वैज्ञानिक नहीं। श्यामसुन्दर दास जी का साहित्यालोचन उतना मौलिक न हो किन्तु वह साहित्य और उसके अंगों की तटस्थ, ऐतिहासिक तथा वास्तविक व्याख्या का प्रथम प्रयत्न है। सैद्धान्तिक दृष्टि से शुक्ल जी के नैतिक और व्यवहारवादी कलादर्श की अपेक्षा वह अधिक साहित्यिक है[1]।"

रूपक रहस्य

साहित्यलोचन में दृश्य काव्य का जो विवेचन हुआ है उसी का विस्तार हुआ है इस ग्रंथ में। और इस सम्बन्ध में नए ढंग से मुझे कुछ नहीं कहना है। हाँ, इतना जरूर कहा जा सकता है कि नाटक के सम्बन्ध में जिस नवीन दृष्टि से चिन्तन-मनन की अपेक्षा थी वह इस ग्रन्थ में लक्षित नहीं होती। अंग्रेजी नाटकों के तत्त्वों के घुस जाने से हिन्दी के नाटकों में कौन सा नवीन तत्त्व ग्राह्य है कौन सा प्राचीन तत्त्व त्याज्य है इसका विचार नहीं हुआ। इस दृष्टि से भारतेन्दु का 'नाटक' अधिक महत्वपूर्ण है।

व्यावहारिक आलोचना

कबीर ग्रन्थावली

कबीर ग्रन्थावली की प्रस्तवना में बाबू साहब की व्यावहारिक आलोचना का अच्छा परिचय मिलता है। इसमें बाबू साहव ने कबीर को बड़ी

---

[1] साहित्य संदेश, अक्टूबर-नवंबर, १९५१, पृ० २२०।

श्रद्धा की दृष्टि से देखकर थोड़े में उनका सर्वांग विवेचन प्रस्तुत किया है। उसमें कबीर के आविर्भाव काल, भक्त सन्तों की परम्परा, कबीर के 'काल निर्णय', माता पिता, गुरु, शिष्य, मृत्यु, सात्विक सिद्धान्त, व्यावहारिक सिद्धान्त, रहस्यवाद पर शोध करने के साथ साथ कबीर के काव्य पक्ष की संक्षिप्त समीक्षा की गई है।

बाबू साहब ने कबीर के सिद्धान्तों और उपदेशों को उनके व्यक्तित्व का संपृक्त अंग माना है और उन्हें मंगलकारी रूप में देखा है, साथ ही साथ कबीर कविताओं को भी परखकर उनका उचित मूल्यांकन किया है। कबीर में कहने के लिए ऊँची बातें थीं, विराट सत्य था। कबीर ने उस विराट सत्य को अपनी अनुभूति का अंग बना लिया था। जहाँ लोक जीवन के चित्रों और प्रतीकों के माध्यम से उनके हृदय का उद्‌गार फूट पड़ता है वहाँ उच्चकोटि का काव्य बन जाता है। कबीर को उसके लिए प्रयास नहीं करना पड़ता, उसके लिए उन्हें छन्द, अलंकार और भाषा का मुँह नहीं जोहना पड़ता। यहीं कारण है कि अनपढ़ होने पर भी, परिष्कृत भाषा, छन्द और अलंकार का प्रयोग करने पर भी उच्चकोटि के तीव्र, संवेदनशील भावों के कारण कबीर के कुछ दोहे और पद उच्चकोटि के काव्य बन गए हैं। बाबूसाहब ने इस सत्य को अपनी प्रस्तावना में उद्‌घाटित किया है। कबीर पर आचार्य शुक्ल द्वारा किये गये आक्षेपों का उत्तर पहले पहल डा० साहब ने ही दिया। बाद में आचार्य हजारी प्रसाद प्रभृति विद्वानों ने कबीर का सम्यक् और निष्पक्ष अध्ययन प्रस्तुत किया। बाबू साहब ने कबीर के दोषों की ओर से आँख नहीं मूँद ली है। उनकी समूची कविताओं (सरस कविताओं और ज्ञान व्यंजक छन्दों) को ध्यान में रखकर उनके अनेक दोषों को भी स्पष्ट किया है। "(१) एक ही बात को उन्होंने कई बार दुहराया है जिससे कहीं कहीं रोचकता जाती रहती है। (२) उनके ज्ञानीपन की शुष्कता का प्रतिबिम्ब उनकी भाषा पर अक्खड़पन होकर पड़ा है। (३) उनकी आधी से अधिक रचना दार्शनिक पद्य मात्र है जिसको कविता नहीं कहनी चाहिए। (४) उनकी कविता में साहित्यिकता का अभाव है। थोड़ी सी साहित्यिकता आ जाने से परम्परानुबद्ध रसिकों के लिए उपालंभ का स्थान न रह जाता। (५) न उनकी भाषा परिमार्जित है और न उनके पद्य पिंगल शास्त्र के नियम के अनुकूल हैं।"

दृष्टिकोण

बाबू साहब कला को एक ओर न तो जीवन से विच्छिन्न करके देखनेवालों में थे और न दूसरी ओर उसे नीति, दर्शन या समाज शास्त्र का उपदेशक समझते थे बल्कि कला के माध्यम से सामाजिक जीवन के विविधपक्षों का स्वरूप चित्रित करने के पक्षपाती थे। उनका दृष्टिकोण सामाजिक था किन्तु सामाजिक का वे संकीर्ण अर्थ नहीं लेते थे। उनके सामाजिक के अन्तर्गत समाज की राजनीति, धार्मिक-आर्थिक परिस्थितियाँ, परंपराएँ नये युग के प्रभाव के कारण आई हुई नई संभावनाएँ, मान्यताएँ आदि सभी अंतर्भूत हैं। सामाजिक स्वरूपों की अभिव्यक्ति के लिये साहित्यकार अपने व्यक्तिगत भीतरी जीवन को सर्वथा त्याग नहीं देता है यदि ऐसा हो तो साहित्य का निर्माणकार्य असंभव हो जाय। यदि साहित्यकार की वैयक्तिक विशेयताएँ नहीं उग पायें तो साहित्य रीति-कालीन कविता की भाँति एक रस, एक रूप और निर्जीव-सा प्रतीत होने लगे। दूसरी ओर यदि वैयक्तिक कुंठाओं और वासनाओं का उद्‌गार ही साहित्य में चित्रित हो तो साहित्य कूड़ाखाना हो जाय। आवश्यकता इस बात की है कि साहित्यकार अपने हृदय के राग-रस में सामाजिक जीवन को नहलाकर प्रस्तुत करे। डा० साहब इस समन्वय के पक्षपाती थे। अर्थात् वे समन्वयवादी दृष्टिकोण के आलोचक थे। और सबसे बड़ी बात यह थी कि वे साहित्य को साहित्य के मानदण्ड से नापते थे। वे कला के रूप पक्ष पर भी ध्यान देते थे पर उतना ही जितना कि माध्यम पर दिया जाना चाहिए।

हिन्दी साहित्य

बाबू साहब का 'हिन्दी साहित्य' इतिहास ग्रंथ है—जो आचार्य शुक्ल के 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' के एक साल बाद प्रकाशित हुआ। शुक्ल जी के सुव्यवस्थित और चिन्तनपूर्ण इतिहास के प्रकाशित होने के पश्चात् इस इतिहास का प्रकाशित होना हमारे मन में एक प्रश्न खड़ा करता है वह यह कि इसकी क्या आवश्यकता थी अर्थात् क्या इस इतिहास में शुक्ल जी कि स्थापनाओं के विपरीत या अतिरिक्त कुछ ऐसी नवीन स्थापनाएँ दिखाई पड़ती हैं जिनसे इसके निर्माण की आवश्यकता सिद्ध हो। हम इस पर विचार करें।

अपने इतिहास में बाबू साहब ने जो काल विभाजन किया है वह शुक्ल जी के ही आधार पर किया है और करीब करीब काल की सीमाएं भी वहीं हैं । थोड़ा सा अन्तर वीरगाथा काल की काल-सीमा में दिखाई पड़ता है । जहाँ शुक्ल जी ने इस काल का प्रसार संवत् १०५० से १३७५ तक माना है वहाँ बाबू साहब ने संवत् १०५० से १४०० तक। तो भी बाबू साहब के इतिहास में अपने व्यक्तित्व का अभाव नहीं है । कहीं कहीं उन्होंने ऐसे मार्मिक विचारों की ओर संकेत किया है जिसे पकड़ने में शुक्ल जी ने या तो भूल कर दी है या पूर्वग्रह के कारण उपेक्षा कर दी है । जैसे (१) साहित्यिक प्रवृत्तियों के आन्दोलन के कारणों की छान बीन में शुक्ल जी ने तत्कालीन राजनैतिक प्रभावों को ही विशेष महत्व दिया है, वीरगाथा काल में राज दरबारों में रहनेवाले कवियों की कविताओं के आधार पर ही तत्कालीन साहित्यिक प्रवृत्तियों का विश्लेषण करते हुए उसका नाम वीरगाथा काल रखा है और भक्ति कालीन आंदोलन को भी मुख्यतया राजनैतिक परिस्थिति की ही उपज माना है । रीतिकाल में भी उनकी यही प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है (यद्यपि शुक्ल जी ने सैद्धांतिक रूप से जनता की चित्तवृत्तियों पर राजनैतिक, सामाजिक, सांप्रदायिक तथा धार्मिक सभी प्रकार की परिस्थितियों का प्रभाव माना है किन्तु इतिहास में राजनैतिक परिस्थिति की ही ओर विशेष ध्यान रखा है) । राजनीति का प्रभाव साहित्य पर बहुत सीधा पड़ता है तो भी वही सब कुछ नहीं है साहित्य की प्रवृत्तियों की छानबीन के लिए हमें जनता के बीच घुसकर उनमें व्याप्त विश्वासों, आशाओं, निराशाओं और युग के अनुरूप बदलते हुए उनके रूपों को देखना चाहिए । केवल राज दरबार के कवियों तक रुककर तत्कालीन प्रवृत्ति का अनुमान कर लेना भ्रमोत्पादक सिद्ध होता है । यद्यपि बाबू साहब ने भी वीरगाथा काल की प्रवृत्ति के निर्धारण में राजनैतिक आन्दोलन को ही प्रमुख माना है किन्तु उन्होंने यह स्पष्ट निर्देश किया है कि इस काल-विभाजन में दोष है क्योंकि "अपभ्रंश के बाद किंचिदेश भेद से हिन्दी प्रायः संपूर्ण राष्ट्र की साहित्य और व्यवहार की भाषा हो रही थी और उसमें केवल राज्याश्रित वीरगाथाकार कवि या भाँट ही रचना नहीं करते थे जैनमुनियों और नाथ पंथी साधुओं द्वारा भी उसकी पर्याप्त अभिवृद्धि हो रही थी । जब युद्ध-लिप्त राज्यों के कवि वीर गीतों का गान कर रहे थे उस समय भी ये भ्रमणशील साधुगण सामान्य

जनता को धर्म और साधना का उपदेश कर उन्हें भव-बाधा से मुक्त करने का उपाय कर रहे थे। इसी प्रकार जब मध्ययुग में भक्त कविगण लोक में अपनी अमृतमयी वाणी की धारा बहा रहे थे उस समय भी राजस्थान में चारणों की वीर गर्जना बन्द नहीं हुई थी।"

इसी प्रकार भक्तिकाल और रीतिकाल की भी व्याख्या में बाबू साहब ने राजनैतिक आन्दोलन के साथ जनता में प्रचलित प्रवृत्तियों पर (अपेक्षाकृत शुक्ल जी के) अधिक ध्यान दिया है।

शुक्ल जी ने अपने आदर्शवादी पूर्वग्रह के कारण कबीर आदि निर्गुणिया तथा छायावादी कवियों को अच्छी दृष्टि से नहीं देखा है, मुक्तकों की अपेक्षा प्रबन्ध काव्यों को विशेष महत्व दिया है। बाबू साहब में इन दोषों का परिहार लक्षित होता है।

बाबू साहब ने अपने इतिहास को मौलिक बनाने की चिन्ता में कुछ नए प्रयोग किए हैं जो भ्रामक हैं जैसे एक ओर तो वे वीरगाथाकाल की अवधि मानते हैं संवत् १०५० से १४०० तक किन्तु उस प्रवृत्ति में वे शामिल कर लेते हैं भूषण और आधुनिक युग के राष्ट्रीय कवियों को भी। इसी प्रकार रामभक्ति शाखा में मैथिलीशरण गुप्त भी आते दिखाई पड़ते हैं। इसी प्रकार अन्यत्र भी हुआ है। यह विरोधाभास भ्रमोत्पादक है।

बाबू साहब ने आरंभ के तीन अध्यायों में साहित्य को भिन्न भिन्न परिस्थितियों और ललित कलाओं की स्थिति के संबंध में विचार किया है। डा० धीरेन्द्र वर्मा ने 'विचार धारा' में इन तीन अध्यायों को सभी इतिहासों से नवीन अतः महत्वपूर्ण माना है किन्तु यहाँ हमें इतना ही कहना है कि सभी नवीन चीजें महत्वपूर्ण नहीं होतीं।

श्री पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी

डा० श्यामसुन्दर दास के साथ बख्शी जी का नाम इस अर्थ में लिया जा सकता है कि इन्होंने भी पाठकों के समक्ष देश और विदेश की विविध साहित्यिक सामग्री प्रस्तुत की। बख्शी जी का कार्य उतना विश्लेषणात्मक नहीं है जितना परिचयात्मक। डा० श्यामसुन्दर दास के साहित्यिक कार्य परिचयात्मक अवश्य थे किन्तु उनमें लेखक की निजी

दृष्टि और विश्लेषणात्मक गांभीर्य का अभाव नहीं था। बख्शी जी का महत्व केवल इस बात में है कि इन्होंने बड़े ही उदार भाव से (बिना किसी निजी दृष्टिकोण और पूर्वग्रह के) पूरब और पश्चिम के साहित्य की परिचयात्मक रूप-रेखा सामने रखी। और यह कार्य तब किया जब कि हिन्दी में इसकी आवश्यकता थी।

'विश्व साहित्य' और 'हिन्दी साहित्य विमर्श' बख्शी जी की ये दो पुस्तकें इनकी उपर्युक्त आलोचनात्मक विशेषताओं पर प्रकाश डालती हैं। विश्व साहित्य में लेखक ने पूरब और पश्चिम के कुछ प्रमुख साहित्यों की विभिन्न उच्च कृतियों का परिचय दिया है। 'हिन्दी साहित्य विमर्श" में लेखक ने सात अध्यायों में हिन्दी साहित्य के ऐतिहासिक विकास पर प्रकाश डाला है। प्रस्तावना में लेखक ने साहित्य का सामाजिक परिवेश से संबंध जोड़ा है। भाषा परिवर्तनशील होती है। पराधीनता भाषा के विकास को अवरुद्ध करती है। भाषा में राष्ट्रीयता का चित्र होता है और भाषा की ये सारी विशेषताएँ साहित्य में भी होती हैं। इन बातों पर प्रस्तावना में विचार हुआ है। बख्शी जी ने एक काम अवश्य महत्वपूर्ण किया कि पश्चिमी साहित्य और आलोचना से प्रभावित होकर इन्होंने सौंदर्य को कविता का प्राण स्वीकार किया। किन्तु इन्होंने सौन्दर्य को बड़े उदार अर्थ में लिया। केवल वाह्य शिल्पगत सौन्दर्य पर ही इनकी दृष्टि नहीं अटकी रही वरन् भागवत सौन्दर्य की ओर भी इन्होंने संकेत किया।

'हिन्दी साहित्य का आदिकाल' 'सन्तवाणी-संग्रह', 'हिन्दी साहित्य का मध्यकाल', 'हिन्दी साहित्य' और 'कवि कौशल', 'हिन्दी साहित्य और पाश्चात्य विद्वान' और 'उपसंहार' अध्यायों में इन्होंने हिन्दी साहित्य को परखने की चेष्टा की। यह सत्य है कि इस पुस्तक में हिन्दी साहित्य के इतिहास का वैज्ञानिक विवेचन (जैसा कि अध्यायों को देखने से भ्रम होता है) संभव न हो सका है और न अलग अलग काल की कृतियों का स्वतंत्र उच्चकोटि का साहित्यिक आकलन ही हो पाया है किन्तु इतना तो स्वीकार करना ही होगा कि सन् २२-२३ के आसपास लिखी गयी इस पुस्तक का ऐतिहासिक मूल्य है, इससे पुरानी और नयी प्रवृत्तियों के सामान्य परिचय की रूप-रेखा तो स्पष्ट हो ही जाती है।

बाबू गुलाब राय

आचार्य शुक्ल की समीक्षाओं के उपरान्त हिन्दी के विचार और रचना क्षेत्र मे अनेक परिवर्तन हुए। बाबू गुलाब राय ने क्रम क्रम से साहित्य के बदलते हुए स्वरूपों को उदारता से अपनाया। पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी, नन्ददुलारे वाजपेयी आदि समीक्षकों के साथ ही बाबू गुलाबराय ने भी कृतिकार की कृति की परीक्षा बड़ी व्यापक कसौटी पर की। युग और देश की संवेदना, परंपरा और तात्कालिक सांस्कृतिक परिपार्श्व तथा व्यक्तिगत जीवन की सीमाएँ इन सबके सम्मिलित प्रभाव से साहित्य प्रभावित होता है और इन सारे तत्त्वों की छान-बीन करके ही हमें किसी कृति के मूल्य की घोषणा करनी चाहिए।

गुलाब राय की सैद्धान्तिक और व्यावहारिक समीक्षाएँ शुक्ल जी से उदार हैं और कम विवादास्पद हैं। शुक्ल जी अपने सिद्धान्तों और व्याख्याओं में सर्वत्र मौलिक हैं। वे बहुत बड़े विचारक और उद्भावक हैं। गुलाब राय जी समन्वयवादी हैं, उनमें नयें समीक्षा-सिद्धान्तों की स्थापना की शक्ति नहीं है। वे पुराने-नये, पूर्वी-पश्चिमी आचार्यों के मतों का लम्बा सा उद्धरण देकर उनमें एक समन्वय-सूत्र खोजने के अभ्यासी हैं। यह कार्य निश्चय ही कम विवादास्पद किन्तु अधिक सतही होता है। शुक्ल जी जिस बात को मानते हैं और बुद्धि और हृदय दोनों से समर्थन करते हैं, उसमें औरों से समझौते की जगह नहीं छोड़ते। वे जो मानते हैं वही मानते हैं आपको मानना हो तो मानिए न मानना हो तो मत मानिए। यह हम देख चुके हैं कि उनकी दृढ़ घोषणा में वैज्ञानिक विवेचन की गहराई के साथ ही अपने पूर्वग्रह भी कम नहीं है। बाबू गुलाब राय में पूर्वग्रह भी नहीं है और कोई अपना कहा जाने योग्य सिद्धान्त भी नहीं। अर्थात् समीक्षा सिद्धान्त में उन्होंने कोई नया योग नहीं दिया, केवल प्रचलित सिद्धान्तों की तटस्थ व्याख्या मात्र कर दी है। इसीलिए जहाँ शुक्ल जी के स्वर में दृढ़ता है, विश्वास है, कलावादियों पर तीखे व्यंग्य हैं, मजा हुआ विनोद है वहाँ बाबू साहब के स्वर में फैलाव है, समन्वय है (सबकी अच्छी चीजों को बटोर लेने की प्रवृत्ति है) विनय है। शुक्ल जी का एक दृष्टिकोण था, उस दृष्टिकोण से विवेचन करने के मार्ग में वे सभी नये-पुरानों की खोज-खबर लेते थे, प्राचीनता को अपना आधार मान कर अपनी मौलिक व्याख्या प्रस्तुत

करते थे—जैसे कविता पर यदि उन्हें निबन्ध लिखना होगा तो वे कविता पर स्वत: विचार करेंगे और आवश्यकता पड़ने पर नये-पुराने, पूर्वी-पश्चिमी मतों के पक्ष-विपक्ष का उद्धरण देकर उन पर गम्भीर चिन्तन करेंगे। किन्तु बाबू साहव का कोई अपना दृष्टिकोण नहीं ज्ञात होता है, यदि है तो (और वह है मनुष्यतावादी) वह बड़ा निरीह और बिखरा हुआ है। यदि बाबू साहव को कविता पर निबन्ध लिखना होगा तो संस्कृत के आचार्यों और अंग्रेजी के प्रसिद्ध विद्वानों की ढेर सी परिभाषाएँ उद्धृत कर देंगे और सबकी परिभाषाओं को मिलाकर एक समन्वित परिभाषा बनाने की कोशिश करेंगे। वे सभी परिभाषाओं में कुछ कुछ अच्छाई देखेंगे।

बाबू साहब ने पश्चिमी सौन्दर्यशास्त्र और समाजशास्त्र का भी खुल कर उपयोग किया है और उन्हें अपने यहाँ के काव्य के विवेचन के मेल में बैठाया है। बाबू साहब की आलोचना व्याख्यात्मक है। वह हर एक कवि की बड़ी सहानुभूति पूर्ण आलोचना करते हैं और उसके सारे वक्तव्य का विवेचन उस कवि की मंसा और देश काल की प्रकृति के आधार पर करते हैं। ये प्राय: गुणों का ही उद्घाटन अधिक करते हैं अनुभूतियों पर बल देते हुए भी कविता के मूल्यांकन के लिए लोक-मंगल का आधार जरूरी समझते हैं। लेकिन इनका लोक-मंगल शुक्ल जी के लोक मंगल की तरह बहुत विश्वास और शक्ति से प्रतिपादित नहीं है उसका कोई निर्दिष्ट स्वरूप भी नहीं है। जिस साहित्य से समाज का हित हो वह सुन्दर साहित्य है, लोक-मंगल के प्रतिपादन में इसी प्रकार की मोटी मोटी बातें इनकी समीक्षाओं में दिखाई पड़ेंगी। हम कहना यह चाहते हैं कि इनकी आलोचनाएँ व्याख्यात्मक आलोचना का शुद्ध रूप हैं जिनमें गहराई कम है विस्तार अधिक। चिन्तनमय व्यक्तित्व की छाप भी नहीं है।

इसीलिए बाबू साहब को कुछ लोगों ने अध्यापक आलोचक कहा है। अर्थात् जिस प्रकार अध्यापक अपने काल तक प्रचलित तमाम ज्ञान विज्ञान को विद्यार्थियों के सामने सुलझा कर रखता है उसी प्रकार बाबू साहब साहित्य के सम्बन्ध में व्यक्त अनेकानेक देशी-विदेशी विचारों को पाठकों के सामने सुलझाकर रखते हैं। बीच-बीच में कभी कभी अपना समन्वयात्मक मत देते चलते हैं। इस कार्य का भी अपने क्षेत्र में

महत्व कम नहीं है। इसके लिए अध्ययन की गुरुता और व्यापकता की आवश्यकता होती है। इसके अतिरिक्त अच्छी समझ और उन्हें सुलझाकर प्रभावोत्पादक ढंग से रखने की प्रतिभा की अपेक्षा होती है और सबके ऊपर उन सबमें एक समन्वय सूत्र स्थापित करने की अपनी व्यक्तिगत मान्यता की जरूरत रहती है। बाबू साहब इस कार्य में सफल हैं। गंभीर से गंभीर विषय को वे अच्छी सुलझन के साथ सरल शैली में प्रस्तुत करते हैं।

बाबू साहब मूलतः रसवादी हैं किन्तु अपने समन्वयवादी स्वभाव के कारण अन्यमतों की अवहेलना नहीं करते, उन्हें सहृदयता के साथ समझने बूझने की चेष्टा करते हैं। उन्होंने 'नव रस' में रसों का सांगोपांग विवेचन किया है। शुक्ल जी ने रसों में मौलिक उद्भावनाएँ की हैं। बाबू साहब ने रसों के सम्बन्ध में अभिव्यक्त आचार्यों के मतों का संकलन और चयन किया है। 'रस क्या है? रस के कितने अंग हैं? रस के कितने भेद हैं? स्थायी भाव, विभाव, संचारी, अनुभाव विभिन्न लोगों की दृष्टियों में क्या है? नायिका-भेद, नायक-भेद, हाव-भाव का शृंगार रस से क्या सम्बन्ध है?' आदि का विवेचन आचार्यों की सम्मतियों के अनुकूल हुआ है। इन सबमें लेखक का अपना कोई कृतित्व दृष्टिगत नहीं होता, यदि है भी तो इतना ही कि उसने अध्ययन की विपुल सामग्री एक स्थान पर एकत्र कर दी है। बाबू साहब ने जहाँ भिन्न भिन्न रसों का प्राचीन और नवीन मनोविज्ञान के आधार पर जीवन के व्यवहार और मंगल-पक्ष से सम्बन्ध जोड़ा है वहाँ उसकी अपनी देन अवश्य लक्षित होती है। शुक्ल जी ने रसानुभूति की लौकिकता का प्रश्न उठाया था। बाबू साहब ने पुराने आचार्यों के इस मत का प्रतिपादम किया कि रस का आनन्द अलौकिक है ब्रह्मानन्द सहोदर है।

इसी प्रकार का पूर्वी-पश्चिमी मतों का विवरण और समझौते का सा निष्कर्ष उनके 'सिद्धान्त और अध्ययन' के 'काव्य की परिभाषा', 'काव्य की आत्मा', 'काव्य और कला', साहित्य की मूल प्रेरणाएँ', 'काव्य के क्षेत्र' (सत्यं शिवं सुन्दरम्) 'काव्य के वर्ण्य,' 'रस निष्पत्ति,' 'साधारणीकरण' 'कवि और पाठक के त्रयात्मक व्यक्तित्व', 'काव्य के विभिन्न रूप', 'काव्य का कला पक्ष,' 'ध्वनि और उसके भेद' निबन्धों में मिलता है। कुछ

नए विषयों जैसे रस और मनोविज्ञान, अभिव्यंजनावाद और कलावाद, कविता और स्वप्न, समालोचना के मान-में उनकी अपनी सूझ-बूझ और कुछ कुछ मौलिक व्याख्या उपलब्ध है। बाबू साहब अपने इन निबन्धों में साहित्य के शास्त्रीय स्वरूप और नवीन तत्त्वों दोनों के प्रति उदार और जागरूक रहे हैं। आलोचना के स्वरूप में वे व्याख्यात्मक आलोचना को ही श्रेष्ठ मानते हैं।

'काव्य के रूप' में साहित्य के पाश्चात्य ढंग से वर्गीकृत विभेदों का विवेचन हुआ है जिसमें भारतीय साहित्य के मूलभूत सिद्धान्तों और तत्त्वों तथा पाश्चात्य सिद्धान्तों और तत्त्वों का अलग-अलग विवरण प्रस्तुत किया गया है और अन्तमें सामंजस्य का विधान है। पूर्वी और पश्चिमी साहित्य-प्रकारों का संक्षिप्त इतिहास भी दिया गया है।

'काव्य के रूप' में सिद्धान्त-विवेचना और स्वरूप-निर्णय के साथ-साथ सभी साहित्य विधाओं के मुख्य-मुख्य हिन्दी साहित्यकारों की प्रधान कृतियों की व्यावहारिक समीक्षाएँ भी प्रस्तुत की गई है। ये व्यावहारिक समीक्षाएँ उन विषयगत मोटी-मोटी विशेषताओं को उद्घाटित करती हैं जो विचारित हो चुकी हैं। इस प्रकार बाबू गुलाब राय की सैद्धान्तिक और व्यावहारिक समीक्षाएँ जहाँ परीक्षार्थियों के लिए प्रभूत सामग्री एकत्र करती हैं, साहित्य का विपुल परिचयात्मक ज्ञान उपस्थित करती हैं वहाँ नवीन चिन्तना और विचारणा के लिए नया मार्ग नहीं खोलतीं। नवीन मार्ग सभी मतों से समझौता करने से नहीं खुल सकता, उसके लिए चाहिए बड़ा ही जागरुक, तीक्ष्ण और नवीन वैज्ञानिक दृष्टिकोण तथा रचनाओं के अन्तर में प्रवेश कर सूक्ष्मातिसूक्ष्म विशेषताओं को उद्घाटित कर सकने की प्रतिभा और पूर्वग्रह हीनता। शुक्ल जी में ऊपर की दोनों विशेषताएँ थीं तीसरी विशेषता अपने पूर्ण रूप में न आ सकी। इसलिए उनकी आलोचनाएँ विवादग्रस्त होकर भी मौलिक हैं। वे नवीन चिन्तन और मनन के लिए सदैव मार्ग खोलती हैं और रचनाकारों की सूक्ष्मातिसूक्ष्म विशेषताओं को सहज ही पकड़ लेती हैं। बाबू साहब में तीसरी विशेषता पूर्ण रूप में है किन्तु ऊपर की दो विशेषताएँ धूमिल रूप में हैं। अतएव उनकी आलोचनाओं में नवीन मौलिक उद्भावनाओं की जगह पर प्रचलित सारी बातों का संग्रह कर देने का उत्साह दिखाई पड़ता है।

डा० जगन्नाथप्रसाद शर्मा

डा० शर्मा आलोचन-सिद्धान्तों की मान्यता के क्षेत्र में शुक्ल जी के साथ हैं। यद्यपि आलोचन-सिद्धान्तों के क्षेत्र में आपकी कोई कृति देखने में नहीं आयी किन्तु व्यावहारिक आलोचनाओं के बीच बीच में, या एकाध फुटकल निबंधों के रूप में या बातचीत के सिलसिले में आप के जो सिद्धान्तगत विचार लक्षित होते हैं वे शुक्ल जी द्वारा सुविचारित मान्यताओं के ही समर्थक प्रतीत होते हैं किन्तु आप में नवीन प्रवृत्तियों को भी उदारतापूर्वक अपना लेने की क्षमता है। यह गुण तो स्वयं शुक्ल जी में था किन्तु उनका अनुगमन करनेवाले कुछ आलोचकों में रूढ़िवादिता लक्षित होती है अर्थात् शुक्ल जी अपने युग में जहाँ तक थे वहीं तक का ये चक्कर काटते फिरते हैं। किन्तु डाक्टर साहब ने एक ओर तो कुछ आगे बढ़कर नवीन प्रवृत्तियों को भी देखा और दूसरी ओर कहीं कहीं शुक्ल जी का नम्र विरोध भी किया। कुछ आगे बढ़ कर मैंने इसलिए कहा कि नयी कविता या कहानी या उपन्यास या समीक्षा को उन्होंने देखा तो अवश्य किन्तु उन पर मनन चिन्तन कर अपनी कोई स्पष्ट और दृढ़ राय नहीं व्यक्त की और यदि थोड़ी बहुत व्यक्त भी की तो बहुत अनुकूल नहीं। किंतु हम डा० शर्मा के इस पक्ष पर विचार कर उनके संबंध में कोई निश्चित मत निर्धारित नहीं कर सकते हैं क्योंकि इस क्षेत्र में उनका कृतित्व शून्यप्राय है। उनका स्वयं का कहना भी है कि जब तक कोई नवीन सिद्धान्त-स्थापन, नवीन मान्यता-प्रतिष्ठा की शक्ति लेखक में न हो तब तक उसे व्यर्थ में पिष्ट-पेषित सिद्धान्तों पर ऊहापोह मचाना नहीं चाहिए। इसलिए वे लिखते बहुत कम हैं।

इधर 'कहानी का रचना विधान 'नाम से उनकी एक विचार पूर्ण नवीन कृति प्रकाशित हुई है। प्रस्तुत पुस्तक में कहानी कला के सिद्धान्तों का मार्मिक और विशद् विवेचन है। साहित्य का उद्देश्य क्या है? उसका जीवन से कैसा संबन्ध है? साहित्य में दिखाई पड़नेवाले अनेक नए प्रश्नों की महत्ता और समाधान क्या है? आदि विषयों पर डाक्टर साहव ने प्रत्यक्ष रूप से कभी भी विचार नहीं किया। प्रस्तुत पुस्तक उनकी सैद्धांतिक समीक्षा का स्वरूप पहली बार प्रस्तुत करती है। किन्तु इस पुस्तक का अपना क्षेत्र है, उसमें उपर्युक्त प्रश्न नहीं उठाये गये हैं।

इसलिए साहित्य के संबंध में उठनेवाली समस्याओं और जीवनगत मूल्यों के विषय में उनके विचार संबद्ध रूप में अब तक स्पष्ट नहीं हो सके हैं।

'कहानी का रचना विधान' हिन्दी-समीक्षा-क्षेत्र की एक बहुत बड़ी कमी को पूरा करता है। हिन्दी में कहानी के विविध शिल्पगत स्वरूपों की व्याख्या व्यवस्थित रूप में तथा विस्तार के साथ नहीं हो सकी थी। अंग्रेजी साहित्य में एक एक साहित्यिक विधा को लेकर सुसंबद्ध रूप से लिखी गयी अनेक पुस्तकें मिल जायँगी किंतु हिंदी में अभी इसका पर्याप्त अभाव है। हिंदी कहानी के शिल्प पर लिखते समय या तो लोग कहानी का इतिहास देने लगते हैं या मोटे तौर पर उसके तत्त्वों की मीमांसा कर देते हैं। डा० लक्ष्मीनारायण लाल की 'कहानी के शिल्प विधान' पर लिखी गयी पी-एच० डी० की थीसिस में शिल्प पर थोड़े से पृष्ठों में विचार प्रस्तुत कर शेष में उसका इतिहास दे दिया गया है।

डा० शर्मा की प्रस्तुत पुस्तक का महत्व दोनों दृष्टियों से है। एक तो वह पहली बार कहानी के शिल्प पर विशद विचार कर एक अभाव की पूर्ति करती है और दूसरे उसकी विचारगत गंभीरता भी बड़ी मूल्यवान है। प्रस्तुत पुस्तक में डा० साहब का दृष्टिकोण शुद्ध वस्तुगत है। इसलिए वे कहानी के पुराने और नए सभी प्रकार के तत्त्वों की मीमांसा कहानी की सफलता को ध्यान में रखकर करते हैं। कहानी की सफलता इस बात में है कि वह जीवन के किसी एक मर्म को (चाहे वह छोटा हो या बड़ा) कितने सशक्त और संयत शिल्प के साथ अंकित कर सकी है। कहानी के शिल्प के तत्त्व पुराने हों या नये किसी से डा० साहब को शिकायत नहीं, बशर्ते वे कहानी की सिद्धि में योग दान देते हुए आये हों। कहानी का विषय कुछ भी हो सकता है, उस विषय की सफल अभिव्यक्ति करनेवाले रचना विधान में बल होना चाहिए। इस प्रकार लेखक ने कहानी के शिल्प के क्षेत्र में प्रचलित सभी प्रयोगों को सहृदयता पूर्वक देखा है, उनका वस्तुगत विवेचन किया है। विभिन्न प्रयोगों के भेद-प्रभेदों और उनके पारस्परिक बारीक अंतरों को पहचान कर परीक्षा की है। साथ ही साथ सभी के स्वरूपों को उद्धरणों द्वारा स्पष्ट करने की चेष्टा की है। डा० साहब ने प्रस्तुत पुस्तक के अलग अलग अध्यायों में कहानी के रचना विधान के अलग अलग तत्त्वों पर चिन्तनपूर्ण व्याख्याएँ प्रस्तुत की हैं। सामान्य परिचय में कहानी के रूप

की प्राचीनता, सर्वप्रियता, उपादेयता, मूलभेदकता आदि का स्वरूप स्पष्ट किया है। 'कहानी क्या है ?' को लेकर अनेक ऊपरी ऊपरी परिभाषाएँ की गयी हैं। लेखक ने लोगों की इन व्यापक भ्रान्तियों के निराकरण के लिए कहानी के मूलभेदक गुणों को उद्घाटित किया है। लेखक ने कहानी में दो भेदक गुण माने हैं—(१) विषय का एकत्व अथवा मूल भाव की अनन्यता (२) प्रभाव-समष्टि अथवा प्रभावान्वित। यह सूझ-बूझ लेखक की अपनी है ऐसा नहीं कहा जा सकता। अंग्रेजी में और हिंदी में कहानी के इन गुणों पर काफी विचार हो चुका है। इस पुस्तक में इन विचारों का महत्व इसलिए स्वीकार करना पड़ता है कि ये कहानी कला के सर्वांग निरूपण में व्योरेवार आये हैं और व्यवस्थित रूप से इनका निरूपण हुआ है।

दूसरे अध्याय में इसी भेदक गुण के आधार पर कहानी की उपन्यास, नाटक और एकांकी से तुलना की गयी है। यह प्रयास भी नया नहीं है किन्तु डा० साहब ने प्रचलित अन्तरों के साथ साथ अन्य मौलिक अन्तरों को भी बड़ी सूक्ष्मता से उद्घाटित किया है। तीसरे अध्याय में 'विषय संग्रह' का विचार किया गया है। कहानी के लिए विषय कहाँ से चुने जायँ इस पर अनेक लोगों ने अनेक बातें कहीं हैं। लेखक ने उन सबका संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत किया है और हिन्दी कहानियों के क्षेत्र से उन विविध विषय-प्रकारों के उद्धरण भी दिये हैं।

'वस्तु विन्यास' चौथा अध्याय है। कथानक की अनिवार्यता, कथानक के तीन रूप, दुहरे कथानक, समवादी कथानक, क्रमवद्ध कथानक, संघर्ष, तथ्य अथवा सत्य, परिच्छेद-विभाजन आदि उपशीर्षकों से वस्तु विन्यास के विभिन्न सूक्ष्म स्वरूपों की विवेचना हुई है। पाँचवे अध्याय में कहानी के आदि, अन्त और मध्य पर सोदाहरण मार्मिक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। विभिन्न कहानियों के आदि, अन्त और मध्य तथा इन तीनों के आनुपातिक समन्वय विभिन्न प्रकार के होते हैं। वे कितने प्रकार के होते हैं और किन रूपों में उनका प्रयोग सफलता-विधायक होता है, इसकी गहरी छानबीन की गई है।

चरित्र-चित्रण साहित्य की विविध विधाओं—विशेषतया कथा साहित्य के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण और अपरिहार्य विषय है। चरित्रों में विविधता

होती है, उस विविधता की पकड़ ही विभिन्न कलाकारों की चरित्र-सृष्टि को सजीवता और व्यक्तित्व प्रदान करती है। कहानी में उनका कैसा कैसा रूप मिलता है और वे किन-किन रूपों में व्यंजित होते हैं, लेखक के लिए किस-किस प्रकार के पात्रों को चुनना उपयुक्त होता है, मनोवैज्ञानिक और सामाजिक पृष्ठभूमि चरित्रों को किस प्रकार प्रभावित करती है, ये अनेक प्रश्न लेखक ने उठाए हैं और विविध उत्तम कहानियों के प्रयोगात्मक रूप को दृष्टि में रखकर इन प्रश्नों का उत्तर भी दिया है।

इसी प्रकार क्रमशः संवाद और शैली को ध्यान में रखकर कहानी का विवेचन तथा वर्गीकरण किया गया है। 'वर्गीकरण' में लेखक ने कहानियों के विषय और शैली दोनों दृष्टियों से किये जाने वाले विभाजन को एक साथ लिया है। दोनों प्रकार के विभाजनों को एक साथ लेते हुए भी दोनों की भेदक सीमाओं को स्पष्ट किया है।

प्रस्तुत पुस्तक का अत्यधिक मौलिक कहा जानेवाला अध्याय है वातावरण। अन्य अध्यायों में अन्य तत्त्वों पर विचार करते हुए लेखक को अंग्रेजी समीक्षकों के विचारों का स्पष्ट आलोक प्राप्त था किन्तु वातावरण पर लिखते समय लेखक को बहुत कुछ स्वतः पथ निर्माण करना पड़ा है। लेखक ने वातावरण के अंग और अंगी दोनों रूपों को लेकर लिखी जाने वाली कहानियों की सूक्ष्मातिसूक्ष्म विशेषताओं को पकड़ा है।

डा० शर्मा ने प्रस्तुत पुस्तक में एक अत्यन्त महत्वपूर्ण और साहस का कार्य यह किया है कि उन्होंने कुछ हिन्दी कहानियों को लेकर उनकी प्रयोगात्मक परीक्षा की है। सिद्धान्त निरूपण के साथ-साथ और अन्त में अलग से हिंदी कहानियों का व्यावहारिक मूल्यांकन कर लेखक ने निश्चिय ही अपने प्रतिपाद्य विषय के विवेचन को पूर्ण बनाया है। यह अवश्य है कि लेखक ने कुछ ही कहानियों को बार-बार उद्धृत किया है। इसका एक कारण तो यह हो सकता है कि लेखक का अध्ययन-क्षेत्र कुछ प्रमुख कहानीकारों की प्रमुख कहानियों तक ही सीमित हो, दूसरा यह कि ये कहानियाँ लेखक को अभिप्रेत सभी दृष्टियों से सफल दिखाई पड़ी हों।

व्यावहारिक आलोचना

डा० शर्मा लिखते बहुत कम हैं लिखा भी बहुत कम है किन्तु व्यावहारिक आलोचना के क्षेत्र में इतना लिखा है कि उन पर विचार हो सके व्यावहारिक आलोचना के क्षेत्र में आधुनिक काल ही लेखक का आलोच्य है। लेखक ने अपने आलोच्य कवि या लेखक की कृतियों को पूर्णतया व्याख्यात्मक पद्धति पर परखा है। कृति में शास्त्रीय आधार कितना है, नवीन युग की अभिव्यक्ति कितनी है, कृतिकार में व्यक्तित्व की छाप कहाँ तक है, कृतिकार में भेदक तत्व कौन कौन से हैं आदि बातों पर विचार हुआ है। व्यावहारिक समालोचना से संबद्ध लेखक की तीन मुख्य पुस्तकें हैं (१) हिंदी गद्य शैली का विकास, (२) प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन और (३) हिंदी गद्य के युग-निर्माता।

'हिन्दी गद्य शैली का विकास' में हिंदी खड़ी बोली के गद्य निर्माताओं की शैलियों पर विचार हुआ है। लेखक ने व्याख्यात्मक समीक्षा के शुद्धरूप के निर्वाह का बराबर ध्यान रखा है। अर्थात् सभी लेखकों की शैलियों के परीक्षण में व्यक्तिगत प्रतिभा का ध्यान तो रखा ही है साथ साथ ऐतिहासिक विकास क्रम का भी ध्यान रखा है। लेखक के शब्दों में शैली के सिद्धान्त पक्ष का स्वरूप निम्नांकित है—

शैली के अवयव—शब्द-विन्यास, वाक्य-रचना, प्रपट्टक, मुहावरा और लोकोक्ति, अलंकार-योजना।

शैलीगत गुण—प्रसाद, ओज, माधुर्य, लाक्षणिकता, प्रभावोत्पादकता, एकरूपता।

शैली-अवगुण—व्याकरण-च्युति, क्रमदोषः, अस्पष्टता, दुरूहता, रुक्षता, गृहीत प्रयोग, प्रादेशिकता।

रचना-शैली—आरंभ और अंत, क्रम-योजना, विचार गुंफन, ति-वृत्त-कथन।

"वर्णन पद्धति, भावोद्रेक, परिहास और व्यंग्य। शैली में विषय और व्यक्तित्व। शैली समीक्षा के उक्त विधान के आधार पर विभिन्न लेखकों की रचना-प्रणाली में प्राप्त विविध तारतमिक एवं व्यक्तिगत विशेषताओं की छानवीन ही उसका व्यावहारिक पक्ष होगा।"

लेखक ने शैली के इन समस्त अवयवों को ध्यान में रखकर विविध लेखकों की परीक्षा की है लेकिन हिंदी गद्य के प्रारंभिक रूपों में शैली के चरमोत्कर्ष का अभाव देखकर खीझ नहीं व्यक्त की है वरन् उनके स्वाभाविक विकास क्रम को लक्षित किया है और उस काल यें इतना ही उत्कर्ष संभव था यह दृष्टिकोण साथ रखा है। स्वयं लेखक ने भूमिका में स्पष्ट किया है।

"ई० सन् १९०० के आसपास वस्तुतः हिंदी गद्य शैली की परीक्षा केवल व्यक्तिगत पद्धति पर ही की जा सकती है। तत्कालीन लेखकों की कुछ अपनी कहाँ कैसी विशेषताएँ प्राप्त होती हैं और वह कहाँ तक शुद्धाशुद्ध लिखता है इतना ही जान लेना यथेष्ट मालूम पड़ता है। इसका मुख्य कारण यही है कि उस समय तक संपूर्ण गद्यात्मक अभि-व्यंजना एक स्वरूप धारण कर रही थी। विविध क्षेत्रों में प्रयुक्त होकर भाषा की शक्ति और उद्भावना स्थित हो रही थी। उस समय तक किसी विधान का निर्णय नहीं हुआ था। ऐसी स्थिति में कोई खास कसौटी अथवा वाग्विधान का प्रामाणिक मानदण्ड सामने रखकर उस समय की भाषा शैली की विवेचना नहीं संभव हो सकती।"

लेखक खड़ी बोली गद्य के प्रारंभिक स्वरूपों की खोज के लिए बहुत पीछे तक गया है। फुटकल रूप में यदाकदा कहाँ कहाँ इसका व्यवहार हुआ है और कबसे यह व्यवहार प्रारंभ हुआ है, इस बात की छानबीन की गयी है। हिन्दी खड़ी बोली उर्दू और भाषा में कब से अलगाव उपस्थित हुआ, किन-किन रूपों में दोनों के स्वतंत्र रूपों के विकास हुए, हिंदी खड़ी बोली को किस-किस प्रकार से उर्दू के संघर्ष को झेलना पड़ा और किन-किन परिस्थितियों, संस्थाओं और व्यक्तियों ने इसके उत्थान में योग दिया इन सबका स्पष्ट और गंभीर विवेचन हुआ है।

हिंदी गद्य शैली के विकास के इस भूमिका अंश के पश्चात् उसका आरंभ शुरू होता है। लेखक ने इन हिंदी गद्य लेखकों की शैलियों का व्यक्तिगत गुण-दोषों की पद्धति पर आलोचन किया है। फिर यह हिंदी गद्य शैली के विविध स्वरूपों के क्रमिक विकास का सम्यक् उद्घाटन करता हुआ, उसके विविध उत्थानों का सीमा निर्देश करता हुआ प्रत्येक लेखक की शैलीगत विशेषताओं का सम्यक् अनुपात में विवेचन करता

हुआ आधुनिक युग में जैनेन्द्र तक आया है। भाषा शैली पर विषय का, व्यक्तित्व का और लक्ष्य का प्रभाव पड़ता है, इन संबंधों की ओर भी निर्देश हुआ है। यद्यपि लेखक ने परिवर्धित संस्करण में चंडीप्रसाद हृदयेश, श्री वृन्दावन लाल वर्मा और जैनेन्द्र कुमार जी के ऊपर नया लिखकर अनेक अन्य नये लेखकों को छोड़ दिया है किन्तु भूमिका में स्वीकार किया है कि राजा राधिकारमण, डा० रघुवीर सिंह, महादेवी वर्मा, पन्त, निराला, भगवतीचरण वर्मा, इलाचन्द्र जोशी, अज्ञेय, अश्क आदि की विवेचना विषय को पूर्ण बना देगी। हास्य और व्यंग्य लेखकों के ऊपर भी विचार होना चाहिए, इस बात पर भी लेखक की दृष्टि गयी है। अन्त में कहना यह है कि प्रस्तुत पुस्तक अपने ढंग की नवीन तो थी ही (है भी) विषय प्रतिपादन की दृष्टि से प्रौढ़ भी है। और सबसे बड़ी बात शुक्ल जी के शब्दों में यह है कि—"शर्मा जी की इस कृति के भीतर शैली समीक्षा के प्रवर्तन की बड़ी भव्य संभावना दिखाई पड़ती है।"

प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन

आये दिन कविता, कहानियों और नाटकों पर व्यावहारिक समीक्षाएँ निकलती रहती हैं और सबके प्रतिपादन के ढंग भी स्वच्छन्द होते हैं। नाटकों के विवेचन में भी प्रायः विषय की नवीनता, प्राचीनता, भावों के उत्कर्ष-अपकर्ष, चरित्रों की मनोवैज्ञानिकता और आदर्शवादिता आदि पक्षों पर ही ध्यान रखा जाता है नाटक के 'टेकनीक' की दृष्टि से प्रतिपादन कम होता है। 'टेकनीक' शास्त्रीय वस्तु है। वह पुराना तो है ही, युग की गति के साथ नित नवीन होता चलता है। फिर भी नाटक के वस्तु-संघटन में कुछ ऐसे तत्त्व होते हैं जो किसी न किसी रूप में नाटक में विद्यमान रहते हैं या उन्हें रहना चाहिए। इन तत्त्वों पर भारतीय आचार्यों ने बहुत गंभीरता से विचार किया था। वे तत्त्व हैं—(१) कार्य की अवस्थाएँ (२) अर्थ प्रकृतियाँ (३) संधियाँ। चूँकि इनका संबंध वस्तु-संघटन से है इसलिए ये नवीन या प्राचीन सभी प्रकार के नाटकों की श्रीवृद्धि और स्वरूप निखार में सहायक ही सिद्ध होती हैं किन्तु आजकल रचना और आलोचना दोनों में शास्त्रीय नियमों के पालन की परंपरा पर ध्यान नहीं दिया जाता। डा० साहब ने प्रसाद के

नाटकों का शास्त्रीय दृष्टिकोण से अध्ययन प्रस्तुत कर निश्चय ही आज के लिए एक नया काम किया है ।

लेखक ने स्वीकार किया है कि उसने एक सीमित क्षेत्र में ही नाटकों को परखा है । नाटकों के अनेकानेक पक्षों पर विचार करने से उसके शास्त्रीय विवेचन वाले लक्ष्य में कुछ बिखराव आ जाने की आशंका थी । मैं नहीं समझता कि ऐसा कोई खतरा उपस्थित होता लेकिन हमें तो निर्धारित सीमा के अंतर्गत लेखक द्वारा किये गये आलोचन पर ही विचार करना है । लेखक ने तीन दृष्टियों से प्रसाद के नाटकों पर विचार किया है । "प्रथम चेष्टा तो इस बात की हुई है कि प्रमुख रूपकों की नाटकीय वस्तु में अन्वित ऐतिहासिक अंशों का सुसंबद्ध उल्लेख उपस्थित किया जाय । जहाँ तक हो सका है प्रबन्ध का यह अंश प्रमाण संमत बनाया गया है अवश्य ही इस विषय में ऐतिहासिक मतभेद की जटिलता से पृथक् रहना उचित समझा गया है ।"

"नाट्य-रचना का भारतीय विधान पूर्ण एवं संपन्न हैं । उसके सार्वकालिक तथा सार्वजनीन सिद्धान्त आज भी भारतवर्ष में मान्य और उपादेय हैं ।···प्रसाद के नाटकों में प्राचीन विधान का अभिनव दर्शन बहुत खुल कर होता है । इसी विषय का प्रतिपादन करना प्रस्तुत रचना का दूसरा प्रयास है ।"

"प्रसाद की व्याख्या' तीसरा विषय है जिसका प्रयास प्रस्तुत रचना में किया गया है । यह व्याख्या बुद्धि-पक्ष और हृदय-पक्ष दोनों की है । जहाँ तक हो सका है नाटककार की भावुकता तथा विचारधारा का समन्वय दिखाया गया है और उसकी बहुमुखी प्रतिभा का प्रकाशन हुआ है ।"

इन सीमाओं के भीतर लेखक ने प्रसाद के नाटकों के क्रमिक विकास को ध्यान में रखते हुए उनका अध्ययन किया है । उनके प्रारंभिक नाटकों को (सज्जन, प्रायश्चित, कल्याणी, परिणाम, करुणालय को) परीक्षा काल माना है जिसमें लेखक कोई निश्चित दिशा ग्रहण करने के लिए अपनी शक्ति की परीक्षा कर रहा था । परीक्षा काल के पश्चात् आरंभकाल के नाटक आते हैं जिनमें विशाख और राज्यश्री की गणना की गई है । इन दोनों नाटकों के प्रथम संस्करणों में प्रसाद का परीक्षाकाल का अपरिष्कृत और अभ्यासी नाटककार दिखाई पड़ता है किन्तु इनके दूसरे

संस्करणों से उनका सजग प्रौढ़ कलाकार लक्षित होने लगता है। फिर अजातशत्रु से प्रसाद के नाटकों का प्रौढ़ काल दिखाई पड़ता है। अजातशत्रु, स्कन्द गुप्त, चन्द्रगुप्त, ध्रुवस्वामिनी इसी कोटि में आते हैं। अन्य रूपक में लेखक ने जो अन्यापदेशिक नाटकों को रखा है सो तो ठीक है किन्तु 'विशाख' और 'जन्मेजय का नागयज्ञ' को फुटकल खातें में क्यों डाल दिया है समझ में नहीं आता।

लेखक ने अपनी घोषणा के अनुकूल ही एक निर्दिष्ट सीमा में इन नाटकों पर गहराई से विचार किया है। शास्त्रीय विवेचन के क्षेत्र में नाटकों में अन्वित संधियों, कार्य की अवस्थाओं, अर्थ-प्रकृतियों पर तो विचार किया ही है भारतीय दृष्टि से नाटक के फल, फल भोक्ता और रसों की भी मीमांसा की है। एक बात और, प्रसाद जी ने अपने प्रौढ़ काल के नाटकों में भारतीय रस-पद्धति और पाश्चात्य शील-निरूपण-पद्धति का सुन्दर सामंजस्य किया है। लेखक ने प्रसाद के नाटकों में गृहीत पाश्चात्य तत्त्वों का भी उद्घाटन किया है। वस्तु संघटन की दृष्टि से भारतीय और पाश्चात्य सिद्धान्तों में कुछ अन्तर है। प्रसाद ने दोनों के युगोपयोगी तत्त्वों को मिलाया है, लेखक ने इसका विचार किया है। प्रसाद ने भारतीय रस-पद्धति के भीतर पाश्चात्य शील-वैचित्र्य को बड़ी कुशलता से ग्रहण किया है पुस्तक में इसकी ओर भी निर्देश हुआ है। और हर एक पात्र का चरित्र-चित्रण हुआ है यद्यपि चरित्र चित्रण कहीं-कहीं अनावश्यक रूप से विस्तृत, स्थूल और 'नोट टाइप' हो गया है। संवादों की प्रकृति पर भी प्रकाश डाला गया है। नये युग के प्रभाव से प्रभावित होकर प्रसाद ने अपने नाटकों में भारतीय राष्ट्र के जागरण का अच्छा सामंजस्य किया है और ध्रुवस्वामिनी में समस्या नाटकों की तरह एक समस्या प्रस्तुत की है और उसका समाधान भी। लेखक ने शास्त्रीय पक्षों की मीमांसा के साथ ही साथ इन नवीन उपलब्धियों की परीक्षा की है।

उपसंहार में प्रसाद के समूचे नाटकों के समन्वित व्यक्तित्व की रूपरेखा प्रस्तुत की गयी है। इसमें नाटककार प्रसाद की व्यक्तिगत विशेषताओं पर ही विशेष प्रकाश डालने की चेष्टा है। इतिहास का आधार, कल्पना का योग, परिस्थिति-योजना, विस्तार भार, अंक और दृश्य, वस्तु-विन्यास, पात्र (नायक और प्रतिनायक, पताका नायक, स्त्री

पात्र, आदर्श और यथार्थ, पात्रों की प्रवृत्ति) विदूषक, संवाद (प्रयोजन, संक्षेप और विस्तार, स्वगत भाषण, कार्यगति-प्रेरक और बोधक संवाद, संवाद में कविता का प्रयोग) रस विवेचन (सक्रियता और रस निष्पत्ति, रसावयव, प्रधान एवं सहयोगी रस, हास्य-परिहास, प्रेम सिद्धान्त) देश काल (देश काल के विविध स्वरूप) अन्य विषय (गान, अभिनेयता भाषा, शैली, भारतीय एवं पाश्चात्य पद्धतियों का समन्वय, आधुनिकता, नाटकों में दार्शनिक विचार धारा) का निरूपण पुस्तक की संपूर्णता और उपादेयता में योग देता है ।

लेखक ने सहानुभूति और ईमानदारी से प्रसाद के नाटकों के गुण-दोषों का दिग्दर्शन कराया है । आज प्रसाद के पात्रों की मनोवैज्ञानिकता के संबंध में प्रश्न किया जा रहा है, उनके वस्तु-संघटन के शैथिल्य की ओर अंगुली उठाई जा रही है और नाना प्रकार के आक्षेप किये जा रहे हैं । लेखक ने प्रसाद की इन सभी कमजोरियों की ओर निश्चय ही संकेत किया है किन्तु प्रसाद की अमूल्य देनों को कृतज्ञता के साथ स्वीकारा भी है । पात्रों की मनोवैज्ञानिकता आदि पर विचार करते हुए लेखक ने स्पष्ट किया है कि प्रसाद मूलतः भारतीय आदर्शवाद और रसवाद के समर्थक थे । अन्त में इतना ही कहना है कि प्रस्तुत समीक्षा अपने ढंग की अकेली है ।

हिन्दी गद्य के युग निर्माता

प्रस्तुत पुस्तक लेखक की नवीनतम कृति है । इसमें हिंदी गद्य के विभिन्न रूपों को संवारने वाले विभिन्न साहित्यकारों के जीवन वृत्त, व्यक्तित्व और प्रमुख साहित्यिक कृतियों का समीक्षात्मक परिचय प्रस्तुत किया गया है । जहाँ तक इन साहियत्कारों की शैलियों का संबंध है, हम 'हिन्दी गद्य शैली का विकास' में उन्हें देख चुके हैं । किन्तु इसमें साहित्यिक कृतियों की आलोचना, तथा लेखकों के अन्यान्य साहित्यिक कार्यों का परिचय नये विषय हैं । भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, महावीर प्रसाद द्विवेदी, श्यामसुन्दर दास, रामचन्द्र शुक्ल, जयशंकर प्रसाद और प्रेमचन्द्र प्रस्तुत पुस्तक के आलोच्य हैं । इन सभी लेखकों पर अलग-अलग से हिन्दी साहित्य में काफी विचार हो चुका है । इस पुस्तक की यदि कोई अपनी मौलिकता है तो यही कि ये सब एक साथ दिखाई पड़े हैं । इस कार्य में आज के अनेक अच्छे साहित्यकारों का अभाव खलता है ।

यदि हम साहित्यकारों की कृतियों पर की गयी समीक्षा पर दृष्टि डालते हैं तो भी समीक्षक की किसी नवीन उपलब्धि का परिचय नही मिलता है। काफी गंभीर और विस्तृत समीक्षाएँ उपर्युक्त साहित्यकारों पर आ चुकी हैं। इस पुस्तक के मूल्यांकन के संबंध में इतना ही कहना है कि यह परिचयात्मक अधिक है विवेचनात्मक कम।

पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र

आचार्य शुक्ल की समालोचना की परंपराओं के दो रूप लक्षित होते हैं। एक परंपरा के अंतर्गत आनेवाले वे लोग है जो आचार्य शुक्ल की मान्यताओं को या तो ज्यों का त्यों स्वीकार कर लेते हैं या उनकी व्याख्याएँ प्रस्तुत करते हैं या उनके आधार पर पुस्तकों की व्यावहारिक समालोचनाएँ मात्र प्रस्तुत करते हैं। दूसरी परंपरा के लोग वे हैं जो शुक्ल जी की सी दृढ़ता, आत्म विश्वास और गंभीर चिंतन से शुक्ल जी की ही भाँति सिद्धान्तों के क्षेत्र में मौलिक उद्‌भावनाएँ करते हैं, रचनाओं की नवीन व्याख्याएँ करते हैं, भले ही ये नई मान्यताएँ शुक्ल जी के विरोध में जाती हों। पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र पहली परंपरा में आते हैं।

आलोचन सिद्धान्तों के क्षेत्र में मिश्र जी की अपनी कोई मौलिक देन नहीं है। वे साहित्य में रसवाद को माननेवाले हैं, उन्होंने रसों तथा अन्य काव्य-संप्रदायों की व्याख्याएँ पुराने लक्षण-ग्रंथों के आधार पर की हैं। मिश्र जी संस्कृत के पंडित हैं अतएव संस्कृत के आचार्यों के मतों को बड़ी ईमानदारी और स्पष्टता से प्रस्तुत करते हैं। कहा जा सकता है कि वे इन पुरानी विपुल सामग्रियों का उपयोग नवीन युग के निर्माण के लिये नहीं वरन् परिचय-ज्ञान प्रस्तुत करन के लिये करते हैं। सका कारण यह है कि मिश्र जी साहित्य को नये और पुराने विशेषणों से जोड़ने के पक्षपाती नहीं हैं। वे उसे एक शाश्वत भाव धारा का अभिव्यंजक मानते हैं। पाश्चात्य विचारों का भी ग्रहण मिश्र जी ने उसी मात्रा में किया है जितनी मात्रा में वे भारतीय रसवाद के समीप जान पड़ते हैं। बाकी को उच्च साहित्य की दृष्टि से त्याज्य समझते हैं। एक बात अवश्य है कि मिश्र जी अपने पक्ष का समर्थन और पर-पक्ष का निराकरण तार्किक आधार पर करते हैं और समर्थन और

निराकरण के अवसरों पर अनेकबार शुक्ल जी की मान्यताओं को दुहराते जान पड़ते हैं।

आचार्य शुक्ल की ही भाँति मिश्र जी भी साहित्य को मनोरंजन का साधन मात्र न मानकर लोक-हित-साधक मानते हैं। साहित्य वैयक्तिक रुचियों का नहीं, सामाजिक भाव-भूमियों का प्रतिफलन करनेवाला है। मिश्र जी यहाँ भी शुक्ल जी की सामाजिक मर्यादाओं और नीतियों के समर्थक दिखाई पड़ते हैं। ये लोग सामाजिक रुचियों को साहित्य में अंकित देखना चाहते हैं और साहित्य के ऊपर युग विशेष के अनिवार्य प्रभाव को भी स्वीकार करते हैं। इससे यह भ्रम न होना चाहिए कि ये बदलते हुए युगों और समाजों की नवीन-नवीन प्रवृत्तियों को खुले हृदय से साहित्य में देखने के पक्षपाती हैं वरन् कई अवसरों पर नवीन तत्त्वों के प्रति असहिष्णु भी होते दिखाई पड़ते हैं। इसका कारण यह है कि ये लोग सामाजिक भावों और लोक-हित के रूपों को एक शाश्वत वस्तु के रूप में स्वीकार करते हैं और उन सबका समाहार भारतीय रसवाद में कर लेते हैं। रस साहित्य की आत्मा तो है ही साथ ही साथ इसमें सामाजिक मंगल का प्रयास भी अंतर्निहित है। मिश्र जी साहित्य को इसी रूप में लोक-हित-साधक मानते हैं। इसीलिये ये प्रबन्ध काव्य के और प्रबन्ध काव्यों में भी प्राचीन ख्यात नायकों के चरित्रों को आलंबन बनाने के पक्षपाती हैं। किसी युग की, समाज की अपनी समस्याएँ होती हैं और साहित्य नये-नये युग की समस्याओं और प्रवृत्तियों के अनुकूल नवीनता ग्रहण करता है इस बात का पूरी तरह से समर्थन न कर सकने के कारण मिश्र जी भी छायावादी, प्रगतिवादी कविताओं को सहानुभूति नहीं दे सके हैं। छायावादी और प्रगतिवादी कविताओं में भी रीतिकाल को खोज लेना उनके लिये सरल है इसका कारण यह है कि वे संसार का विकास चक्रवत गति से मानते हैं। कुछ निश्चित प्रवृत्तियों की आवृत्ति हुआ करती है। प्रतिक्रिया स्वरूप दूसरी प्रवृत्तियाँ आती हैं और उनकी प्रतिक्रिया के फलस्वरूप पहली प्रवृत्तियाँ फिर लौट आती हैं।

रसों के संबंध में शुक्ल जी ने जो विचारणायें स्थिर की थीं मिश्र जी उन्हीं को दुहराते हैं अपनी ओर से कोई नया चिंतन प्रस्तुत नहीं करते। जैसे काव्य की रसानुभूति और प्रत्यक्षानुभूति में कोई अन्तर

नहीं। काव्य की अलौकिकता प्रत्यक्षानुभूति से मूलतः भिन्न वस्तु नहीं है। 'शास्त्रों में अलौकिक या 'ब्रह्मानन्द सहोदर' शब्द केवल रसानुभूति की स्थिति और प्रक्रिया समझाने के लिए प्रयुक्त हुए हैं उसे प्रत्यक्षानुभूति से एकदम पृथक् घोषित करने के लिए नहीं[1]।' इसीलिये मिश्र जी भी रस को सुख-दुखमय मानते हैं।

'काव्य और अध्यात्म' पर विचार करते हुए मिश्र जी शुक्ल जी से भिन्न नहीं है। इस प्रसंग में क्रोचे की की हुई आलोचना भी शुक्ल जी जैसी है। इसी प्रकार 'काव्य और सदाचार,' 'काव्य और कला,' 'काव्य और सौन्दर्य,' 'काव्य और व्यक्ति,' 'काव्य का सौन्दर्य,' 'काव्यगत आनन्द,' 'काव्य और व्यक्ति,' 'काव्य और प्रकृति,' 'प्रभाववादी समीक्षा,' 'आलोचना के प्रकार,' 'काव्य और रहस्यवाद,' 'काव्य और लोक जीवन,' आदि विषयों पर इन्होंने जो विचार दिये हैं वे मिश्र जी के अपने न होकर शुक्ल जी के विचारों की छायाएँ हैं।

इतिहास और व्याख्या

आलोचन सिद्धान्त के पक्ष में मिश्र जी की कोई मौलिक देन भले ही न हो किन्तु इतिहास के एक सीमित क्षेत्र में (अर्थात् रीतिकाल में) तथा रीतिकालीन कविताओं और उनकी प्रवृत्तियों की व्याख्या के क्षेत्र में उनका ऋण हिन्दी साहित्य को स्वीकार करना ही पड़ेगा। हिन्दी के रीतिकाल की प्रवृत्तियों के स्वरूपों और उनके उद्गम-स्रोतों के संबंध में आपने व्यापक और गहरी छान-बीन तथा खोज प्रस्तुत की। वे विवाद-ग्रस्त हो सकती हैं लेकिन उनमें आपका भरपूर अपनापन है। उन प्रवृत्तियों के विश्लेषण के साथ-साथ कवि विशेष की कविताओं का मार्मिक विवेचन कर आपने रीतिकाल को प्रकाशित किया।

मिश्र जी ने इतिहास के काल विभाजन के सिद्धान्त पर विचार करते हुए यह सिद्ध किया कि कृति, कर्ता और पद्धति के आधार पर किया हुआ वर्गीकरण शुद्ध और व्यापक नहीं हो सकता। उनके मत से साहित्य के इतिहासों में विभाजन और नामकरण का सर्वोत्कृष्ट ढंग वर्ण्य विषय की व्याप्ति के अनुसंधान से संबद्ध है। 'पर वर्ण्य की दृष्टि से भी

---

[1] वाड्मय विमर्श, पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र, पृ० १८१-८२।

वस्तुतः दो पक्ष हो जाते हैं—एक वाह्य और दूसरा आभ्यन्तर। हिन्दी के आदि काल को ही लीजिए। इस काल में वीर पुरुषों की गाथाओं का वर्णन करनेवाले ग्रंथ अधिक मिलते हैं। अतः वीरगाथा उनका वर्ण्य हुआ अर्थात् इन ग्रंथों में वाह्यार्थ वीर कथा है। पर कवियों ने जिस भाव या रस की अभिव्यक्ति लक्ष्य करके ये गाथाएँ काव्यबद्ध कीं वह भी तो वर्ण्य ही है। वह वाह्यार्थ नहीं पर काव्यार्थ तो है ही अर्थात् प्रवृत्ति का मानस या आभ्यन्तर पक्ष है। अतः इस दृष्टि से यदि आदिकाल को वीरगाथा काल न कह कर 'वीर रस काल' या वीर काल कहा जाय तो कोई हानि नहीं। भारतीय दृष्टि से साहित्य या काव्य का प्रतिपाद्य भाव या रस ही होता है। इसी से उसमें कलाओं के मानस पक्ष का प्रसार दूर तक दिखाई पड़ता है अर्थात् उसकी व्याप्ति प्रकृत्या अधिक होती।.........यदि रीतिकाल नाम की ओर देखते हैं तो उसमें रीति अर्थात् रस, अलंकार, शब्द शक्ति, नायक नायिका भेद, पिंगल आदि काव्य-रीति अवश्य वर्ण्य विषय ही है पर रीति शब्द वाह्यार्थ का ही बोधक है आभ्यन्तरार्थ का नही। उस काल का आभ्यन्तर वर्ण्य श्रृंगार था। रीति की सीमा में जितनी कृतियाँ समाविष्ट हैं वे अधिकतर श्रृंगार की हैं। थोड़ी सी वीर रस या शुद्ध भक्ति की रचनाएँ श्रृंगार की सीमा में आबद्ध नहीं होतीं। जिन्होंने नवरस का प्रतिपादन लक्ष्य बनाया उन्होंने भी श्रृंगार की व्यापक प्रवृत्ति के कारण विस्तार से श्रृंगार का ही वर्णन किया[1]।'

इस प्रकार मिश्र जी ने रीतिकाल को श्रृंगार काल नाम देकर उन अनेक कविताओं को उस काल की मुख्य धारा में समाविष्ट किया जिन्हें व्यवस्था न कर सकने के कारण शुक्ल जी आदि इतिहासकारों ने फुटकल खाते में डाल दिया था। इतिहास के काल विभाजन के लिये वर्ण्य-विषयों के आभ्यंतर पक्ष को आधार मानना निर्भ्रान्त है किन्तु एक बात विचारने की यह है कि वर्ण्य-विषयों के आभ्यन्तर पक्ष को सदैव किसी एक भाव या रस में बाँधकर देख सकना संभव नहीं प्रतीत होता। आभ्यंतर प्रवृत्तियाँ कई रूपों में देखी जा सकती हैं, भाव में, जीवन-दृष्टि में, युग-चेतना में। यदि ऐसा नहीं है तो फिर छायावादी, प्रगतिवादी, प्रयोगवादी कविताओं को किस रस की कविता कहेंगे? यदि रसों के

---

[1] घन आनन्द, पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र, पृ० ५।

ही आधार पर काल-विभाजन किया जायगा तो किसी युग की सामाजिक चेतना का आभास नहीं मिलेगा क्योंकि रस तो सीमित है उन्हीं आधारों पर नाम रखे जायँगे और संभव है एक रस के नाम पर दो-दो तीन-तीन बार युगों का नामकरण करना पड़े। और दूसरी बात यह है कि नये साहित्य में कोरे-कोरे एक रस की छानबीन करनेवालों को निराश होना पड़ेगा।

मिश्र जी ने श्रृंगार काल की कविताओं के तीन अन्तर्विभाग किये। (१) रीतियुक्त (२) रीतिसिद्ध (३) रीतिमुक्त। रीतियुक्त या रीतिबद्ध कवि वे हैं जो रीति के बँधे बँधाये ढर्रे पर कविता करते थे जिनकी शैली और वस्तु दोनों में रूढ़ि का अनुसरण मात्र होता था, कवि की वैयक्तिक छाप का आभास तक नहीं दिखाई पड़ता था। ये रस अलंकार नायिका भेद आदि के लक्षणों के उदाहरण स्वरूप कविताएँ प्रस्तुत करते थे। अतः इन कवियों में काव्य-सौन्दर्य स्वच्छन्द होकर नहीं उभर पाता था, उनमें हृदय की गहराई और व्यापकता के स्थान पर बौद्धिक जटिलता लक्षित होती है। रीतिसिद्ध कवियों में उन कवियों को रखा है जो रीतिबद्ध कवियों की अपेक्षा कुछ मुक्त होकर अपना रास्ता तै कर रहे थे। ये लोग रीतिबद्ध कवियों की भाँति लक्षण और लक्ष्य के फेर में न पड़ कर केवल लक्ष्य निर्माण में ही तत्पर थे। इसलिये इनके विषय और शैली दोनों में अपेक्षाकृत व्यापकता और अपनापा दिखाई पड़ता है। रीतिसिद्ध ये इसलिए हैं कि लक्षण दे देकर लक्ष्य-निर्माण की प्रवृत्ति न रखते हुए भी ये अपने ध्यान में लक्षणों को अवश्य रखते थे। इसलिए बिहारी आदि रीतिसिद्ध कवियों की कविताओं को हम चाहें तो लक्षणों पर घटा सकते है। रीतिमुक्त कवि इन दोनों की अपेक्षा अधिक स्वच्छन्द थे क्योंकि उन्होंने लक्षण तो प्रस्तुत नहीं ही किये उन्हें ध्यान में भी नहीं रखा। ये हृदय की पुकार पर कविता लिखने वाले कवि थे। ये लक्षणों की छटा या दिमागी कसरत दिखाने के फेर में उछल-कूद करने वाले बनावटी कवि नही थे वरन् हृदय की व्यथा और सच्ची अनुभूति को स्वर देने वाले कवि थे। इन कवियों की दृष्टि अपनी थी, अनुभूति अपनी थी। इसलिये इनकी कविताओं में वैयक्तिक छाप है। इन्होंने वस्तु और शैली दोनों का विस्तार और परिमार्जन किया। तो भी एक बात कह देना आवश्यक है कि इनका

भी विषय मुख्यतः श्रृंगारिक ही रहा। लेकिन श्रृंगार के क्षेत्र में इन्होंने बनावटीपन नहीं आने दिया। "स्वच्छन्द कवियों ने अपना वैभव केवल हृदय की उदारता और प्रेम के निर्मल रूप में ही नहीं दिखलाया, भाषा और अभिव्यंजना शैली में भी दिखलाया।"

रीतिकालीन प्रवृत्तियों का विश्लेषण

किसी काल के साहित्य की प्रवृत्तियों की छानबीन करने के लिये कई आधारों की आवश्यकता होती है। (१) तत्कालीन सामाजिक प्रवृत्तियाँ क्या थीं जिनकी अभिव्यक्ति साहित्य में हुई ? (२) वह अमुक प्रवृत्ति किसी प्राचीन प्रवृत्ति का विकसित रूप है क्या ? (३) तत्कालीन समाज की प्रवृत्तियाँ किसी विदेशी समाज की प्रवृत्तियों के संपर्क में आकर प्रभावित हो रही हैं क्या ? मूलतः हम इन्हीं आधारों पर साहित्य की प्रवृत्तियों का परीक्षण करते हैं और होता यह है कि कभी-कभी ये तीनों बातें एक में घुली-मिली दिखाई पड़ती हैं और कभी कुछ अलग-अलग। इनके अतिरिक्त भी अनेक प्रकार के प्रभाव साहित्य पर पड़ते हैं क्योंकि साहित्यकार जागरूक और संवेदनशील मनुष्य होने के कारण हर जगह से प्रभाव ग्रहण करता है। मिश्र जी ने रीतिकालीन कविताओं को इन्हीं आधारों—तत्कालीन लोक रुचि, बाहरी प्रभाव, परंपरा पर देखा है।

तत्कालीन लोक रुचि

मिश्र जी ने यह दिखाया है कि रीतिकाल की श्रृंगार-भावना-प्रधान कविता उस काल की लोक रुचि की श्रृंगारिकता का प्रतिबिम्ब है। उस काल के इन कवियों ने अपने काल की हीन वृत्तियों के परिमार्जन और उदात्तीकरण के लिए भले ही कोई प्रयास न किया हो किन्तु उनकी कविताएँ तत्कालीन लोक रुचि को अभिव्यक्त अवश्य करती हैं। शुक्ल जी के ही समान इनका भी मत है कि उस काल में मुगलों का शासन दृढ़ हो गया था। राजपूत अपनी बिखरी हुई शक्ति का पराजय स्वीकार कर चुके थे। उनमें शौर्योन्मेष दिखाने का हौसला नहीं रह गया था। यद्यपि हिन्दू और मुसलमान जातियों की वृत्तियों के मेल का प्रयत्न अलाउद्दीन के राज्य काल के ही पीछे से होने लगा था पर राजकीय उपप्लव और राजपूतों की शक्ति के प्रदर्शन कभी-कभी देश में अशान्ति

की लहरें उठा देते थे और इस प्रयत्न में बाधायें आ खड़ी होती थीं। किन्तु पद दलित जाति, अपने गौरव एवं एकत्व को भूल बैठने वाली हिन्दू जाति बहुत दिनों तक विदेशियों की संघटित शक्ति का सामना नहीं कर सकी, उसे नतमस्तक होना ही पड़ा। विदेशी भावों का प्रभाव भी देश में फैल रहा था। संमान और धन के लोलुप विद्वान दिलीश्वर की जी हजूरी करने के लिए दिल्ली का रास्ता नापने लगे थे। विश्राम की निद्रा में उन्होंने धीरे-धीरे श्रृंगार के स्वप्न देखने आरभ कर दिये। राजदरबार प्राचीन काल में श्रृंगार और शौर्य दोनों के केन्द्र-स्थल हुआ करते थे। अब ये केवल श्रृंगार के केंद्र बनने लगे। मुसलमानों ने यहाँ जमकर अपनी विलासिता और श्रृंगार का भी प्रसाद लोगों में बाँटना आरंभ किया। धीरे-धीरे मुसलमानी हवा हिन्दुओं के हृदय में घर करने लगी और उसने श्रृंगार में और उद्दीप्ति उत्पन्न कर दी।

मिश्र जी तथा शुक्ल जो ने प्रायः राजनीतिक आन्दोलनों या उच्च वर्गों की रुचि को ही लोक-रुचि का पर्याय मान लिया है। रीतिकालीन कविता में दिखाई पड़ने वाली श्रृंगार भावना तत्कालीन लोक-रुचि का परिचायक है यह बात किसी भी प्रकार सिद्ध नहीं होती। मिश्र जी ने स्वयं स्वीकार किया है कि रीतिकालीन कविताओं की श्रृंगार भावना का संबंध राजदरबारों की विलासी मनोवृत्ति से था। वे कविताएँ राजाओं और सामंतों के मनोरंजन के लिए लिखी जाती थीं। उस काल में जनता भी विलासिनी हो गई थी या हर एक व्यक्ति राजाओं की तरह अनेक उपपत्नियाँ रखता था, भोग विलास की उसे उतनी ही सुविधा थी जितनी राजाओं को यह कैसे कहा जा सकता है ? जनता पराभूत थी, विलासी राजाओं के भोग के लिए उपकरण एकत्र करने में लोगों को अपना जीवन खोखला कर देना पड़ता रहा होगा। विपन्नता असंतोष से उनका जीवन आक्रान्त रहा होगा। कैसे कहा जा सकता है कि वे भोग विलास में डूबे हुए थे। निश्चय ही रीतिकालीन कविताएँ दरबारी कविताएँ हैं लोक-रुचि की प्रतिनिधि नहीं।

श्रृंगार काल (रीतिकाल) की कविताओं की श्रृंगार-भावना का संबंध परंपरा से भी जोड़ा गया है। मिश्र जी ने यह दिखाया है कि 'भारतीय साहित्य में जब से मुक्तकों का प्रचार बढ़ा तभी से नीति की उक्तियों के साथ-साथ श्रृंगार की उक्तियाँ भी बढ़ने लगीं। मुक्तकों

में रसाभिव्यक्ति का वैसा अवसर नहीं प्राप्त होता जैसा प्रबन्ध में। इसी से इसके शास्त्रीय अंगों के साथ ही साथ लोगों को रिझाने के लिए कवि लोग ऐसे वर्ण्य विषय भी काव्य में गृहीत करने लगे जो रस की पवित्र एवं व्यापक दृष्टि से शृंगार के आभास मात्र थे और कहीं-कहीं तो उन्हें विरोधाभास ही कहना समीचीन प्रतीत होता है। शृंगारी मुक्तकों का आधिक्य संस्कृत में ही हो चला था। प्राकृत और अपभ्रंश में आकर शृंगार की घोरता तो दूर नहीं हो गई, पर काव्य का आलंबन उच्च वर्ग से हटकर साधारण जीवन बनने लगा। वर्ण्य विषय के इस विस्तार से कहने को एक क्षेत्र तो मिला, पर साथ ही ऐसी-ऐसी बातें भी आने लगीं जिन्हें यदि रसिक बुरा न मानें तो 'ग्राम्य' कहा जा सकता है। प्राकृत और अपभ्रंश की जिस परंपरा को पकड़ कर बिहारी ने अपनी काव्य प्रतिभा का चमत्कार दिखाने का प्रयास किया है, उसी के प्रभाव के कारण इनकी कविता में थोड़े ऐसे प्रसंग भी आए हैं जो रस के विचार मे अच्छे नहीं कहे जा सकते[१]।"

मिश्र जी ने शृंगार काल की कविताओं का संबंध प्राकृत और अपभ्रंश की मुक्तक कविताओं से जोड़ा लेकिन अपभ्रंश में ये प्रवृत्तियाँ कैसे आई और किन रूपों में वे विकास करती-करती शृंगार काल की कविताओं तक पहुँची इसका मार्मिक विश्लेषण शेष रह गया। हाँ, इन कवियों ने पुरानी शृंगारिक कविताओं से प्रभावित होकर उनसे मिलती-जुलती जो कविताएँ लिखीं उनको पुरानी के साथ रखकर उनके संबंधों को अवश्य दिखाया गया है।

मुक्तकों, सतसइयों आदि की परंपरा का भी विश्लेषण किया गया है। और इस क्रम में आर्य सप्तशती, गाथा सप्तशती और अमरुक शतक आदि ग्रंथों पर विचार हुआ है।

शृंगार काल की कविताओं को बाहरी प्रभाव की छाया में अधिक देखा गया है। इस काल की कविता का स्वर और रूप दोनों फारसी कविता से अत्यधिक प्रभावित जान पड़ते हैं। मिश्र जी ने यह दिखाया है कि बादशाहों के दरबारों में फारसी और हिन्दी के कवि साथ-साथ रहते थे। फारसी कविता की होड़ में हिन्दी वालों को भी चमत्कार

---

[१] बिहारी की वाग्विभूति, पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ० १७।

पैदा कर राजाओं को और दरबारियों को प्रभावित करने की धुन सवार थी। इसलिए फारसी कविता की बहुत सी बातें हिन्दी कविता में घुसने लगी थीं।

मुक्तक कविताओं का बाहुल्य, शृंगारिक कविताओं की बाढ़, प्रेम की

प्रसंगों का अधिक प्रचलन, प्रिय की निष्ठुरता का चित्रण, कोरे चमत्कारों की सृष्टि, इन सब पर विदेशी प्रभाव लक्षित होता है। भावों की ही नहीं, भाषा की सफाई और मुहावरों के प्रयोग भी विदेशी छाप से युक्त हैं। कितने ही ऐसे आलंकारिक प्रयोग कुछ कवियों में पाये जाते हैं जो मुसलमानी काव्य में मिलते हैं।

मिश्र जी ने इस बात पर भी विचार किया है कि शृंगार काल के कवियों ने विदेशी प्रभावों को प्रायः अपने ढंग से ग्रहण किया। अर्थात् विदेशी कविताओं की होड़ में उन्होंने अपनी परम्परा के आधार पर ही चमत्कारों की सृष्टि की। उनके छन्द अपने रहे, उनके शृंगार के आलम्बन आश्रय (श्रीकृष्ण, राधा, गोपियाँ) अपने रहे, उनके शास्त्रीय रंग-ढंग अपने रहे।

शृंगार काल की सामान्य प्रवृत्तियों के विवेचन के अतिरिक्त मिश्र जी ने उस काल के कुछ कवियों पर अलग-अलग काम किया है। उन कवियों की जीवनियों, उनकी धाराओं, उन धाराओं की परम्पराओं, उनके काव्यों के साहित्यिक सौन्दर्यों तथा अर्थों का विश्लेषण किया है। मिश्र जी का यह कार्य उनकी समस्त आलोचनात्मक कृतियों में अधिक मौलिक और महत्वपूर्ण है। लाला भगवान दीन की शिष्य परम्परा मे संस्कृत होने के कारण मिश्र जी में अर्थ-विश्लेषण की बहुत सुन्दर क्षमता है। इस प्रकार उन्होंने मुख्यतया बिहारी, भूषण, घनानन्द, केशव पर अलग-अलग पुस्तकें लिख कर बहुत बड़े अभाव की पूर्ति की है।

इन कवियों की जीवनियों का उल्लेख लेखक ने तथ्य परिचय के लिए तो किया ही है साथ-साथ उसका यह भी उद्देश्य रहा है कि इन कवियों की जीवनियों से उनके स्वभाव की वे विशेषताएँ भी लक्षित होती चलें जो इनकी कविताओं पर प्रभाव डाले हुए हैं। व्याख्यात्मक समीक्षा के लिए कवि का व्यक्ति-परिचय भी आवश्यक होता है।

विहारी

कवि की समसामयिक राजनीतिक और सामाजिक (जिनसे इन कवियों का सीधा सम्बन्ध था) दशा का उल्लेख और उनका उसकी कविताओं पर प्रभाव की परीक्षा हुई है। परम्पराओं का संक्षिप्त और चलता सा उल्लेख भी है।

फिर कवि की अपनी विशेषताओं की मार्मिक व्याख्या प्रस्तुत की गई है। उसके भाव-पक्ष और रूप-पक्ष दोनों की समीक्षा की गई है। इस प्रकार 'सतसई की परम्परा', 'दोहे की समास-पद्धति', 'बिहारी की जानकारी', 'अलंकार योजना', और 'अप्रस्तुत-विधान', 'रूप चित्रण और अनुभावविधान', 'प्रेम का संयोग पक्ष', 'भक्ति भावना', वाग्वैदग्ध्य और उक्ति वैचित्र्य, भाषा, दोषदर्शन, बिहारी का प्रभाव, 'सतसई सन्बन्धी साहित्य' शीर्षकों से बिहारी सतसई का गंभीरता से विचार किया गया है। इन्होंने बिहारी को रीतिसिद्ध कवियों की श्रेणी में रक्खा है और उनकी रीतिबद्ध सीमाओं और स्वच्छन्द विस्तारों का मार्मिक उद्‌घाटन किया है। पद्मसिंह शर्मा, मिश्रबन्धु, लाला भगवानदीन, कृष्ण बिहारी मिश्र आदि बिहारी पर बहुत विस्तार से विचार कर चुके थे लेकिन सबकी आलोचनाएँ प्रभावात्मक पद्धति पर निर्णयात्मक थीं वे राग-द्वेष से प्रेरित थीं। मिश्र जी ने पहले-पहल इतने गाम्भीर्य और विस्तार से बिहारी की व्याख्यात्मक समालोचना प्रस्तुत की।

भूषण रीतिबद्ध कवियों की श्रेणी में आते हैं। इसलिए रीतिबद्ध कवि की समीक्षा प्रस्तुत करने के लिए मिश्र जी ने 'भूषण' ग्रन्थ में रीतिबद्ध काव्य धारा का वृहद् विवेचन किया तथा उसकी परम्परा की ओर भी निर्देश किया। इसी क्रम में उन्होंने अलंकारों की उपयोगिता और औचित्य, लक्षण ग्रन्थों का निर्माण, लक्षण ग्रन्थकारों का उत्तरदायित्व आदि पर तो विचार किया ही साथ ही साथ संस्कृत साहित्य में उपलब्ध रीतिशास्त्र के स्वरूप पर भी एक दृष्टि डाली, किन्तु ये तो सामान्य बाते हैं इनमें कोई विशेषता नहीं। मिश्र जी ने संस्कृति रीति शास्त्रों के कभी सही कभी गलत अनुवादों को लेकर बनते हुए हिन्दी रीतिशास्त्रों के उथलेपन पर भी विचार किया तथा उनका क्रमबद्ध इतिहास निर्मित किया। हिन्दी साहित्य में यह कार्य भी नया नहीं था क्योंकि इस विषय पर पहले ही पुस्तकें आ चुकी थीं और प्रतिपादन

का स्वर भी मिश्र जी का कोई नया नहीं है, शुक्ल जी के मतों का विस्तार है।

लेकिन हमें रीतिशास्त्र के इस विवेचन की महत्ता इस रूप में स्वीकार करनी है कि यह भूषण की कविताओं को समझने के लिए पृष्ठभूमि स्वरूप है। भूषण भी रीतिबद्ध कवियों की श्रेणी में थे। लक्षण देकर लक्ष्य-निर्माण किया करते थे। इसलिये उनके लक्षणों और लक्ष्यों में भी वे सीमाएँ हैं जो औरों में हैं। लेकिन भूषण रीतिबद्ध कवियों की श्रेणी में आते हुए भी आलंबन की भिन्नता के कारण औरों से अलग हैं। इस दृष्टि से भी भूषण का विचार हुआ है। वे वीर रस के कवि हैं। अतः लेखक ने हिन्दी में वीर काव्य की परम्परा का उल्लेख करते हुए उसमें भूषण का स्थान निश्चित किया है। मिश्र जी ने वीर कविताओं के तीन उत्थान माने हैं। पहले उत्थान में रासो नाम से लिखे जाने वाले प्रबन्ध काव्य तथा आल्हा आदि जैसे वीर गीत आते हैं। इन दोनों के स्वरूपों पर संक्षिप्त विचार भी हुआ है। दूसरे उत्थान में पाँच प्रकार की पद्धतियाँ स्वीकार की गई हैं (१) शुद्ध वीर काव्य (२) रासो पद्धति का शृंगार मिश्रित वीर काव्य (३) वीर देव काव्य या भक्ति भावित वीर काव्य (४) अनूदित वीर काव्य (महाभारत ऐसे वीर काव्यों के अनुवाद) (५) दरबारी कवियों का प्रकीर्ण वीर काव्य। भूषण की कविता शुद्ध वीर काव्य के अन्तर्गत आती है। तृतीय उत्थान में राष्ट्रीय गौरव को लेकर लिखी जाने वाली कविताएँ हैं जिनका आरंभ भारतेंदु जी से हुआ था।

"भूषण की कविता मुक्तक है। इसकी आलोचना भाषा, भाव और वर्णन-शैली की दृष्टि से की जा सकती है। पर इनकी कविता का संबंध इतिहास से भी है। वर्ण्य ऐतिहासिक होने से उस दृष्टि से भी विचार होना चाहिए। 'शिव भूषण' रीति शास्त्र है, उसमें अलंकारों का निरूपण है, इसलिये अलंकार शास्त्र की दृष्टि से भी इसका विश्लेषण आवश्यक है। भूषण की आलोचना में वीर काव्य के प्रमुख कवियों से उनकी तुलना भी की जा सकती है[१]।" लेखक ने अपनी ऊपर की घोषणा के अनुकूल उपर्युक्त सभी पक्षों पर मार्मिकता से विचार किया है और भूषण के नाम पर प्रचलित ग्रंथों के तथ्यातथ्य का विचार

---

[१] भूषण, पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र, पृ० ४४।

कर यह निष्कर्ष निकाला है कि उनका अब केवल एक ही ग्रंथ प्राप्त है—'शिवभूषण' या 'शिवराज' भूषण, शेष उनकी वीर श्रृंगार रसों की प्रकीर्ण रचना है। अन्त में मिश्र जी ने 'शिवभूषण' परिशिष्ट और प्रकीर्णक शीर्षक से भूषण की कविताओं का प्रामाणिक संग्रह प्रस्तुत किया है तथा शब्दार्थ देकर कठिन कविताओं को प्रेषणीय बना दिया है।

घनानंद

घनानन्द श्रृंगार काल की स्वच्छन्द (रीति युक्त) धारा के कवि थे। बिहारी और भूषण की आलोचना में लेखक ने उनकी धाराओं की परंपराओं का विश्लेषण किया है। उसी प्रकार घनानन्द की स्वच्छन्द धारा (श्रृंगार काल की तीसरी धारा) के स्वरूप और परंपरा का भी लेखक ने परीक्षण किया है। "स्वच्छंद का अर्थ है वाह्य बन्धन अर्थात् रीति के बन्धन से मुक्त। इस धारा के कवि मनोगत वेग के प्रवाह में काव्य रचते थे। इसलिए इनकी रचनाओं में प्रेम के जिस रूप की स्वीकृति थी वह जीवनगत बन्धनों के त्याग का भी संकेत देने वाला था। रीतिबद्ध रचयिता नायक-नायिका के प्रेम की जो चर्चा करते थे उसमें कहीं-कहीं कथन शैली की विशेषता के भी दर्शन अवश्य होते थे पर उसमें न तो प्रेम के जीवन गत स्वच्छन्द रूप के दर्शन कहीं होते हैं और न काव्य पद्धति की साहित्यिक स्वच्छन्दता के ही[१]।"

"रीतिबद्ध कवियों ने दूती, सखी आदि को बीच में डाल कर प्रेम का लम्बा चौड़ा संग्राम खड़ा किया है। गुरुजनों के बीच प्रेम के संकेतों का विस्तार से उल्लेख किया है। लोक भय या लोक लाज को मध्य में रखकर प्रेम में बहुत से बँधे बधाए खेल दिखलाए हैं। सहेट की लुकाछिपी की लीलाएँ, गुप्ता की गोपन विधियाँ, विदग्धा के विद्ग्धालाप, अभिसारिका की साज सज्जा, छल-कपट से भरे खिलवाड़ में ही मनोरंजन की सामग्री विशेष खोजी है। ऐसी बन्धनमय प्रेम लीला रीतिमुक्त कवियों को नहीं रुच सकती थी। वे लोक-भय या लोक-लाज का तिरस्कार करके साहसपूर्वक प्रेम की एकनिष्ठता में लीन होने वाले थे। इसी से इन खेल तमाशों से उन्होंने अपने को अलग रखा है। श्रीकृष्ण और राधा या गोपियों का जैसा उन्मुक्त जीवन था वैसा ही बाधा बन्धन

---

[१] घन आनन्द, पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र, पृ० २९–३०।

रहित सरल सीधा प्रेम मार्ग इन स्वच्छन्द कवियों का भी था। सौ बात की एक बात कि ये प्रेम में बुद्धि की कतरब्योंत एकदम नही चाहते थे। प्रेम शुद्ध हृदय की भाव-धारा है, ये हृदय को ही सामने करने वाले और हृदय को ही प्रभावित करने वाले भी थे[१]।"

"तुलसीदास जी ने चातक के जिस एकांगी प्रेम की उच्चता और तीव्रता का विधान अपनी दोहावली के अन्तर्गत किया है प्रेम का वही उदात्त रूप इनमें भी दिखाई देता है" प्रेम के इस उदात्त स्वरूप तक पहुँचने के लिये जिन जिन सोपानों की योजना होती है उन सबका विधान इन कविताओं में हुआ है। रीतिबद्ध या रीतिसिद्ध कवियों के प्रेम चित्रण से इनके प्रेम चित्रण के जो मौलिक भेद हैं उनकी ओर लेखक ने निर्देश किया है।

रीतिमुक्त कवियों पर फारसी का अत्यधिक प्रभाव पड़ा है, इस सत्य की भी स्थान-स्थान पर विवेचना हुई है। प्रेम वैषम्य की प्रवृत्ति भारतीय नहीं है इस बात की चर्चा शुक्ल जी ने की है और मिश्र जी ने भी। "पिछले काँटे के कृष्ण-भक्त कवि और स्वच्छन्द धारा के रीतिमुक्त कवि सूफी सन्तों और फारसी साहित्य की प्रवृत्ति से प्रभावित हुए हैं, यह असंदिग्ध है।.........महाभारत में कृष्ण प्रेम में वैषम्य की विवृत्ति नहीं है पर श्रीमद्भागवत में इसकी विषमता लक्षित होती है। उपासक की भक्ति में लीनता और उपासक के विरह में आरूढ़ होने के प्रयोजन की सिद्धि के निमित्त ही प्रेम लक्षणा भक्ति के अनुकूल यह विस्तार हुआ है[२]।" भक्ति के क्षेत्र में और प्रेम के क्षेत्र में प्रेम वैषम्य के रूप भिन्न-भिन्न हैं इसका भी संकेत किया गया है। भक्ति के क्षेत्र में क्रूरता का अधिक आरोप प्रेम-लक्षणा भक्ति में शृंगार का अवयव अधिकाधिक आने पर ही हुआ।

"यह सब होते हुए भी स्वच्छन्द कवियों की कृति में यह वैषम्य कृष्ण भक्तों की रचना से ही सीधे उतर आया हो ऐसा नहीं प्रतीत होता। भक्ति की साधना में प्रेमगत वैषम्य भक्ति पर ऊँची और गहरी अनुभूति उद्भावित करने के लिए नियोजित है प्रिय की वास्तविक कठोरता उसका

---

[१] घन आनन्द, पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र, पृ० ३१–३२।

[२] घनानन्द, पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र, पृ० ३६।

प्रतिपाद्य नहीं। पर स्वच्छन्द कविता में प्रिय की वास्तविक कठोरता का वर्णन विस्तार के साथ और प्रतिपाद्य रूप में स्वीकृत है। यह निश्चय ही फारसी की कविता का प्रभाव है जहाँ प्रिय की योजना इसी रूप में की जाती है।" (एक प्रश्न उठ कर ज्यों का त्यों रह जाता है कि स्वच्छन्द कवियों के प्रेम-वैषम्य का भी प्रतिपाद्य प्रेमी का प्रेमातिरेक व्यंजित करना क्यों न माना जाय ?)

लेखक ने स्वच्छन्द कविता में शृंगार के बाद आने वाले जुगुप्सा व्यंजक व्यापारों का संबंध भी फारसी प्रभाव से जोडा है। स्वच्छन्द कवियों में प्रेम की पीर अधिक दिखाई पड़ती है वह भी सूफियों के प्रेम की पीर से ली गई है।

स्वच्छन्द कवियों ने रीतिबद्ध कवियों से अलग हटकर प्रेम-प्रबन्धों की भी रचना की। इन स्वच्छन्द कवियों ने भक्ति और रीति दोनों से पृथक् रहने का प्रयास किया। इन्हें भक्तों की मंडली में बैठाना वैसा ही अनुचित है जैसा कि उन्हें रीतिबद्ध कवियों की पाँत में बैठाना।

भक्तों ने और रीतिबद्ध कवियों ने प्रकृति का चित्रण नहीं किया किन्तु स्वच्छन्द कवियों में से कुछ ने एक सीमित क्षेत्र में प्रकृति का दर्शन किया है।

"स्वच्छन्द कवियों ने अपना वैभव केवल हृदय की उदारता और प्रेम के निर्मल स्वरूप में ही नहीं दिखाया, भाषा और अभिव्यंजना शैली में भी दिखलाया[1]।"

यह तो रही स्वच्छन्द कवियों की सामान्य प्रवृत्तियों की आलोचना (जिसके एक प्रमुख कवि होने के नाते घन आनन्द स्वभावतः आलोचित हो गये है)। इसके उपरान्त लेखक ने घन आनन्द के जीवन, कृतियों और सम्प्रदाय के संबंध में अनुसंधानात्मक विचार प्रस्तुत किये हैं। आनन्द, आनन्दघन और घनआनन्द नाम के तीन कवियों का अस्तित्व मानकर उनमें भेद दिखाया है।

अन्त में लेखक ने घनआनन्द की समस्त कृतियों का कुशलता से सम्पादन किया है।

---

[1] घनआनन्द, पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र, पृ० ४८।

श्री चन्द्रबली पाण्डेय

पाण्डेय जी की मूल प्रवृत्ति साहित्य की ऐतिहासिक सामग्रियों की छान-बीन की ओर रही है। ये हिन्दी साहित्य के गम्भीर अध्येता हैं। प्राचीन साहित्य का अच्छा अध्ययन इन्होंने किया है। किन्तु इन्होंने अपने अध्ययन का उपयोग साहित्यालोचन में उतना नहीं किया जितना कि कृतियों की ऐतिहासिक प्रामाणिकता सिद्ध करने में। प्रायः इनकी प्रत्येक पुस्तक में विभिन्न कृतिकारों की जीवनी संबंधी और कृतियों की तिथि संबंधी खोज लक्षित होती है और इसके साथ-साथ कृतियों की साहित्यिक समीक्षा भी प्रस्तुत की गई है। साहित्यिक समीक्षा के क्षेत्र में कई कार्य हो सकते हैं। समीक्षक नवीन सिद्धांतों की स्थापना कर सकता है या पुराने सिद्धांतों को दुहरा सकता है या पुराने सिद्धांतों का विकास कर सकता है। कृतियों का मूल्यांकन करते हुए भी सिद्धांतों की ओर संकेत कर सकता है। सैद्धांतिक समीक्षा के साथ-साथ व्यावहारिक समीक्षा का अपार क्षेत्र खुला हुआ है। समीक्षक कृतियों का सहानुभूति पूर्ण परीक्षण कर सकता है। व्यावहारिक समीक्षा का मार्ग बड़ा ही सरल और बड़ा ही जटिल है। किसी भी कृति के बारे में कोई भी कुछ न कुछ कह सकता है किन्तु उस कृति का सामाजिक, युगीन और कृतिकार की वैयक्तिक विशेषताओं की पृष्ठभूमि पर सांगोपांग, व्यवस्थित और रसमय विवेचन प्रस्तुत करना सबका काम नहीं है। कुछ आलोचक तो प्राचीन समीक्षा शास्त्र के सिद्धान्तों को सामने रखकर कृति विशेष की विशेषताओं और दोषों को खतियाने लगते हैं।

पाण्डेय जी कभी सैद्धान्तिक समीक्षा के क्षेत्र में नहीं उतरे। कृतियों का मूल्यांकन करते समय भी वे किसी सिद्धान्त की चर्चा नहीं करते। वे पूर्व मान्य सिद्धान्तों या काव्य कसौटियों की अवश्य कहीं-कहीं तटस्थ व्याख्या करते दिखाई पड़ते हैं। इससे उनकी अपनी मान्यताओं का पता नहीं चलता। व्यावहारिक समीक्षा के लिए उन्होंने प्रायः पुराने कवियों को ही लिया है। उन कवियों की परीक्षा का मानदन्ड भी प्रायः पूर्व निर्धारित ही है, जैसे केशव में रस और अलंकार का समन्वय कहाँ तक है? उनमें प्रबन्ध-पटुता कितनी है? उनके संवाद कैसे हैं? उनका प्रकृति-वर्णन किस ढंग का है? आदि आदि। इन पुराने कवियों की परीक्षा के लिए यह कसौटी बहुत कुछ ठीक भी है क्योंकि वे कविताएँ

भी इसी ढर्रे पर लिखी गई हैं। किन्तु इन पुराने कवियों में भी कई कोटियाँ हैं। इनमें तुलसी, सूर, जायसी, कबीर आदि भक्त कवि केवल ढर्रे के कवि नहीं हैं उनमें स्वच्छन्द भावोत्कर्ष भी खूब है। उनमें परम्परा के साथ-साथ नवीन उद्भावनाएँ भी हैं। इसलिए इनकी आलोचना के लिए केवल बँधी बँधाई समीक्षा-परिपाटी अलम् नहीं होगी। दूसरे यह कि रीतिकालीन कवियों की रूढ़ अलंकार प्रणाली और स्थूल शृंगार भावना के सामाजिक परिवेश का भी परीक्षण हो सकता है, आज के समीक्षक से इसकी सम्भावना की जाती है। पाण्डेय जी की समीक्षाओं में इन नवीनताओं का अभाव लक्षित होता है। यों तो पाण्डेय जी कृतियों की विशुद्ध भाव धारा में कम उतरते हैं (वे कृति के अन्य उपकरणों की बौद्धिक जाँच करने में ही अधिक व्यस्त रहते हैं) और जब उतरते भी हैं तो जैसे दो ही चार हाथ मार कर उसे तैर जाते हैं उसकी गहराई में डूब कर रसिक नहीं हो पाते हैं। इसीलिए उनकी आलोचनाएँ नीरस सी प्रतीत होती हैं (यद्यपि ये रसवादी परम्परा के ही समीक्षक हैं)।

पाण्डेय जी की समीक्षा की देन इस बात में है कि वे कवि या कृति विशेष के सम्बन्ध में पूर्व मान्य धारणा के प्रतिकूल या नयी प्रतिष्ठा कर देते हैं। उन प्रतिष्ठाओं में सच्चाई कहाँ तक है यह दूसरा प्रश्न है (यह प्रश्न तो हर किसी प्रतिष्ठा के साथ लगा रहता है) मूल बात यह है कि वे अपने निजी अध्ययन और मनन से जिस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं उसे निर्भीकता के साथ प्रतिष्ठित करते हैं। वे आचार्य शुक्ल के शिष्य हैं किन्तु उनकी मान्यताओं के विरुद्ध भी यदि कोई बात कहनी पड़ी है तो उन्होंने कही है (हाँ, उसे शुक्ल जी के कथन के प्रसंग के साथ नहीं कही है) किन्तु शुक्ल जी के विरुद्ध कही गई बातें मौलिक रूप से विरुद्ध नहीं है ऊपरी तौर से विरुद्ध है। इन विशेषताओं के आधार पर पाण्डेय जी की कुछ कृतियों का स्वरूप देखें।

पाण्डेय जी ने अनेक ग्रन्थ लिखे हैं। 'तुलसीदास', 'हिन्दी कवि चर्चा' और 'केशवदास' आदि ग्रन्थों में उनकी समीक्षा-पद्धति का रूप दिखाई पड़ता है। लेखक 'तुलसीदास की जन्मभूमि' 'ग्रन्थ' 'तुलसी का जन्मस्थान' 'तुलसी की जन्मदशा', 'तुलसी की जीवन यात्रा' और 'तुलसी की खोज' शीर्षक निबन्धों में कोरे ऐतिहासिक आँकड़े प्रस्तुत करता है। किन्तु 'तुलसीदास' ग्रन्थ में तुलसी के जीवन-वृत्त के साथ-साथ उनके काव्य के

'सम्वाद' चरित्र-चित्रण, भक्ति-निरूपण, मंगल-विधान, काव्य-दृष्टि, भाव व्यंजना, काव्य-कौशल, वर्ण्य-विचार आदि तत्वों पर उसने विचार किया है। इन शीर्षकों को देखने से पता चलता है कि लेखक ने खोज के अतिरिक्त तुलसी-साहित्य के विविध पक्षों पर लेखनी चलाई है और तुलसी का मूल्यांकन करने के लिए जो शास्त्रीय कसौटी उपयुक्त हो सकती है उसका उपयोग किया है। पूरे के पूरे निरूपण से तुलसी काव्य का व्यापक परिचय तो प्रस्तुत हो जाता है कुछ नये तथ्य भी प्राप्त हो जाते हैं किन्तु रचनात्मक समीक्षा का रूप नहीं स्पष्ट हो पाता है।

'केशवदास' ग्रंथ में केशवदास के विभिन्न काव्य ग्रंथों के विविध अंगों की विवेचना है ? इसमें 'जीवन वृत्त', 'प्रबन्ध पटुता', 'इतिहास', 'कवि कर्म' 'कवि शिक्षा,' 'व्यक्ति विचार', 'भक्ति निरूपण', 'भाषाकरी प्रकाश' देशकाल, 'उपसंहार' शीर्षकों के अंतर्गत केशवदास के काव्य का सर्वांग निरूपण किया गया है। यह ग्रंथ महत्वपूर्ण है क्योंकि केशव पर इतनी विशद्ता और गंभीरता से विचार प्रस्तुत करने वाली यह पहली पुस्तक है। तुलसीदास पर आचार्य शुक्ल जैसे रसज्ञ और प्रतिभा संपन्न आलोचक लिख चुके थे इसलिए उन पर नया ग्रंथ लिख कर सफलता प्राप्त करने के लिए आचार्य शुक्ल से सशक्त प्रतिभा और रसज्ञता की आवश्यकता थी किन्तु केशवदास पर लिखने के लिए मैदान साफ था। आचार्य शुक्ल ने केशवदास पर जो विचार किये थे वे ठीक थे किन्तु एकांगी थे। केशवदास की अन्य विशेषताओं पर विचार होना बाकी था। पाण्डेय जी ने अपने ढंग से उन गुण-दोषों का विश्लेषण किया। इस ग्रंथ में एक साथ केशव के सभी ग्रंथों-रामचंद्रिका, विज्ञान गीता, वीरसिंह देव चरित, रतनबावनी, जहाँगीर जस चन्द्रिका का मूल्यांकन हुआ। रामचंद्रिका की आलोचना का एक उदाहरण देखिये—

"केशव ने वाल्मीकि रामायण की कथा भर ली है उसमें जहाँ-तहाँ मनमाना हेर-फेर करते रहे हैं जो अभिनय की दृष्टि से चाहे जितना अच्छा बना हो पर प्रबंध की दृष्टि से उखड़ गया है। कहीं-कहीं तो रामचंद्रिका में प्रवेशक और विष्कंभक का रंग आ जाता है।"..."केशव ने नीति पर विशेष ध्यान दिया है।" "रामचन्द्रिका मानस का पूरक है। भक्ति के कारण मानस में राम के छूटे हुए अंश को रामचरित में दरसाया गया है। ऐसे ही अवसरों पर केशव की प्रतिभा खुली भी है।" "केशव

ने राम को राज लोक में देखा है और सर्वत्र उनके राजगुण को व्यक्त करने की चेष्टा की है जिससे वह लोक हृदय से दूर जा पड़े हैं ।"
"राम का चरित्र परिवार में बना है दरबार में नहीं । यही केशव की कमी का कारण है और कथा के गौण होने का हेतु भी । केशव का मन यदि कथा संविधान में लगता तो उनसे कथा संविधान की उपेक्षा कदापि न होती ।"

पाण्डेय जी ने केशव द्वारा पूर्व कथाओं में किये गये उलट फेर के औचित्य की परीक्षा की है और उन कथाओं के मूल स्रोतों की ओर भी निर्देश किया है ।

'हिन्दी कवि चर्चा' में लेखक ने चन्दवरदाई, विद्यापति, कबीर, जायसी, मीरा, सूरदास, रसखान पर संक्षिप्त अध्ययन प्रस्तुत किया है। चन्दवरदाई के काव्य सौष्ठव पर विचार न कर केवल रासो की प्रामाणिकता और अप्रामाणिकता पर प्रश्न उठाया गया है । कबीर के जन्म, साधना, संप्रदाय आदि की चर्चा के साथ उनकी कविताओं की भी चर्चा की गयी है । जायसी का स्थान-निर्णय किया गया है । पद्मावत के दार्शनिक रूप और उसकी कथावस्तु पर विचार किया गया है । मीरा का जीवन चरित्र विवेचित है । सूरदास के सूरसागर के संबंध में एक नवीन प्रतिष्ठा की गयी है । उन्होंने सूरसागर को प्रबंध काव्य सिद्ध किया है । लेखक ने रसखान पर सूफी रंग माना है ।

अन्त में हम फिर अपनी बात दुहरा दें कि पाण्डेय जी गंभीर पंडित हैं, ऐतिहासिक तथ्यों का शोध करना इनकी स्वाभाविक प्रवृत्ति है, इनमें एक सहृदय आलोचक की रसज्ञता और गतिशीलता विकसित नहीं है । आलोचना की रचनात्मक शक्ति और शैली भी इनमें कम है ।

श्री लक्ष्मीनारायण सुधांशु

"हिन्दी के वर्तमान आलोचकों की श्रेणी में सुधांशु जी का स्थान बहुत ऊँचा है तथा निर्विवाद रूप से वे स्वर्गीय रामचन्द्र शुक्ल जी की परंपरा के सबसे प्रबल वाहक हैं ।"

दिनकर जी की उपर्युक्त स्थापना में दो बातें हैं । उनमें पहली बात विवादास्पद है दूसरी बात सत्य के अधिक नजदीक है । ये आचार्य शुक्ल की परंपरा के समर्थ वाहक हैं या यों कहा जाय कि ये (इधर उनकी

लेखनी मौन है) आचार्य शुक्ल की परंपरा के वाहक तो अवश्य हैं किन्तु सबसे प्रबल वाहक हैं कहने में मुझे संकोच हो रहा है। और वे उस परंपरा के वाहक भी इसी अर्थ में हैं कि उन्होंने आचार्य शुक्ल की मान्यताओं को आधार बनाकर कुछ विस्तृत कार्य किये हैं। उसी परंपरा में उन्होंने 'जीवन के तत्त्व और काव्य के सिद्धान्त' तथा 'काव्य में अभिव्यंजनावाद' पुस्तकें लिखी हैं। सुधांशु जी जीवन के तत्त्वों के साथ काव्य का अपरिहार्य संबंध मानते हैं। वे जीवन को व्यापक अर्थ में लेते हैं अर्थात् उसमें सामाजिक विस्तार और मनोवैज्ञानिक सत्य दोनों का समावेश है। इस व्यापक जगत्-जीवन की पृष्ठभूमि पर निर्मित साहित्य का उद्देश्य है रस सृष्टि करना।

लेखक ने 'जीवन के तत्त्व और काव्य के सिद्धान्त' में जीवन के विविध तत्त्वों और काव्य के सिद्धान्तों में पारस्परिक संबंध दिखाये हैं। उसने पहले अध्याय में 'भाव विन्यास तथा जीवन' शीर्षक से भावों और जीवन की अलग-अलग विविध स्थितियों तथा उनके पारस्परिक प्रभावों का विवेचन किया है। दूसरे अध्याय में जीवन का वातावरण और काव्य-प्रकृति की व्याख्या की है। तीसरे में आत्मभाव और काव्य विधान का विवेचन है। दिनकर जी के शब्दों में कहा जा सकता है कि आरंभ के तीन अध्याय शुद्ध दर्शन और मनोविज्ञान के अध्याय हैं जिनमें लेखक ने पूरी तन्मयता के साथ मानव-मन की कुछ मनोवैज्ञानिक प्रक्रियाओं का रहस्य खोला है और मनोवैज्ञानिक स्तर पर ही यह दिखलाने की चेष्टा की है।

चौथे अध्याय में रस-निष्पत्ति पर विचार किया गया है। पाँचवाँ अध्याय काव्य के अर्थबोध के संबंध में है। लेखक प्रसाद गुण को कविता का सबसे बड़ा गुण मानता है क्योंकि कविता अस्पष्ट होकर अर्थबोध नहीं दे सकती। छठें अध्याय में काव्य की प्रेरणा-शक्तियों की चर्चा हुई है। मनोवैज्ञानिक ढंग से उन आवेगों की व्याख्या हुई है जो कविता को जन्म लेने की प्रेरणा देती हैं। लेखक ने फ्रायड के कामवाद पर भारतीय दार्शनिकों के मत के आलोक में विचार किया है और उसका समर्थन किया है। सातवें अध्याय में लय और छन्द से संबद्ध कुछ प्रश्न उठाये गये हैं। छन्द और लय में विभिन्नता है। लय का इतिहास भी प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया गया है। छन्द में लय के

द्वारा ही प्राण प्रतिष्ठा होती है। लेखक ने दो विवादास्पद प्रश्न उठाये हैं। एक तो उसने माना है कि छन्द की शृंखला काव्य के लिए अनिवार्य है। दूसरे यह कि पुराने छन्दों में नवीन अभिव्यक्ति हो सकती है। आठवें और नवें में कला गीतों और ग्राम गीतों का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। लेखक की स्थापना है कि कला-गीत ग्राम-गीतों से ही विकसित हुए हैं।

इस तरह सुधांशु जी ने काव्य और जीवन के विविध पक्षों पर सापेक्षिक विचार करते हुए इस विषय का वृहद् अध्ययन प्रस्तुत किया है। कहा जा सकता है कि लेखक ने विचार का जितना व्यापक क्षेत्र लिया है उतनी गहराई में नहीं उतर सका है। फिर भी उससे लेखक की स्वतंत्र चिन्तन-पद्धति का आभास मिलता है और लेखक ने पूर्वी और पश्चिमी, प्राचीन और आधुनिकतम ज्ञान शाखाओं और प्रवृत्तियों को अपनी व्याख्या में समेटने की कोशिश की है।

लेखक की दूसरी महत्वपूर्ण पुस्तक है 'काव्य में अभिव्यंजनावाद'। प्रस्तुत पुस्तक में लेखक ने काव्य की आत्मा और उसके शिल्प के संबंधों के उचित-अनुचित अनुपातों की परीक्षा की है। सुधांशु जी रसवादी परंपरा के समीक्षक हैं। स्वाभाविक है कि वे काव्य के अर्थ पक्ष (अनुभूति या विषय पक्ष) पर बल दें। शुक्ल जी की भी यही मान्यता थी। किन्तु इतना मानते हुए भी सुधांशु जी ने अभिव्यंजना की विविध छवियों की विस्तार से विवेचना की है। अभिव्यंजना के अस्तित्व की सार्थकता किस बात में है? अभिव्यंजना है क्या? उसकी सीमा के अंतर्गत क्या-क्या आते हैं? विविध शिल्प विधियों की उचित सीमा कहाँ तक और क्यों है? आदि बातों का निरूपण हुआ है। शुक्ल जी ने सूत्रों में जिन तथ्यों का संकेत किया उनका सुधांशु जी ने विस्तार से विवेचन किया तथा अपने निरूपण को अधिक वैज्ञानिक बनाने के लिये आज तक उपलब्ध विचार-पद्धतियों को प्रायः अपनाना चाहा है।

द्वितीय उत्थान (स्वच्छंदतावादी समीक्षा)

द्वितीय उत्थान (स्वच्छंदतावादी समीक्षा)

पिछले अध्याय में यह निर्देश किया गया है कि विकास युग की समीक्षा के पश्चात् हिन्दी समीक्षा के दो स्वरूप कुछ आगे पीछे विकसित हो रहे थे। एक स्वरूप के अधिष्ठाता आचार्य शुक्ल थे। दूसरे स्वरूप के प्रवर्तक वे लोग थे जो छायावाद को एक स्वतंत्र रचना प्रक्रिया और नवीन आलोचन-सिद्धान्त के रूप में स्वीकार कर रहे थे। वे छायावाद को ऐतिहासिक विकास का स्वाभाविक परिणाम मान कर उसे नवीन दृष्टि से देखने का आग्रह कर रहे थे। वे कुछ समालोचकों की इस भ्रांत धारणा का खण्डन कर रहे थे कि छायावाद एक ऊल जलूल वस्तु है या कि वह विदेशी साहित्य का अन्धानुकरण है या कि वह एक शैली मात्र है।

छायावाद की रचनाओं और स्वच्छन्दतावादी समीक्षा-सिद्धान्तों को परखने के लिए हमें उन आधारभूत सामाजिक और आर्थिक परिवर्तनों की ओर देखना पड़ेगा जिनसे एक नवीन सभ्यता, रूढ़िमुक्त विचारधाराओं और कलाओं का सृजन संभव हो सका। बिना इन सामाजिक और परिस्थितिगत यथार्थों को समझे साहित्य की नवीन प्रवृत्तियों की परीक्षा करने से अनेक भ्रांतियाँ उत्पन्न हो जाया करती हैं। हिन्दी पाठक इस सत्य से भलीभाँति अवगत हैं कि जब छायावादी कविताएँ प्रकाश में आने लगीं तो पुराने आलोचकों ने इसे एक बेसिर पैर की चीज मान कर इस पर अस्पष्टता, आधारहीनता आदि का दोष लगाकर इसका गला घोंटने का प्रयत्न किया था। यहाँ तक कि स्वनामधन्य पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी ने भी छद्म नामों से इस पर अनेक प्रहार किए थे। कितने लोग छायावादी कवियों की वेशभूषा को ही कसौटी मान कर छायावादी कविता का बड़े भोड़े ढंग से मज़ाक उड़ाने लगे थे। इन प्रारंभिक गलतफहमियों से कुछ हटकर आचार्य शुक्ल ने छायावादी कविता को गंभीर दृष्टि से देखने का प्रयत्न किया। किन्तु वे अपनी कुछ सीमाओं के कारण छायावादी काव्य को दो संकुचित अर्थों में स्वीकार करके रह गये। (१) "रहस्यवाद के अर्थ में जहाँ उसका सम्बन्ध काव्य वस्तु से होता है। अर्थात् जहाँ कवि उस अनन्त और अज्ञात प्रियतम को आलंबन बना कर

अत्यंत चित्रमयी भाषा में प्रेम की व्यंजना करता है[१]।" शुक्ल जी ने छायावाद के इस विषयगत रूप को "पुराने संतों और साधकों की उस वाणी का अनुकरण माना है जो तुरीयावस्था या समाधि दशा में नाना रूपकों के रूप में उपलब्ध आध्यात्मिक ज्ञान का आभास देती हुई मानी जाती थी।" सन्तों की इस वाणी का प्रभाव ब्रह्म समाज पर पड़ा था अतः "वहाँ जो भजन बनते थे वे छायावाद कहलाते थे। धीरे-धीरे यह शब्द धार्मिक क्षेत्र से वहाँ के साहित्य क्षेत्र में आया और फिर रवीन्द्र बाबू की धूम मचने पर हिन्दी के साहित्य क्षेत्र में भी प्रकट हुआ।" (२) शैली के अर्थ में—"सन् १८८५ में फ्रांस में रहस्यवादी कवियों का एक दल खड़ा हुआ जो प्रतीकवादी (सिम्बालिस्ट) कहलाया। वे अपनी रचनाओं में प्रस्तुत के स्थान पर अधिकतर अप्रस्तुत प्रतीकों को लेकर चलते थे। इसी से उनकी शैली की ओर लक्ष्य करके प्रतीकवाद का व्यवहार होने लगा। आध्यात्मिक या ईश्वर प्रेम संबंधी कविताओं के अतिरिक्त और सब प्रकार की कविताओं के लिए भी प्रतीक शैली की ओर वहाँ प्रवृत्ति रही। हिन्दी में छायावाद शब्द का जो व्यापक अर्थ में—रहस्य-वादी रचनाओं के अतिरिक्त और प्रकार की रचनाओं के संबंध में—ग्रहण हुआ वह इसी प्रतीक शैली के अर्थ में।"

इन समालोचकों से छायावाद के साथ न्याय नहीं हो सका। सामा-जिक, राष्ट्रीय और युगीन यथार्थों की पृष्ठभूमि पर छायावाद का विश्लेषण होना शेष था। यह काम पूरा किया स्वच्छन्दतावादी समीक्षकों ने, छायावादी कवियों ने और बाद के प्रगतिशील आलोचकों ने। इन समी-क्षकों ने छायावादी कविता को एक नवीन सामाजिक चेतना का परिणाम माना और पहले से ही उसके संबंध में कोई राग-द्वेष पूर्ण धारणा न बना कर उसे सामने रखकर वस्तुगत विवेचन करने की कोशिश की। किन्तु इसका परिणाम यह हुआ कि जिस प्रकार आचार्य शुक्ल ने गोस्वामी तुलसीदास के अध्ययन और मनन के पश्चात् उन्हीं के काव्यादर्शों और काव्य में अभिव्यक्त जीवनादर्शों को अपनी आलोचना का मानदण्ड बना लिया उसी प्रकार इन स्वच्छन्दतावादी समीक्षकों में से कुछ लोग ऐसे उठ खड़े हुए जिनकी समीक्षा दृष्टि और पद्धति छायावादी कवियों के आधार पर निर्मित हुई। जहाँ तक छायावादी कविताओं को देखने,

---

[१] हिन्दी साहित्य का इतिहास, रामचन्द्र शुक्ल, पृ० ७४७।

परखने का प्रश्न है यह आलोचना-दृष्टि समीचीन प्रतीत होती है किन्तु उसके आधार पर निर्मित दृष्टिकोण से काव्य के चिरन्तन तत्त्वों, मूल प्रवृत्तियों और छायावादेतर कवियों की कृतियों के विश्लेषण निर्भ्रान्त नहीं सिद्ध हो सके। इन स्वच्छन्दतावादी समीक्षकों और कवियों की व्याख्याओं में एक कमी और लक्षित होती है वह यह कि वे छायावाद को आमूल नई चेतना स्वीकार तो करते हैं अर्थात् छायावाद को शैली मात्र न मान कर विषय-जीवन के हर एक क्षेत्र—में, दृष्टिकोण में, कला में, सर्वत्र एक क्रान्ति तो मानते हैं जो पिटेपिटाए विषयों और काव्य-शैलियों के घेरे तोड़ कर नवीन चेतना का स्फुरण करती है और यह भी स्वीकार करते हैं कि छायावादी काव्य की नवीन चेतना जीवन के बीच से होकर साहित्य में आई है, किन्तु वे इस बात का विचार नहीं कर पाते हैं कि यह चेतना समाज में, जीवन में और उसके बाद साहित्य में क्यों आई ? यह काम बाद के समीक्षकों—प्रगतिवादी समीक्षकों—या उसी काल के कुछ प्रगतिवादोन्मुख समीक्षकों ने पूरा किया।

छायावादी काव्य और समालोचना में व्याप्त नवीन चेतना और परिणाम स्वरूप निर्मित साहित्य-सिद्धान्तों की परीक्षा करने के लिए उन्हें जन्म देने वाली पृष्ठभूमि का विचार कर लेना आवश्क है। हिन्दी छायावादी कविता पर यह आरोप लगाया गया था कि वह इंगलिश रोमांटिक कविताओं का अस्वस्थ प्रभाव लेकर पैदा हुई है अर्थात् कुछ युवक कवि आँख मूँद कर शेली, वर्ड्सवर्थ, कीट्स, वायरन आदि कवियों की कविताओं की हिन्दी में नकल कर रहे हैं। यह आरोप अपने में थोंथा होते हुए भी इस सत्य की ओर निर्देश करता है कि दोनों भाषा की कविताओं में बहुत हद तक साम्य है। और यह सत्य है कि हिन्दी कवियों ने उपर्युक्त इंगलिश कवियों और रवीन्द्रनाथ टैगोर का अध्ययन कर उनका प्रभाव ग्रहण किया था किन्तु इससे बड़ा सत्य वह सामाजिक परिवर्तन है जिसने इन दोनों देशों के रोमांटिक कवियों को अपने-अपने देशों के रूढ़ परिपाटीबद्ध शास्त्रीय साहित्य—जो कि दोनों देशों के सामन्ती समाज की चेतना के प्रतिबिम्ब थे—का विरोध करने के लिए तैयार किया। यह एक दूसरे की नकल नहीं है बल्कि अनिवार्य नवीन युग—औद्योगिक युग—का अनिवार्य परिणाम था जो दोनों देशों में भिन्न-भिन्न समयों पर लक्षित हुआ।

रोमाण्टिक कविता और आलोचना मूलतः औद्योगिक पूंजीवादी युग की साहित्यिक अभिव्यक्ति है। औद्योगिक विकास के साथ-साथ पूंजीवादी सभ्यता और समाज का उद्‌भव होता है और उसके उद्भव के साथ ही व्यक्तिवादी चेतना का विकास। पूंजीवादी सभ्यता मूलतः व्यक्तिगत स्वातन्त्र्य के सिद्धान्त पर ही आधारित है और इस प्रकार यह सभ्यता व्यक्तिगत स्वातन्त्र्य के सिद्धान्तों से सामन्ती दासता और रूढ़िबद्धता पर प्रहार करती है। सामन्ती समाज में व्यक्ति को कोई अधिकार नहीं, सामन्ती स्वेच्छाचारिता के अन्धकार में उसका दम घुटता है। शासकों ने अपनी स्वेच्छाचारिता के समर्थन के लिए अनेक मनमाने नियमों को दैवी प्रेरणा से संबद्ध कर रखा है जिससे अनेक अन्धविश्वासों और रूढ़ियों ने समाज को जकड़ रखा है। एक ओर व्यक्ति का विकास अवरुद्ध हो गया है, दूसरी ओर सामंतों के अन्यायों के प्रति विरोध असम्भव हो गया है। व्यक्तियों की—विशेषतया नारियों की—सत्ता केवल सामन्तों की भोग वृत्ति की संतुष्टि के लिए है। इन्हीं सामाजिक और राजनैतिक सँड़ाधों की अभिव्यक्ति तत्कालीन साहित्य में दिखाई पड़ती है। चमत्कार की प्रवृत्ति के कारण कवियों की दृष्टि विषय और भाव पक्ष की विविधता तथा उदारता की अपेक्षा शैलीगत पच्चीकारी पर अधिक टिकती है। व्यक्तिगत दृष्टि और नवनवोन्मेषशालिनी कल्पना के अभाव के कारण उनकी कविताएँ परिपाटीबद्ध, एक विशेष क्षेत्र में सीमित और चर्वितचर्वण के फीके स्वाद से भरी होती हैं। जीवन और जगत् के प्रति, साहित्य के स्वरूप के प्रति उनकी दृष्टि बँधी बँधाई और स्थूल होती है। औद्योगिक विकास के परिणाम स्वरूप जिस पूंजीवाद का विकास हुआ उसने इन सामन्ती प्रथाओं के प्रति घोर विद्रोह किया। उसने व्यक्ति स्वान्त्र्य का स्वर ऊँचा किया और कहा कि मनुष्य मुक्त पैदा होता है किन्तु वह सर्वत्र बन्धनों में है[1]। इस प्रकार पूंजीवाद ने निर्जीव और विनाशकारी सामंती प्रथा को समाज के बाहर फेंकने का अथक और सफल प्रयास कर एक महत्वपूर्ण क्रान्ति की। इससे समाज में एक नया जीवन संचरित हुआ। मार्क्स ने पूंजीवाद की इस क्रान्तिकारी

---

[1] "Man is born free but he is everywhere in chains". Rousseau.

चेतना की बड़ी सुन्दर व्याख्या की है[२] । काडवेल ने भी इसी ढंग से विचार किया है[१] ।

वैज्ञानिक शोधों के कारण दिन-दिन औद्योगिक विकास होता गया और राजनैतिक तथा आर्थिक शक्तियाँ सामन्त वर्ग के हाथ से निकल कर व्यावसायी वर्ग के हाथ में आने लगीं । वैज्ञानिक साधनों के आविष्कार और उपयोग से नागरिक सभ्यता बढ़ती गई । लोग गाँवों की ओर से शहरों में कल कारखानों में काम करने के लिए आने लगे । इस प्रकार जाति-पाँति और अनेक परंपराओं के बन्धन टूटते गये । उच्च कर्म उच्च जातियों के ही लिए हैं और निम्न जातियाँ केवल साधारण और हलका कार्य करने के लिए ही हैं इन दोनों वर्गों के उच्च और निम्न गुण-धर्म ईश्वर प्रदत्त हैं इस प्रकार के दावे मिथ्या सिद्ध होने लगे । मनुष्य मनुष्य है, वह स्वभावतः सदाचारी है और प्रत्येक व्यक्ति को अपने उत्थान के लिए मुक्त प्रयास करने का अधिकार है । "गाडविन ने निस्संदिग्ध घोषणा की कि प्रत्येक मनुष्य स्वभावतः सदाचारी है । अगर सभी कानून और नियम रद्द कर दिए जाँय तो मनुष्य की बुद्धि और चरित्र में निस्संदेह अभूतपूर्व उन्नति होगी[३] ।" वैयक्तिक स्वाधीनता मूलतः व्यावसायिक और व्यापारिक प्रतियोगिता की भावना लेकर उत्पन्न हुई । किन्तु वह जीवन के हर क्षेत्र में—नागरिकता में, सदाचार और नैतिकता में, साहित्य में, राजनीति में—फैल गई । स नवीन दृष्टि और चेतना को

---

[१] "The bourgeoisie historically has played a most revolutionary part. The bourgeoisie wherever it has got the upper hand has an end to all feudal, patriarchal, idyllic relation . It has pitilessly torn as under the mostely feudal ties that bound man to his natural superiors."

[२] "This constant revolution, this constant sweeping away of ancient and venerable prejudices and opinions, this everlasting uncertainity and agitation distinguishes bourgeosie art from all previous art. Any bourgeois artist who even for a generation rests upon the convention of his time becomes academic and his art lifeless.

[३] डा० देवराज उपाध्याय कृत रोमांटिक साहित्य शास्त्र की भूमिका, डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ।

लेकर रोमांटिक साहित्य उठ खड़ा हुआ और बड़े ही उन्मेष और शक्ति से एक ओर जीवन और साहित्य की रुद्ध प्रवृत्तियों को तोड़ने लगा दूसरी ओर नूतन सौंदर्य बोध, स्वच्छन्द कल्पना और लोकानुभूति को लेकर नयी सृष्टि करने लगा। "इस युग में योरप में (और छायावाद काल में भारत में भी-प्रस्तुत लेखक) एक अद्‌भुत विरोधाभास है। मनुष्य ने धर्म पर सन्देह किया, ईश्वर पर संदेह किया, परिपाटी विहित रसज्ञता पर संदेह किया और फिर भी यह युग विश्वास का युग है क्योंकि मनुष्य ने अपने ऊपर संदेह नहीं किया। उसने मनुष्य की महिमा पर दृढ़ता के साथ आस्था जमाए रखा। मनुष्य सब कुछ कर सकता है, वह प्रकृति के अजेय दुर्ग पर अपनी विजय पताका फहरा सकता है, इस विचार ने मनुष्य के चित्त में अपूर्व आत्म विश्वास का संचार किया[1]।"

हिन्दी का छायावाद भी योरोपीय रोमांटिक काव्य की भाँति पूँजीवादी सभ्यता की छाया में उद्‌भूत और विकसित हुआ। भारतवर्ष में पूँजीवाद का विकास बाद में हुआ अर्थात् प्रथम महायुद्ध के बाद। यह पूँजीवाद भी योरोपीय पूँजीवाद की अपेक्षा काफी अविकसित रहा। हिन्दी कविता में भी इस प्रभाव के कारण वैयक्तिक चेतना का विकास हुआ और योरोपीय रोमांटिक कविता के समस्त विद्रोही और सर्जनात्मक स्वर छायावादी कविता में उभरने लगे। कहना चाहें तो कह सकते हैं कि रोमांटिक कविता की सारी प्रवृत्तियां छायावादी कविता में लक्षित होती हैं क्योंकि दोनों एक सी आर्थिक और सामाजिक स्थिति की भूमिका पर निर्मित होने वाले सामाजिक संबंधों की चेतना से अनुप्राणित हैं।

ऐसा कहने के साथ-साथ हमें उन राष्ट्रीय परिस्थितियों की विभिन्नताओं को आँख से ओझल नहीं करना होगा जिनके कारण रोमांटिक कविता और छायावादी कविता के स्वरों में सर्वत्र एकरूपता नहीं कायम रह सकी है। यह स्पष्ट है कि अंग्रेजी रोमांटिक कविता को केवल सामन्ती प्रथा और रूढ़ियोंजन्य जीवन और साहित्य की कड़ियों को तोड़ना पड़ा है। दूसरे यह कि मुख्यतः इंगलैण्ड में (और गौणतः अन्य पश्चिमी देशों में भी) पूँजीवाद का विकास अपने पूरे वेग से हुआ। काडवेल ने 'दी डिवलपमेण्ट आव माडर्न पोयट्री' नामक निबन्ध में लिखा

---

[1] डा० देवराज उपाध्याय कृत रोमांटिक साहित्य शास्त्र की भूमिका, डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी।

है कि इंगलैण्ड ने आर्थिक क्षेत्र में बूर्ज्वा क्रांति का नेतृत्व किया, केवल इंगलैड में महत्तर अंशों में बूर्ज्वा क्रांति प्रकट हुई और वहाँ से विश्व के शेष भागों में फैली[1]।

भारत में पूँजीवाद का विकास प्रथम महायुद्ध के बाद हुआ, वह भी अपने पूरे रूप में नहीं। दूसरे भारत पराधीन था। पराधीन भारत में देशी पूँजी की अपेक्षा विदेशी पूंजी का ही आधिपत्य था और जहाँ अन्य देशों में यह पूँजीवाद स्वदेशी होने के कारण प्रारंभिक अवस्था में देशवासि ों की आशा, उल्लास का कारण बना, उनके हितों का अविरोधी बना रहा, वहाँ भारत में विदेशी पूँजीवाद जनता के हितों का शुरू से ही विरोधी रहा और जी जान से शोषण करता रहा। स्वदेशी पूँजीवाद विदेशी पूँजीवाद के स्वार्थों से सहयोग न कर सका क्योंकि विदेशी पूँजीवाद से स्वदेशी पूँजीवाद के हितों का मार्ग अवरुद्ध हो रहा था। स्वदेशी पूँजीवाद को एक ओर सामन्ती शासन के प्रतीक देशी राजों का दूसरी ओर विदेशी पूँजीवाद का धक्का खाना पड़ रहा था। यह स्वदेशी पूँजीवाद स्वाधीनता के लिए चल रहे राष्ट्रीय आंदोलन में परोक्ष या प्रत्यक्ष रूप से सहयोग करता रहा। इन सभी परिस्थितियों का मिला जुला परिणाम यह हुआ कि छायावादी कविता में अनेक संश्लिष्ट तत्त्व प्रविष्ट हो गये। सामन्ती चेतना के विरुद्ध वैयक्तिक चेतना का अभ्युदय तो इस काल की कविता का प्रधान स्वर था ही, राष्ट्रीय आन्दोलन से राष्ट्रीय चेतना भी मुखर हुई। स्वदेशी पूंजीवाद विदेशी पूंजीवाद और देशी राजों के दुहरे पाट में दबा हुआ था इसलिए वह अत्यधिक क्रान्तिकारी न बन पाया। इसका परिणाम छायावादी कविता पर पड़े बिना न रहा। वह यह कि छायावादी कविता का स्वर उस सीमा तक विद्रोही और उल्लास और शक्ति से संबलित नहीं है जिस सीमा तक रोमांटिक कविता का स्वर। विदेशी पूँजीवाद अपने-अपने देशों में प्रारंभ में जनहित का समर्थक था इसलिए वहाँ की रोमांटिक कविताओं में जिस मुक्त उल्लास और आशावादिता की ध्वनि मुखर होती हुई

---

[1] "But as it happens, England pioneered the bourgeois revolution in economy...........In England alone the greater part of the bourgeois revolution unfolded iteself and from there spread to the rest of the globe. —Illusion and Reality.

दिखाई पड़ती है वह छायावादी काव्य में संभव न हो सकी। यद्यपि छायावादी काव्य में राष्ट्रीय चेतना के महासागर के हिल्लोलित होने के कारण परोक्ष रूप से राष्ट्रीय उल्लास व्यक्त है किन्तु राष्ट्रीय आन्दोलन की बार-बार की असफलताओं, विदेशी पूंजी और सत्ता की शोषक नीतियों, तथा अभावग्रस्त जीवन की यथार्थ परिस्थितियों के टक्कर से बार-बार आहत होते हुए जीवन स्वप्नों के कारण छायावादी कविता में कहीं-कहीं स्पष्ट निराशा और फ्लायन की ध्वनि सुन पड़ती है, कहीं-कहीं विरह वेदना और मूक चीत्कार भीतर-भीतर सूक्ष्म रूप में बह रही है, कहीं लौकिक अभावों को आध्यात्मिक पीड़ा का रूप दे दिया गया है, कहीं अतीत के अंचल में मुंह छिपाया गया है, कहीं इस जीवन से दूर विक्षोभ रहित तरल जल राज्य का निर्माण किया गया है, कहीं कल्पना का अतिरेक अवास्तविक वायवी सौन्दर्य की तलाश में घूमता फिरा है। किन्तु यह छायावादी कविता का एक पहलू है। उसका दूसरा पक्ष भी है जिसमें पारिपाटीबद्ध जीवन और साहित्य की मान्यताओं को तोड़ कर नवीन मान्यताओं को अभिव्यक्त करने का उल्लास है और है राष्ट्रीय आन्दोलन का स्पन्दन।

छायावादी या रोमांटिक आन्दोलन सच्चे अर्थों में मानवतावादी था। इसने घुटते और सड़ते हुए मनुष्य को नवीन, स्वच्छ और ताजे वातावरण में लाकर खड़ा किया किन्तु इस आन्दोलन के मूल कारण पूँजीवादी समाज में अन्तर्विरोध भी कम नहीं थे। उन्हीं अन्तर्विरोधों के कारण पूंजीवाद आगे चलकर अपने देश में भी (और उपनिवेशों में तो पहले से ही) जनता के हितों का भारी शोषक सिद्ध हुआ। सारी पूँजी सिमट कर कुछ थोड़े से व्यक्तियों के हाथ में केन्द्रित हो गयी और शेष समाज अभाव ग्रस्त तथा आर्थिक दृष्टि से खोंखला हो गया। क्रिस्टाफर काडवेल ने पूंजीवादी अंतर्विरोधों की बड़ी सही व्याख्या की है। "पूँजीवादी अर्थ की विशेषता यह है कि वह मनुष्य-मनुष्य के बीच के समस्त प्रत्यक्ष विरोधी सम्बन्धों को समाप्त कर देता है और इन प्रतिरोधी सम्बन्धों को वह मनुष्य और बस्तु के बीच स्थापित करता हुआ प्रतीत होता है। जिस प्रकार सामन्ती समाज में सदा मालिक से, मालिक बड़े मालिक से प्रतिरोधी सम्बन्धों से बँधा होता था उसी प्रकार पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था में सम्भव नहीं रहा। मुक्त बाजार के लिए स्वतन्त्र रूप से पैदा करना और उससे

स्वतंत्र रूप से खरीदना इस व्यवस्था की विशेषता है ।" "इस प्रकार प्रतिरोधी सम्बन्ध मनुष्य-मनुष्य के बीच न दिखाई पड़कर व्यक्ति और बाजार के बीच दिखाई पड़ता है ।"

किन्तु यह बाजार क्या है । बाजार मनुष्य के सम्बन्धों की अन्धाभिव्यक्ति है । ये सम्बन्ध प्रतिरोधी सम्बन्ध हैं । स्पर्धा में एक ओर साधन-संपन्न शोषक पूंजीपति हैं, दूसरी ओर साधनहीन श्रमिक अपने खाली हाथ लेकर खड़े हैं । ये पूंजीपति इन स्वतंत्र श्रमिकों की श्रम-शक्ति क्रय करते हैं । यह क्रय-क्रिया अत्यन्त प्रतिस्पर्द्धी, अराजक, अनियन्त्रित और हिंसात्मक होती है । चूंकि मालिकों और श्रमिकों के प्रतिरोधी सम्बन्ध ढँके होते हैं इसलिए वे अधिक बर्बर और निर्लज्ज होते हैं[1]

इसीलिए पूंजीवादी अर्थ-व्यवस्था झूठी व्यक्तिवादिता की अर्थ व्यवस्था है तथा समाज के लिए खोखली स्वतंत्रता है[2] ।

पूंजीवादी स्वतन्त्रता पूंजीपतियों के शोषण की स्वतन्त्रता है, क्योंकि बिना सामाजिक सम्बन्धों के स्वतंत्रता नहीं हो सकती, बल्कि एक अन्धी अराजकता हो सकती है जिसमें समाज अवश्य ही विनष्ट होता है[3] ।

---

[1] "Nothing but the blind expression of real relation between men. These relations are relations of coercion, the characteristic exploitation of captilism by ownership of the means of production and the purchase of the labour power of the free labourer—free of all properity but his bare hands. But just because it is a blind expression, it is coercive and anarchic, and act with the violence and uncontrolled racklessness of a natural force. Just because the coercive relations between capitilist and wage—labourer are veiled they are so much the more brutal and shameless. —Illusion and Reality, p. 48.

[2] "Capittlist economy therefore is the economy of a sham individualism and a hallow freedom for the majority. —Illusion and Reality, p. 48.

[3] "But freedom without social relations would be no freedom at all but only a blind anarchy in which society must perish."

इसका परिणाम यह हुआ कि अपने उत्तर काल में रोमांटिक कविता और छायावादी कविता तो विशेष रूप से पतनशील हो गयी । उसमें अतिवैयक्तिकता, निराशा और पराजय की आत्यंतिक भावनाएँ, समाज विरोधी भाग्यवादिता आदि घर कर गयीं । छायावाद तो रोमांटिक कविता के बहुत बाद आया । अतएव उस पर रोमांटिक कविता का प्रभाव तो खूब पड़ा ही साथ ही साथ "आधुनिक अंग्रेजी कविता से भी छायावादी कविता की अनुभूति और भाव-वस्तु को प्रेरणा मिली है और उसकी समाज विरोधी भावनाओं की प्रतिच्छाया छायावादी कविता पर पड़ी है[१] ।" इसलिए छायावादी कविता के उत्तर काल में असन्तोष की भावना अरण्यरोदन की तरह निष्क्रिय है । वह समस्याओं को वैयक्तिक ढंग से समझने की कोशिश करता है और फिर उनका समाधान न पाकर उच्छ्वास छोड़ता है या फिर उन सामाजिक समस्याओं को न समझ सकने के कारण उन्हें आध्यात्मिक समस्या का रूप दे देता है । समाज उसे मान्यता नहीं दे पाता है तो वह अहं की दीवार अपने चारो ओर खड़ी कर लेता है । "छायावादी कवि प्रारम्भ में एक क्रान्तिकारी के रूप में अवतरित हुआ । उसने कविता को सामन्ती बन्धनों से मुक्त कर दिया किन्तु पूजीवादी मनोवृत्ति होने के कारण वह नवीन समाज (पूँजीवादी समाज) के संश्लिष्ट बंधनों की कल्पना न कर पाया । उनमें स्वयं को भी जकड़ा पाकर वह समस्त बन्धनों और समाज सम्बन्धों के प्रति विद्रोही बन गया । जिस अनियमित स्वतन्त्रता की उसने कल्पना की थी वह उसे प्राप्त न हो सकी । इस भ्रम का पर्दा हटते ही जीवन उसे और भी विकराल और कठोर लगा । वह इस आघात को सहन न कर पाया क्योंकि पूंजीवाद ने उसे न केवल अपना व्यक्तिवादी मनोवृत्ति का ही उत्तराधिकारी बनाया वरन् अपनी ही तरह सामूहिक जीवन और सामूहिक श्रम से अलग कर भाग्य की अन्ध शक्तियों का दास भी बना दिया[२] ।"

ऊपर हमने उन परिस्थितियों का विश्लेपण करने का प्रयास किया जिनसे छायावादी काव्य का उद्भव और विकास हुआ । यह स्पष्ट है कि छायावाद का जन्म रोमांटिक कविता की भाँति नवीन युग और समाज

---

[१] प्रगतिवाद, शिवदान सिह चौहान, पृ० ३३ ।

[२] प्रगतिवाद, शिवदान सिंह चौहान, पृ० ४३ ।

की मिट्टी से हुआ और यह भी सत्य है कि छायावाद ने अपने भीतरी और बाहरी रूपों के विकास और परिमार्जन के लिए इंगलिश रोमांटि-सिज्म तथा रवीन्द्रनाथ टैगोर की कविताओं का अध्ययन मनन किया और उनसे पर्याप्त प्रभाव ग्रहण किया ।

स्वच्छन्दतावादी समीक्षा का आधार रोमांटिक और छायावादी कविता है । चूँकि छायावाद के उद्भव और विकास के बहुत पूर्व रोमांटिक कविता और समालोचना दोनों का प्रौढ़ विकास हो चुका था इसलिए स्वच्छंदतावादी समीक्षा रोमांटिक और छायावादी कविता के अतिरिक्त रोमांटिक समालोचना से भी बहुत प्रभावित हुई । साथ ही साथ रवीन्द्रनाथ टैगोर ने भी साहित्य के संबंध में बहुत से मननीय विचार प्रस्तुत किये थे जिनका एक छोर भारतीय अध्यात्मवाद के अन्त तक चला गया था और दूसरा छोर नवीन स्वच्छन्द मानवतावादी आन्दोलन को पकड़े हुए था । कहा जा सकता है कि छायावादी काव्य में जो नवीन प्रवृत्तियाँ लक्षित हुई उन्हीं को स्वच्छन्दतावादी समीक्षा ने साहित्य का मानदण्ड मान लिया । अब हम विचार करें कि स्वच्छन्दतावादी समीक्षा की सामान्य विशेषताएँ क्या हैं ? अर्थात् उसकी चिंतन-पद्धति किस प्रकार की है ?

आत्मानुभूति की प्रधानता

"वाह्य जगत् ज्योंही हमारे मन के अन्दर प्रवेश करता है एक दूसरा ही जगत् बन जाता है । इस दूसरे जगत् में वाह्य जगत् के रंग, रूप और ध्वनि आदि ही नहीं होते—अपितु उसमें व्यक्तिगत रुचि, हमारा अच्छा बुरा लगना, हमारा भय-विस्मय और हमारा सुख-दुःख आदि भी संमिलित हो जाता है । वाह्य संसार हमारी मानसिक भावनाओं के साथ मिलकर अनेक रूपों में प्रकाशित होता है[1] ।"

"साहित्य का जगत् से सम्बन्ध जोड़ देने के कारण शुक्ल जी साहित्य के नैतिक और व्यावहारिक आदर्शों की ओर इतना अधिक झुक गये कि उसके विशुद्ध मानसिक और भाव मूलक स्वरूप का स्वतंत्र आकलन न हो पाया । नवीन आलोचना से ही इस कार्य का आरंभ होता है[2] ।" ये

---

[1] साहित्य, रवीद्रनाथ टैगोर, पृ० १ ।

[2] आधुनिक साहित्य, नन्ददुलारे बाजपेयी, पृ० २८७ ।

नवीन समीक्षक शास्त्रीय आलोचकों की पिटी-पिटाई, बँधी-बँधाई शैली पर न चलकर स्पष्ट घोषित करते हैं कि शुद्ध भाव और अनुभूति की अभिव्यक्ति ही साहित्य का उद्देश्य है। साहित्यकार के लिए सामाजिक आदर्शों, नैतिकताओं और अन्यान्य वाह्य चेतनाओं से प्रभावित होना आवश्यक नहीं और संचालित होना तो बिलकुल नहीं। साहित्य का क्षेत्र वह भाव और अनुभूति जगत् है जो मानव मात्र की स्वाभाविक संपत्ति है। समीक्षक को यही देखना चाहिए कि लेखक ने प्रस्तुत कृति में कहाँ तक भावों और अनुभूतियों की कुशल अभिव्यक्ति की है और इस प्रकार वह कहाँ तक आनन्द-सृष्टि में समर्थ हो सका है।

ये अनुभूतियाँ और भाव किस कोटि के हों, यह आवश्यक प्रश्न नहीं है। आवश्यक शर्त यह है कि वे अनुभूतियाँ हों। एक स्थान पर पं० नन्ददुलारे वाजपेयी ने लिखा है कि अनुभूति छोटी बड़ी नहीं हो सकती। अनुभूति अनुभूति होती है और यदि वह सचाई से साहित्य में अभिव्यक्त है तो उत्तम कोटि के साहित्य की सृष्टि हो सकती है। अनुभूति चाहे व्यक्तिगत हो चाहे सामाजिक हो, एक वर्ग की हो या अनेक वर्गों की हो यह महत्व की वस्तु नहीं। महत्व की वस्तु यह है कि अनुभूति ही साहित्य का प्रेरक तत्त्व है कि नहीं। इस प्रकार जब सिद्ध हुआ कि अनुभूति छोटी बड़ी नहीं होती, अनुभूति अनुभूति होती है तो हम इस बात पर विचार करें कि छायावादी काव्य और स्वच्छन्दतावादी समीक्षा में किस प्रकार की अनुभूति की संभावना हो सकती थी। कहा जा चुका है कि छायावाद पूँजीवाद की वैयक्तिक चेतना से अनुप्राणित होने वाला साहित्यिक आन्दोलन है। कवि परिपाटी-बद्ध सामाजिक और साहित्यिक चेतनाओं को तोड़कर वैयक्तिक दृष्टि से प्रत्येक वस्तु को देखने का अभ्यासी हुआ। उसने पहले के कवियों की अपेक्षा काव्य का विषय-विस्तार किया किन्तु उसने समस्त वर्ण्य विषयों को अपने वैयक्तिक दृष्टिकोण से देखा और अपनी व्यक्तिगत अनुभूति और संवेदना के रंग में रंग कर देखा, इसलिए सर्वत्र आत्मानुभूति की ही प्रधानता दिखाई पड़ी।

रीतिकाल से लेकर द्विवेदी काल तक जिस आत्मानुभूति की उपेक्षा हुई थी वह जैसे उसके प्रतिक्रिया स्वरूप अपना पूर्ण स्वत्व चाहती हुई उठ खड़ी हुई और उसके उठ खड़े होने के लिए अनुकूल सामाजिक पृष्ठभूमि और जीवन-दृष्टि मिल गई। "उसके (छायावाद के) जन्म से

प्रथम कविता के बन्धन सीमा तक पहुँच चुके थे और सृष्टि के वाह्याकार पर इतना लिखा जा चुका था कि मनुष्य का हृदय अपनी अभिव्यक्ति के लिए रो उठा[१] ।" परिणाम यह हुआ कि छायावादी काव्य में कवियों का स्वच्छन्द आत्मानुभूति-प्रवाह समस्त वाह्य बन्धनों को तोड़कर बहता हुआ दीख पड़ा और नए समीक्षकों ने इस स्वच्छन्द आत्मानुभूति की स्वच्छन्द अभिव्यक्ति को साहित्य की मूल वस्तु माना । "साहित्य आत्माभिव्यक्ति है । आत्माभिव्यक्ति ही आनन्द है—पहले स्वयं लेखक के लिये फिर प्रेषणीयता के नियमानुसार पाठक के लिए । और रस जीवन का सबसे बड़ा पोषक तत्त्व है ।"[२] "साहित्य का मूल्य साहित्यकार के आत्म की महत्ता और अभिव्यक्ति की संपूर्णता एवं सचाई के अनुपात से ही आँकना चाहिए । अन्य मान एकांगी हैं अतः प्रायः धोखा दे जाते हैं[३] ।" "साहित्य वैयक्तिक चेतना है सामूहिक नहीं[४] ।"

कहा जा सकता है कि छायावादी काव्य विषयि-प्रधान हो गया और स्वच्छन्दतावादी समीक्षा-दृष्टि इसे स्वीकार करती हुई प्रतीत होती है । विषय का महत्व नहीं, विषयि का महत्व होता है । शास्त्रीय साहित्य इस बात पर बल देता है कि अच्छा साहित्य लिखने के लिए अच्छा महान विषय चुनो—'राम तुम्हारा चरित स्वयं ही काव्य है, कोई कवि बन जाय सहज संभाव्य है'—। छोटे और सामान्य विषयों को आलंबन बनाकर उच्च कोटि का साहित्य नहीं रचा जा सकता । इसलिए प्रबन्ध काव्यों और नाटकों आदि के पात्रों का इतिहास या पुराण का ख्यात और उदात्त पात्र होना आवश्यक होता है । किन्तु इस नवीन साहित्य ने यह विषय की महानता और लघुता का बन्धन तोड़ दिया । जीवन और जगत् के सामान्य से सामान्य और छोटे से छोटे पदार्थ और क्षण कविता के विषय बन सकते हैं । उन विषयों में स्वतः कोई महान या लघु साहित्य रचने की क्षमता-अक्षमता नहीं होती । क्षमता तो होती है साहित्यकार में जो अपनी संवेदना और अनुभूति के स्पर्श से वाह्य

---

[१] महादेवी का विवेचनात्मक गद्य, पृ० ५९ ।

[२] विचार और अनुभूति, डा० नगेंद्र, पृ० १७ ।

[३] वही, पृ० १८ ।

[४] वही, पृ० १८ ।

विषयों अतएव कविता और कविता पढ़ने वाले पाठकों के हृदय को स्पंदित कर देता है। अर्थात् कवि और वस्तु जगत् का सम्बन्ध वस्तुगत नहीं भावगत होता है। कवि अपने ही राग-विरागों को किसी वस्तु के सहारे कह चलता है। "विषय अपने आप में कैसा है यह मुख्य बात नहीं थी बल्कि मुख्य बात यह रह गयी थी कि विषयी (कवि) के चित्त के राग विराग से अनुरंजित होने के बाद वह कैसा दिखता है। विषय इसमें गौण हो गया, विषयी (कवि) प्रधान। तीन बातें १९२० के बाद के काव्य-साहित्य में अधिक दिखने लगीं—कवि की कल्पना, उसका चिन्तन और उसकी अनुभूति[१]।"

साहित्य में अनुभूति और भाव को ही मुख्य तत्त्व मान लेने का परिणाम यह हुआ कि गीतों का उचित मूल्यांकन हो सका। आचार्य शुक्ल ने प्रबध काव्यों पर विशेष ध्यान दिया और उन्हें गीत काव्य से ऊँचा सिद्ध किया क्योंकि गीतों में एक क्षण या एक पक्ष की अनुभूति चित्रित होती है और प्रबन्ध काव्य में जगत् और जीवन के विविध वस्तुगत और भावगत चित्र होते हैं। स्वच्छन्दतावादी समीक्षकों ने गीतों को उचित महत्व दिया। बल्कि उन्होंने गीतों को उच्च स्थान भी देने की चेष्टा की क्योंकि गीतों में स्वच्छन्द अनुभूति-प्रवाह अपने शुद्ध रूप में और परम वेग से फूटता है, उसमें संवेदना ही संवेदना होती है। "जहाँ एक ओर नये समीक्षकों ने विशुद्ध प्रेम गीतों को प्रबन्ध मूलक रचनाओं और उनमें प्रदर्शित नीतिवाद से पृथक् और उच्चतर स्थान देने की चेष्टा की वहीं भक्ति के नाम पर रचित भाव रहित शुष्क अतिश्रृंगारी काव्य को भी उन्होंने अलग कर दिया है[२]।" और इसीलिए "पुराने कवियों में सूर, तुलसी, कबीर, मीरा और विद्यापति आदि नये समीक्षकों को आकृष्ट कर सके हैं क्योंकि वे भाव प्रधान और वास्तविक कवि हैं। नये समीक्षकों की रुचि भी उनके अनुकूल है[३]।"

अनुभूति और नैसर्गिक भावावेग को सहज शैली में व्यक्त करना

---

[१] हिन्दी साहित्य, डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० ४५५।

[२] आधुनिक साहित्य, पं० नन्ददुलारे वाजपेयी।

[३] वही।

छायावादी या रोमांटिक काव्य की प्रकृति है[1]। एक बात ध्यान देने की है कि छायावादी कवियों और नये समीक्षकों ने अनुभूति और भावों के अविरल प्रवाह को व्यक्त करनेवाली कविता को शुद्ध कविता माना और इस प्रकार वे काव्य में रसात्मक प्रवाह के पक्षपाती हुए लेकिन उनकी यह रसज्ञता और यह भाव प्रवाह, परिपाटी विहित रसज्ञता से भिन्न, स्वच्छन्द और नवीन था।

कल्पना की अतिशयता

"छायावादी काव्य में अनुभूति और नैसर्गिक भावावेग का प्रवाह मुख्य वस्तु है किन्तु यह भावावेग कल्पना के अविरल प्रवाह से संबलित है। रोमांटिक साहित्य की वास्तविक उत्स भूमि वह मानसिक गठन है जिसमें कल्पना के अविरल प्रवाह से धन संश्लिष्ट निविड़ आवेग की ही प्रधानता होती है। इस प्रकार कल्पना का अविरल प्रवाह और निविड़ आवेग ये दो निरन्तर घनीभूत मानसिक वृत्तियाँ ही इस व्यक्तित्व प्रधान साहित्यिक रूप की प्रधान जननी है[2]।'

आदिकाल से ही साहित्य में कल्पना का महत्वपूर्ण स्थान माना गया है। कल्पना के कई स्वरूप माने गये हैं। साहित्य के विषय पक्ष में भी उसका महत्वपूर्ण योग है और शैली पक्ष में भी, अर्थात् अलंकार्य और अलंकार दोनों में। विषय पक्ष में उसका कार्य यह है कि वह पूर्व अनुभूत विषयों को प्रस्तुत करे, कई अलग-अलग वस्तुओं को कवि के लक्ष्य के अनुकूल एक सूत्र में अनुस्यूत करे—एक स्थान पर केंद्रित करे। अर्थात् पुनर्सृजन करना कल्पना का मुख्य उद्देश्य होता है। कवि अपनी देखी सुनी वस्तुओं को ज्यों का त्यों नहीं चित्रित करता, उन्हें काटता-छाँटता है उनमें नया जोड़ता भी है। और इस प्रकार कल्पना के माध्यम से एक नई सृष्टि करता है। इस नई सृष्टि के लिए कुछ बातें आवश्यक होनी हैं, एक तो वह यथार्थ पर आधारित हो, अर्थात्

---

[1] "Poetry is spontaneous overflow of powerful feeling; it takes its origin from emotion. recollected in tranquillity" words-worth.

[2] डा० देवराज उपाध्याय कृत रोमांटिक साहित्य शास्त्र की भूमिका, डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी।

उसमें स्थूल वस्तुओं, अनुभूतियों, भावों, रागों-विरागों के जितने भी उपकरण आये हों वे सब इस जगत के ही हों भले ही वे भिन्न-भिन्न व्यक्तियों और वस्तुओं में प्राप्त हों। दूसरी बात यह है कि यह सृष्टि अनावश्यक न हो, प्रयोजन सिद्ध हो। वह अधिक शक्तिशाली, प्रभावकारी, हृदयमंथनकारी हो और किसी सदुद्देश्य से प्रेरित हो। जहाँ कवि वस्तुओं की कल्पना करने लगता है—उन वस्तुओं की जो इस जीवन जगत् में संभव नहीं होतीं—तो उसकी सृष्टि राग-विराग शून्य, केवल आश्चर्यजनक चमत्कारों से चमत्कृत होती है। यह कल्पना का दुरुपयोग है, जैसा कि आचार्य शुक्ल ने केशव की 'मखतूल के झूल झुलावत केशव भानु मनो ससि अंक लिए' पंक्ति की ओर निर्देश किया है।

कल्पना का दूसरा उपयोग साहित्य के अभिव्यक्ति-पक्ष में होता है। वर्ण्य विषय को कुशलता से अभिव्यक्त करने के लिए ही कलाकार कला के बाहरी उपकरणों (अभिव्यंजन प्रणालियों) का उपयोग करता है। अर्थात् वह छन्द, संगीत, अलंकारों, प्रतीकों और शब्द शक्तियों का उपयोग करता है। कल्पना जीवन और जगत् के नाना क्षेत्रों में घूम-घूम कर ऐसे ऐसे प्रतीक, शब्द चित्र और उपमाएँ, रूपक, उत्प्रेक्षाएँ आदि अलंकार प्रस्तुत करती हैं जो प्रस्तुत विषय का कुशल चित्र उतार कर पाठकों के के चित्त में अभिप्रेत प्रभाव उत्पन्न करने में समर्थ हो सकें। संगीत और छन्द का भी विधान वह इसीलिए करती हैं। यहाँ भी यदि कल्पना वर्ण्य विपय का साथ छोड़ कर स्वच्छन्द रूप से अलंकार विधान करती चलेगी तो साहित्य अपनी संवेदनशीलता खो देगा।

छायावादी काव्य कल्पना के स्वच्छन्द पंखों पर उड़ा है। छायावाद के पूर्व की हिन्दी कविता मुख्यतः यथातथ्यवादी हो गई थी। स्थूल ढंग से विषय वस्तु का यथातथ्य निरूपण ही काव्य का मुख्य लक्ष्य प्रतीत होता है और समीक्षकों का ध्यान साहित्य के इसी प्रत्यक्ष दृश्य-विधान की ओर ही अधिक रहा। छायावादी काव्य ने इस यथातथ्यवाद को अपने चित्रण का लक्ष्य न बनाकर कल्पना के माध्यम से उन प्रत्यक्ष और सूक्ष्म वस्तुओं के भीतर घुसकर संवेदनाओं और भावात्मक आवेगों को स्पर्श किया तथा उनका अंकन किया। छायावादी कवियों ने स्थूल दृष्टि से दिखाई पड़ने वाले पदार्थों को अंकित करने का प्रयास नहीं किया वरन् उन पदार्थों के भीतर स्थित चेतना को देखने और चित्रित करने

की चेष्टा की। विभिन्न स्थूल पदार्थों के भीतर स्थित सूक्ष्म चेतनाओं को कल्पना की आँखों से ही देखा जा सकता है। कहा जा चुका है कि छायावादी या रोमांटिक कवि समस्त पदार्थों में अपनी ही जैसी चेतना और संवेदना देखता है इसलिये वह कल्पना द्वारा स्वेतर विषयों का चित्र अंकित कर उनमें किसी मानवीय राग-विराग की कल्पना कर लेता है। उसकी विराट कल्पना धरती से आकाश और उत्तरी ध्रुव से लेकर दक्षिणी ध्रुव तक दौड़ मारती है। इसकी कल्पना प्रकृति के सौन्दर्य में आध्यात्मिक या मानवीय सौंन्दर्य की प्रतिष्ठा कर लेती है। प्रकृति की विरूपताओं में वह मानवीय विरूपता देख लेती है। फूल, चाँद, सूर्य, निर्झर किसी की हँसी और गीत के प्रतीक हैं। मेघ के रूप में किसी की आँखें रोती हैं। तड़ित किसी की भ्रूभंग है, आदि। नई मानवीय चेतना, सौन्दर्य, संवेदना, भाव-भंगी, उन्मुक्त जीवन-दृष्टि को जहाँ तक निर्मित करने का प्रश्न है, छायावादी कल्पना स्वस्थ है किन्तु अनेक स्थलों पर इस बात का खतरा उत्पन्न हो गया है कि कल्पना अनुभूति का साथ छोड़कर अकेले विहार करने लगी है और ऐसे स्थलों पर अनेक मनोरम प्रकृति चित्रों की सृष्टि अवश्य हो पाई है किन्तु वे चित्र जीवन-रस से सिक्त न हो सकने के कारण कोई संवेदना जगाने में असमर्थ हैं। वहाँ अनुभूति नहीं, अनुभूति की कल्पना मात्र अवशेष है।

छायावादी कल्पना का दूसरा रूप इस विसदृश, विरूप और संघर्ष भरे संसार के समानान्तर एक ऐसा लोक निर्मित करने में दिखाई देता है जहाँ सुख ही सुख है, विरह नहीं चिर मिलन है, अभाव नहीं चिर भाव है। संघर्ष नहीं शांति ही शांति है। वह कभी तो मनोरम अतीत का चित्र कल्पित करता है, कभी इस संसार से दूर भाग कर उस पार के सुन्दर लोक की कल्पना कर लेता है, कभी अपने समस्त भौतिक दुखों को आध्यात्मिक रसों में धो लेता है। इन अवसरों पर उसकी कल्पना की अबाध उड़ान देखने लायक होती है। इन निराधार और पलायनवादी कविताओं ने छायावाद को बदनाम किया है क्योंकि यहाँ बिखरे विषयों का परस्पर संग्रथन नहीं, उनके समन्वय से पुनर्सृजन नहीं, बल्कि उनकी कल्पना की गयी है।

इसी प्रकार छायावादी कवियों ने सूक्ष्म भावों और चेतनाओं को अभिव्यक्त करने के लिए सूक्ष्म प्रतीकों और अलंकारों का उपयोग किया

है। कल्पना द्वारा उन्होंने अनेक सूक्ष्म प्रतीकों और उपमानों का विधान किया है। पिटे-पिटाये, बँधे-बँधाये उपमानों और प्रतीकों को छोड़कर छायावादी कल्पना ने नये-नये अछूते और सूक्ष्म प्रतीकों की योजना की है। इसका परिणाम यह हुआ कि काव्य का अभिव्यक्ति-पक्ष एक साथ अत्यंत समृद्ध और समर्थ हो गया।

छायावादी आलोचकों ने काव्य में कल्पना के इस उपयोग को पहचाना और उन्होंने छायावादी कविताओं की समीक्षा में कल्पना के गहन विश्लेषण की ओर ध्यान तो दिया ही साथ ही साथ साहित्य में कल्पना के महत्व पर जम कर विचार किया। कहा जा चुका है कि साहित्य के सामान्य सिद्धान्तों को लेकर चलनेवाले रोमांटिक आलोचकों की बहसों का स्वच्छंदतावादी आलोचकों के विचारों पर बड़ा प्रभाव पड़ा। "शैली" के अनुसार कविता कल्पना की अभिव्यक्ति है। उसके अनुसार "कल्पना पुनर्सृजन करती है। प्राकृतिक वाह्य जगत् से ही उसे सामग्री मिलती है जिसका वह पुनर्सृजन करती है। पर इस पुनर्सृजन की प्रेरणा मिलती है उसे अंतःकरण से। प्राकृतिक वस्तु मनुष्या को इन्द्रियों के मार्ग से आकर टकराती है उससे एक चिनगारी निकलती है जिससे आलोक फूटता है उस आलोक में मानव एक उन्नत आदर्श जगत् की झलक देखता है।" "शैली कहता है कविता दर्पण है जो प्रकाश को पूर्णरूप से प्रतिबिम्बित करती है। भाषा कल्पना प्रसूत है अतः उसका सीधा संबंध पारस्परिक है जो कल्पना और अभिव्यक्ति के बीच सीमा तथा सम्बन्ध-सूत्र बनती है[१]।" इसी प्रकार सभी रोमाटिक और छायावादी कवियों और आलोचकों ने कल्पना को बहुत ऊँचा स्थान दिया है।

सौन्दर्य दृष्टि

यह विवाद सनातन है कि सौंदर्य क्या है? और साहित्य में उसकी अभिव्यक्ति कैसे हो सकती है? भक्तिकालीन कवियों ने आध्यात्मिक सत्ता को अक्षय सौंदर्य-संदोह माना यद्यपि उन्होंने मानवीय सौंदर्य की भी उपेक्षा नहीं की। बल्कि मानवीय राग-विरागों का बड़ा ही मार्मिक चित्र प्रस्तुत किया किन्तु उनका मानवीय सौंदर्य सर्वत्र आध्यात्मिक शिव से निर्देशित है। इसलिए उन्होंने मनुष्यों के भीतर विविध रागात्मक

---

[१] रोमांटिक साहित्य शास्त्र, डा० देवराज उपाध्याय, पृ० ८६।

संघर्षों को न देखकर सत् और असत्, सुन्दर और असुन्दर को अलग-अलग बाँटकर देखा। रीतिकाल में सौंदर्य शारीरिक सुषमा तक ही सीमित रह गया और वह भी विशेषतया नारी-शरीर की वासनोत्तेजक सुषमा तक। द्विवेदी कालीन सौदर्य दृष्टि भी विशुद्ध सौदर्य दृष्टि के रूप में नहीं, बल्कि मुख्यतः पौराणिक और समाज सुधारक आर्य समाजी नैतिकता से आच्छन्न दिखाई पड़ती है। उसने मानवीय हृदय की गहराई में घुमने का प्रयास नहीं किया।

छायावादी सौंदर्य दृष्टि ने वस्तु जगत् की वाह्य छवियों और उसकी आंतरिक चेतनाओं, राग-विरागों अथात् मानसिक छवियों, दोनों को अगाध आस्था से देखा। यह नवीन साहित्य मानवता के लिए एक नवीन स्फूर्ति, नवीन विश्वास एवं अगाध प्रेम लेकर आया था। इसकी जीवन दृष्टि में मनुष्यता के लिए नवीन उत्साह था। इसलिए इसने मानवीय सौदर्य को बड़ी ही गहराई और सहानुभूति से देखना आरंभ किया। वस्तु जगत् के ऊपरी सौंदर्य को ही न देखकर उसके भीतरी सौंदर्य—हृदय की उदात्तता, मानवीय चेतना—को देखा। उस चेतना के अभाव में बाह्य सौंदर्य व्यर्थ है। बाह्य सौंदर्य का संबंध भीतरी सौंदर्य से है। या यों कहें कि बाह्य सौंदर्य भीतरी सौंदर्य का प्रतिफलन है। सौंदर्य मोती की छवि की भाँति आरपार दर्शी है वह जैसा भीतर है वैसा ही बाहर। कवि कालिदास ने कहा था—

यदुच्यते पार्वति पापवृत्तये न रूपमित्यव्यभिचारि तद्वचः।

प्रसाद जी ने "उज्ज्वल वरदान चेतना का सौन्दर्य जिसे सब कहते हैं"—कह कर सौंदर्य और चेतना को परस्पर अनुस्यूत कर दिया।

इस प्रकार स्वच्छन्दतावादी दृष्टि ने सौंदर्य को मूलतः भीतर से देखा और इसलिए उसने मानव और प्रकृति-सौंदर्य को ऊपर-ऊपर से देख सुन कर संतोष नहीं कर लिया, उसने उनकी धड़कनों को, उनकी भावात्मक और रागात्मक सत्ताओं की संश्लिष्टता को देखा। प्रकृति केवल बाह्य दृश्य मात्र नहीं है उसमें भी मानव की भाँति संवेदना लहरें मार रही है। मानव अपने पाप-पुण्य, अपने भाव-अभाव की संश्लिष्टता में सुन्दर है। उसके पाप और दोष, उसके पुण्य और पवित्रता का निर्माण करते हैं। मानव की सहज अशक्तियों से हमें घृणा नहीं, सहानुभूति करनी

चाहिए और सहानुभूति देकर मानव की सद्वृत्तियों को जागरूक करना चाहिए। राक्षसों और देवताओं की अलग-अलग सत्ताएँ काल्पनिक हैं। वास्तविकता तो यह है कि प्रत्येक मानव-हृदय में देवासुर संग्राम मचा करता है—

देवों की विजय, दानवों की
हारों का होता युद्ध रहा।

रवीन्द्रनाथ टैगोर ने सौंदर्य-बोध नामक निबन्ध में सौंदर्य बोध का संबंध संयम और व्यापक सत्य से माना है। "सौंदर्य की सृष्टि करना असंयत कल्पना वृत्ति का कार्य नहीं है।" "सौंदर्य का पूर्ण मात्रा में भोग करने के लिए इसी संयम की आवश्यकता होती है।" भोग में असंयम होता है और सौंदर्य में संयम। "सौन्दर्य भोग या प्रयोजन से ऊपर है।" "यह सौंदर्य मानो हमारी ऊपरी आय है।" "सौंदर्य मनुष्य को संयम की ओर ले जाता है।...जो लोग असंयम को अमंगल समझकर नहीं छोड़ना चाहते वे उसे असुन्दर समझकर छोड़ देंगे।" छायावादी कविता और स्वच्छन्दतावादी समीक्षा की सौंदर्य-दृष्टि में रीति-कालीन भोग वृत्ति या स्थूल प्रयोजन नहीं है, उसमें संयम है। दूसरी बात यह है कि हमें सौन्दर्य को समस्त सत्य के साथ देखना चाहिए। "कहीं पर भी सौंदर्य की कमी नहीं है। संसार में सौंदर्य को इस प्रकार समग्र रूप में देखना-सीखना ही सौंदर्य बोध का अन्तिम लक्ष्य है। मनुष्य इस प्रकार देखने की ओर जितना अग्रसर होता है अपने आनन्द को वह उतना ही प्रसारित कर लेता है।[१]" ओर सत्य को हम केवल ऊपरी आँखों से नहीं देख सकते, उसकी ऊपरी सतह को तोड़कर हृदय की आँखों से उसके भीतर घुसना पड़ेगा।

"मानवतावादी दृष्टिकोण को अपनाने वाले कवि के चित्त में उन काव्य रूढ़ियों का प्रभाव नहीं रह जाता जो दीर्घकालीन परंपरा और रीतिबद्ध चिंतन पद्धति के मार्ग से सरकती हुई सहृदय के चित्त पर आ गिरी होती है और कल्पना के अविरल प्रवाह में तथा आवेगों की निर्वाह अभिव्यक्ति में अन्तराय उपस्थिति करती है। इस दृष्टिकोण को अपनाने से सौन्दर्य की नई दृष्टि मिलती है क्योंकि मानवीय आचारों

---

[१] सौन्दर्य और साहित्य,—साहित्य—रवीन्द्रनाथ टैगोर।

और क्रियाओं के मूल्य में अन्तर आ जाता है। इस अवस्था में सौन्दर्य केवल बाह्य रूप में नहीं रहता बल्कि आन्तरिक औदार्य और मानसगठन में भी व्यक्त होता है। सौंदर्य के बँधे-सधे आयोजनों—घिसे-घिसाये उपमानों और पिटी-पिटाई उत्प्रेक्षाओं पर आधारित चिन्तन शून्य काव्य रूढ़ियों—से मुक्ति पाया हुआ चित्त मानवता के मानदण्ड से सब कुछ देखता है।[1]"

इसीलिए स्वच्छन्दतावादी दृष्टिकोण ने जड़ चेतन सब में एकही स्पन्दन देखा। सौन्दर्य छोटी से छोटी, बड़ी से बड़ी वस्तु में प्राप्त हो सकता है। सौन्दर्य हमारे हृदयों में ताजगी और स्फूर्ति भरता है। मानवीय सद्वृत्तियों का स्पर्श कर उन्हें उदार बनाता है। इसीलिये छायावादी कवियों ने नारी को वासना की मूर्ति न मानकर सहचरि, प्राण, माँ, सब माना और नारी हृदय की प्रणयानुभूति के साथ उसकी दया, ममता, करुणा, कोमलता, निःशेष आत्मसमर्पण की पीड़ा, एवं अन्यान्य मानवीय संवेदनाओं का उद्घाटन किया। उसने पहले पहल नारी सौन्दर्य को मानवीय उदात्त धरातल पर देखा।

अभिव्यक्ति सम्बन्धी दृष्टि

शास्त्रीय समीक्षा और साहित्य विषय और अभिव्यक्ति दोनों पक्षों को अलग-अलग करके देखने का अभ्यासी है। शास्त्रीय साहित्यकार अभिव्यक्ति पक्ष को खूब माँजने-सँवारने का उपक्रम करते हैं। उनका प्रयास होता है कि परंपरा से चली आती हुई भाषा, शैली, छन्द, अलंकार और प्रतीकों को ही खूब निखारा जाय। परंपरा से व्यवहार में आने के कारण वह स्वयं खूब मज जाती है। कलाकार का उद्देश्य होता है कि वह अभ्यास द्वारा उस परिमार्जित शैली को सीख ले और उस परि-मार्जित शैली में किसी भी विषय की अभिव्यक्ति करे। उनके लिए शैली एक भव्य मन्दिर के समान है जिसमें बाद में देवता की मूर्ति की प्रतिष्ठा होती है। अर्थात् विषय और अभिव्यक्ति-शैली का कोई अविच्छिन्न संबंध नहीं होता है।

छायावाद और रोमांटिसिज्म के कवि और आलोचकों ने यह स्पष्ट घोषित किया कि अभिव्यक्ति पक्ष का वर्ण्य विषय से अलग कोई महत्व

---

[1] हिन्दी साहित्य, डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० ४६२।

नहीं। वर्ण्य विषय मूल वस्तु है और युग और देश की नवीन प्रवृत्तियों के परिणाम स्वरूप वर्ण्य विषय नया-नया हुआ करता है और प्रत्येक अच्छा कलाकार जीवन और जगत् को एक रूढ़ और सनातन दृष्टि से न देखकर नवीन चेतना संपन्न आँखों से अपने-अपने संस्कारों के अनुकूल देखता है। और वह नवीन वर्ण्य विषय पुरानी शैली में कदापि नहीं व्यक्त हो पाता है वह नवीन और सहज मार्ग से अपने आप फूट चलता है। कवि वर्ण्य वस्तु से दूर हटकर एकात में शैली की पच्चीकारी नहीं करता। अनुभूतियों, भावों और मर्म-छवियों का आवेग स्वतः अपने-अपने सुन्दर ढंग से फूट चलता है। "इन नवीन रचनाओं में बाहरी ढाँचे की अवहेलना भी थी। अलंकारों का आधिक्य नहीं था नवीन स्वरलहरी का उल्लास था। प्राचीन शास्त्रीय मान्यताओं का तिरस्कार भी था। इन्हीं की ओर स्वभावतः समीक्षकों का ध्यान गया।[1]"

"कविता अन्तर्तम प्रदेश की प्रेरणा है जब काव्य की प्रेरणा जन्म लेती है तो वह कवि को अपने रूप का सृजन करने के लिए बाध्य कर देती है। कवि मानो किसी दिव्य आध्यात्मिक शक्ति के वशीभूत हो जाता है जो अभिव्यक्त होकर ही दम लेती है।[2]" शेली के उपर्युक्त कथन से भी अभिव्यक्ति की सहजता प्रमाणित होती है। वर्ड्सवर्थ जब कविता को सहज उद्गार मानता है तो वह भी यही बात प्रमाणित करता है। हिन्दी कवि पन्त की "वियोगी होगा पहला कवि आह से उपजा होगा गान, निकल कर आँखों से चुपचाप बही होगी कविता अनजान" पंक्ति में यही ध्वनि है।

इसलिए स्वच्छन्दतावादी दृष्टि घिसी-घिसाई अभिव्यक्ति शैलियों को ग्रहण नही करती। अत्यन्त प्राचीन काल से व्यवहृत छन्दों, प्रतीकों, उपमानों और उत्प्रेक्षाओं से ग्रस्त काव्यशैली का अभ्यास करना छायावादी काव्य और समीक्षा को स्वीकार नही। नवीन चेतना और नवीन अनुभूति के अविरल प्रवाह स्वतः नवीन छन्दों, प्रतीकों, उपमानों, लक्षणाओं, व्यंजनाओं के ताजे मार्ग से प्रवाहित हो उठे हैं। "मानवीय दृष्टि के कवि की कल्पना, अनुभूति और चिन्तन के भीतर से निकली हुई वैयक्तिक

---

[1] आधुनिक साहित्य, पं० नन्ददुलारे बाजपेयी, पृ० २९०।

[2] रोमांटिक साहित्य शास्त्र, डा० देवराज उपाध्याय।

अनुभूतियों के आवेग की स्वतः समुच्छित अभिव्यक्ति—बिना आयास के और बिना किसी प्रयत्न के स्वयं निकल पड़ा हुआ भाव स्रोत—ही छाया-वादी कविता का प्राण है ।[1]"

छायावादी काव्य और समीक्षा दृष्टि ने विषय की भाँति शैली का भी रूढ़ियों से उद्धार किया और शैली को विषय का अविच्छिन्न **अंग** मानकर साहित्य का एक बहुत बड़ा उपकार किया किन्तु इससे थोड़ा सा खतरा भी उत्पन्न हो गया । वह यह कि शैली को विषय का सहज सहजात मान लेने के कारण शैली के परिमार्जन अर्थात् शैलीगत साधना की ओर से लोगों का ध्यान हट गया । परिणाम यह हुआ कि साहित्य में अनियंत्रित चीजों के प्रवेश की पर्याप्त आशंका हो गई । छायावादी काव्य में ही इस साधना के अभाव के कारण काव्यगत गठन का कही-कहीं अभाव दीखता है । प्रेषणीयता के अभाव के कई कारणों में से एक कारण यह भी है ।

साहित्य का उद्देश्य

साहित्य के उद्देश्य के संबंध में विचारक मुख्यतया दो ढंग से सोचते हैं—(१) साहित्य का उद्देश्य महान आदर्शों, सद्वृत्तियों का चित्रण और उनका प्रसार करना है । साहित्य वही ऊँचा है जिसमें मानव जीवन के लिए कोई महत् आदर्श चित्रित हो, जिसमें कोई महान उद्देश्य सन्निहित हो । ये आदर्श और संदेश युग और देश के अनुकूल परिवर्तनशील हो सकते हैं या प्राचीन मानव मूल्यों पर आधारित होने के कारण रूढ़ और स्थिर भी । (२) साहित्य का उद्देश्य किसी आदर्श, किसी आन्दोलन का प्रचार और प्रसार नहीं है उसका मूल उद्देश्य आनन्द प्रदान करना है ।

आरंभ काल, विकास काल और पंडित रामचंद्र शुक्ल की समीक्षाओं के संबंध में विचार करते हुए हम यह देख चुके हैं कि साहित्य में लोकहित की प्रतिष्ठा का प्रश्न बड़े जोरों से उठ खड़ा हुआ था । छायावाद के कवियों और आलोचकों ने यह स्वीकार किया कि साहित्य सृष्टि का उद्देश्य आनन्द प्रदान करना है, उपयोगितावाद बहुत ही स्थूल मानदण्ड है । रोमांटिक कवि और समीक्षक कालरिज ने स्पष्ट घोषणा की कि "सौन्दर्य

---

[1] हिन्दी साहित्य, डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० ४६२–६३ ।

के माध्यम से सद्यः आनन्दोद्रेक के लिए भावों को जाग्रत करना[१]" काव्य का उद्देश्य है। उसका कहना है कि काव्य एक विशिष्ट रचना है। उसका उद्देश्य साक्षात् आनन्दोद्रेक करना है सत्य की उपलब्धि नहीं।

स्वच्छन्दतावादी आलोचकों ने यह प्रतिपादित किया कि साहित्य में और सब बातें बाहरी होती हैं। राजनीति, अर्थनीति, धर्म, समाजनीति आदि साहित्य को प्रभावित अवश्य करते हैं किन्तु वे साहित्य के विधायक तत्त्व नहीं हैं। साहित्य का मूल तत्त्व है अनुभूति, भावावेग। और साहित्य इसी तत्त्व का चित्रण कर पाठकों को आनन्द प्रदान करता है। राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक और आर्थिक चेतनाओं को न वह चित्रित करता है और न ऐसा कोई प्रभाव पाठक के हृदय में उतारना उसका लक्ष्य होता है। उसका संबंध केवल अनुभूतिजन्य सहज आनन्द से होता है।

रवीन्द्रनाथ टैगोर ने भी साहित्य का मूल उद्देश्य आनन्द की अभिव्यक्ति ही माना है किन्तु उन्होंने आनन्द की ऐसी उदात्त व्याख्या की कि सत्य और शिव से स्वतः उसका गठबन्धन हो गया। अपने आप को सबके बीच में देखने से आनन्द का सीमा-विस्तार होता है। स्पष्ट है कि यह आनन्द मानव का सहज धर्म होने के कारण सत्य है और इसमें लोक-मंगल भी निहित है क्योंकि हम समस्त संसार की अनुभूतियों को अपना समझने लगते हैं। "जगत् में सत्य के साथ हमारा संबंध तीन प्रकार का होता है, बुद्धि का सम्बन्ध, प्रयोजन का सम्बन्ध और आनन्द का सम्बन्ध। इनमें से बुद्धि के सम्बन्ध को एक तरह की प्रतियोगिता कहा जा सकता है। मानो वह एक व्याघ्र के साथ शिकारी का सम्बन्ध है। ···इसीलिए बुद्धि को सत्य के विषय में एक तरह का अहंकार हो जाता है।···इसके बाद प्रयोजन का संबंध है। इसी प्रयोजन अर्थात् आवश्यकता की पूर्ति के संबंध में सत्य के साथ हमारी एक प्रकार की सहयोगिता पैदा हो जाती है। इसी आवश्यकता की पूर्ति के कारण सत्य और भी अधिक हमारे निकट आ जाता है किन्तु तो भी उसके साथ हमारी जो पृथकता है वह नष्ट नहीं होती[२]।"

---

[1] "The excitement of emotion for the purpose of immediate pleasure through the medium of beauty."

[२] विश्व साहित्य,—साहित्य—रवीन्द्रनाथ टैगोर, पृ० ५६।

इसके बाद आनन्द का सम्बन्ध है। इसी सौन्दर्य या आनन्द का संबंध हो जाने पर समस्त पार्थक्य नष्ट हो जाता है। तब किसी प्रकार का अहंकार नही रहता, हम बिलकुल क्षुद्र और दुर्बल के साथ भी एक हो जाने में संकोच नहीं करते।......जहाँ हमारा आनन्द का संबंध होता है वहाँ हम अपनी बुद्धि की शक्ति को भी अनुभव नहीं करते, वहाँ हम एक मात्र अपने ही को अनुभव करते हैं—बीच में कोई व्यवधान या अंतराय नहीं रहता।...यह आनन्द सम्बन्ध क्या वस्तु है? दूसरों को अपना और अपने को दूसरों का समझना। जब हम ऐसा समझ लेते हैं तब फिर कोई प्रश्न ही नहीं रह जाता। हम यह कभी नहीं सोचते कि हम अपने को क्यों प्यार करते हैं? हमें अपनी अनुभूति में ही आनन्द का अनुभव होता है, इसी अपनी अनुभूति को जब हम दूसरों में भी अनुभव करते हैं तब इस बात को पूछने का कोई अर्थ ही नही रहता कि उनको हम क्यों प्यार करते हैं?[१]

स्वच्छन्दतावादी समीक्षकों ने इस आधार पर अपनी समीक्षा को वस्तुगत (अर्थात् साहित्य का जैसा स्वरूप है उसे वैसा देखना) कहा। इनकी समीक्षाएँ किसी रूढ़ दर्शन और स्थूल बाह्य चेतना पर आधारित न होकर मुख्यतः मनोवैज्ञानिक और साहित्यिक सत्यों पर अवलम्बित हैं। इन समीक्षाकों ने जिन नये या पुराने कवियों को परखने की चेष्टा की है उनकी भाव-छबियों को ही अधिक देखा है जो काव्य के मूल सत्य हैं। इसीलिए ये समीक्षाएँ अपने को वस्तुगत कहती हैं, इनमें समीक्षक का कोई व्यक्तिगत पूर्वग्रह नहीं है। इसी कारण अनेक स्वच्छन्दतावादी समीक्षकों ने काव्य के भाव पक्ष का उपयोगिता से संबंध जोड़ देने वाले आचार्य शुक्ल की उक्त मनोवृत्ति का खंडन किया, दूसरी ओर नयी समाज व्यवस्था चाहने वाले प्रगतिवादियों से इनकी बार बार शिकायत रही कि "ये साहित्य के मनोवैज्ञानिक और कलात्मक सौष्ठव की अपेक्षा उसमें अभिव्यक्त वर्गवादी सिद्धान्तों को अधिक महत्व देते हैं और वर्गवाद के आधार पर ही साहित्य का नया मानदण्ड स्थिर करना चाहते हैं। यह मतवादी प्रवृत्ति पूर्व युगों में भी अनेक रूपों में दिखाई देती रही है किन्तु यह साहित्यिक सिद्धान्त के रूप में कभी स्वीकार नहीं की गयी।[२]"

---

[१] विश्व साहित्य,—साहित्य,—रवीन्द्रनाथ टैगोर, पृ० ५७।

[२] आधुनिक साहित्य, पं० नन्ददुलारे वाजपेयी, पृ० २८८।

इस आनन्दवादी दृष्टिकोण का दूसरा परिणाम यह हुआ कि मुक्तक काव्य की तुलना में प्राप्त प्रबन्ध काव्य की महत्ता अस्वीकृत हो गयी। उल्टे इन समीक्षकों ने मुक्तकों—विशेषतया गीतों—को शुद्ध भाव की दृष्टि से प्रबन्धों की अपेक्षा श्रेष्ठ माना। क्योंकि इन गीतों में अनुभूति का आवेग अधिक होता है और इसलिए आनन्दोद्रेक करने की क्षमता भी अधिक होती है। लेकिन जहाँ इस समीक्षा ने शुद्ध भाव मूलक भक्ति-कालीन और छायावादी गीतों को नीतिमूलक प्रबन्धों की अपेक्षा श्रेष्ठ माना वहीं रीतिकालीन बाह्योन्मुख शृंगारी काव्य और भावहीन भक्ति काव्य के मुक्तकों को हीन ठहराया। "जहाँ एक ओर नए समीक्षकों ने विशुद्ध प्रेम गीतों को प्रबन्धमूलक रचनाओं और उनमें प्रदर्शित नीतिवाद से पृथक् और उच्चतर स्थान देने की चेष्टा की है वहीं दूसरी ओर भक्ति के नाम पर रचित भाव रहित शुष्क या शृंगारी काव्य को भी उन्होंने अलग कर दिया है। काव्य की परीक्षा काव्यात्मक और मनोवैज्ञानिक आधारों पर की गई है।[1]"

स्पष्ट है कि स्वच्छन्दतावादी समीक्षकों ने अपनी समीक्षा दृष्टि का निर्माण छायावादी रचनाओं पर किया और वे मुख्यतया छायावादी साहित्य के ही अनुशीलन में रत रहे, किन्तु इस दृष्टि का उपयोग उन्होंने सभी कालों के साहित्य के परीक्षण में किया। उन्होंने पूर्ववर्ती साहित्य का अनुसंधान और मूल्यांकन किया। स्वच्छन्दतावादी दृष्टि संपन्न आलोचकों में आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का नाम इस दृष्टि से उल्लेख्य है।

स्वच्छन्दतावादी समीक्षा की इस आनन्दवादी दृष्टि के साथ ही साथ उसकी मानवतावादी दृष्टि पर भी विचार कर लेना न्याय संगत होगा। कहा जा चुका है कि छायावाद या रोमांटिसिज्म का आन्दोलन मूलतः मानवतावादी था। अनेक कवियों और समीक्षकों ने यह विश्लेषण प्रस्तुत किया कि सामन्तवादी बंधनों से छूटकर मुक्त भाव से मानवीय अनु-भूतियों का चित्रण करना और उससे पाठकों के मन को आनन्द देना ही काव्य या साहित्य का लक्ष्य है। और यह सबसे बड़ा मानवतावादी आन्दोलन है। सामाजिक सदाचार, धर्म, नीति, सामयिक वास्तविकताएँ मन का सहज धर्म नहीं हैं ये ऊपर से आरोपित हैं अतएव सार्वभौम

---

[1] आधुनिक साहित्य, नन्ददुलारे वाजपेयी, पृ० २५८।

मानवता के पक्ष में बाधक । किन्तु यदि ध्यान से देखा जाय तो जाने या अनजाने ये समीक्षक बहुत दूर तक सामाजिक आचार, नीति और राजनीतिक आन्दोलनों की उपेक्षा नहीं कर सके हैं ।

यह सत्य है कि अनेक रूढ़ियों को तोड़ कर आई हुई यह चेतना बहुत ही महान मानवतावादी आन्दोलन के रूप में दिखाई पड़ती है किन्तु केवल इन रूढ़ियों को तोड़ देने से ही तो व्यक्ति की स्वतंत्रता और उसके विकास की संभावनाएँ सुरक्षित नहीं रह सकती थीं । समाज में नई व्यवस्था कायम हुई । इस नई व्यवस्था में आगे चलकर शोषण की अमानवीय लीलाएँ नग्न नृत्य करने लगीं और साधन सम्पन्नों के के प्रासाद में विलास, वैभव और भौतिक सुख विहँस रहे थे, दूसरी ओर रिक्त हस्त मजदूरों के घर कंगाली बिलख रही थी । इस विषम समाज व्यवस्था में व्यक्तिगत स्वातंत्र्य का मानवतावादी स्वर एकदम खतरे में पड़ गया और केवल आनन्दवादी स्वर साहित्य को घेरे नहीं रह सका । मानवतावादी साहित्य का अर्थ विकसित होकर सामाजिक उत्थान, सामाजिक आदर्श, सामाजिक त्याग और करुणा, सामाजिक सदाचार, राष्ट्रीय विकास आदि उदात्त स्वरों को स्वीकार करने लगा, यद्यपि कुछ समीक्षक बार बार यह दुहराना न भूले कि ये सब साहित्य के मौलिक तत्त्व नहीं हैं, ये बाह्य उपकरण हैं जो साहित्य को प्रभावित करते हैं ।

किन्तु आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने यह स्पष्ट घोषित किया कि साहित्य वही है जो अनुभूतियों के माध्यम से मनुष्य को ऊँचे उठाता है। जो मनुष्य की पाशव वृत्तियों को धीरे धीरे मिटाकर उसे क्रमशः देवत्व के स्तर की ओर ले जाता है। साहित्य वह है जिसे पढ़कर मनुष्य करुणा-दया सम्पन्न होता है, वह पीड़ितों के पीड़ा-निवारणार्थ आत्मत्याग करता है, दलित द्राक्षा की तरह अपना सब कुछ निचोड़ कर मानवता के चरणों पर अर्पित करने के लिए मनुष्य को सक्षम बनाता है, जो धनिकों और गरीबों के बीच फैली अमानवीय विषमता को मिटाता है, जो प्रेम और शान्ति का प्रसार करनेवाले सामाजिक संबंधों का समर्थन करता है । इसीलिए द्विवेदी जी राजनीतिक, आर्थिक या किसी प्रकार के सदोद्देश्य से प्रेरित आन्दोलन को साहित्य में समेटने के पक्षपाती हैं । श्री सुमित्रानन्दन पंत के काव्य और समीक्षा के स्वरों में यह मोड़ द्रष्टव्य है ।

पं० नन्ददुलारे वाजपेयी, पं० हजारी प्रसाद द्विवेदी, श्री मती महादेवी वर्मा और श्री शान्तिप्रिय द्विवेदी इन सभी छायावादी समीक्षकों ने छायावादी साहित्य का संबंध गाँधी जी के नेतृत्व में चलने वाले राष्ट्रीय आन्दोलन से माना है। यह व्यापक राष्ट्रीय एकता, राजनीतिक आन्दोलन, अहिंसावादी नैतिकता, सामाजिक सदाचार, त्याग, करुणा, कर्मठता (जो कि तथा कथित ऊपरी उपकरण हैं) इस समीक्षा दृष्टि को प्रभावित करती जान पड़ती है। प्रसाद ऐसे आनन्दवादी कवि अपने नाटकों, उपन्यासों, कहानियों और कविताओं में भी इस व्यापक आन्दोलन और आदर्श को प्रचुर मात्रा में स्वर देने लगे थे। पन्त, निराला और कुछ कुछ महादेवी में भी यह सामयिक लहर और राष्ट्रीय उत्कर्ष की भावना अभिव्यक्त होने से न रह सकी। इसलिए समीक्षकों ने भी आगे बढ़कर सामाजिक और विशेषतया राष्ट्रीय मूल्यों को साहित्यिक मूल्यों के साथ सम्बद्ध किया। पं० नन्ददुलारे वाजपेयी तो साहित्य के सामाजिक मूल्यों की ओर कम किन्तु राष्ट्रीय मूल्यों की ओर अधिक ध्यान देते हैं और राष्ट्रीयता के ही आवेश में नवीनतम साहित्य को विदेशी कहकर कुछ अच्छी निगाह से उसे देखते नहीं दिखाई पड़ते। तो भी धीरे-धीरे सामाजिक तत्त्वों ने उनका ध्यान आकृष्ट किया है।

इस संबंध में एक बात और कह देनी आवश्यक है। कहा जा चुका है कि रोमांटिसिज्म का आन्दोलन यूरोपीय देशों के स्वदेशी पूंजीवाद के विकास के साथ अग्रसर हुआ अतः उसमें प्रारंभ में बड़ा उल्लास था। नवीन आदर्शों की स्थापना का स्वर भी बड़ा स्पष्ट था। उसमें सामाजिकता की भावना भी मुखर थी। और संभवतः इसीलिए 'शैली' ने महाकाव्य को काव्य का सर्वोत्तम रूप कहा। "क्योंकि इस रूप विधान में अन्यान्य रूपों का एक प्रकार से अंतर्भाव हो जाता है। एक श्रेष्ठ महाकाव्य का रचयिता वही है जो अपने राष्ट्र और अपने युग के ज्ञान, भावनाओं और धर्म को अभिव्यक्त करता है। यदि कवि अपने युग और राष्ट्र को छोड़कर दूसरे युग और राष्ट्र को अपने काव्य का उपजीव्य बनाता है तो उसकी अनुभूति फर्स्ट हेंड नहीं हो सकती।" इस तरह वह तीन ही कवियों को—होमर, दांते और मिल्टन को—महाकवि स्वीकार करता है।

कालरिज तो और आगे बढ़कर स्रष्टा की अनुभूतियों को नहीं,

जगत् की अनुभूतियों को कला के लिए आवश्यक बताता है[1]। उसके अनुसार जो कवि जितनी ही तटस्थता बरतेगा वह उतना ही बड़ा कलाकार होगा। यद्यपि यह भी कहा जा सकता है कि कालिरिज ने अन्य स्थलों पर इसके विपरीत सिद्धान्त भी स्थापित किये हैं। मेरे कहने का तात्पर्य केवल इतना ही है कि रोमांटिक काव्य और समीक्षा छायावादी काव्य और स्वच्छन्दतावादी समीक्षा की अपेक्षा राष्ट्रीयता, सामाजिकता, और आदर्शवादिता पर अधिक बल देने वाली थी यद्यपि दोनों का दृष्टिकोण मूलतः आनन्दवादी था।

स्वच्छन्दतावादी समीक्षा ने एक और महत्वपूर्ण कार्य किया। छायावाद के पूर्व के आलोचकों ने विशेषतया कविताओं को ही समीक्षा का विषय बनाया और कविताओं के ही आधार पर अपना साहित्यिक दृष्टिकोण निर्मित किया। यहाँ तक कि आचार्य शुक्ल ने भी अपने समस्त समीक्षात्मक निबन्ध कवियों और कविताओं की ही समस्याओं पर लिखे (हिन्दी साहित्य के इतिहास की बात छोड़िये। इतिहास में तो सभी कुछ का लेखा जोखा देना ही पड़ेगा)। स्वच्छन्दतावादी समीक्षकों ने विभिन्न साहित्यिक विधाओं के प्रश्नों को समझने की कोशिश की और उनके व्यावहारिक रूपों का मूल्यांकन भी प्रस्तुत किया।

प्रभाववादी समीक्षा

स्वच्छन्दतावादी समीक्षा की विषय-प्रतिपादन-पद्धति शुष्क शास्त्रीय न होकर भी वस्तुगत और व्याख्यात्मक है। समीक्ष्य कृति को समक्ष रख कर समीक्षक उसकी भावगत गहराइयों और कलात्मक छवियों का विचार करता है। यथासंभव उस पर समाज और युग के पड़े हुए प्रभावों का विश्लेषण करता है। यह अवश्य है कि वह आचार्य शुक्ल की भाँति बीच-बीच में रसमय स्थलों की विवेचना करते समय रस में वह चलता है, भावों में तन्मय हो उठता है और व्यक्तिगत आह्लाद को बड़ी मुग्धता से व्यक्त करता है। और जब यही व्यक्तिगत आह्लाद वस्तुगत विवेचन को छोड़कर पूरे निवन्ध में व्याप्त हो उठता है और

---

[1] "A second promise of genius is the choice of subjects very remote from private interest and circumstances of the writer himself."

उसकी अभिव्यक्ति पद्धति भी विचारात्मक न होकर भावात्मक हो जाती है अर्थात् जहाँ विचारों का स्थान सहज प्रवृत्तियाँ (इनटयूशन्स) ले लेती हैं तब प्रभावात्मक समीक्षा का आविर्भाव होता है। स्वच्छन्दतावादी समीक्षा में इस प्रकार की समीक्षा का भी अभाव नहीं है। समीक्षाओं में आत्माभिव्यक्ति का पुट होना आवश्यक है परन्तु वस्तु के वस्तुगत रूप को सर्वथा छोड़कर आत्माभिव्यक्ति करने लगना समीक्षा के उत्तरदायित्व को न समझना है। प्रभाववादी समीक्षा के स्वरूप की व्याख्या आगे विस्तार से की गई है। यहाँ हमें यह देखना है कि स्वच्छन्दतावाद में प्रभाववादी समीक्षा का प्राचुर्य क्यों दिखाई पड़ा।

छायावाद की सामाजिक भूमिका का विश्लेषण करते हुए इस बात की ओर संकेत किया गया है कि छायावाद या रोमांटिसिज्म प्रारंभ में नई चेतना के अग्रदूत होने के कारण आशा उल्लास से मुखर थे। उनकी वैयक्तिक चेतनाएँ भी समाज विरोधी नहीं थीं किन्तु अपने उत्तरार्द्ध में छायावाद और रोमांटिसिज्म पूजीवाद की शोषण और दोहनवाली नीति से उत्पन्न निराशा और वेदना से आच्छन्न हो गया। व्यक्तिगत हास-विलास और पीड़ा में उसकी परिणति के गीत मुखर होने लगे। पं० नंददुलारे बाजपेयी ने इस बात की ओर संकेत किया है कि महादेवी और बच्चन में अति वैयक्तिकता घर कर गयी इसलिए वे छायावाद के कवि नहीं हैं। वे छायावाद के कवि हैं कि नहीं यह विवाद की बात है किन्तु यह निर्विवाद सत्य है कि इन दोनों कवियों में अति वैयक्तिक तत्त्व ही प्रधान है। आलोचनाओं में अतिवैयक्तिक तत्त्व प्रभाववादी समीक्षाओं के रूप में प्रकट होने लगे थे। संकेत किया जा चुका है कि स्वच्छन्दतावादी समीक्षाओं में समीक्ष्य कृतियों की छवियों से प्रभावित हृदय की तन्मयता और मुग्धता को भावुकता और अलंकरण के साथ व्यक्त करने की प्रवृत्ति शुरू से रही और यह प्रवृत्ति इंगलिश, बंगला, और हिंदी की नवीन स्वच्छन्दतावादी रचनाओं और युगीन चेतनाओं का प्रभाव थी। किन्तु ये प्रवृत्तियाँ वस्तुगत विवेचन के साथ रहीं। किन्तु बाद में वे अतिवैयक्तिकता के प्रसार के साथ सर्वथा स्वच्छन्द हो गई और ऐसी आलोचनाएँ दो रूपों में दिखाई पड़ीं—(१) समीक्षक अपने ऊपर पड़े हुए आलोच्य कृतियों के सौंदर्य के प्रभाव का उद्गार भावुकता के साथ अलंकृत शैली में करने लगे। (२) समीक्षकों का उद्देश्य किसी सिद्धान्त

और रचना का स्वरूप-विश्लेषण ही रहा किन्तु शैली प्रभाववादी रही अर्थात् वे विषय का प्रतिपादन भावुकता और अलंकरण के साथ करते रहे। पं० शान्तिप्रिय द्विवेदी के अधिकांश निबन्ध, डा० भगवत्शरण उपाध्याय द्वारा की गयी गुरुभक्त सिंह की 'नूरजहाँ' की समीक्षा आदि प्रथम कोटि में आते है और पन्त, महादेवी, डा० रामकुमार वर्मा तथा डा० नगेंद्र आदि के कुछ निबन्ध दूसरी कोटि में।

पं० नन्ददुलारे वाजपेयी

आचार्य शुक्ल ने लोक-धर्म का जो स्वरूप सत्साहित्य के परीक्षण के लिए निर्मित किया उसके कारण हिन्दी साहित्य की बहुत सी भाव-प्रवण कविताएँ कट कर अलग हो गई। उस काल की नई कविता (छाया-वादी कविता) का भी भाग्य ऐसा ही रहा। छायावाद की रहस्योन्मुखता और आत्यंतिक सूक्ष्मता के कारण शुक्ल जी ने इसे लोक की सामान्य रुचि के योग्य न समझा और इसलिए उन्होंने छायावादी कविताओं को अपना सहानुभूतिपूर्ण समर्थन नही दिया।

शुक्ल जी की छायावाद के प्रति बनी असहानुभूतिपूर्ण धारणाओं का विरोध दो ओर से हुआ। एक तो नये आलोचकों ने शुक्ल जी की छायावाद संबंधी धारणाओं को भ्रान्त बतलाया और दूसरी ओर स्वयं छायावादी कवियों ने अपनी कविताओं के संबंध में मार्मिक विश्लेषण प्रस्तुत किए। इन नये आलोचकों में पं० नन्ददुलारे वाजपेयी का स्थान प्रमुख है।

वाजपेयी जी ने पहले पहल बड़ी सहानुभूति और मनोयोग से छाया-वादी साहित्य की मूल प्रवृत्तियों को परखने की चेष्टा की। युग की परिवर्तित चेतना के साथ साहित्य की प्रवृत्तियाँ और अभिव्यक्तियाँ बदला करती हैं। छायावादी साहित्य भी अपनी युग-चेतना का प्रतिफलित रूप है। वाजपेयी जी ने इस पक्ष की स्थापना की। वाजपेयी जी ने छायावाद को शुक्ल जी की तरह पश्चिम और बंगला का अनुकरण न कह कर उसे रीतिबद्ध और द्विवेदीकालीन इतिवृत्तात्मक कविताओं की स्वाभाविक प्रतिक्रिया के रूप में स्वीकार किया जिसमें पश्चिम और बंगला के कवियों का भी प्रभाव था और साथ ही साथ राष्ट्रीय चेतना भी मुखर थी।

छायावादी कविता का भेदक स्वरूप है वैयक्तिक अनुभूति की अभिव्यक्ति। उसका यह स्वरूप उसे द्विवेदीकालीन अतिशय इतिवृत्तात्मकता और रीतिकालीन रूढ़िगत वर्णनों के प्रतिक्रिया-स्वरूप प्राप्त हुआ। छायावाद की वैयक्तिक अनुभूतियों की अभिव्यक्ति में नवीन जीवन दर्शन और नवीन शैली दृष्टिगत होती है। इस प्रकार उसने अपने पूर्ववर्ती युगों की बँधी-बँधाइ लीकों के प्रति क्रान्ति की और हिन्दी साहित्य को नई अनुभूतियों और नई रचना प्रणालियों से समृद्ध किया। इसकी इस देन को स्वीकार न कर पाना अपनी कृतघ्नता सूचित करना है।

वाजपेयी जी ने पहले पहल बड़े विश्वास और दृढ़ता के साथ इस सत्य का उद्घाटन किया कि छायावाद शैली मात्र नहीं है। उसका अपना जीवन दर्शन भी है और उसकी अपनी भाव संपत्ति भी है। "छायावाद का आरंभ मध्यकालीन रीतिकाव्य के आत्यतिक विरोध में हुआ था। न केवल रचना शैली में, वरन् नवीन जीवन-दृष्टि और उसकी भावना-कल्पना में छायावाद के कवियों ने वैयक्तिक अनुभूति को मुख्य साधन माना था जब कि गुप्त जी के पदों में पौराणिक भावना और संस्कार तथा रीतिबद्ध-वर्णन शैली का प्रभाव विद्यमान है[1]।"

छायावाद की विशेषताओं को द्विवेदीकालीन कविताओं की सापेक्षता में अच्छी तरह देखा जा सकता है। द्विवेदी-शैली को हम खड़ी बोली की आरंभिक प्रयोगात्मक शैली कह सकते हैं। उस युग का काव्य किसी व्यवस्थित काव्य स्वरूप के अंतर्गत नहीं आता। वह एक प्रकार से विशुद्ध काव्य है भी नहीं। उसे हम पद्यबद्ध रचना भी कह सकते हैं। उसमें काव्य भावना या वस्तु चित्रण से पृथक् उपदेश का पुट है। मुक्तक पदों में भी निबन्धों के ढंग का सा वस्तु विन्यास पाया जाता है। अनावश्यक इतिवृत्त और काव्य भावना का विक्षेप स्थान स्थान पर मिलता है। द्विवेदी जी ने काव्य की भाषा पर अपना वक्तव्य देते हुए यह कहा है कि गद्य और पद्य में एक ही भाषा, एक ही सी शब्दावली होनी चाहिए। इस वक्तव्य से लक्षित यह होता है कि काव्य का स्वरूप उस समय इतना अविकसित था कि कविता और गद्य के भाषा-प्रयोग संबंधी अन्तर की ओर भी दृष्टि नहीं जा सकी[2]।"

---

[1] आधुनिक साहित्य, पं० नन्ददुलारे वाजपेयी, पृ० ३।

[2] वही, पृ० ४।

"उस युग के श्रेष्ठ कवियों की रचना शैली पर भी विशुद्ध काव्य-पद्धति के स्थान पर भाषण पद्धति की छाप देखी जाती है। भावना का अभिव्यंजना या रचना से अभिन्न संबंध न स्थापित होने के कारण उक्तियों का चमत्कार और मुक्तक प्रणाली की अन्य विशेषताएँ इस युग की कविता शैली के साथ लगी रह गई है। छन्दों के व्यवहार में या तो संस्कृत छन्दों का प्राधान्य है या हिन्दी के पुराने छन्दों का। अलंकार योजना में भी प्राचीन क्रमागत पद्धति का प्रभाव स्पष्ट है। नई कल्पना का संबंध नये वस्तु जगत और कवि की नवीन जीवन दृष्टि से होता है पर उसका संपूर्ण विकास द्विवेदी युग के काव्य में नहीं हो पाया। पं० अयोध्या सिंह उपाध्याय जैसे कवि भी अपने प्रियप्रवास में पवन दूत की योजना करते हैं जो मेघदूत की छाया लिए हुए हैं और मैथिलीशरण जी साकेत के नवम सर्ग में भी ऋतु-वर्णन की पुरानी परिपाटी और पुराने भाव संकेतों को नहीं छोड़ सके हैं[१]।"

वाजपेयी जी के उपर्युक्त उद्धरणों में हमें एक ओर तो छायावादी काव्य की नवीन मौलिक उद्भावनाओं का मूल्य आंकने के लिए पृष्ठभूमि मिल जाती है, दूसरी ओर स्वतः उस पृष्ठभूमि (द्विवेदी कालीन कविता) के वास्तविक स्वरूप को सच्चाई से समझने में सहायता मिलती है। द्विवेदीकालीन कविता के अविकसित स्वरूप के कारणों का भी निर्देश करना वाजपेयी जी भूले नहीं हैं। पहली बात तो यह कि स्वामी दयानन्द का आर्यसमाजी आन्दोलन अपनी बौद्धिकता और नैतिकता के साथ छाया हुआ था। दूसरी बात यह थी कि उस समय खड़ी बोली गद्य का आन्दोलन चल रहा था। उस आन्दोलन में तार्किक पद्धति से पक्ष-समर्थन का बोलबाला था।

छायावाद की कविताओं का विचार करते हुए वाजपेयी जी ने एक भ्रांत धारणा का खण्डन किया कि शैली और अनुभूति अलग अलग दो वस्तुएँ हैं। जहाँ शैली और अनूभूति में पार्थक्य होकर शैली की प्रधानता हो जाती है, वहाँ रीतिवादी रूढ़ काव्य का निर्माण होने लगता है और जहाँ अनुभूति के फेर में शैली की उपेक्षा होने लगतौ है वहाँ रूखापन आने लगता है। छायावाद में अनुभूति, दर्शन और शैली तीनों का

[१] आधुनिक साहित्य, पं० नन्ददुलारे वाजपेयी, पृ० ४।

संयुक्त संबंध था। अर्थात् परिवर्तित जीवन दर्शन की अभिव्यक्ति के लिए ही नवीन शैली का आविष्कार हुआ।

छायावाद का स्वरूप

(१) दर्शन :—"छायावाद अपनी छायात्मक निगूढ़ अभिव्यक्तियों के कारण आध्यात्मिक काव्य कहा जा रहा था। पूर्ववर्ती भक्ति काव्य की साकार वर्णनाओं के विपरीत इसकी निराकार पद्धति थी किन्तु इसका यथार्थ स्वरूप अब तक स्पष्ट नहीं किया गया।" छायावादी कविताओं में पाठक को सर्वत्र आध्यात्मिक दृष्टिकोण मिलता है और प्रायः समीक्षक उसे ईसाइयों, ब्रह्मसमाजियों की नकल कह दिया करते थे या कुछ लोग उनमें अपने यहाँ के भक्तिकाल की पुनराभिव्यक्ति देखते थे। वाजपेयी जी ने इन दोनों भ्रांतियों का निवारण किया। छायावाद का आध्यात्मिक दृष्टिकोण भक्तिकालीन सगुणमार्गी और निर्गुणमार्गी दृष्टिकोणों से भिन्न है। भक्तिकाल में "आध्यात्मिक काव्य के लिए एक अखण्ड सत्ता का स्वीकार—वह प्रेममय हो, ज्ञानमय या आनन्दमय—जितना आवश्यक था, सांसारिक सत्ता या व्यावहारिक जीवन का अस्वीकार भी उतना ही अनिवार्य हो गया था।" "इस प्रकार हम देखते हैं कि मध्यकालीन अधिकांश काव्य, वह किसी वाद या संप्रदाय से संबद्ध क्यों न हो, अलौकिक वातावरण और आध्यात्मिकता का ही दावा करता रहा।" मध्यकालीन आध्यात्मिकता और छायावादी आध्यात्मिकता का एक में घालमेल कर देने वालों में वाजपेयी जी नही है। उन्होंने दोनों का अन्तर स्पष्ट किया। "नई छायावादी कविता का भी एक अध्यात्मिक पक्ष है परन्तु उसकी मुख्य प्रेरणा धार्मिक न होकर मानवीय और सांस्कृतिक है। उसे हम बीसवीं शताब्दी की वैज्ञानिक और भौतिक प्रगति की प्रतिक्रिया भी कह सकते हैं। आधुनिक परिवर्तनशील समाज व्यवस्था और विचार जगत् में छायावाद भारतीय आध्यात्मिकता की नवीन परिस्थिति के अनुरूप स्थापना करता है। जिस प्रकार मध्ययुग का जीवन भक्तिकाव्य में व्यक्त हुआ, उसी प्रकार आधुनिक जीवन की अभिव्यक्ति इस काव्य में हो रही है। अन्तर है तो इतना ही है कि जहाँ पूर्ववर्ती भक्तिकाव्य में जीवन के लौकिक और व्यावहारिक पहलुओं को गौण स्थान देकर उनकी उपेक्षा की गई थी वहाँ छायावादी काव्य, प्राकृतिक सौन्दर्य और सामाजिक जीवन-

परिस्थितियों से ही मुख्यतः अनुप्राणित है। इस दृष्टि से वह पूर्ववर्ती भक्ति काव्य की प्रकृति-निरपेक्षता और संसार मिथ्या की सैद्धांतिक प्रतिक्रियाओं का विरोधी भी है[१]।"

भक्तिकालीन काव्य और छायावादी काव्य के आध्यात्मिक पक्षों में एक अन्तर यह भी है कि छायावादी काव्य भक्तिकाल की काव्य-धारा की तरह किसी क्रमागत साम्प्रदायिकता या साधना परिपाटी का अनुगमन नहीं करता। "दैन्य से पीड़ित और प्रताड़ित तथा भोगैश्वर्य से प्रसक्त और परिवेष्ठित व्यक्ति, समुदाय, देश, राष्ट्र या सृष्टिचक्र के विभेदों में अध्यात्मवाद नहीं जा सका। समय और समाज की आन्दोलित करने वाली शक्तियों का आकलन उसमें कम ही है।......छायावाद की काव्य सरणी इन अध्यात्मवादी सीमा निर्देशों से आबद्ध नहीं है, वह भावना के क्षेत्र में किसी प्रकार का प्रतिबन्ध स्वीकार नही करती।"[२]

भक्तिकालीन काव्य प्रवृत्ति की उपेक्षा करता है जब कि छायावादी काव्य अपने समस्त प्रेरणा प्रकृति के सौन्दर्य से ही प्राप्त करता है।

(२) छायावाद की भाव भूमि :—छायावादी काव्य वैयक्तिक अनुभूतियों से प्रेरित है। प्रत्येक कवि की कृतियों में उसका व्यक्तित्व बोलता है। पिछले काव्यों में ऐतिहासिक, पौराणिक पात्र या घटनायें या कुछ परिपाटी में बँधे महान विषय ही काव्य के लिए स्वीकृत थे लेकिन छायावादी कवियों ने इस सीमा को तोड़कर विषय का विस्तार किया। उन्होंने छोटी-बड़ी सभी प्रकार की वस्तुओं को काव्य के लिये ग्रहण किया।

(३) जीवन की अभिव्यक्ति :—छायावादी कविताओं में युग और जीवन की अभिव्यक्ति के संबंध में आलोचकों में मतैक्य नहीं है। कुछ समीक्षक इसे जीवन से पलायन मानते हैं और कुछ की यह सशक्त स्थापना है कि छायावाद अपने युग का प्रतिनिधि काव्य है। वाजपेयी जी इसी मत के समर्थक हैं। "नवीन काव्य (छायावादी काव्य, प्रस्तुत लेखक) में समस्त मानव अनुभूतियों की व्यापकता पूरा स्थान पा सकी।" आधुनिक जीवन की अभिव्यक्ति इस काव्य में हो रही है।

---

[१] आधुनिक साहित्य, पं० नन्ददुलारे वाजपेयी, पृ० ३१९-२०।

[२] वही, पृ० २२२।

जीवन की अभिव्यक्ति इस काव्य में हो रही है। "छायावादी काव्य प्राकृतिक सौन्दर्य और सामायिक जीवन-परिस्थितियों से ही मुख्यतः अनुप्राणित है।" इसके पहले कि वाजपेयी जी के उपर्युक्त कथन के संबंध में कुछ विचार किया जाय उन्हीं के आत्मविरोधी स्वर को समझ लिया जाय। वाजपेयी जी छायावाद को वैयक्तिक अनूभूतियों से अनुप्राणित मानते हैं। उन्होंने प्रसाद और पन्त का जो प्रारंभिक विकास दिखाया है उससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि छायावाद के इन प्रवर्त्तकों का मूल स्वर व्यक्तिवादी था। वैयक्तिक अवसाद, प्रेम, मिलन, विरह ही इनकी अनुभूतियों की सीमा थे। धीरे-धीरे इन कवियों ने आध्यात्मिकता के बल पर इन व्यक्तिगत अनुभूतियों को एक संयत रूप दे दिया है। वाजपेयी जी के इस प्रकार के विचारों में मेल नहीं बैठता। एक ओर वे कवि प्रेम के विरह मिलन के, प्रकृति सौन्दर्य के गीत लिख रहे थे दूसरी ओर राष्ट्रीय स्वातंत्र्य का युद्ध चल रहा था, गांधी जी अध्वर्यु थे। जनता में अद्‌भुत उत्साह, सक्रियता और लगन दिखाई पड़ रही थी। यह अवश्य था कि बीच-बीच में असफलताएँ भी आती थीं और थोड़ी देर के लिए निराशा की रेखाएँ खींच जाती थी। लेकिन संपूर्ण रूप में उस जन-उल्लास में कोई कमी नहीं आती थी। वाजपेयी जी भी इसे स्वीकार करते हैं। अब प्रश्न यह है कि इस राष्ट्रीय संग्राम का उल्लास और सामाजिक सक्रियता इन छायावादी कविताओं में कहाँ है? वाजपेयी जी ने छायावाद के प्रति अपने अतिरिक्त प्रेम के कारण इस प्रश्न के उत्तर की भी व्यवस्था कर दी है और संभावना के आधार पर वे यह मत व्यक्त करते हैं—

"खेद और आश्चर्य की बात हैं कि हमारे कतिपय समीक्षकों ने इस अत्यन्त सीधी और सच्ची बात को भी समझने की चेष्टा नहीं की कि हमारे इस युग के साहित्य की मुख्य प्रेरणा राष्ट्रीय और सांस्कृतिक है तथा इससे भिन्न वह कुछ और हो भी नहीं सकती थी। राष्ट्रीयता ने हमारे समस्त सामाजिक जीवन को अनेक रूपों में आन्दोलित कर रखा था और हमारे कवि और लेखक भी इस दुर्दमनीय प्रभाव से बच नहीं सकते थे।"[१] सैद्धांतिक रूप से इस कथन में सचाई है किन्तु वाजपेयी जी

---

[१] आधुनिक साहित्य, पं० नन्ददुलारे वाजपेयी, पृ० २२।

ने छायावादी कवियों की परीक्षा इस कसौटी पर नहीं की। इसलिए उनके कथन की सत्यता सैद्धांतिक होकर ही रह गई है।

वाजपेयी जी अपने कथन को सत्य प्रमाणित करने के लिए छायावाद काव्य में अभिव्यक्त राष्ट्रीयता और संस्कृति के स्वरूप की व्याख्या कुछ यों करते हैं—"विश्व साहित्य में भी श्रेष्ठ किन्तु कोरी राष्ट्रीय कविताओं की संख्या थोड़ी ही है। नव युग के कवियों ने इस तथ्य को स्वभावतः समझ लिया था और इसलिए उनकी रचनाएँ राष्ट्रीय न रह कर अधिक राष्ट्रीय और सांस्कृतिक भूमियों पर पहुँची थीं[1]।"

यह सत्य है कि साहित्य में व्यक्त होनेवाली राष्ट्रीयता और दार्शनिकता कल्पनाओं और अनुभूतियों के झीने परदे में से जब छनकर आती है तभी साहित्य के काम की हो पाती है लेकिन किसी न किसी रूप में उनका दर्शन होगा तभी तो उनका अस्तित्व मालूम पड़ेगा। वाजपेयी जी स्वयं स्वीकार करते हैं कि प्रसाद जी आँसू तक मुख्यतया वैयक्तिक प्रेम की अभिव्यक्ति में लगे रहे। उनकी कामायनी ही एक ऐसा काव्य है जो बहुत दूर तक युग और जीवन की सामूहिक राष्ट्रीय तथा सांस्कृतिक चेतना का वाहक बन पाई। पन्त जी की कविताओं का वास्तविक सौन्दर्य वाजपेयी जी "पल्लव" और "गुंजन" तक मानते हैं और यह स्पष्ट है कि पल्लव और गुंजन तक कवि मूख्यतया व्यक्तिवादी ही रहा है। जीवन की व्यापक अनुभूतियों से उसका काव्य उष्म नहीं हो पाया है। निराला में अनुभूतियों की विविधता है लेकिन हम नहीं कह सकते कि उनमें भी युग की सामाजिक चेतना का पूर्णतः अंकन है। बाद में आनेवाली महादेवी जी तो अति एकान्त हो उठी हैं।

मैंने मुख्यतया शब्द का प्रयोग किया है अर्थात् छायावाद के मूल स्वर की परीक्षा की है। छायावाद की कविताओं में जीवन के ओज तत्त्व, सामाजिक संघर्ष की उष्णता, सामाजिक दशा के चित्रण का जो यत्र तत्र आभास मिल जाता है वह छायावादी काव्य का मूल स्वरूप नहीं है। जहाँ वाजपेयी जी ने छायावादी कविता को एक ओर राहु के ग्रास से मुक्त किया वहीं उस पर अत्यंत अधिक प्रकाश आरोपित करने का

---

[1] आधुनिक साहित्य, पं० नन्ददुलारे वाजपेयी, पृ० २९।

पक्षपात किया। लगता है छायावादी कविता के सामाजिक पक्ष का समर्थन करते हुए उनका भी मन निःशंक नहीं था। इसलिए ये आत्मविरोधी बातें कह गये हैं। प्रगतिशील साहित्य की समीक्षा करते समय उनके ये वाक्य—"न हम आए हुए प्रभावों अथवा नवीनता के झोंके में बह जाँय और न विगत आदर्शों का स्वप्न देखते रहें। निराशा के लिए निराशा की फुलझड़ियाँ बरसाना हम साहित्य में बन्द कर दें और साथ ही आकाश कुसुमों की आशा भी छोड़ दें[१]।" छायावाद की विशेषताओं की ओर संकेत करते हैं।

छायावाद को जहाँ तक हम रीतिकालीन कविता और द्विवेदी कालीन कविता के परिपार्श्व में देखते हैं वहाँ तक उसके क्रान्तिकारी स्वरूप को अवश्य ही जीवन के नवीन रूप से स्पंदित पाते हैं। उसके इस क्रांति-कारी रूप की विवेचना पीछे हो चुकी है। उसने सुन्दर प्रेम की कल्पना की, अति वायवी सौन्दर्य की कल्पना की किन्तु सर्वत्र समाज के भीतर नहीं, बाहर किसी अतीन्द्रिय लोक में। यह सत्य है कि उसमें अनुभू-तियों, भावों, व्यक्तिगत दृष्टियों का एक अद्भुत समारोह दिखाई पड़ता है जिसका मानव जीवन से तथा नए युग से बहुत कुछ भावात्मक संबंध था किन्तु अनेक स्थलों पर अभावात्मक और निराशामूलक स्वर छाया हुआ है। जो भी हो भावात्मक और अभावात्मक दोनों पक्षों को देखते हुए हम यह नहीं कह सकते हैं कि छायावादी काव्य में तत्कालीन राष्ट्रीय सांस्कृतिक और सामाजिक जीवन का व्यापक यथार्थ और जन जीवन के विविध संबंध स्पंदित हैं।

छायावाद के संबंध में विचार करते हुए वाजपेयी जी ने एक महत्व-पूर्ण बात की चर्चा एकदम छोड़ दी। उन्होंने उस समय के राष्ट्रीय आन्दोलन की बात तो की, संस्कृति का भी स्मरण किया लेकिन छायावादी कविता को उस काल में हो रहे सामाजिक परिवर्तनों के प्रकाश में नहीं देखा। मेरा मतलब औद्योगिक क्रान्ति के कारण बनते हुए नए वर्गों और उनके अवश्यंभावी परिणामों से है। ऐसा न कर सकने के कारण वे छायावादी कविता के जीवन संबंधी स्वर का उचित विश्लेषण नहीं कर सके हैं।

---

[१] आधुनिक साहित्य, पं० नन्ददुलारे वाजपेयी, पृ० ३२८।

आलोचना-सिद्धान्त संबंधी दृष्टिकोण

आलोचना सिद्धान्तों के क्षेत्र में जैसी स्पष्ट मान्यता शुक्ल जी की दिखाई पड़ी वैसी अन्य किसी की नहीं। इतनी सफाई और विश्वास से अपनी मान्यता प्रस्तुत करने की न तो किसी में शक्ति दीखती है और न साहस। बाजपेयी जी के समीक्षा सिद्धान्त संबंधी निबन्ध बहुत थोड़े हैं। जो हैं भी उनमें से कुछ तो पाश्चात्य और पौर्वात्य आचार्यों के मतों को प्रस्तुत करते हैं और कुछ ऐसे हैं जो वाजपेयी जी के साहित्य संबंधी विचार व्यक्त करते हैं। साहित्य समीक्षा संबंधी उनके विचार उन्हीं के शब्दों में ये हैं—

"समीक्षा में मेरी निम्नलिलित मुख्य चेष्टाएँ हैं जिनमें क्रमशः ऊपर से नीचे की ओर प्रमुखता कम होती गई है"—

(१) रचना में कवि की अन्तर्वृत्तियों (मानसिक उत्कर्ष अपकर्ष) का अध्ययन (एनालिसिस आफ पोयटिक स्पिरिट)।

(२) रचना में कवि की मौलिकता, शक्तिमत्ता और सृजन की लघुता विशालता (कलात्मक सौष्ठव) का अध्ययन (एस्थेटिक एप्रीसियेशन)।

(३) रीतियों, शैलियों और रचना के वाह्यागों का अध्ययन (स्टडी आफ टेकनिक)।

(४) समय और समाज तथा उनकी प्रेरणाओं का अध्ययन।

(५) कवि की व्यक्तिगत जीवनी और रचना पर उसके प्रभाव का अध्ययन (मानस विश्लेषण)।

(६) कवि के दार्शनिक, सामाजिक और राजनीतिक विचारों आदि का अध्ययन।

(७) काव्य के जीवन संबंधी सामंजस्य और सन्देश का अध्ययन।

······यदि एक ही वाक्य में कहना हो तो कहा जा सकता है कि साहित्य के मानसिक और कलात्मक उत्कर्ष का आकलन करना इन निबन्धों का प्रधान उद्देश्य रहा है। यद्यपि काव्य की सामयिक प्रेरणा के निरूपण में भी मैं उदासीन नहीं रहा हूँ। मेरी समझ में समस्त वादों के परे साहित्य समीक्षा का प्रकृत पथ यही है। इसी माध्यम से साहित्य का स्थायी और सांस्कृतिक मूल्य आंका जा सकता है[1]।"

---

[1] हिं० सा० बीसवीं शताब्दी, पं० नन्ददुलारे वाजपेयी, पृ० २९।

स्पष्ट है कि वाजपेयी जी रचना को उसमें व्यक्त कवि की अन्तर्वृत्तियों की कसौटी पर परखने के पक्षपाती हैं। यद्यपि यह वाक्य बहुत साफ नहीं है (और यह दोष वाजपेयी जी की प्रारंभिक समीक्षाओं की प्रकृति रहा है) तो भी संभवतः इसका तात्पर्य यह है कि कविता की ऊँचाई-नीचाई भावों की ऊंचाई-नीचाई (मानसिक उत्कर्ष अपकर्ष) पर ही अवलम्बित है। वाजपेयी जी की इस स्थापना से एक महत्वपूर्णकार्य यह हुआ कि शुक्ल जी की नैतिकता युक्त रसवादी परंपरा में जो कविताएँ नहीं अँट पाती थीं वे भी साहित्य में अपना उचित स्थान पाने लगीं।

लेकिन एक प्रश्न उठ खड़ा हुआ कि इस "मानसिक उत्कर्ष अपकर्ष" की कसौटी क्या है? तीव्र ढंग से भावों की मार्मिक व्यंजना करनेवाली दो कविताओं का तारतमिक मूल्यांकन कैसे संभव होगा? "कवि की अन्तर्वृत्तियों की छानवीन जरूरी है" किन्तु क्या कविता में कवि की अन्तर्वृत्तियों की सफल अभिव्यंजना देखकर ही हम उसे उच्च कोटि का काव्य कह सकते हैं। ऐसा लगता है कि यह वैयक्तिक दृष्टिकोण होगा। छायावाद की कविताओं को सर्वांशतः उत्कर्षोत्फुल्ल सिद्ध करने के लिए यह कसौटी आवश्यक थी। हम यह मानते हैं कि रचना की सफलता की पहली कसौटी भावों और अनुभूतियों की मार्मिक व्यंजना ही है किन्तु वे भाव और अनुभूतियाँ किसकी? केवल कवि के या समाज के? आत्मगत या वस्तुगत? इसका स्पष्ट उत्तर वापपेयी जी के उस वाक्य से नहीं मिलता। सवाल उठाया जा सकता है कि समाज की अनुभूतियाँ भी जब व्यक्त होती है तो कवि की अपनी अनुभूतियाँ होकर ही। अतः कवि की अन्तर्वृत्ति में इन दोनों प्रकार की वृत्तियों का समावेश हो जाता है। तब यह प्रश्न होता है कि अनुभूति निरूपक दो कविताओं में कौन श्रेष्ठतर है? इसका उत्तर पाने के लिये हमें अनुभूतियों की व्यापकता (यह हम मान लेते हैं कि गहराई दोनों में समान है) की ओर जाना पड़ेगा अर्थात् समाज के व्यापक जीवन को अपने सामने रखना पड़ेगा। जन-जीवन की अनुभूतियों, संस्कारों, संबंधों को अत्यधिक गहराई, ईमानदारी और कलात्मक ढंग से व्यक्त कर पाना ही रचना की सफलता है ऐसा हम मानते हैं।

यह हम स्वीकार करते हैं कि वाजपेयी जी ने रचना की परख के लिए उसमें समय और समाज तथा उनकी प्रेरणाओं को भी खोजने की

बात कही है, कवि के दार्शनिक, सामाजिक और राजनीतिक विचारों आदि का अध्ययन भी करने का निर्देश किया है लेकिन उसका स्थान अत्यन्त गौण निश्चित किया है। अर्थात् वे हों तो अच्छी बात, न हों तो कोई बात नहीं। हम भी यह नहीं कहते कि प्रत्येक कविता में सामाजिक और युगीन स्वर का संधान जबरदस्ती करना ही चाहिए। हमारे कहने का तात्पर्य यह है कि जिस रचना में सामाजिक और युगीन प्रेरणाएँ होती हैं, वह प्राणवान होती है, ताजी होती है और समाज की प्रतिनिधि होती है। यदि इस युग में कोई कवि सच्चे मन से राम या कृष्ण की भक्ति करने बैठे या कोई किसी प्रेमिका की प्रतीक्षा में प्राप्त विकल वेदना का चित्र उतारे तो क्या वह काव्य आज के पाठकों की रुचि को तुष्टि प्रदान कर सकता है? क्या उसे सफल काव्य कहा जा सकता है? व्यक्तिगत तोष की दृष्टि से उसे आप चाहे जो कह लीजिए लेकिन सामाजिक पाठक की दृष्टि में उसका मूल्य बहुत ऊँचा नही होगा। इसलिए हम मानते हैं कि सामाजिक और युगीन प्रेरणाएँ, नये प्रकार के यथार्थ काव्य की सफलता के लिये उतनी ही आवश्यक हैं जितनी कि अनुभूतियाँ। बल्कि यों कहा जाय कि कवि बदले हुए समाज के रूपों से ही अपनी अनुभूतियों का, अपनी चित्तवृत्तियों का निर्माण और विस्तार करे, नहीं नो वह प्राचीन संस्कार ग्रस्त और व्यक्तिगत अनुभूतियों के जाल में ही उलझ कर रह जायगा।

रचना के कलात्मक सौष्ठव, रीतियों, शैलियों और रचना के वाह्यांगों का अध्ययन निर्विवाद रूप से आवश्यक है। कवि की मौलिकता रचना के लिये अत्यन्त अनिवार्य विशेषता है। वाजपेयी जी ने इन तत्त्वों के ऊपर सम्यक् रूप से विचार किया है। "कवि की व्यक्तिगत जीवनी और रचना पर उसके प्रभाव का अध्ययन भी" कभी-कभी बहुत काम का सिद्ध होता है।

वाजपेयी जी ने अपनी स्थापना में अन्तिम स्थान दिया 'काव्य के जीवन संबंधी सामंजस्य और सन्देश का अध्ययन' को। यह ठीक भी है। ऊपर जहाँ हमने सामाजिकता की बात कही है, वहाँ उसका नैतिकता से सम्बन्ध जोड़कर भ्रम की सृष्टि नहीं करनी चाहिए। नैतिकता शब्द अपने रूढ़ अर्थ में बहुत ही निकृष्ट वस्तु है—कम से कम

साहित्य के लिए। समाज के स्वस्थ यथार्थ को पहचानकर उसका चित्रण कर देना कला की दृष्टि से अलम् होता है, उससे नवीन नैतिकता अपने आप ध्वनित होती है। और ऐसी नैतिकता को हम समीक्षा सिद्धान्त में सामाजिक स्वरूपों के चित्रण के साथ ही संपृक्त रखते हैं। हाँ, अलग से किसी प्रकार के जीवन सन्देश को आरोपित करने का प्रयास महत्वहीन है और उसे सबसे अन्त में स्थान मिलना ही चाहिए।

बीसवीं शताब्दी की इस सैद्धान्तिक स्थापना के बाद इस प्रकार की संबद्ध स्थापना उनके नवीनतम ग्रंथ 'नया साहित्य नये प्रश्न' में मिलती है। आधुनिक साहित्य में लेखक ने समीक्षा संबंधी सप्त सूत्र प्रस्तुत किये हैं। प्रस्तुत पुस्तक में भी इन्होंने 'समीक्षा सम्बन्धी मेरी मान्यताएँ' शीर्षक से एक निबन्ध दिया है। यह नहीं कहा जा सकता कि नया सिद्धान्त पुराने का पिष्टपेषण है वरन् दोनों निबन्धों का अलग-अलग क्षेत्र है। 'समीक्षा सम्बन्धी मेरी मान्यताएँ' में लेखक ने यह प्रतिपादित करने की चेष्टा की है कि 'जीवन और साहित्य का सम्बन्ध क्या हो ?' 'जीवन का कौन सा रूप साहित्य में गृहीत हो।' 'राष्ट्रीयता का साहित्य में क्या स्थान हो ?' वाजपेयी जी का दृष्टिकोण क्रमशः सामाजिक और व्यापक होता गया है। पहले की समीक्षाओं में जहाँ उन्होंने व्यक्तिगत अनुभूति को ही अधिक महत्व दिया वहाँ उन्होंने पिछली आलोचनाओं में सामाजिक अनुभूति, राष्ट्रीय चेतना और जीवन सम्बन्धी विचारों की अनिवार्यता स्वीकार की।

'नयासाहित्य नये प्रश्न' के पहले लिखी गई उनकी समीक्षाओं में व्यक्तिगत अनुभूति की अपेक्षा सामाजिक और विभिन्न युगीन प्रेरणाओं को गौण स्थान दिया है किन्तु व्यावहारिक समीक्षाओं में उन्होंने सामाजिक जीवन का अवलम्ब सर्वत्र पकड़े रहना चाहा है। मानवीय दृष्टि भी उन पर हावी रही है। छायावादी कवियों को उन्होंने पलायनवादी के कलंक से बचाकर समाज और राष्ट्र का प्रतिनिधि सिद्ध करने का भरपूर प्रयास किया है। गुप्त जी और प्रसाद जी की तुलना में उन्होंने प्रसाद जी को गुप्त जी की अपेक्षा युग के प्रति अधिक सजग बतलाया है। "गुप्त जी एक युग पहले का मध्यवर्गीय संतोष हमें सिखाते हैं,

उन्हें आज की आग का अन्दाज नहीं है[1]" "प्रसाद जी नारी और पुरुष को समता और सहकारिता के सूत्र में बाँधकर एक संघटित मोर्चा तैयार करते हैं। प्रसाद जी का मानव धर्म की रूढ़ियों से छूटकर आत्मा की अमरता की सीख लेता है और खुली आँखों सांसारिक स्थिति को देखता है। व्यक्तिगत सुख-दुःख से ऊपर उठानेवाली आध्यात्मिकता और रहस्य भावना का प्रयोग जीवन से पराङ्मुख करने का साधन क्यों माना जाय ?[2]"

लेकिन उनका सामाजिक यथार्थ भी बहुत कुछ स्पष्ट नहीं। वे सामाजिक यथार्थ की अपेक्षा राष्ट्रीय चेतना और संस्कृति की बात अधिक करते हैं। वे शायद यह स्वीकार करते हुए दिखाई नहीं पड़ते हैं कि आधुनिक युग में ज्ञान विज्ञान, संस्कृति सभ्यता, भाव और विचार राष्ट्रीय सीमाओं को तोड़कर अंतर्राष्ट्रीयता को समेट रहे हैं। युग की विराट धड़कन सभी देशों की शिराओं में समान भाव से (या कुछ कम वेश मात्रा में) स्पंदित हो रही है। शायद इसी कारण वाजपेयी जी साहित्य के क्षेत्र में राजनीतिक चेतना आदि बाहरी तत्त्वों के प्रवेश की कोई आवश्यकता नहीं समझते। यह सत्य है कि हर देश के साहित्य का स्वरूप वहाँ की सांस्कृतिक और राष्ट्रीय परम्पराओं तथा स्थितियों से अत्यधिक प्रभावित होता है। बल्कि यही तत्त्व विभिन्न देशों की साहित्यिक कृतियों के व्यक्तित्व-विधायक होते हैं किन्तु वर्तमान युग में इनके साथ-साथ कुछ ऐसी सार्वभौम चेतनाएँ आन्दोलित हो रही हैं जो समस्त देशों के साहित्यों के स्वरूप निर्माण में सहायक हो रही हैं। राष्ट्रीय चेतना के आवेश में इन अन्तर्राष्ट्रीय तत्त्वों की उपेक्षा अवैज्ञानिक होगी।

राजनीतिक और सामाजिक चेतना को बहुत अच्छा स्थान न दे सकने के कारण ही वाजपेयी जी प्रेमचंद को कभी प्रथम श्रेणी का कलाकार नहीं मान सके। उन्हें वे प्रोपेगैन्डिस्ट मानते हैं। लेकिन वाजपेयी जी ने सर्वत्र प्रोपेगैन्डा की निन्दा की हो ऐसी बात नहीं। प्रसाद जी के 'कंकाल' में उन्होंने स्पष्ट प्रोपेगैन्डा का स्वर स्वीकार किया है और उसकी स्तुति भी की है। इस प्रकार उनकी स्थापनाओं और व्यावहारिक आलोचनाओं में व्यक्त विचारों की असंगतियों का अभाव नहीं है।

---

[1] हि० सा० बीसवीं शताब्दी, पं० नन्ददुलारे वाजपेयी, पृ० १२८।
[2] वही, पृ० १२८।

राजनीति को साहित्य से असम्पृक्त रखने का प्रयास आंशिक रूप से सत्य है। राजनीति का अर्थ केवल दलबन्दी और कूटनीति का दाव पेंच ही नहीं होता। राजनीति राष्ट्र की सुरक्षा, उसके भरण-पोषण और उत्थान की सुविधा प्रदान करती है। कहीं-कहीं तो उसका स्वर राष्ट्रीय हितों से आगे बढ़कर लोक मंगल की कामना तक प्रसार पा जाता है। ऐसी राजनीतिक दृष्टि को साहित्य से असंपृक्त कैसे रखा जा सकता है ? गांधी जी की पवित्र राजनीति ने साहित्य को अत्यधिक प्रभावित किया। आज विश्व शान्ति की पुकार साहित्य में प्रतिफलित हो रही है। रूस और चीन जैसे देशों में राजनीतिक दृष्टि से प्रेरणा प्राप्त कर साहित्य का नव निर्माण हुआ है और हो रहा है। इसके अतिरिक्त राजनीतिक घटनाएँ भी तो साहित्य से बाहर नहीं की जा सकती हैं। राजनीतिक आन्दोलनों को लेकर गोर्की की 'मदर' जैसी उच्च कला कृति निर्मित हुई है। मेरे इस कथन से यह भ्रम न होना चाहिए कि मैं साहित्य में राजनीति का उल्था करने की बात कर रहा हूँ। वाजपेयी जी ने यद्यपि अपनी उपर्युक्त स्थापना में इसे स्थान दिया है, लेकिन इससे बहुत आतंकित जान पड़ते हैं। इसीलिए उन्होंने अपने कई निबन्धों में राजनीति और साहित्य के अलगाव की बात दुहराई है।

दार्शनिक विचारों को मैं साहित्य में बहुत आवश्यक मानता हूँ। इसी को दृष्टिकोण कहा जा सकता है। दार्शनिक विचार या जीवन दर्शन या दृष्टिकोण समूची कृति की रीढ़ की हड्डी के समान हैं। वाजपेयी जी भी इसे स्वीकार करते हैं। दर्शन या दृष्टिकोण गतिशील होता है अपने युग और समाज के अनुरूप बना करता है। प्राचीन काल में यदि आध्यात्मिक दृष्टिकोण मानव जीवन की महत्तम उपलब्धि था तो आधुनिक काल में भौतिकवादी दर्शन लोक मंगल का प्रेरक है। भौतिकवाद में भी अनेक दृष्टिकोण बने बदले। प्रत्येक काल का महान रचनाकार मानव-जीवन और समाज की समस्याओं, बाहर भीतर के अनेकानेक सम्बन्धों को इस दृष्टिकोण से सजाता है कि उनसे निर्मित कृति केवल हमारी संवेदनाओं, हमारे सौन्दर्य-बोध को स्पर्शमात्र न करे बल्कि हमें एक स्वस्थ विकास की ओर बढ़ने के लिए प्रेरित करे। वाजपेयी जी ने प्रसाद जी की कविताओं के विवेचन में कहीं यह लिखा है कि यदि दर्शन कविता की रीढ़ है तो वह प्रसाद जी को मिल गया

है। यदि दर्शन या दृष्टिकोण न रहे तो सचमुच कविता अनुभूतियों, भावों आदि के मांस पेशियों से सम्पन्न होकर भी लुंज-पुंज हो जायगी। बाजपेयी जी ने छायावादी कवियों में दार्शनिकता का अध्ययन किया है। वह दार्शनिकता है छायावादी कवियों की रहस्यवादिता। और इस रहस्यवादिता को उन्होंने मानवीय भावभूमि पर प्रतिष्ठित किया है। "आँसू में मानवीय प्रेम और विरह एक नवीन रहस्यात्मक दीप्ति से दीपित हैं। यही अन्तर है सूफी प्रेम और सौंदर्य की अभिव्यक्तिओं में और प्रसाद जी के प्रकृत रहस्यवाद में सूफी, प्रेम और सौन्दर्य रूप आत्मा के चित्रण को ही लक्ष्य मानकर केवल आनुमंगिक रूप से मानव जीवन के दृष्टान्त लेते हैं। किन्तु प्रसाद जी और आधुनिक छायावादी दृश्यमान मानव जीवन को ही लक्ष्य मानकर उसकी अलौकिकता की झाँकी देखते हैं। यह स्पष्ट है कि इसी कारण मानवीय मनोविज्ञान, दृश्यों, परिस्थितियों और व्यापारों की नियोजना आधुनिक छायावाद में प्राचीन सूफी काव्य की अपेक्षा अधिक सबल और यथार्थोन्मुख हुई है[१]।"

इस सम्बन्ध में कई बातें कहने को हैं। पहली यह कि दर्शन या दृष्टिकोण व्यक्तिगत नहीं होता। अर्थात् युग के मनीषी युग के नवीन रूपों के अनुकूल दर्शन रचते रहते हैं। ऐसा नहीं होता कि साहित्यकार का दृष्टिकोण कोई अलग होता है और शेष दुनियाँ का कोई अलग। इसलिए जब वाजपेयी जी साहित्य और काव्य की स्वतंत्र सत्ता मानते हैं, उसकी स्वतंत्र प्रक्रिया मानते हैं, उसकी परीक्षा के स्वतंत्र साधन मानते हैं तो ऐसा लगता है कि वे या तो साहित्य में अनिवार्य रूप से किसी युगीन दर्शन या दृष्टिकोण का अस्तित्व अस्वीकार करते हैं या साहित्यिकों का देश दुनियाँ से अलग दृष्टिकोण मानते हैं।

दूसरी बात यह कि जहाँ ये छायावादी काव्य के दर्शन की समारोह-पूर्ण व्याख्या करते हैं वही बाद के काव्यों (मेरा मतलब प्रगतिशील काव्य से है) में व्यक्त भौतिकवादी दर्शन के प्रति उपेक्षा का सा भाव बरतते हैं। छायावादी दर्शन की व्याख्या करते समय वाजपेयी जी ने दर्शन को देश काल के अनुरूप परिवर्तनशील माना है किन्तु पता नहीं क्यों वे अपने इस सिद्धान्त का उपयोग प्रगतिशील साहित्य के दर्शन के विश्लेषण में नहीं कर पाते। छायावादी दर्शन बहुत कुछ नया तो था

---

[१] हिन्दी साहित्य बीसवीं शताब्दी, पं० नन्ददुलारे वाजपेयी, पृ० १२२।

अर्थात् उसमें व्यक्तिवादी दर्शन का स्पष्ट प्रभाव था किन्तु उसमें सामाजिक स्वर प्रमुख न हो सका था। उसमें पीड़ा, निराशा के मूल कारणों का न कहीं पता था और न उनसे लड़कर मुक्ति का मार्ग पा लेने का ही कोई सामाजिक प्रयास था। यह कहा जा सकता है कि छायावादी कवियों ने अपने राष्ट्रीय नेता और विचारक गांधी जी के दर्शन की सक्रियता को भी नहीं पकड़ पाया। वाजपेयी जी ने छायावादी दर्शन के इस पक्ष की ओर संकेत नहीं किया है।

मैं समझता हूँ कि हर एक आलोचक की अपनी कुछ सीमाएँ बन जाती हैं। वाजपेयी जी की विचारणा की भी कुछ सीमाएँ हैं लेकिन इन सीमाओं के कारण उनकी अमूल्य देन को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। उन्होंने जो कुछ अस्वीकार किया उसका विवेचन करने की मैंने कोशिश की किन्तु उन्होंने जो कुछ स्वीकार किया उसका ऐतिहासिक मूल्य तो है ही स्थायी मूल्य भी अत्यधिक है। उन्होंने काव्य के अन्तर पक्ष को विशेष समारोह के साथ उद्‌घाटित किया। काव्य के भीतरी सौन्दर्य का मूल्यांकन एक विशेष प्रकार की नैतिकता की कसौटी पर हो रहा था, वाजपेयी जी ने उसका विरोध किया और छायावादी कविता के नये तत्त्वों, नये स्वरों, नये सौन्दर्य-बोध के उद्‌घाटन के साथ सिद्ध किया कि काव्य की मूल प्रवृत्ति आनन्द देने की शक्ति में है। काव्य का प्रयोजन (लक्ष्य) हमारी संवेदनाओं, हमारी अनुभूतियों को स्पर्श करना है। और यह निर्विवाद है कि काव्य का तात्त्विक स्वरूप उसके भाव और अनुभूति प्रवण स्वरूप में ही सुरक्षित है। जीवन की लम्बी गाथा मात्र गा देने से उच्च कोटि की कविता नहीं बन जाती, जीवन के छोटे-छोटे क्षणों और अंशों को लेकर भी कवि हमारे मन में आनन्द उत्पन्न कर सकता है। इसीलिए वाजपेयी जी ने भावों की गहराई के कारण छायावादी गीतों को उथले प्रबन्ध काव्यों की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण माना। गीतों और प्रबन्ध काव्यों में स्वरूप की छोटाई-बड़ाई के कारण उन्होंने निष्कृष्टता और उत्कृष्टता की सीमा रेखा नहीं बनाई।

हम कह सकते हैं कि वाजपेयी जी रसवादी परंपरा के आलोचक हैं। शुक्ल जी भी रसवादी परंपरा के आलोचक हैं लेकिन दोनों में दो सीमाएँ दीखती हैं। शुक्ल जी भक्तिकालीन कविताओं—विशेषतया तुलसी की कविताओं—को आदर्श मानते थे और राम का लोक मंगलकारी स्वरूप

उनकी रसधारा के ऊपर झीने कुहरे की भाँति यहाँ से वहाँ तक फैला हुआ है। वाजपेयी जी छायावादी कविताओं से प्रभावित है और इंगलिश साहित्य के रोमांटिक कवियों और समालोचकों की कृतियों का प्रभाव भी इन पर है अत: ये लोकमंगलकारी स्वरूप को छोड़कर व्यक्तिवादी सीमा तक पहुँच गये हैं। नैतिकता के प्रति इनका कोई विशेष आग्रह नहीं है। इसीलिए इनकी रस-सीमा में नई पुरानी, प्रबन्ध और गीत, नैतिकतावादी, नैतिकता शून्य सभी प्रकार की कवितायें अँट जाती हैं।

वाजपेयी जी ने शुक्ल जी की भाँति रसों का शास्त्रीय विवेचन नहीं किया है किन्तु उनकी मान्यताओं से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि वे रसवादी हैं। वे अनुभूति को ही काव्य की मूल शक्ति मानते हैं। वे रसों के मूल में भी अनुभूति का ही अस्तित्व स्वीकार करते हैं। अतएव वे शास्त्रीय विधि-विधानों के बन्धनों में न बँधकर भी मूलत: रसवादी ही हैं। समस्त काव्य के मूल में लेखक की आत्मानुभूति (वैयक्तिक अनुभूति नही) काम करती है। "सम्पूर्ण काव्य किसी रस को अभिव्यक्त करता है और वह रस किसी स्थायी भाव का आश्रित होता है और वह स्थायी-भाव रचयिता की अनुभूति से उद्गम प्राप्त करता है।"[१]

अनुभूति के सम्बन्ध में वाजपेयी जी ने कई प्रश्न उठाये हैं। (१) "काव्य साहित्य में अनुभूति की व्यापकता को स्वीकार करते हुए भी क्या हम उसे समरस या समरूप कह सकते हैं? क्या समस्त कवियों और रचनाकारों की अनुभूति एक रूप या समान होती है? यदि नही तो क्या अनुभूति में स्वरूप-गत भेद होते है।"[२] (२) "क्या साधारण अनुभूति और काव्यानुभूति एक ही है या उनमें अन्तर भी है? अन्तर है तो किस प्रकार का?"[३]

वाजपेयी जी ने क्रोचे का सहारा लेकर यह सिद्ध किया है कि अनुभूति और काव्यानुभूति में अन्तर नहीं है क्योंकि अनुभूति वही है जो कल्पनाओं के रूप में अभिव्यक्त होती है जो अभिव्यक्त नहीं हो पाती वह अनुभूति

---

[१] आधुनिक साहित्य, पं० नन्ददुलारे वाजपेयी, पृ० ४१४।
[२] वही।
[३] वही।

न होकर कोरी इन्द्रियता या मानसिक जमुहाई मात्र है। यह स्पष्ट है कि क्रोचे और वाजपेयी जी की यह मान्यता उस भारतीय मान्यता के प्रतिकूल जाती है जो यह मानती है कि सहृदय (रसज्ञ) कवि भी होता है और वह पाठक भी जो कवि के भावों को ग्रहण कर सके अर्थात् जिसमें अनुभूति तो हो पर अभिव्यक्त कर सकने की क्षमता न हो।

पहले प्रश्न में उठायी गयी अनुभूति की समरसता या समरूपतावाली बात पर विचार करते हुए वाजपेयी जी ने यह व्यक्त किया है कि अनुभूतियों में कोई भेद नहीं। सभी अनुभूतियाँ समान होती है। एक ही अखण्ड अनुभूति समस्त कवियों और रचनाकारों में होती है। इसका तात्पर्य यह है कि अनुभूतिप्रवण कविताओं में छोटाई-बड़ाई का क्रम निर्धारित करना अरसिकता है। बच्चन के 'निशा निमंत्रण' और प्रसाद की कामायनी में कोई छोटा बड़ा नहीं। मैं समझता हूँ, कम ही लोग इस मान्यता को स्वीकार करेंगे। व्यापक और गहरी अनुभूतियाँ संकीर्ण और गहरी अनुभूतियों की अपेक्षा निश्चय ही बड़ी होती हैं और उन्हें व्यक्त करनेवाला काव्य निश्चय ही दूसरी कोटि के काव्य से बड़ा होता है। अवश्य ही महाकाव्य किसी गीत काव्य से इसलिए नही बड़ा है कि वह आकार में बड़ा है या कि उसमें धर्म, भक्ति या नैतिकता की शिक्षा दी गई है। बल्कि वह इसलिए बड़ा है कि उसमें जीवन की विविध, विराट अनुभूतियों और सम्बन्धों का चित्रण है और उनमें एक सामंजस योजना है।

"काव्य और कला की अजस्र धारा देश और काल का भेद नहीं जानती।" वाजपेयी जी की इस उक्ति का यदि यह अर्थ लिया जाय कि सभी कालों और सभी देशों में अनुभूतियाँ ही काव्य और कला की मूल प्रेरक शक्ति होती है या वही उनकी आत्मा होती हैं तब तो ठीक है परन्तु यदि इसका यह अर्थ हो कि अनुभूतियाँ देश काल का प्रभाव स्वीकार ही नहीं करतीं तो यह पूरा सत्य नहीं होगा। अनूभूतियाँ देश काल का प्रभाव ही स्वीकार नहीं करतीं, बदलती भी रहती हैं।

इन प्रश्नों के साथ एक प्रश्न और अपने आप खड़ा हो गया है। क्या अभिव्यक्ति अनुभूति के साथ ही साथ स्वभावतः अपने आदर्श रूप में व्यक्त हो जाती है। वाजपेयी जी क्रोचे के साथ यह मानते हुए दिखाई

पड़ते हैं कि आदर्श अभिव्यक्ति सदैव एक होगी। मैं समझता हूँ कि इसमें भी विवाद की काफी गुंजाइश है। इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि कलात्मक साधना की आवश्यकता ही नहीं है जिस रूप में अनुभूति बहती है बहने दीजिए। मैं नहीं समझता हूँ कि सभी लोग इस विचार से सहमत होंगे।

वाजपेयी जी की समीक्षा दृष्टि निरन्तर विकासशील रही है। उन्होंने निरंतर अपनी पिछली सीमाओं को पहचाना है और उन्हें दूर करने का प्रयत्न किया है। 'नया साहित्य नये प्रश्न' 'में दिखाई पड़ने वाले उनके विचार उनकी प्रारम्भिक शक्तियों के प्रौढ़ रूप तो हैं ही साथ ही साथ पिछली शक्तियों की स्वीकृति के साथ नवीन स्वस्थ मान्यताओं की स्थापना करने वाले हैं। प्रस्तुत पुस्तक में लेखक ने यह प्रतिपादित किया है कि सैद्धान्तिक समीक्षा का व्यावहारिक समीक्षा से स्वतंत्र अस्तित्व स्वीकार नहीं किया जा सकता। समीक्षा का वास्तविक उद्देश्य रचनाओं की मार्मिक छवियों और उनकी अशक्तियों का उद्घाटन कर उनके माध्यम से व्यक्त जीवन की विविधताओं को सामने लाना ही है। किसी सिद्धान्त की स्थापना कर उसके संकेत पर साहित्य को परिचालित करने का प्रयास हास्यास्पद है। रचनाओं का सम्बन्ध जीवन से होता है और जीवन गतिशील होता है। इस प्रकार गतिशील साहित्य किसी स्थिर सिद्धान्त से अनुशासित होकर कुंठित और रीतिबद्ध हो जाता है। इसलिए समीक्षा के क्षेत्र में इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि सिद्धान्त स्थिर न होकर गतिशील रचना के अनुकूल परिवर्तनशील हों।

समीक्षा सिद्धान्त को लेकर भारतीय और पाश्चात्य आचार्यों ने बहुत सी स्थापनाएँ की हैं। वाजपेयी जी का मत है कि इन दोनों सिद्धान्तों में समन्वय होना चाहिए। किन्तु यह समन्वय एक महत्वपूर्ण और जटिल प्रश्न है। वाजपेयी जी का कहना है कि मै उन लोगों से सहमत नहीं हूँ जो यह कहने और मानने लगे हैं कि उन पुरातन (भारतीय) सिद्धान्तों को छोड़ ही देना चाहिए और नवीनतम पाश्चात्य सिद्धान्तों को अपना लेना चाहिए। वाजपेयी जी अपनी असहमति का कारण व्यक्त करते हुए कहते हैं कि "विभिन्न राष्ट्रों और जातियों का साहित्यिक विकास कुछ स्वतन्त्र रूप में होता है। प्रत्येक देश की सांस्कृतिक स्थिति अपनी स्वतन्त्र सत्ता रखती है। भारतीय साहित्य हमारी राष्ट्रीय संस्कृति की

उपज है । अतएव उस साहित्य के मानदण्ड भी यथासम्भव राष्ट्रीय होने चाहिए । साहित्य सम्बन्धी भारतीय परम्परा अत्यन्त समृद्ध रही है और उसी समृद्धि के अनुरूप हमारे साहित्यिक सिद्धान्त भी रचे गए हैं । अतएव जब हम रचना के क्षेत्र में अपनी इयत्ता रखते हैं तब सैद्धान्तिक चिन्तन में भी हमें अपनी इकाई बनाए रखनी होगी ।"

वाजपेयी जी भारतीय रस सिद्धान्त और ध्वनि सिद्धान्त को भारतीय साहित्य की विशेप सम्पत्ति समझते हैं । इन्हीं सिद्धान्तों को आधार मान कर हमें भारतीय साहित्य-समीक्षा का विकास करना है । वाजपेयी जी ने भारतीय चिन्तन पद्धति को मूल मानकर पाश्चात्य नवीन विचारों को अपनाने पर जोर दिया है । जो कुछ हमारे पिछले साहित्य में प्राप्त है उसी को अलम् मानकर हमें अनुशीलन स्थगित नही कर देना चाहिए । ज्ञान का आलोक जिस दिशा से मिले स्वीकार करना चाहिए । वैज्ञानिक युग ने साहित्य के क्षेत्र में भी अनेक नये प्रश्न उत्पन्न किए हैं । इन नये प्रश्नों का स्वरूप और उनका समाधान हमें पाश्चात्य साहित्य में ही प्राप्य है अतएव हमें उनसे प्रेरणा लेने में हिचक नही होनी चाहिए ।

साहित्यिकता का स्वरूप, उसकी तात्त्विकता और उसके नैतिक आधार के संबंध में पाश्चात्य देशों में चिर काल से विचार-विमर्श होता आया है । क्रमशः वह संगृहीत होकर एक पृथक् दार्शनिक धारा का ही स्थान ले चुका है । हमें इस ओर ध्यान देना होगा । "काव्य का सम्बन्ध रचयिता की मनस्थिति से किस प्रकार रहता है, यह प्रश्न भी नवीन है । प्राचीन साहित्य और समीक्षा मोटे तौर पर आदर्शवादी रही है । उसमें बदलती हुई सामाजिक परिस्थितियों के प्रभाव के आकलन का प्रश्न कम रहा है । आज इस ओर उन्मुख होना होगा ।" "आज के साहित्य में व्यक्तित्व की ही नहीं, उसकी विचारणा की भी खोज की जाती है । सभी लेखक अपने विचारों से न केवल परिचालित होते हैं उन्हें साहित्य के माध्यम से समाज के सम्मुख रखना भी चाहते हैं । विचारों की आलोचना के लिए हमारा परंपरागत साहित्य शास्त्र अपर्याप्त है । आज की समीक्षा का यह एक मौलिक अंग है, जिसकी ओर प्रत्येक समीक्षक का ध्यान जाता ही है ।"

वाजपेयी जी ने यहाँ वादों और विचारों का विरोध न करते हुए

उन्हें उनके भीतरी मूल्यों के आधार पर ग्रहण करने की बात कही है। साहित्य में उनका ग्रहण करते समय साहित्यिक परंपरा का पूरा-पूरा उपयोग होना चाहिए नहीं तो मानवीय संवेदनाओं को छोड़कर अनेक मतवादों के ऊहापोह में फँस जाने की आशंका है। आज का साहित्य यथार्थवाद की ओर उन्मुख है किन्तु यथार्थवाद के नाम पर अनेक कुत्सित और नग्न चित्र प्रसार पा रहे हैं और यथार्थवाद के भिन्न-भिन्न स्कूल हैं। इनमें "सामाजिक यथार्थवाद हमारे राष्ट्रीय अभ्युत्थान का एक अनिवार्य साधन है।"

जैसा मैंने पहले कहा है बाजपेयी जी ने इस निबन्ध में बड़े स्पष्ट स्वरों में राष्ट्रीय और सामाजिक उत्तरदायित्व का प्रश्न साहित्यकारों के लिए उठाया है। "हमारा राष्ट्र विकासोन्मुख स्थिति में है साहित्य भी उसी के अनुरूप है। इसलिए हमारी समीक्षा भी उसी के अनुरूप सामाजिक विकास की सहकारिणी और उसे प्रेरणा देनेवाली होनी चाहिए।" पश्चिम का साहित्य वहाँ की सामाजिक स्थितियों का प्रतिबिम्ब है। वह हमसे आगे बढ़ा हुआ होकर भी हमारे साहित्य की अपेक्षा निसर्गतः स्वस्थ और प्रगतिगामी नहीं है। अतः भारतीय समीक्षा को अपनी सामाजिक स्थितियों और साहित्यिक छवियों को छोड़कर पश्चिमी साहित्य को अपना आधार नहीं बनाना चाहिए। भारतीय जीवन और साहित्य की मौलिक विशेषताओं को ग्रहण कर हमें अपना रास्ता स्वयं बनाना होगा। निश्चय ही वाजपेयी जी का यह सुझाव हिन्दी आलोचकों की एक बहुत बड़ी कमजोरी (अपनत्वहीनता) को दूर करने में समर्थ हो सकता है। आज के हिन्दी आलोचक आँख मूँदकर पाश्चात्य साहित्य की मान्यताओं और प्रवृत्तियों को जो अपना रहे हैं वह अनुकरण कभी भी हमारे साहित्य की श्रीवृद्धि नहीं कर सकता। हमारी अपनी भी कोई परंपरा है इसके प्रति सजग रहना हमारा कर्तव्य है।

व्यावहारिक समीक्षा

वाजपेयी जी की प्रतिभा और रुचि नवीन साहित्य के अध्ययन और चिन्तन में ही अधिक व्यस्त रही है। आधुनिक हिन्दी साहित्य के गण्यमान कवियों और लेखकों की कृतियों पर उन्होंने लेखनी चलाई है। "बीसवीं शताब्दी" में सर्वश्री महावीर प्रसाद द्विवेदी, रत्नाकर,

मैथिलीशरण गुप्त, रामचन्द्र शुक्ल, प्रेमचंद, जयशंकर प्रसाद, सूर्यकान्त त्रिपाठी "निराला", सुमित्रानन्दन पन्त, महादेवी वर्मा, भगवती प्रसाद बाजपेयी, जैनेन्द्र कुमार, रामेश्वर शुक्ल "अंचल" उनकी समीक्षा के विषय बनकर आये हैं। "आधुनिक साहित्य" में सात खण्ड हैं। पहला खण्ड काव्य, दूसरा खण्ड उपन्यास-कहानी, तीसरा खण्ड नाटक, चौथा खण्ड गद्य, पाँचवाँ समीक्षा, छठाँ खण्ड साहित्य-धाराओं की समीक्षा प्रस्तुत करता है और सातवें खण्ड में "मत और सिद्धान्त" विचारित हैं। प्रथम छः खण्डों में कुछ कवि और लेखक ऐसे हैं जो "बीसवीं शताब्दी" में आ चुके हैं और इसमें थोड़े-बहुत संशोधन परिवर्द्धन के साथ आये हैं। इनके अतिरिक्त 'नई कविता', 'प्रयोगवादी रचनाएँ', 'कुरुक्षेत्र', 'कुणाल', 'कृष्णायन', 'पश्चिमी-उपन्यास', 'त्याग पत्र', 'शेखर एक जीवनी', 'नई कहानी', 'नाटक की उत्पत्ति', 'पूर्वी और पश्चिमी नाट्य तत्व', 'भारतीय नाटक', 'प्रसाद के नाटक', 'एक निबन्ध पुस्तक' 'एक प्रतिनिधि गद्य रचना', 'नई समीक्षा', 'छायावादी काव्य दृष्टि', 'नवीन समीक्षा की प्रगति', 'नई समीक्षा प्रणाली', 'छायावाद प्रगतिशील साहित्य', 'छायावाद प्रगतिवाद' (एक तुलना) आदि नए साहित्य के संपूर्ण अंगों उपांगों पर विशद विवेचन हुआ है। इनके अतिरिक्त कुछ कवियों और लेखकों पर अलग अलग पुस्तकें भी इन्होंने लिखी हैं जिनमें 'जयशंकर प्रसाद' और 'प्रेमचन्द' के साथ ही साथ 'महाकवि सूरदास' भी हैं।

पहले हम कवियों पर विचार करें। सामान्य रूप से हम कह सकते हैं कि बाजपेयी जी ने कवियों की मूल वृत्तियों को पहचान कर अनुभूतियों के आधार पर उनकी व्याख्याएँ की हैं। व्यावहारिक समीक्षाओं में उन्होंने समय और समाज, कवि की प्रवृत्ति आदि सभी के प्रभावों का विश्लेषण किया है। सिद्धान्त निरूपण के क्षेत्र में उनमें जो असंगति, अस्पष्टता और साहित्यिक ऐकांतिकता दृष्टिगत होती है वह अपेक्षाकृत व्यावहारिक आलोचनाओं में नही है। कहा जा सकता है कि व्याख्यात्मक आलोचना का बहुत कुछ शुद्ध रूप उनकी व्यावहारिक आलोचनाओं में मिलता है। जिन कवियों पर वाजपेयी जी ने विचार किया है उनमें से अधिकांश पर शुक्ल जी भी विस्तार से विचार कर चुके थे लेकिन शुक्ल जी अपनी मार्मिक पकड़ और सुस्पष्ट व्याख्या के बावजूद अपने कुछ पूर्वग्रहों के कारण रचनाओं की मौलिक गहराई में न जा

सके । (मौलिक गहराई से मेरा अर्थ उनके मूल उद्गम स्रोतों से है ।) और उन्हें वे बहुत कुछ पाश्चात्य अनुकरण मान बैठे । बाजपेयी जी ने इन कविताओं का कारण कार्य सम्बन्ध जोड़ा । उन्हें अपने देश और समय के आन्दोलनों से संबद्ध देखा । उनमें व्यक्त रहस्यवादिता की वैज्ञानिक व्याख्या की । इन कविताओं में व्यक्त कला के, सौन्दर्यबोध के, अनुभूतियों के, अभिव्यक्तियों के, राष्ट्रीय और सांस्कृतिक चेतनाओं के नवीन स्वरूपों का उद्घाटन किया ।

वाजपेयी जी ने आधुनिक हिन्दी काव्य की विकास धारा के स्वाभाविक क्रम का मार्मिक विवेचन किया और साथ ही साथ इन सभी कवियों के व्यक्तिगत विकास क्रमों को भी निर्धारित किया । गुप्त जी को उन्होंने अपने समय का प्रतिनिधि कवि माना । उन्होंने उस समय की सारी विशेषताओं का निरूपण कर यह दिखाया कि गुप्त जी में दिखाई पड़ने वाली समस्त प्रवृत्तियाँ—गुण और दोष—उस काल की सहज देन हैं । गुप्त जी की कला का भी स्वरूप उस युग द्वारा निर्मित है । इसके अतिरिक्त कलात्मक सौष्ठव और प्रबन्ध काव्य कुशलता आदि कवि की अपनी साधना और प्रतिभा के परिणाम हैं । रत्नाकर जी की काव्य परीक्षा में उन्होंने बड़ी ही सहानुभूति से उनके काव्य को "आउट आफ डेट" करार दिया लेकिन उनकी शैलीगत साधना की दाद दी ।

जयशंकर प्रसाद, पन्त और निराला की कृतियों की समीक्षा बड़ी रसमयता से की और उनमें कला और जीवन सम्बन्धी आये हुए नये तत्त्वों को प्रकाशित किया । गुप्त जी और साद जी की कविताओं द्वारा इन दोनों कवियों और इनसे संबद्ध दो युगों की प्रवृत्तियों और काव्य साधनाओं के बारीक अन्तर को मार्मिकता से उद्घाटित किया । प्रसाद, पन्त और निराला की कविताओं में मौलिक रूप से एक ही प्रेरक स्वर को स्वीकार करते हुए भी उनका पारस्परिक अन्तर स्पष्ट किया ।

महादेवी और बच्चन को उन्होंने छायावादी परंपरा से अलग करके देखा । अर्थात् यह उनकी धारणा है कि "यद्यपि महादेवी जी छायावादी परंपरा को ही लेकर आगे बढ़ीं पर वे क्रमशः प्रसाद, निराला और पन्त की सामाजिक पृष्ठभूमि पर की गई लोक रचनाओं से दूर होती गईं और

अन्त में अपने काव्य को अत्यंत वैयक्तिक सीमा-भूमि पर ले जाने में समर्थ हुई हैं[1] ।" बच्चन भी महादेवी जी की ही तरह अतिवैयक्तिक अनुभूतियों के ही गायक हैं किन्तु दोनों में अन्तर यह है कि 'बच्चन के इन प्रगीतों में नए काव्य साधनों का प्रयोग हुआ था—नई सामान्य भाषा और नया सरल भाव-विन्यास-जो इन्हें एक स्वतंत्र काव्य स्वरूप और रचनात्मक विशेषता देते थे[2] ।'

वाजपेयी जी की यह विशेषता है कि वे हिन्दी साहित्य की आधुनिक से आधुनिक प्रवृत्तियों और नये से नये समर्थ साहित्यकारों की विशेषताओं की पकड़ के लिये उत्सुक रहते हैं । प्रयोगवादी और प्रगतिवादी धाराओं की भी विवेचना उन्होंने अपने 'आ ुनिक साहित्य' में की है । लेकिन जैसा पहले कहा जा चुका है वे इन धाराओं के साथ अपनी सहानुभूति प्रदर्शित नहीं कर सके हैं । बल्कि उन्होंने अपनी टेढ़ी मेढ़ी दलीलों से इन्हें कुरूप से कुरूप सिद्ध करने की कोशिश की है । हम मानते हैं कि दोनों में कुछ न कुछ कमजोरियाँ हैं (और ये कमजोरियाँ किस धारा में नहीं होती हैं) किन्तु उनके उज्ज्वल पक्ष को भी विकृत नहीं कर देना चाहिए । उन्होंने हिन्दी में प्राप्त प्रगतिवादी कविताओं के आधार पर प्रगतिवाद के प्रति कुछ अनास्था प्रकट की । यह सही है कि हिन्दी के प्रगतिशील कवि इस दर्शन को और नये जीवन को कला के माध्यम से व्यक्त करने में अधिक समर्थ नहीं रहे और वाजपेयी जी की विरक्ति स्वाभाविक है किन्तु उस संपूर्ण जीवन दर्शन का कोई अपराध नहीं है वह धीरे धीरे अनुभूतियों की सांसों से स्पंदित होकर कला कृति बन जायगा और अब बन रहा है । दूसरी ओर वे कहीं कहीं अपनी व्यक्तिगत रुचियों के कारण अंचल जैसे सामान्य कवि को इतना संमान देते हुए दिखाई पड़ते हैं । अंचल के प्रति उनकी बाद वाली चुप्पी मेरे कथन का प्रमाण है ।

लेखक ने दिनकर के 'कुरुक्षेत्र' की बड़ी ही सशक्त विवेचना प्रस्तुत की है । कुरुक्षेत्र में उन्होंने काव्य सौष्ठव दिखाने का प्रयत्न नहीं किया है बल्कि आधुनिक युग के प्रभाव और नवीन जीवन दर्शन को खोजने

---

[1] आधुनिक साहित्य, पं० नन्ददुलारे वाजपेयी, पृ० ३३ ।

[2] वही, पृ० ३४ ।

की चेष्टा की है। मैं समझता हूँ कि कुरुक्षेत्र की सृष्टि का मूल उद्देश्य ही यही है।

"सूरदास" ग्रंथ में लेखक ने भक्त कवि सूरदास की जीवनी, व्यक्तित्व दार्शनिक संप्रदाय आदि पक्षों पर प्रकाश तो डाला ही है, बड़ी मार्मिक मीमांसा के साथ उनके काव्य-सौन्दर्य को उद्‌घाटित किया है। वाजपेयी जी ने सूर और तुलसी दोनों महाकवियों में से किसी को छोटा बड़ा सिद्ध करने का प्रयत्न नहीं किया है। उन्होंने शुक्ल जी के नैतिकता के आधार पर सूर के प्रति निर्मित निर्णय को अवश्य झूठा ठहराया। "जब से आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने शक्ति, सौन्दर्य और शील की पराकाष्ठा राम में दिखाई है तब से लोगों ने समझ लिया है कि ये तीनों गुण काव्य चरित्रों के लिए अनिवार्य हैं और जहाँ कहीं अवसर आए इनकी ओरइं गित कर देना चाहिए। यह भ्रांति कला की विवेचना में अत्यधिक बाधक हुई है। केवल शक्ति की, सौन्दर्य की अथवा शील की पराकाष्ठा दिखाना किसी काव्य का लक्ष्य नहीं हो सकता। काव्य का लक्ष्य तो होता है रस विशेष की प्रतीति या अनुभूति उत्पन्न करना। इस काव्य लक्ष्य को भूल जाने पर काव्य का समस्त कलात्मक और मनोवैज्ञानिक आधार ढह पड़ता है[१]।"

उपर्युक्त मान्यता के आधार पर सचमुच ही सूर अत्यन्त उत्कर्ष प्राप्त कवि ज्ञात होते हैं। उन्होंने जीवन के जिस पक्ष का स्पर्श किया वह अपने संपूर्ण भावावेग से मुखर हो उठा, जिस प्रकार की अनुभूति को अपने स्वरों में गाया वह अपनी समस्य संवेदनशीलता से व्यक्त हो उठी।

यहाँ भी वाजपेयी जी अपनी अनुभूतिवादी मान्यता पर दृढ़ नहीं दिखाई पड़ते हैं। अर्थात् वे अनुभूति को काव्य का चरम लक्ष्य मानते हैं, ठीक है, लेकिन उन अनुभूतियों की श्रृंगारिक अश्लीलता दूर करने के लिये एक आध्यात्मिक पीठिका की ओर संकेत करते हैं। और उन श्रृंगारिक वर्णनों को लौकिक रूप में ज्यों का त्यों देखनेवालों को आध्यात्मिक पक्ष की ओर उन्मुख करते हैं। यदि अनुभूति ही काव्य का चरम लक्ष्य है तो क्या लौकिक क्या अलौकिक? क्या गन्दी क्या स्वच्छ?

---

[१] महाकवि सूरदास, पं० नन्ददुलारे वाजपेयी, पृ० १४७।

यह निश्चित है कि सूरदास की लीला वाली कविताओं में यदि उनका दार्शनिक पक्ष सामने न रहे तो अश्लीलता से कहीं कहीं विदक जाने का भय है ।

जो भी हो, वाजपेयी जी ने सूरदास के गीतों की जितनी ही सहृदय व्याख्या की है उतना ही उनके दार्शनिक सांस्कृतिक पक्ष का पांडित्यपूर्ण विवेचन । ऊपर उठाया हुआ प्रश्न सैद्धांतिक है । व्यावहारिक रूप में सचमुच सूरदास जी की कविताओं में जितनी ही भावात्मक गहराई है उतनी ही आध्यात्मिक ऊँचाई ।

अब हम हिन्दी के गद्य लेखकों पर वाजपेयी जी द्वारा व्यक्त किये गये विचारों पर दृष्टिपात कर लें । पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी के साहित्यिक व्यक्तित्व का इन्होंने बड़ी श्रद्धा से सर्वांग निरूपण किया है । आचार्य शुक्ल हिन्दी के समर्थ समालोचक हैं, उन्होंने अनेक नये प्रश्न उठाये हैं । अतएव यह स्वाभाविक है कि उनकी मान्यताओं में अनेक विवादों के लिये अवकाश हो । वाजपेयी जी ने शुक्ल जी पर विस्तार और गवेषणात्मक ढंग से विचार करते हुए उनके मतों पर प्रकाश डाला । वे सर्वत्र अपनी मान्यताओं और दृष्टियों का समर्थन ही पा सके हों ऐसी बात नहीं ।

प्रसाद जी के कंकाल को उन्होंने एक नवीन दृष्टि से देखा जिससे कृतिकार के वास्तविक उद्देश्य पर प्रकाश पड़ा । और उसके संबंध में प्रचलित भ्रांत धारणाओं का निवारण हुआ । इसी प्रकार उन्होंने प्रसाद जी के नाटकों का नई दृष्टि से मूल्यांकन किया ।

प्रेमचन्द पर उन्होंने कई स्थानों पर लिखा । पहले तो प्रेमचन्द्र को वे बहुत अच्छा स्थान नहीं दे सके । प्रेमचन्द जी और वाजपेयी जी के विवादात्मक पत्र-व्ययहार में इस सत्य का परिचय मिलता है । वे उन्हें उपयोगितावादी प्रोपेगेंडिस्ट आदर्शवादी कलाकार मानते रहे और उनकी कृतियों में मनोवैज्ञानिक चित्रणों और कलात्मक संग्रह त्याग का अभाव देखते रहे । आज भी प्रेमचन्द के सम्बन्ध में उनका मूल स्वर वही है लेकिन उनकी अन्य अच्छाइयों का मार्मिक विशद विवेचन कर उन्होंने अपने स्वर की कटुता को कम कर दिया है । वे आज भी उनकी कथाओं, और पात्रों के स्वभाविक निर्वाह पर प्रश्न चिन्ह लगा रहे हैं । "प्रेमचन्द के पात्रों की गतिविधि यथार्थ का आभास लिए हुए जान पड़ती है ।" उन्हें

वे यथार्थवादी या आदर्शोन्मुख यथार्थवादी न स्वीकार कर आदर्शवादी स्वीकार करते हैं और आदर्शवाद के सम्बन्ध में उनकी धारणा भी विचारणीय है—"आदर्शवाद में सदैव लेखक का व्यक्तित्व प्रधान रहता है उसमें तटस्थ वैज्ञानिकता का गुण कम रहता है। ऐसी रचनाएँ भावात्मक होती हैं। जीवन की वास्तविक कठिनाइयों को आँखों से ओझल कर असाधारण और अलौकिक पात्रों की सृष्टि आदर्शवाद की एक विशेषता है[१]"।

जैनेन्द्र, अज्ञेय और भगवतीप्रसाद वाजपेयी की प्रधान औपन्यासिक कृतियों पर वाजपेयी जी ने विचार किया है और कहा जा सकता है कि तीनों लेखकों की मूल विशेषताओं को लेखक ने बड़ी बारीकी से पकड़ा है। तीनों लेखकों में व्यक्तिवादी प्रवृत्तियाँ प्रधान हो उठी हैं। लेखक ने इन प्रवृत्तियों पर प्रश्न चिन्ह लगाते हुए सामाजिक नैतिकता का भी सवाल उठाया है और नित नवीन सामाजिक नैतिकता का (उसकी परंपरागत जीवन्त पृष्ठभूमियों सहित) समर्थन किया है।

"नया साहित्य नये प्रश्न" में भी लेखक ने उपन्यासकार जैनेन्द्र पर विचार किया है। यहाँ जैनेन्द्र को प्रेमचन्द की सापेक्षता में देखा गया है और जैनेन्द्र की शक्तियों और सीमाओं का बड़ी सहानुभूति और मार्मिकता से आकलन किया गया है। इसके अतिरिक्त "आधुनिक काव्य का अन्तरंग', 'छायावाद में अनुभूति और कल्पना', 'प्रसाद का व्यक्तित्व और कृतित्व', 'प्रसाद की मालविका', नाटककार 'लक्ष्मी नारायण मिश्र', 'नये उपन्यास', 'व्यक्तिवादी उपन्यास', 'नवीन कथा साहित्य : विचार पक्ष', 'नये साहित्य का विकास', 'हिंदी समीक्षा का विकास', 'द्विवेदी युग की समीक्षा देन', 'नव्यतम समीक्षा शैलियाँ' आदि व्यावहारिक समीक्षात्मक निबन्ध प्रस्तुत पुस्तक की संपत्ति हैं।

इन निबन्धों का स्वर पहले के निबन्धों की अपेक्षा अधिक सामाजिक और वैज्ञानिक हो गया है और इनमें लेखक का स्वर भी अत्यधिक सहानुभूतिपूर्ण हो गया है। पिछले निवन्धों में जिन लेखकों की केवल सीमाएँ ही प्रदर्शित की गयी थीं उनकी उपलब्धियों पर भी तटस्थ भाव से इनमें विचार हुआ है। ये समस्त निबन्ध व्याख्यात्मक आलोचना का

---

[१] आधुनिक साहित्य, पं० नन्ददुलारे वाजपेयी, पृ० १४४–४५।

शुद्ध स्वरूप प्रस्तुत करते हैं। इन निबन्धों में व्यक्त व्यावहारिक आलोचनाएँ निश्चय ही अधिक गहरी और परिपक्व हैं। "वाजपेयी जी शुक्ल जी के समकक्ष विचारक भले ही न हों पर उनकी रस-संवेदना निश्चय ही परिपक्व है और उनमें उसके विश्लेषण की शक्ति भी है[१]।"

वाजपेयी जी सम्पूर्ण अर्थ में अपने युग के लेखक हैं। इस दृष्टि से उन्होंने (१) नई प्रतिभाओं को अपना समर्थन और प्रोत्साहन दिया। (२) आधुनिक हिन्दी के पाठकों का रुचि-परिष्कार किया और (३) आलोचना क्षेत्र में नई दृष्टियों के प्रसार का मार्ग प्रशस्त किया[२]।

"नया साहित्य नये प्रश्न" में वाजपेयी जी ने "निकष" शीर्षक निबन्ध में अपनी आलोचनाओं का मूल्यांकन किया है। उन्होंने जिस साहस और उदारता से आत्मलोचन किया है वह निश्चय ही उनकी विकासशील शक्तियों का परिचायक है और उनके उत्तरोत्तर भावी विकास की ओर संकेत करता है।

पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी

द्विवेदी जी साहित्य में मानवतावाद की प्रतिष्ठा लेकर आए थे। हम देख चुके हैं कि आचार्य शुक्ल रसवादी होते हुए भी मध्यकालीन मध्यवर्गीय नैतिकता पर विशेष बल देने के कारण अपनी मार्मिक विवेचना शक्ति और सशक्ति चिन्तन प्रतिभा के उपरान्त भी साहित्य के सभी कालों, सभी पक्षों को उचित मूल्य नहीं दे सके। दूसरी ओर श्री नन्ददुलारे वाजपेयी साहित्य के अनुभूति पक्ष को ही लक्ष्य मान लेने के कारण साहित्य के सामाजिक मूल्यों के प्रति अधिक सहानुभूतिशील नहीं हो सके। इस लोक-धर्म की मध्य कालीन नैतिकता और समाज निरपेक्ष अनुभूतिशीलता के बीच द्विवेदी जी दिखाई देते हैं जो एक ओर तो साहित्य को साध्य न मानकर लोक-जीवन के उत्थान का साधन मानते हैं और दूसरी ओर साहित्य में अनुभूति पक्ष का (रस मयता का) चरम अस्तित्व स्वीकार करते हैं। द्विवेदी जी का लोक धर्म शुक्ल जी के लोक धर्म से तत्त्वतः

---

[१] आधुनिक समीक्षा, डा० देवराज, पृ० ११८।

[२] वही, पृ० ११५।

भिन्न है। द्विवेदी जी का लोक धर्म—जिसे मानवतावाद कहा जाय तो बात अधिक स्पष्ट होगी—शुक्ल जी के लोक धर्म की तरह देश और काल की सीमा में बद्ध विशेष प्रकार का लोक धर्म नहीं है, वरन् वह सार्वभौम है और युग के नवीन आविष्कारों से उद्‌भूत सामाजिक आवश्यकताओं और सम्बन्धों के साथ-साथ परिवर्तनशील है। इनका मानवतावाद समाज शास्त्रीय विश्लेषण पर आधारित है। दूसरी बात यह है कि इनका मानवतावाद स्थूल और रूढ़ नहीं है। मानव का उत्थान, उसकी वृत्तियों का उदात्तीकरण अनेक ढंग से हो सकता है और वे सभी ढंग, साहित्य के वे सभी स्वरूप श्लाध्य है, अध्ययन के विषय हैं। द्विवेदी जी अनुभूतियों की अभिव्यति को अपने आप में चरम लक्ष्य नहीं मानते, उन अनुभूतियों की अभिव्यक्ति का चरम उद्देश्य यह है कि वह मानव को पशु सुलभ वृत्तियों से मुक्त कर उसे उदात्त गुणों से भूषित करे। मनुष्य ही साहित्य का लक्ष्य है सो भी व्यक्ति मनुष्य नहीं सामाजिक मनुष्य। "मैं साहित्य को मनुष्य की दृष्टि से देखने का पक्षपाती हूँ। जो वाग्जाल मनुष्य को दुर्गति, हीनता और परमुखापेक्षिता से बचा न सके, जो उसकी आत्मा को तेजोद्दीप्त न बना सके, जो उसके हृदय को पर-दुःख-कातर और संवेदनशील न बना सके, उसे साहित्य कहने में मुझे संकोच होता है[1]।"

"ऐसा लग रहा है कि किसी विकट दुर्भाग्य के इंगित पर दलगत स्वार्थ के प्रेत ने मनुष्य को दबोच लिया है। दुनियाँ छोटे-छोटे संकीर्ण स्वार्थों के आधार पर अनेक दलों में विभक्त हो गई है। अपने दल के बाहर का आदमी संदेह की दृष्टि से देखा जाता है······इसीलिए साहित्यकार आज केवल कल्पना विलासी बनकर नहीं रह सकता। शताब्दियों का दीर्घ अनुभव यह बताता है कि उत्तम साहित्य की सृष्टि करना ही सबसे बड़ी बात नहीं है सम्पूर्ण समाज को इस प्रकार सचेतन बना देना भी परमावश्यक है जो उस उत्तम रचना को अपने जीवन में उतार सके।"[2]

द्विवेदी जी सामाजिक भावना को परिवहन करनेवाले साहित्य को

---

[1] अशोक के फूल, पं० हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० १७९।

[2] वही पृ० १८०।

साहित्य कहते हैं। लेकिन द्विवेदी जी का यह सामाजिक स्तर मात्र आदर्शात्मक नहीं है। वे अत्यंत वैज्ञानिक रूप से यह सिद्ध करते हैं कि सामाजिक अनुभूतियों और ज्ञान को अभिव्यक्ति देना ही साहित्य की मूल प्रवृत्ति है। वे साहित्य में व्यष्टि और समष्टि पर विचार करते हुए कहते हैं—

"प्रत्येक व्यक्ति अपने ज्ञानेन्द्रियों के सहारे कुछ तथ्यों की उपलब्धि करता है और कुछ बातों को उपलब्धियों के सहारे स्मरण करता है। इन्हीं उपलब्धियों और स्मृतियों के ताने-बाने से व्यक्ति की दुनियाँ बनती है। परन्तु यह दुनियाँ बदलती रहती है। वैयक्तिक तथ्य-जगत निरन्तर दूसरे लोंगों के उपलब्ध तथ्य-जगत से टकराते रहते हैं और सामान्य तत्त्व छँट-छँट कर हमारी ज्ञान राशि के रूप में परिणत होते रहते हैं। इससे दो बातें सिद्ध होती हैं—एक तो यह कि व्यक्ति के अतःकरण से गृहीत तथ्यात्मक ज्ञान राशि संपूर्ण रूप से वैयक्तिक नहीं होती। वह दूसरों की उपलब्धि और स्मृति से बनी तथ्यात्मक ज्ञान राशि से टकरा-टकरा कर बना हुआ एक ऐसा पदार्थ है जिसे हम अन्तर्वैयक्तिक तथ्यजगत कह सकते हैं।......दूसरी बात यह मालूम होती है कि यह अन्तर्वैयक्तिक तथ्य जगत निरन्तर परिवर्धमान और परिवर्तमान पदार्थ है—वह गतिशील है। वह नाना वैयक्तिक तथ्य जगतों के संघर्ष से स्थिरीकृत सामान्य जगत है। हमारी ज्ञान राशि अधिकांश में वैयक्तिक न होकर अन्तर्वैयक्तिक है।[1]"

"निरन्तर परिवर्त्तमान और परिवर्धमान इन उपलब्धियों के लिखित रूप को ही हम सामान्य रूप से साहित्य कहते हैं। विशेष रूप में साहित्य उपलब्धियों के उस लिखित रूप को कहते हैं जो हमारी सामान्य मनुष्यता को नित्य प्रभावित करती रहती है और भाव और आवेग से वेगवती होकर सामान्य मनुष्य के सुख-दुःख को विशेष मनुष्य—श्रोता या पाठक—के चित्त में संचारित कर देती है। भाषा साहित्य का वाहन है[2]।"

द्विवेदी जी की साहित्य की उपर्युक्त परिभाषा अधिक सुलझी हुई

---

[1] विचार और वितर्क, पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० २२८–२९।

[2] वही, पृ० २२९।

और पूर्ण है। एक ओर साहित्य का अनुभूतिपक्ष सम्यक् स्थान पा सका है और दूसरी ओर अनुभूतियों को सामाजिक धरातल पर देखा गया है— सामाजिक मनुष्यता का यथार्थ स्वरूप अभिव्यक्ति पा सका है। अर्थात् साहित्य का वक्तव्य है सामाजिक मनुष्यता के सुख-दुःख की अभिव्यक्ति कर सामाजिक मनुष्य को ऊपर उठाना और माध्यम है अनुभूति और भाव।

द्विवेदी जी व्यक्ति को समष्टि से अलग काटकर देखने के पक्षपाती नहीं हैं। वे यह मानते हैं कि बड़ी-बड़ी प्रतिभाएँ व्यक्ति में उपजती हैं लेकिन उन व्यक्तियों को समाज की सामूहिक प्रगति पैदा करती है। वे प्रतिभा को पूर्व जन्म की संचित वस्तु नहीं मानते। "कुछ व्यक्ति कुछ खास बातों को अधिक उपलब्ध कर लेते हैं, कुछ उपलब्ध ज्ञान को दूसरे के चित्त में ज्यादा आसानी से उतार सकते हैं। इस प्रकार उस वस्तु का अभिर्भाव होता है जिसे हम प्रतिभा कहते हैं। यह संपूर्ण रूप से वैयक्तिक नहीं। भूत-प्रेत और ग्रह-नक्षत्रों के अन्ध संस्कार में पली जाति में आइन्स्टाइन नहीं पैदा हो सकते, अन्य कोल-किरातों के समाज में कालिदास नहीं उत्पन्न हो सकते। समाज की सामूहिक पहुँच को ही व्यक्ति विशेष की प्रतिभा सूचित करती है। यह निश्चित समझिए कि स्थूल जगत को छोड़कर मनुष्य रह नहीं सकता और वह काव्य लिखे या नाटक अपने इर्द-गिर्द के वातावरण से अस्पृष्ट नहीं रह सकता। प्रतिभावान कवि अपने इर्द-गिर्द के जगत से ही अपने काव्य का मसाला संग्रह करता है।[१]"

इसी प्रकार द्विवेदी जी साहित्य में अर्थ, आवेग और कम्पन को अत्यन्त आवश्यक तत्त्व मानते हैं। लेकिन इन सबका सम्बन्ध अपने आस-पास के स्थूल जगत से है। एक व्यक्ति के चित्त के उचित अर्थ को दूसरे के चित्त में प्रवेश कराके ही शब्द सार्थक होता है। भावावेग द्वारा कम्पित और आन्दोलित शब्दार्थ अपने सीमित अर्थ से अधिक को प्रकाशित करता है। यह सब तभी हो सकता है जब इनका संबंध सामान्य जगत से हो। "जिस काव्य में केवल शब्दालंकार ही झंकार उत्पन्न करता है, अर्थ का भार कम होता है वह बहुत कुछ उसी प्रकार का असान्द्र

[१] विचार और वितर्क, पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० २३१।

अनुभूतिजनक आवेग कम्पन उत्पन्न करता है जो संगीत करता है, उसमें संगीत की अबाध गति भी नहीं होती और अर्थ जगत संपूर्ण विच्छेद भी नहीं होता क्योंकि उसके शब्द बराबर वाह्य सत्ता से श्रोता का संबंध जोड़ते रहते हैं। अर्थ भारहीन शब्दालंकार न तो काव्य की गाढ़ अनुभूति ही पैदा करते हैं और न संगीत का प्रवाह ही।...परन्तु अर्थालंकार शब्द के प्राणपद और विशेषाधान हेतुक दोनों ही धर्मों में गाढ़ अनुभूति का रस ले आते हैं। हम उनकी सहायता से वक्तव्य के व्यक्तित्व को, गुणों और क्रियाओं को गाढ़ भाव से अनुभव करते हैं[१]।"

द्विवेदी जी साहित्य को संगीत से ऊँचा स्थान देते हैं वह इसलिए कि संगीत से उत्पन्न कंपनों का योग वाह्य सत्ता से कम होने के कारण श्रोता के चित्त में उतनी गाढ़ अनुभूति नहीं होती जितनी काव्य जनित आवेग के कंपन से होती है। "...मनुष्य का चित्त सर्वत्र कार्य कारण शृंखला खोजता रहता है—अनुभूति और वेदना के क्षेत्र में भी। काव्य-जन्य अनुभूति की सान्द्रता इस बात का पक्का प्रमाण है कि मनुष्य आवेगचलित अवस्था में कार्यकारण-शृंखला के प्रति आस्था बनाए ही रहता है। जहाँ उसे नहीं पाता वहाँ देर तक जमना नहीं चाहता। यही कारण है कि भक्त कवि भगवान के साथ व्यक्तिगत संबंध की कल्पना कर लेता है।"

संगीत और काव्य की तुलना का प्रसंग बीच में इसलिए घुसेड़ना पड़ा कि काव्य का स्वरूप स्पष्ट हो जाय अर्थात् यह ज्ञात हो जाय कि काव्य में वाह्य जगत का कार्यकारणसहति रूप व्यक्त होता है। निर्वैयक्तिकता की सीमा जितनी ही व्यापक होगी कविता उतने ही अधिक व्यापक समाज को छू सकेगी और उसके हृदय को संवेदनशील बना सकेगी। जो कविताएँ वाह्य सत्ता से असंपृक्त होकर कवि की व्यक्तिगत सत्ता के आसपास ही अधिक रहेंगी वे कम हृदयों को छू सकेंगी। लेकिन वाह्यसत्ता की व्यापकता के साथ ही साथ आवेग का अपरिहार्य योग है ऐसा द्विवेदी जी मानते हैं। आवेग के अभाव में कविता चमत्कारी उक्ति मात्र होकर रह जाती है। अधिक गहराई से विचार करने पर इस तथ्य की उपलब्धि होती है कि वाह्य सत्ता का संघर्ष और आवेग दोनों

---

[१] विचार और वितर्क, पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० २३३।

एक दूसरे से जुड़े हुए हैं। जहाँ वाह्य सत्ता का सम्पर्क है वहाँ आवेग होगा ही, क्योंकि वहाँ कवि को सामाजिक अनुभूतियों के वेग का ध्यान रहेगा लेकिन व्यक्तिगत रुचियों के अवसर पर कवि चमत्कारवादी भी हो सकता है, ऐसा लिख सकता है जो उसकी कौतुकी वृत्ति को संतोष तो दे सके लेकिन सामान्य जनता की अनुभूतियों को न उभार सके। द्विवेदी जी बिहारी के एक दोहे का उद्धरण देकर इस बात को स्पष्ट करते हैं।

अधर परसि मीठी भई, दई हाथ सौं डारि।
लावति दतुअनि ऊख की नोखी खिजमत गारि ॥

"अधर माधुर्य से दतुअन कहीं भी मीठी होकर ऊख सी नहीं लगने लगती। इसलिए इस दोहे में मृदु कम्पन उत्पन्न करने की शक्ति होते हुए भी वह उतना अनुभूति प्रेरक नहीं हो पाया क्योंकि इस कम्पन का हेतु वाह्य सत्ता से असंपृक्त होने के कारण स्थायी नहीं होता और न अनुभूति को गाढ़ा रंग ही देता है।...लेकिन प्रश्न यहीं समाप्त नहीं हो जाता। यह कविता भी एक श्रेणी के लोगों को आनन्द देती है इसलिये इसे उपेक्षा की दृष्टि से नहीं देखा जा सकता[1]।"

ऊपर के उद्धरण में द्विवेदी जी वाह्य सत्ता से असंपृक्त काव्यों को भी मृदु कम्पन की वजह से काव्य मान लेते हैं और उसकी उपेक्षा न करने के लिये सावधान करते हैं (यह आलोचक की उदार साहित्यिक दृष्टि का परिचायक है) किन्तु वे महत्व देते हैं उसी काव्य को जो सामाजिक हो। जो साहित्य हमारी वैयक्तिक क्षुद्र संकीर्णताओं से हमें ऊपर उठा ले जाय और सामान्य मनुष्यता के साथ एक कराके अनुभव कराये, वही उपादेय है। उसके भाव पक्ष के लिये किसी देश विशेष या काल विशेष की नैतिक आचार परंपरा का मुँह जोहना आवश्यक नहीं है। "हमें दृढ़ता से केवल एक बात पर अटल रहना चाहिए और वह यह कि जिसे काव्य, नाटक या उपन्यास साहित्य कह कर हमें दिया जा रहा है वह हमें हमारी पशु सामान्य मनोवृत्तियों से ऊपर उठाकर समस्त जगत के सुख-दुःख को समझाने की सहानुभूतिपूर्ण दृष्टि देता है या नहीं।...जो भी साहित्य इसके बाहर पड़े—अर्थात् हमारी पशु सामान्य

---

[1] विचार और वितर्क, पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० १३४।

वृत्तियों को बड़ी करके दिखावे—हमें स्वार्थी और खण्ड विच्छिन्न बनावे उसे हम साहित्य नहीं कह सकते[१] ।"

ऊपर की व्याख्याओं से स्पष्ट है कि द्विवेदी जी की साहित्यिक नैतिकता एकदेशीय, एक कालिक ओर काल्पनिक नहीं है बल्कि सार्वभौम प्रगतिशील, मनोवैज्ञानिक और सामाजिक यथार्थ पर आधारित है। साथ ही वे उसे कलात्मक सौन्दर्य के माध्यम से ध्वनित रूप में देखने के पक्षपाती हैं।

सामाजिक यथार्थ और नैतिकता

द्विवेदी जी स्पष्ट स्वीकार करते हैं कि वे यथार्थवादी हैं और साथ ही वे लोकमंगल करनेवाले साहित्य की सृष्टि की प्रेरणा देते हैं। उनकी इन दोनों घोषणाओं में क्या कहीं विरोध है ? ऊपर-उपर से दिखाई पड़नेवाले तथ्यों का संग्रह कर देना यथार्थ नहीं है। अर्थात् सैकड़ों बिखरे स्थूल तथ्यों में से लेखक को चुनाव करना पड़ता है और जब चुनाव करना पड़ता है तो वह उनमें से ऐसों को क्यों न चुने जो सही भी हों और उनकी भीतरी शक्तियाँ आशा और उत्साह का संचार करनेवाली हों। ऐसा करने पर यथार्थ का चित्र भी प्रस्तुत होगा और जीवन के लिए आशा और उत्साहभरा नैतिक पक्ष भी ध्वनित होगा। इस कथन को द्विवेदी जी एक उदाहरण द्वारा अधिक स्पष्ट करते हैं—

"सवाल यह नहीं है कि सचमुच ही ऐसा होता है या नहीं। सच-मुच ही होता होगा। किन्तु सचमुच का बहुत कुछ होना ही बड़ी बात नहीं है। एक जहाज है तूफान में उलझा है। भयंकर संघर्ष के बाद डूब जाता है। हजारों आदमी 'हाय हाय' करते हुए समुद्र के गर्भ में बैठ जाते हैं। इन मरनेवालों में जहाज का वह वीर कप्तान भी है जो अंतिम क्षण तक अदम्य आशा और उत्साह लेकर अपनी विद्या और बुद्धि के बल पर तूफान से जूझता रहा और निरुपाय यात्रियों को बचा लेने के लिये जान लड़ाता रहा। मरना कप्तान का भी सही है और "हाय तोबा" मचानेवाले हजारों भीरु यात्रियों का भी सही है। दोनों

---

[१] विचार और वितर्क, पं० हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० २३४–३५ ।

सचमुच ही हुए हैं और दोनों ही यथार्थ हैं। परन्तु एक यथार्थ मनुष्य में आशा और विश्वास पैदा करता है और दूसरा यथार्थ निराशा और भीरुता। कोई भी लेखक जब दुनियाँ के लाख-लाख मनुष्यों में से किसी एक को चुनकर अपने ग्रंथ का नायक बनाता है तो वह चुनता ही है। चुनाव तो उसे करना पड़ेगा तो फिर क्यों न ऐसे यथार्थ चरित्र चुने जायँ जो यथार्थ मनुष्य हों मनुष्य का खाल ओढ़े हुए कीड़े मकोड़े न हों[1]।"

इस प्रकार द्विवेदी जी यथार्थ के नाम पर अश्लील नंगी स्वार्थी वृत्तियों, कमजोर क्लीव मनुष्यों की फोटोग्राफी पसन्द नहीं करते, वे समाज-मानव के संघर्षों, आशाप्रद हार-जीतों, विश्वास प्रद कमजोरियों और शक्तियों का चित्र उपस्थित करने के समर्थक हैं। वे वर्णन की सजीवता में विश्वास उत्पन्न करने के लिए छोटी छोटी दैनिक बातों का चित्र भी आवश्यक मानते हैं। वे स्वीकार करते हैं कि भीतरी शक्तियों को व्यक्त करने वाली बाहरी रूप रेखाएँ ही होती हैं, ये मोटी-मोटी बाहरी रेखाएँ या वातावरण बदले हुए युग के अनुकूल चित्रित होने चाहिए। लेकिन ये पाठकों में विश्वास पैदा करने के लेखक के कौशल हैं साहित्य के वक्तव्य नहीं। इस तरह द्विवेदी जी यथार्थवाद को एक कौशल मानते हैं। हम मानते हैं कि द्विवेदी जी का यथार्थवाद कोई पारिभाषिक नाम न ग्रहण करके भी सामाजिक यथार्थवाद के समीप है। उससे उसका कोई विरोध तो नहीं ही है उसकी स्पिरिट उसकी स्पिरिट के पास है।

सामाजिक यथार्थवाद भी जीवन्त सामूहिक चेतना को व्यक्त करने का पक्षपाती है और वह नित परिवर्तित युग की संपूर्ण उपलब्धियों को साहित्य में अभिव्यक्त देखने का समर्थक है। द्विवेदी जी भी अन्य कुछ आलोचकों के प्रतिकूल साहित्य को नवीन ज्ञान-विज्ञान की नाना प्रगतियों से प्रभावित मानते हैं और उसी दृष्टिकोण से साहित्य की व्याख्या भी करते हैं। अर्थात् द्विवेदी जी की आलोचना-दृष्टि समाजशास्त्रीय है।

समीक्षा में सन्तुलन का प्रश्न

हमने ऊपर देखा कि द्विवेदी जी जीवन और साहित्य में सर्वत्र संतुलन चाहते हैं—प्रगति और परंपरा का संतुलन, जीवन और साहित्य

---

[1] साहित्य का साथी, पं० हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० १०२–३।

का संतुलन, बुद्धि और हृदय का संतुलन, देश और विदेश का संतुलन। उनकी सैद्धांतिक और व्यावहारिक समीक्षाओं का मूल स्वर संतुलन है। लेकिन संतुलन का अर्थ समझौता नहीं। समझौते वाली मनोवृत्ति सत्य निर्णय में सहायक नहीं होती। "संतुलन दृष्टिकोण का मतलब बिलकुल दूसरा है। भावावेशवश या मोहवश कभी कभी मनुष्य जीवन के किसी एक पक्ष पर आवश्यकता से अधिक बल देने लगता है और इस प्रकार जीवन को देखने और समझने में एकांगी दृष्टि का विकास होता है। यदि इस प्रकार की दृष्टिवाला व्यक्ति बौद्धिक शक्ति से संपन्न हुआ तो वह साहित्य में इस दृष्टि की प्रतिष्ठा बढ़ा देता है। इस प्रकार समय समय पर जीवन को देखने की एकांगी दृष्टियों का प्रादुर्भाव होता रहता है इन दृष्टियों में सचाई के एक एक पार्श्व को जरूरत से ज्यादा महत्व दे दिया जाता है। संतुलन दृष्टिकोण इन्हीं एकांगी दृष्टियों की अतिवादिता से विनिर्मुक्त और इन सबमें पायी जाने वाली सचाई पर आधारित समग्र दृष्टि है।[१]"

द्विवेदी जी संतुलित दृष्टि को सत्यान्वेषी की दष्टि मानते हैं। वे मानते हैं कि एक ओर जहाँ वह सत्य की समग्र मूर्ति को देखने का प्रयास करती है वहीं दूसरी ओर वह सदा अपने को सुधारने और शुद्ध करते रहने को प्रस्तुत रखती है। उनका कहना है कि हम लोग जो भी कार्य करते हैं उसके मूल में हमारे जीवन का कोई न कोई सत्यवाद अवश्य रहता है। जान में या अनजान में हमारा तत्त्ववाद हमेशा हमारे क्रिया कलाप का नियंत्रण करता रहता है। विचार के क्षेत्र में वह अधिक स्पष्ट और सुचिंतित रूप में आता है। साहित्य पर जब हम विचार करते हैं तब भी हमारा अपना दृष्टिकोण अवश्य उसमें प्रधान हो उठता है। सत्यान्वेषी का कर्तव्य होता है कि वह उन सभी तत्त्ववादों को पहचाने।

द्विवेदी जी सबके कार्यों के मूल में तत्त्ववाद की चर्चा करते हुए सामान्य तत्त्ववाद पर विचार करते हैं। यह सामान्य तत्त्ववाद युग सत्य कहा जाता है। विभिन्न वादों के अम्बार में से सामान्य तत्त्वों को निकाल लेना ही सत्यान्वेषी का कर्तव्य होता है। द्विवेदी जी व्यक्तिगत तत्त्ववादों और सामान्य तत्त्ववादों को पहचान कर उनका समन्वय करते

---

१ विचार और वितर्क, हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० २४४।

हैं। विभिन्न तत्त्ववादों के सामान्य और भिन्न-भिन्न तत्त्वों को पहचान कर उनका समन्वय न कर पाने वाले समालोचक जहाँ वादों को साहित्य के क्षेत्र से निकाल कर साहित्य का स्वतंत्र मानदण्ड निर्मित करने की पुकार करते हैं वहाँ द्विवेदी जी उन वादों के सुन्दर तत्त्वों को ग्रहण कर एक समग्र सत्य के निर्माण का पक्ष प्रस्तुत करते हैं। जहाँ बहुतेरे उदार बननेवाले हिन्दी समीक्षक प्रगतिवाद को आर्थिक दृष्टि की उपज कहकर उसकी अवहेलना करने पर उतारू हैं वहीं द्विवेदी जी उसे मानव मंगल की भावना से अनुप्राणित जीवन दर्शन मानते हैं। वे उसे जड़वादी नहीं मानते क्योंकि वह मानव समाज के भौतिक जीवन को सुखी बनाकर प्रेम और सौहार्द जैसे उदात्त भावों का सृजन करनेवाला है।

सौन्दर्य और सन्तुलन

साहित्य के क्षेत्र में प्रायः सौन्दर्य शब्द को लेकर जीवन निरपेक्ष कला का स्वर ऊँचा किया जाता है। सौन्दर्य शाश्वत है, जगत जीवन निरपेक्ष है। या यह कि कला का सौन्दर्य-लोक सबसे निराला है उसका सम्बन्ध जगत और जीवन के शिव और सत्य पक्ष से नहीं है। यह दृष्टि कुछ सुन्दर वस्तुओं को रूढ़ रूप में स्वीकार कर लेती है। इसी से मिलती जुलती वह दृष्टि भी है जो सौन्दर्य को आतमगत सत्य के रूप में ग्रहण करती है। इसका भी सम्बन्ध वाह्य जगत और जीवन से नहीं हैं लेकिन इसमें व्यक्तियों की रुचि विभिन्नता के कारण विभिन्नता दृष्टिगत होती है। द्विवेदी जी सामंजस्य को सुन्दरता मानते हैं (और मैं सामंजस्य और सन्तुलन को एक अर्थ में ले रहा हूँ) साहित्यकार जब वाह्य जगत की स्थितियों और अपनी मानसिक स्थितियों, शाश्वत तत्त्वों और गतिशील तत्त्वों का सामंजस्य करता है, समाज के ऊबड़-खाबड़ ढाँचे को काट-छाँट कर समान करता है, समाज के सभी व्यक्तियों का बराबर दाय स्वीकार कर उसके लिये वकालत करता है तब वह सौन्दर्य की सृष्टि करता है। संसार के विराट कोलाहल और गति की उपेक्षा कर एक कोने में बैठकर कवि सौन्दर्य का निर्माण नहीं कर सकता। "साहित्य के उपासक अपने पैर के नीचे की मिट्टी की उपेक्षा नहीं कर सकते। हम सारे वाह्य जगत को असुन्दर छोड़कर सौन्दर्य की सृष्टि नही कर सकते। सुन्दरता सामंजस्य का नाम है। जिस

दुनियाँ में छोटाई और बड़ाई में, धनी और निर्धन में, ज्ञानी और अज्ञानी में आकाश और पाताल का अन्तर हो वह दुनियाँ सामंजस्य की नहीं कही जा सकती और इसलिए वह सुन्दर भी नहीं हैं। इस वाह्य असुन्दरता के ढूह पर खड़े होकर आन्तरिक सौन्दर्य की उपासना नहीं हो सकती। हमें उस वाह्य असौन्दर्य को देखना ही पड़ेगा। निरन्न निर्वसन जनता के बीच खड़े होकर आप परियों के सौन्दर्य लोक की कल्पना नहीं कर सकते। साहित्य सुन्दर का उपासक है। इसलिये साहित्यिक को असामंजस्य को दूर करने का प्रयत्न पहले करना होगा, अशिक्षा और कुशिक्षा से लड़ना होगा, भय और ग्लानि से लड़ना होगा। सौन्दर्य और असौन्दर्य का कोई समझौता नहीं हो सकता। सत्य अपना पूरा मूल्य चाहता है। उसे पाने का सीधा और एक मात्र रास्ता उसकी कीमत चुका देना ही है। इसके अतिरिक्त कोई दूसरा रास्ता नहीं है। हमारे देश का वाह्य रूप न तो आँखों को प्रीति देने लायक है, न कानों को, न मन को न बुद्धि को। यह सचाई है।[१]"

द्विवेदी जी वाह्य जगत और साहित्य का अन्योन्याश्रित संबंध मानते हैं। "साहित्य ही मनुष्य को भीतर से सुसंस्कृत और उन्नत बनाता है और तभी उसका वाह्य रूप भी साफ और स्वस्थ दिखाई देता है। और साथ ही वाह्य रूप के साफ और स्वस्थ होने से आन्तरिक स्वास्थ्य का भी आरंभ होता है[२]।" इसका तात्पर्य यह है कि वाह्य रूप से उन्नत राष्ट्रों की ही आत्मा उन्नत होती है और उन्नत आत्मा से उन्नत (सुन्दर) साहित्य का निर्माण होता है। कुछ अपवादों के साथ यह सिद्धान्त तत्वतः ठीक है।

समीक्षा की सामंजस्यवादी दृष्टि

ऊपर के विवेचन से द्विवेदी जी की संतुलित दृष्टि या सामंजस्यवादी सौन्दर्यबोध स्पष्ट हो गया होगा। व्यावहारिक समीक्षाओं में इन्होंने इसीलिये कवि पर प्रभाव डालनेवाले अनेक तत्त्वों की मीमांसा की है। कवि एक चेतन प्राणी है, उसकी मानसिक सृष्टि में अनेक तत्त्व कारण बनते हैं उनमें से किसी एक का प्राधान्य रहता है और बाकी गौण

---

[१] अशोक के फूल, पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० १९८-९९।

[२] वही पृ० १९९।

लेकिन उपेक्षणीय नहीं। इसलिये बिना सभी तत्वों का मर्म समझे उस कवि की कविता का मर्म समझना संभव नहीं होता। "ग्रंथकार के अध्ययन के लिये चार बातों की जानकारी आवश्यक है—(१) वह किस काल में पैदा हुआ (२) वह किस जाति और समाज में पैदा हुआ (३) उसके समसामयिक और पूर्ववर्ती अन्य प्रसिद्ध ग्रंथकार कौन कौन थे और उनसे उसका कोई सम्बन्ध था या नहीं तथा (४) उसका व्यक्तिगत जीवन क्या और कैसा था ?

लेकिन यह तो किसी लेखक की कृति समझने के विभिन्न उपकरण है, कृति के वक्तव्य नहीं। कृति का वक्तव्य तो इन परिपार्श्वों के ऊपर निर्मित स्वरूप का वह स्वर है जो मनुष्यता को ऊँचे उठाये। और कृति में यह शक्ति तभी आ सकती है जब कृतिकार में विराट जन समुदाय के गहरे अध्ययन के साथ-साथ उच्च कोटि की प्रतिभा और सामाजिक दृष्टि हो। जब साहित्यकार इन सभी उपकरणों का उचित सामंजस्य प्रस्तुत करता है तभी काव्य उच्च कोटि का सुन्दर होता है।

द्विवेदी जी की यही संतुलित दृष्टि विभिन्न प्रकार की आलोचनाओं के विश्लेषण में लक्षित होती है। एक ओर उन्होंने व्याख्यापरक और प्रभाववादी आलोचनाओं की आत्यंतिक सीमा का विरोध कर दोनों का सामंजस्य प्रस्तुत किया दूसरी ओर निर्णयात्मक और अभ्यूहमूला (व्याख्या-परक, इनडक्टिव) आलोचना में संतुलन स्थापित किया।

आचार्य शुक्ल प्रभाववादी समालोचना को कोई ठीक-ठिकाने की वस्तु नहीं मानते। उसका न ज्ञान के क्षेत्र में कोई मूल्य है न भाव के क्षेत्र में। द्विवेदी जी शुक्ल जी के इस विचार से कुछ दूर तक सहमत हैं और कुछ दूर तक असहमत। शुक्ल जी समीक्षा में बुद्धि मूलक चिन्तन प्रधान मानते हैं यह उचित ही है लेकिन वे इस बात को भूल जाते हैं काव्य की समीक्षा कितनी भी बुद्धि मूलक क्यों न हो वह भावावेग को समझाने का प्रयत्न करती है।

"जब तक सहृदय का व्यक्तित्व कवि के साथ एकाकार नहीं हो जाता तब तक रस का अनुभव नहीं हो सकता। समीक्षक जब तक अपना अहंकार लेकर बैठा रहेगा तब तक रस नहीं पा सकेगा। स्वयं शुक्ल जी ने कहा है कि काव्य का जो चरम लक्ष्य सर्वभूत को आत्मभूत करके

अनुभव कराना है उसके साधन में भी अहंकार का त्याग है[१] ।" शुक्ल जी के साथ न्याय करने के लिये यहाँ इतना कह देना आवश्यक है कि सिद्धान्त रूप से उन्होंने भले ही इस बौद्धिक निस्संगता का समर्थन किया हो (और किया है) लेकिन व्यावहारिक आलोचनाओं में कवि के साथ बहे बिना नहीं रह सके हैं, उनकी रसमयता बौद्धिकता के साथ-साथ अपूर्व सौन्दर्य सृष्टि करती है और कवि के वक्तव्य का मार्मिक प्रकाश करती हैं।

निर्णयात्मक समीक्षा के विरोध सें अम्यूहमूला आलोचना उठ खड़ी हुई। 'इसमें कवियों के प्रकार में भेद किया जाता है मात्रा में नहीं।' श्री नंददुलारे वाजपेयी की समीक्षा से यह स्पष्ट हो चुका है कि वे हिन्दी में इस प्रकार की समीक्षा के अग्रणी हैं वे अनुभूतियों में छोटाई-बड़ाई का भेद नहीं मानते और अनुभूतियों को ही काव्य का चरम लक्ष्य मानते हैं। इस प्रकार निर्णयात्मक समीक्षा का खंडन होता है। द्विवेदी जी ने अम्यूहमूलक समालोचना की इस स्तरभेदहीनता की प्रवृत्ति का विरोध किया।

"लेकिन वनस्पति शास्त्र के बबूल और गुलाब का जाति भेद बताने के बाद भी एक ऐसे शास्त्र की आवश्यकता रह जाती है जो बतावे कि इन दोनों में से किस का नियोग मानव जाति के कल्याण में किया जा सकता है। उसी प्रकार इस समालोचक के बाद भी इस बात की जरूरत रह जाती है कि, समालोचक नहीं तो कोई और ही बतावे कि इस कवि से समाज को क्या लाभ या हानि है—अर्थात् समाज के लिये कौन कितना उत्कृष्ट या अपकृष्ट है ? इस प्रकार की समस्या जहाँ की तहाँ रह जाती है[२] ।" यहाँ भी द्विवेदी जी निर्णयात्मक और अम्यूहमूलक आलोचनाओं के गुणों में संतुलन चाहते हैं और सबके ऊपर वे एक सामान्य निर्णायक साधन की आवश्यकता समझते हैं। पुराना निर्णायक साधन जमाने के परिवर्तन के साथ मान्य नहीं "फिर भी उनके (पुराने पंडितों के) सुझाये हुए मार्ग से नये स्टैण्डर्ड का उद्भावन किया जा सकता है। आज हर आलोचक अपना अपना मानदण्ड लेकर साहित्य को तौलने का प्रयास कर रहा है इसीलिये उनके निर्णयों में कहीं साम्य नहीं है। सामान्य मानदण्ड का निर्माण हम तभी कर सकते हैं जब

---

[१] साहित्य का साथी, पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० १४७।

[२] वही, पृ० १४५।

हम व्यक्तिगत राग-द्वेष से निस्संग बुद्धि का आश्रय लेंगे। किसी 'वस्तु' 'धर्म' या 'क्रिया' के वास्तविक रहस्य का पता लगाने के लिये उसे अपने अनुराग विराग या इच्छा द्वेष के साथ सान नहीं देना चाहिये, बल्कि देखना चाहिये कि वह वस्तु धर्म या क्रिया देखनेवाले के बिना भी अपने आप में क्या है[१]।"

परंपरा और प्रगति

द्विवेदी जी की लोक मंगल विधायिनी दृष्टि की चर्चा ऊपर हो चुकी है। हम कहना यह चाहते हैं कि उनकी यह दृष्टि एक क्षण के लिये भी उनका साथ नहीं छोड़ती। वे उन खंडित व्यक्तित्वों की तरह नहीं हैं जो क्षण विशेष में और बात करें और दूसरे क्षण विशेष में और। यह लोक मंगल विधायिनी दृष्टि उनके व्यक्तित्व का अपरिहार्य अंग बन गई है ऊपर से जोड़ी हुई नहीं है। इसलिए प्राचीन नवीन सभी काल के साहित्यों को इसी सामाजिक यथार्थ पर आधारित मंगलकारी दृष्टि से देखने का दावा करते हैं। प्रगति को वे अनिवार्य मानकर उसका सदैव स्वागत करने को प्रस्तुत हैं क्योंकि मनुष्य इच्छाशील चेतन प्राणी है, वह सदैव जड़ जगत से संघर्ष करता हुआ ऊपर उठने की कोशिश कर रहा है। अतएव प्रगति तो मनुष्य की जीवन्त शक्तियों का परिचायक है निरन्तर प्रगति के कारण लोक रुचि बदलती रहती है। साहित्य का धर्म है कि वह इन बदलती हुई लोक-रुचियों को अभिव्यक्ति दे, न कि पिछले युगों की लोक-रुचियों को नये लोक जीवन पर लादने की असफल चेष्टा करे।

किन्तु प्रगति परंपरा से विच्छिन्न नहीं हो सकती। प्रगति कहीं ऊपर से बरसी नहीं है वह चेष्टाशील मानव समाज के सामूहिक प्रयत्नों का क्रमिक विकास है। उसे हम परंपरा की नवीनतम कड़ी मान सकते हैं और उसके क्रमिक विकास को समझने के लिये उसकी जड़ की गहराई देखने के लिये हमें परंपरा का अध्ययन करना होता है। परंपरा से विच्छिन्न कर नवीन प्रगति को हम समझ ही नहीं सकते हैं। परंपरा की पिछली कड़ियाँ वर्तमान और भविष्य की रूपरेखा को समझने में सहायक होती हैं।

---

[१] साहित्य का साथी, पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० १४७।

लेकिन द्विवेदी जी परंपरा को—इतिहास को—अपने आप में साध्य नहीं मानते । उसका अध्ययन हमें भावी जीवन के स्वस्थ निर्माण के लिये ही करना चाहिए, इसके लिये वे कापालियों की शव साधना की अपने ढंग से व्याख्या करते हैं । कापालिक शव की पीठ पर बैठकर सिद्धि-प्राप्ति की साधना करता है । जब उसे सिद्धि प्राप्त होती है तब शव का मुँह नीचे की ओर से ऊपर की ओर हो जाता है । साहित्य साधकों का भी यही कर्तव्य होता है कि परंपरा की पिछली मृत कड़ियों का अध्ययन कर भूत का मुँह भविष्य की ओर फेर दें । इतिहास की पीठ पर बैठ कर भविष्य की चिन्ता करें ।

इतिहास का नवीन दृष्टिकोण

द्विवेदी जी के पूर्व हिन्दी साहित्य में जितने इतिहास लिखे गये हैं उनमें सबसे अधिक सुव्यवस्थित और वैज्ञानिक इतिहास आचार्य शुक्ल का है । लेकिन उनकी दृष्टि कुछ सदोष दिखाई पड़ती है । एक तो उन्होंने इतिहास को पूरे जन समूह के आन्दोलन के रूप में न देखकर विशिष्ट वर्गों, व्यक्तियों के कार्य-कलापों तक ही सीमित रखा और दूसरे नवीन प्रगतियों को परंपरा की व्यापक पृष्ठभूमि पर न देखकर कुछ सामाजिक राजनैतिक आन्दोलनों के प्रभावों के रूप में देखा । द्विवेदी जी ने हिन्दी साहित्य के इतिहास की परख करते समय इन दोनों दोषों का निराकरण किया । "हिन्दी साहित्य की भूमिका" में उन्होंने पहले पहल व्यापक अध्ययन और गहरी विवेचना शक्ति से यह सिद्ध किया कि हिन्दी साहित्य के आदिकाल में जो प्रवृत्तियाँ लक्षित होती हैं वे भारतीय चिन्ताधारा के स्वाभाविक विकास के परिणाम स्वरूप हैं । हिन्दी साहित्य के आदिकाल का सम्बन्ध उस काल की राजनैतिक स्थिति मात्र से देखनेवाले उस काल की उपलब्धियों के साथ न्याय नहीं कर पाते हैं । वास्तव में उस काल को परखने के लिये हमें हजार वर्ष और पीछे जाना पड़ता है । द्विवेदी जी ने सन् ईसवी के प्रथम हजार वर्षों के इतिहास को लेकर यह देखने की चेष्टा की है कि किस प्रकार अनेक सामाजिक कारणों से विविध भारतीय धर्मों का स्वरूप क्रमशः शास्त्रीय स्तर से उतरकर लोक-जीवन में घुल मिल रहा था । हिन्दी साहित्य के आदि काल तक भाषा और विचार दोनों दृष्टियों से साहित्य लोक जीवन में प्रतिष्ठित हो चुका था । इस विकास के परीक्षण कार्य में

द्विवेदी जी ने तत्कालीन समाज के सामूहिक व्यापारों और चिन्तनों को लिया है।

मध्यकाल में भक्तों और सन्तों की कविताओं के मूल स्वरों को भी उन्होंने विकासशील परंपरा के क्रम में ही देखा है। शुक्ल जी ने मध्यकालीन भक्ति-आन्दोलन को मुसलमानों के आगमन का परिणाम माना। किन्तु द्विवेदी जी ने यह सिद्ध किया कि "अगर इस्लाम नहीं आया होता तो भी इस साहित्य का बारह आना वैसा ही होता जैसा आज है।"

उन्होंने इस बात की ओर संकेत किया कि अपभ्रंश काव्य पूर्णतः लोक-जीवन में घुल मिल गया था। इसमें शृंगार और वीर रस की भावोच्छसित कविताएँ होने लगी थी। हिन्दी में दो प्रकार की भिन्न-भिन्न जातियों की दो चीजें अपभ्रंश से विकसित हुई। "(१) पश्चिमी अपभ्रंश से राजस्तुति, ऐहिकता-मूलक शृंगारी काव्य, नीति विषयक फुटकल रचनाएँ और लोक प्रचलित कथानक। और (२) पूर्वी अपभ्रंश से निर्गुनिया सन्तों की शास्त्र निरपेक्ष उग्र विचारधारा, झाड़-फटकार, अक्खड़पना, सहज शून्य की साधना, योग पद्धति और भक्तिमूलक रचनाएँ। और यह भी लक्ष्य करने की बात है कि यद्यपि वैष्णव मतवाद उत्तर भारत में दक्षिण की ओर से आया पर उसमें भावावेश मूलक साधना पूर्वी प्रदेशों से ही आई। इस प्रकार हिन्दी साहित्य में दो भिन्न-भिन्न जाति की रचनाएँ दो भिन्न-भिन्न मूलों से आई। यह बात पहले ही बताई जा चुकी है कि पश्चिमी प्रदेशों में बसे हुए आर्य पूर्वी प्रदेशों में बसे हुए आर्यो से भिन्न प्रकृति के है। भाषा शास्त्रीयों ने यह निश्चित रूप से सिद्ध कर दिया है कि ये दो भिन्न-भिन्न श्रेणी के लोग थे। यह भी ध्यान रखने की बात है कि पूर्वी प्रदेशों में भारतीय इतिहास के आदि काल से रूढ़ियों और परंपराओं के विरुद्ध विद्रोह करनेवाले सन्त होते रहे हैं। वैदिक कर्मकाण्ड के मृदु विरोधी जनक और याज्ञवल्क तथा उग्र विरोधी बुद्ध और महावीर आदि आचार्य इन्हीं पूर्वी प्रदेशों में उत्पन्न हुए थे। समग्र भारतीय साहित्य में हिन्दी ही एक ऐसी भाषा है जिसमें पश्चिमी आर्यों की रूढ़ि प्रियता, कर्मनिष्ठा के साथ ही साथ पूर्वी आर्यों की भाव प्रवणता, विद्रोही वृत्ति और प्रेमनिष्ठा का मणिकांचन योग हुआ है। इस बात को ठीक न समझ सकने के कारण ही केवल

ऊपरी बातों को देखनेवाले आलोचक कभी-कभी इस भाव को मुसलमानी प्रभाव और उस भाव को ईसाइयत का प्रभाव कह देते हैं।" द्विवेदी जी ने कबीर के वेद-विरोधी स्वर का सम्बन्ध सिद्धों और नाथों के स्वरों से जोड़ा है और कबीर पर इस्लाम संप्रदाय के प्रचार का दोषारोप करनेवालों का भ्रम-निवारण किया है।

इतिहास में शोध

द्विवेदी जी ने अपनी मान्यताएँ गहरे शोध पर निर्मित की हैं अनुमान पर नहीं। वे मुख्य रूप से हिन्दी साहित्य के आदि और मध्यकाल पर जमकर शोध और विचार करनेवाले पंडित हैं। शोध के आधार पर उन्होंने जो सामान्य जन-प्रवाह के विकास का परिचय दिया सो तो दिया ही, विभिन्न कालों के विवादग्रस्त प्रश्नों को काफी साफ किया और अनेक भ्रान्त धारणाओं का निवारण कर मौलिक स्थापनाएँ कीं तथा हर युग की सामान्य प्रवृत्तियों और साहित्य में उनके स्वाभाविक प्रतिफलन का विवेचन किया। तत्कालीन साहित्य के सम्बन्ध में कुछ ऐसी बातें जो विद्वानों को बुरी तरह शंकाओं में उलझायें थी द्विवेदी जी द्वारा विवेचित हुईं।

आदिकाल

यों तो 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' और 'हिन्दी साहित्य' में आदिकाल पर द्विवेदी जी ने काफी विचार प्रस्तुत किए हैं किन्तु उन्होंने अलग से हिन्दी साहित्य का 'आदिकाल' ग्रंथ (जो उनके भाषणों का संग्रह है) लिखकर बड़े विस्तार से अपना वक्तव्य प्रस्तुत किया। उन विभिन्न अध्यायों में उन्होंने विस्तार से जो विचार प्रस्तुत किए हैं उनके लम्बे-लम्बे उद्धरण देने का प्रयास न कर हम उनकी कुछ मुख्य-मुख्य विशेषताओं पर ही दृष्टिपात करेंगे।

पहले तो उन्होंनें अपभ्रंश के उपलब्ध साहित्य की चर्चा की हैं। इस काल के आरम्भ में इस भाषा का बहुत ही विशाल साहित्य वर्तमान था 'जब तक इस विशाल उपलब्ध साहित्य को सामने रखकर इस काल के काव्य की परीक्षा नहीं की जाती तब तक हम इस साहित्य का ठीक-ठीक मर्म उपलब्ध नहीं कर सकते। केवल संयोगवश इधर-उधर से उपलब्ध प्रमाणों के बल पर किसी बात को अमुक का प्रभाव और किसी को

अमुक ऐतिहासिक घटना की प्रतिक्रिया कहकर व्याख्या कर देना न तो बहुत उचित है और न बहुत हितकर[१] ।'

दूसरे अध्याय में इन्होंने यह दिखाया हैं कि "अपभ्रंश या देश्यभाषा की ऐसी रचनाएँ जिनका निर्माण आज के हिन्दीभाषी क्षेत्रों में हुआ था नहीं मिलतीं। जो मिलती हैं वे अपने मूल अविकृति रूप में नहीं मिलतीं। अपभ्रंश के जिन चरित्र काव्यों की चर्चा पहले की गई है वे अधिकांश जैन परम्परा से प्राप्त हुए है और हिन्दी भाषी क्षेत्रों के बाहर लिखे गए हैं। वे इस बात की सूचना देते हैं कि इस काल में जैनेतर परम्परा में भी प्रचुर काव्य साहित्य लिखा गया था। नाना ऐतिहासिक कारणों से ये रचनाएँ सुरक्षित नहीं रह सकी[२] ।" (और उन कारणों की भी द्विवेदी जी ने व्याख्या की है) ।

पृथ्वीराज रासो की ऐतिहासिकता के सम्बन्ध में बहुत से विवाद उठ खड़े हुए। पृथ्वीराज रासो में जो अनेक इतिहास-असंगत बातें दिखाई पड़ती हैं उनके कारण विद्वानों ने उसे सर्वथा जाली ग्रन्थ सिद्ध किया था। द्विवेदी जी ने इस क्षेत्र में एक अत्यंत मौलिक कार्य किया। उन्होंने यह तो स्वीकार किया कि पृथ्वीराज रासो में प्रक्षिप्त अंशों का ढेर लग गया है लेकिन उन्होंने इस बात का दृढ़ विरोध किया कि पृथ्वीराज रासो जाली ग्रंथ है। उन्होंने सिद्ध किया कि तत्कालीन कवियों का ध्यान कविता करने की ओर अधिक था इतिहास लिखने की ओर कम। वे संभावनाओं और कथानक रूढ़ियों से काम लेते थे। इसीलिए उनके काव्यों के नायक कई काल्पनिक लड़ाइयाँ लड़ते थे, कई काल्पनिक नाइकाओं से विवाह करते थे। और इस तथ्य को न समझ सकनेवाले पण्डित विचित्र घपले में पड़ जाते हैं।

"पृथ्वीराज रासो और पद्मावत भी ऐतिहासिक व्यक्ति के नाम से संबद्ध काव्य हैं परन्तु अन्यान्य ऐतिहासिक काव्यों की भाँति मूलतः इनमें भी ऐतिहासिक और निजंधरी कथाओं का चित्रण रहा होगा। जैसा कि शुरू में ही इशारा किया गया है, ऐतिहासिक चरित्र का लेखक संभावनाओं पर अधिक बल देता है। संभावनाओं पर बल देने का परिणाम यह हुआ है

---

[१] आदिकाल, पं० हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० २४ ।

[२] वही, पृ० ४९ ।

कि हमारे देश के साहित्य में कथानक को गति और घुमाव देने के लिए कुछ ऐसे अभिप्राय बहुत दीर्घकाल से व्यवहृत होते आए हैं जो बहुत थोड़ी दूर तक यथार्थ होते हैं और जो आगे चलकर कथानक रूढ़ि में बदल गए हैं। इस विषय में ऐतिहासिक और निजन्धरी कथाओं में विशेष भेद नहीं किया गया। केवल ऐसी बात का ध्यान रखा गया है कि संभावना क्या है।······इस प्रकार संभावना पक्ष पर जोर देने के कारण कुछ कथानक रूढ़ियाँ इस देश में चल पड़ी हैं।'[१]

ऐतिहासिक काव्यों की परंपरा कब से चली और उनका क्या स्वरूप रहा? आदि काल तक जाते आते उनका क्या स्वरूप हो गया? आदि पक्षों पर द्विवेदी जी ने बड़ा ही अध्ययनपूर्ण शोध प्रस्तुत किया है। "भारतीय कवियों ने ऐतिहासिक नाम भर लिया, शैली उनकी वही पुरानी रही, जिसमें काव्य निर्माण की ओर अधिक ध्यान था, विवरण संग्रह की ओर कम, कल्पना-विलास का अधिक मान था, तथ्य निरूपण का कम, संभावनाओं की ओर अधिक रुचि थी घटनाओं की ओर कम, उल्लसित आनंद की ओर अधिक झुकाव था, विलसित तथ्यावली की ओर कम। इस प्रकार इतिहास को कल्पना के हाथों परास्त होना पड़ा। ऐतिहासिक तथ्य इन काव्यों में कल्पना को उकसा देने के साधन मान लिये गये हैं······उत्तर काल के ऐतिहासिक काव्यों में इसकी भरमार है। ऐतिहासिक विद्वान के लिये संगति मिलाना कठिन हो जाता है।[२]"

"जिस प्रकार भारतीय कवि काल्पनिक कथानकों में ऐसी घटनाओं को नहीं आने देता जो दुखपरक विरोधों को उकसावें उसी प्रकार वह ऐतिहासिक कथानकों में भी करता है। सिद्धान्ततः काव्य में उस वस्तु का आना भारतीय कवि उचित नहीं समझता जो तथ्य और औचित्य की भावनाओं में विरोध उत्पन्न करे, दुखोद्रेचक विषम परिस्थितियों —ट्रैजिक कण्ट्रेडिक्शन्स—की सृष्टि करे, परन्तु वास्तव-जीवन में ऐसी बातें होती ही रहती हैं। इसलिए इतिहासाश्रित काव्य में ऐसी बातें आयेंगी ही। बहुत कम कवियों ने ऐसी घटनाओं की उपेक्षा कर जाने की बुद्धि से अपने को मुक्त रखा है। यही कारण है कि इन ऐतिहासिक

---

[१] आदिकाल, पं० हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० ७४।

[२] वही, पृ० ७०।

काव्यों के नायक को धीरोदात्त बनाने की प्रवृत्ति ही प्रबल हो गई है परन्तु वास्तविक जीवन के कर्तव्य द्वन्द्व, आत्म विरोध और आत्म प्रतिरोध जैसी बातें उसमें नहीं आ पातीं ।[१]" फिर द्विवेदी जी ने इन काव्यों की परंपरा में कीर्तिलता को महत्वपूर्ण स्थान दिया है । और यह स्पष्ट किया है कि अपनी विशेषताओं के कारण वह तत्कालीन अन्य काव्य ग्रन्थों से अलग है । उसमें ऐतिहासिक तथ्यों और कल्पना का अद्‌भुत सामंजस्य किया गया है ।

इन्होंने कथा और आख्यायिका का इतिहास और उनकी परिभाषाओं के संबंध में भिन्न-भिन्न मत प्रस्तुत करते हुए आदिकाल के कथा-काव्यों को परखा है । छन्दों की परम्परा का भी विकास दिखाया है ।

भक्तिकाल के संबंध में निश्चित पूर्व मान्वताओं को भी द्विवेदी जी ने हिलाया है । अर्थात् वहाँ भी उन्होंने भक्ति-आन्दोलन का संबंध प्राचीन परम्परा और दक्षिण के भक्तों के साथ जोड़ा है वह राजनीतिक प्रतिक्रिया मात्र नहीं था । सगुण तो सगुण कबीर आदि निर्गुणिया सन्तों की भक्ति और उपदेश-परक वानियों को परंपरा के मेल में ही देखा और यह सिद्ध किया कि कबीर आदि विशुद्ध भारतीय भावों के वाहक थे, विदेशी प्रभावों के अनुवादक नहीं । सन्त मत का योग-मार्ग और सिद्ध-मार्ग से तुलना कर उनके सामान्य तत्त्वों का परीक्षण किया । हर संप्रदाय के विचारों की उदारता पूर्वक व्याख्या की । फिर यह दिखाया कि भक्तिकाल के सभी भक्तों के कुछ सामान्य विश्वास थे । सूफी मार्ग मुसलिम धर्म के साथ-साथ भारत में आया और जनता की लोक-कथाओं के माध्यम से उन्हें प्रभावित किया । भक्तों की मधुर रस की उपासना सूफी मत का प्रभाव है ऐसा कहनेवाले ग़लत कहते हैं । इन्होंने भक्तिकालीन साहित्य को प्रभावित करनेवाली समूची मध्यकालीन धर्म-साधनाओं का विवेचन 'मध्यकालीन धर्म साधना' में की है, साथ ही साथ साहित्यिक सौन्दर्य की भी व्याख्या की है—जैसे सूफी साधकों की मधुर साधना आदि ।

इसी तरह द्विवेदी जी ने रीतिकालीन कविताओं को भी राजनीतिक निष्क्रियता का परिणाम न मानकर उनका संबंध परम्परागत प्रवृत्तियों से जोड़ा । रीतिकाल की कविता का सम्बन्ध हाल की सतसई, हूणों

---

[१] आदिकाल, पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० ७१ ।

और आभीरों, रासो आदि की कल्पित कथाओं, अलंकार शास्त्र के संप्रदायों आदि ऐहिकतापरक तत्त्वों से हैं। परंपरागत विवेचन करने के पश्चात् द्विवेदी जी ने यह दिखाया है कि रीतिकालीन कविता लोक साहित्य भी नहीं है और शास्त्रीय काव्य भी नहीं। फिर स्तोत्रों के प्रभाव को दिखाया। गोपी और गोपालों के प्रेम-काव्य का स्वरूप उद्घाटित किया। साहित्य में राधाकृष्ण की प्रेम लीला के प्रयोग का परीक्षण किया। गौड़ीय वैष्णयों के नायिका भेद से रीतिकाव्य के नायिका भेद की तुलना की, वात्स्यायन के कामसूत्र का अभिव्यक्त प्रभाव प्रदर्शित किया और अन्त में यह स्थापना की कि इस काल के कवियों और आचार्यों में स्वाधीन चिन्ता के प्रति अवज्ञा का भाव था।

आधुनिक काल पर द्विवेदी जी की दृष्टि अपेक्षाकृत नहीं रही है और इस काल पर काम करनेवाले लोगों की कमी भी नहीं है इसलिये किसी नई स्थापना की उतनी आवश्यकता न थी। फिर भी हम एक बात देखते हैं कि इन्होंने इस काल के सभी वादों को बहुत संतुलित दृष्टि से देखा है और छायावाद पूर्व, छायावाद और छायावादोत्तर कविताओं को सदैव सामाजिक विकास के परिपार्श्व में देखा है और जिसमें जितनी ही अधिक जीवन-शक्ति दिखाई पड़ी उसे उन्होंने उतनी ही अधिक श्रद्धा दी। नये युग की नयी चेतना को रूढ़िवादियों की तरह अस्पृश्य न मानकर स्वागत की भावना से देखा। वह नयी चेतना गंभीर भारतीय निद्रा के बाद उस जागरण के समान है जो समस्त सामाजिक आन्दोलनों के साथ साहित्य में छा गया जिसके आलोक में रूढ़िगत वैचारिक दासता के स्थान पर वैयक्तिक चेतना का भाव उदित हुआ। नये ढंग से सोचने विचारने की शक्ति का प्रादुर्भाव हुआ। सामाजिक विषमताओं के प्रति असंतोष का भाव उत्पन्न हुआ और साहित्य में भी परिपाटी विहित रसज्ञता और रूढ़ काव्य कला को चुनौती दी गई। द्वितीय महायुद्ध में साम्राज्यवाद की नींव हिल गई। समाजवादी शक्तियों को उठने का अवसर मिला। साहित्य में भी समाजवादी स्वरों को अभिव्यक्तियाँ मिलीं।

व्यावहारिक आलोचना

यों तो द्विवेदी जी ने हिन्दी साहित्य में सभी नये पुराने प्रमुख कवियों की कृतियों के संबंध में समीक्षात्मक मत प्रस्तुत किये हैं लेकिन

इतिहास में जमकर किसी कृति का सर्वांगीण विवेचन करने का अवकाश ही कहाँ होता है ? फिर भी लेखक की और आलोचक की मूल प्रवृत्तियों का दिग्दर्शन तो हो ही जाता है । 'हिन्दी साहित्य' के अतिरिक्त उन्होंने कबीर और सूर का विस्तृत अध्ययन 'कबीर' और 'सूर साहित्य' में प्रस्तुत किया । इन दोनों महाकवियों की मौलिक शक्तियों, काव्य प्रतिभाओं, विषय-वस्तुओं और शैली-सौन्दर्य के विवेचन के साथ-साथ द्विवेदी जी ने उन संप्रदायों, सामाजिक और पारिवारिक स्थितियों, परम्पराओं और भक्ति के स्वरूपों की व्यापक परीक्षा की है जो इन दोनों कवियों की कृतियों पर प्रभाव डाल रही थी ।

द्विवेदी जी की व्यावहारिक समालोचनाओं में हम पूर्वग्रह का आभास नहीं पाते हैं । ये पुराने साहित्य के पंडित तो है ही साथ ही साथ नवीनता में सतत विश्वास करने वाले हैं, उन्हें समझने के लिये प्रयत्न-शील रहने वाले हैं । अतः ये नये पुराने सभी ग्रंथों पर पांडित्यपूर्ण पूर्वग्रह-हीन राय दे पाते हैं । मैंने अभी कहा कि वे नवीनता में विश्वास करने वाले है । अतः वे रूढ़ पंडितों की तरह साहित्य को पुराने सिद्धान्तों या शाश्वत प्रवृत्तियों पर ही न कसकर नये युग-संभूत चेतनाओं, सामाजिक सम्बन्धों पर कसते है और साहित्य को प्रभावित करने वाली सारी सामाजिक उपलब्धियों को देखते हैं । हम कह सकते है कि द्विवेदी जी में व्याख्यापरक समालोचना का सुन्दर स्वरूप मिलता है । गंभीर से गंभोर वैज्ञानिक विवेचन और सहृदय-सुलभ रसमयता यदि शुक्ल जी के बाद किसी में दिखाई पड़ी तो द्विवेदी जी में । लेकिन व्याख्यापरक समालोचना के एक दोष को भी इन्होंने दूर किया । अर्थात् अपनी मानवतावादी दृष्टि से इन्होंने अनुभूतियों की ज्यों की त्यों व्याख्या मात्र न करके उनकी लोक-मंगलकारी शक्तियों की लघुता और विशालता की भी परीक्षा करने की सिफारिश की । शुक्ल जी ने यह कार्य बहुत पहले किया और बड़ी दृढ़ता से किया लेकिन उनके लोकमंगल का स्वरूप बहुत स्थूल और पुराना पड़ता था लेकिन द्विवेदी जी ने लोक मंगल का अर्थ लोक का स्थूल कर्तव्य पक्ष ही नहीं लिया । इन्होंने उसका अर्थ लौकिक और आध्यात्मिक दृष्टियों से—जिस युग में जैसी सामाजिक स्थिति हो—मानव का पशुत्व दूर करना लिया । इसलिये वे ही युग की उदात्त साधना को महत्व देते हैं । भक्तिकाल के मानव मन की भूख भगवत् भक्ति

से मिट सकती थी । अतएव उस काल के सभी कवियों का—जिन्होंने भगवत् भक्ति की उत्तम और तन्मय सौन्दर्य व्यंजना से मानव चेतना को ऊद्ध्र्वमुखी बनाया, एकता का संदेश दिया—महत्व ये स्वीकार करते हैं। दूसरी ओर नये युग की परिवर्तित मान्यताओं और सामाजिक प्रगतियों के फलस्वरूप उत्पन्न भूख के समाधान का समर्थन करते हैं। वे स्वीकार करते हैं कि आज के मानव समाज की समस्यायें और हैं उनके लिये नया खाद्य चाहिए, राम या कृष्ण का आदर्श आज के लिये समीचीन नहीं ।

कबीर को पूर्ववर्ती आलोचकों ने कवि तो माना ही नहीं, उल्टे उन पर सांप्रदायिक भावना के प्रचार, सामाजिक मर्यादाओं के तिरस्कार और उलटी-पुलटी बानी कहने का आरोप लगाया । द्विवेदी जी ने गहरी छान-बीन से यह सिद्ध किया कि कबीर किसी संप्रदाय के प्रचारक नहीं थे । वे सत्य को किसी बंधन में बाँधने के पक्षपाती नहीं थे । वे जिस जाति से आये थे वह जाति हिन्दू समाज में तिरस्कृत थी, शिक्षा का मार्ग उसके लिये अवरुद्ध था इसलिए कबीर को अपने अपमानों का कटु अनुभव था और आत्म-साधना से उन्होंने सत्य का अनुभव किया था । उस सत्य को बंधनों में बाँधनेवाले पंडितों और मुल्लाओं, जातिवाद और भेद बुद्धि के समर्थकों को खरी खोटी सुनाते थे । वे मस्तमौला थे, किसी से उनका राग द्वेष नहीं था, वे भगवत भक्ति के रस में छके रहने वाले थे । वे भगवत्-भक्ति को भी सीमाओं में बाँधने के विरोधी थे । इस प्रकार यह सिद्ध किया है कि कबीर अपढ़ होकर भी उच्चकोटि के पहुँचे हुए पुरुष थे जो खंडित नही अखंड मनुष्यता और मर्यादाओं का सन्देश देने वाले थे । उनकी बानियाँ उलटी-पुलटी नहीं, अनुभव-ज्ञान से दीप्त और भगवत रस से सिक्त थीं ।

दूसरी बात यह कि कबीर की ये खरी-खोटी बानियाँ विदेशी नहीं, परंपरा के मेल में बैठनेवाली हैं। कबीर ने उदार भाव से अपनी भारतीय साधना के विविध रूपों को अपनी व्याख्या के साथ स्वीकार किया ।

कबीर कवि थे कि नहीं ? यह भी एक विवाद ग्रस्त प्रश्न है । द्विवेदी जी ने इसके उत्तर की ओर संकेत किया है । उस काल के सभी भक्तों ने कविता के लिये कविता न कर भक्ति की अभिव्यक्ति के लिये कविता की है । सभी भक्तों में कुछ स्थल ऐसे जरूर मिल जाते हैं जहाँ वे अपनी भक्ति या संसार के मायावी मिथ्या स्वरूपों से संबद्ध

उपदेश झाड़ बैठते हैं । तुलसी में भी ऐसे स्थल अनेक हैं। यही बात हम कबीर के सम्बन्ध में कह सकते हैं । कबीर में ऐसे स्थल अन्य भक्त कवियों की अपेक्षा कुछ अधिक हैं । इसका कारण यह है कि अपढ़ कबीर की शैली कलात्मक नही हो सकी है, वे बात ज्यों की त्यों कह देते हैं । दूसरी बात यह कि कबीर अपमानित और प्रताड़ित जाति से आये थे, उनके मन में भयंकर विद्रोह था भेद भावनाओं के प्रति । उन्हें वे तीखे अनपढ़ रूप में व्यक्त करते थे । और कवियों के मन में न तो कोई विद्रोह था और न वे अपढ़ थे । पर जहाँ तक वक्तव्य विषय का प्रश्न है कबीर की कविताएँ उच्च कोटि की है ।

अतिरिक्त इनके कबीर में ऐसे बहुत से पद और दोहे हैं जिन्हें हम उच्चकोटि का काव्य कह सकते हैं और वे पद वे है जिनमें कबीर की विरहिणी आत्मा पति भगवान से मिलने के लिए व्याकुल है । इन पदों में अनुभूति की तीव्रता तो है ही, सरल और सरस शैली है, तन्मयता है और लोक जीवन के सबसे मधुर पक्ष दाम्पत्य सम्बन्ध के चित्रों के माध्यम से भाव व्यक्त किये गये हैं ।

सूरदास जी के सम्प्रदाय, धर्म, व्यक्तित्व का विश्लेषण तो इन्होंने किया ही है, उनकी कविताओं को भी नवीन दृष्टि से देखा है । यह पहले ही कहा जा चुका है कि द्विवेदी जी मानवतावादी दृष्टि सम्पन्न समालोचक हैं किन्तु उनकी मानवता कोई स्थूल और एकदेशीय या एककालिक वस्तु नहीं । वे तुलसी के समन्वयवाद में भी मानव-हित देखते है, कबीर के वाह्याचार विरोधी स्वर में मानव-हित देखते हैं, सूर के आध्यात्मिक स्वरों में भी उन्हें लोक मंगल दिखाई पड़ता है । छायावाद की नवीन वैयक्तिक चेतना में भी उन्हें मानव उत्थान का नया मोड़ दृष्टिगत होता है और उन्हें प्रगतिवाद में नये समाज के कल्याण के लिए अपार सम्भावनाएँ लक्षित होती हैं ।

सूरदास की कविताओं को पूर्व के आलोचकों ने शुद्ध लौकिक दृष्टि से देखकर यह तो घोषणा अवश्य की कि वे कविताएँ अपने क्षेत्र में उच्चतम हैं लेकिन यह भी निष्कर्ष निकाला कि वे सामाजिक दृष्टि से अश्लील हैं । द्विवेदी जी ने इस दृष्टि से सूर काव्य को देखने के प्रयत्न को ग़लत ठहराया । उन्होंने सिफारिश की कि सूर-काव्य को केवल स्वभावोक्ति का सुन्दरतम नमूना मानकर संतोष न किया जाय, उसमें सूर की

अभिप्रेत आध्यात्मिक ध्वनि को पकड़ा जाय। कृष्ण के प्रति यशोदा और अन्य गोपियों का वात्सल्य, किशोर और युवा कृष्ण के साथ गोपियों और राधा के केलिकलाप तथा उनकी वियोगावस्था में गोपियों की दुखानुभूति और सूरदास के विनय के पद सब एक ही मूल स्वर से स्पन्दित कविताएँ हैं। सबमें निखिलानन्द सन्दोह भगवान कृष्ण के प्रति एकान्त समर्पण है उनमें लौकिक वासना की उत्तेजना देखना सूर काव्य के प्रति अन्याय करना है। पं० नन्ददुलारे वाजपेयी ने अपने 'सूरदास' में भी इसी प्रकार का मत व्यक्त किया है।

'सूर साहित्य' में द्विवेदी जी ने सूरदास की राधिका का बड़ा ही सुन्दर व्यक्तित्व-विश्लेषण किया और कृष्ण काव्य में चित्रित राधिकाओं से इनकी राधिका का मौलिक अन्तर स्पष्ट किया।

आचार्य शुक्ल ने सूरदास पर कृष्ण के एकांगी जीवन को चित्रित करने का दोषारोप किया है। उनका अभिप्राय यह था कि जिस प्रकार राम के जीवन के विविध रूपों को लेकर समाज के अनेक सम्बन्धों का उदात्त स्वरूप तुलसी ने प्रस्तुत किया उसी प्रकार कृष्ण के जीवन के भी विविध अंगों को लेकर सामाजिक मर्यादाओं की प्रतिष्ठा करनेवाले काव्य की सृष्टि की अपेक्षा थी। द्विवेदी जी ने उनके इस कथन का विरोध किया है। उनका कहना है कि वास्तव में राधा लिरिकल पात्र है। सूरसागर में गीति काव्यात्मक मनोरागों को आश्रय करके महाकाव्यात्मक शिल्प का निर्माण हुआ है। ताजमहल ऐसा ही महाकाव्यात्मक शिल्प है जिसका मूल मनोराग गीतिकाव्यात्मक है। सूरसागर भी इसी प्रकार का महाकाव्यात्मक शिल्प है जिसका मूल मनोराग लिरिकल या गीति-काव्यात्मक है। सूरदास ने यदि राधिका के प्रेम को लेकर गीतिकाव्य की रचना न करके प्रबन्ध काव्य की रचना की होती तो असफल हुए होते। गीतिकाव्यात्मक मनोरागों पर आधारित विशाल महाकाव्य ही सूरसागर है।

इनकी व्यवहारिक समालोचना के सम्बन्ध में अन्तिम बात जो कहनी है वह यह कि इनकी मानवतावादी दृष्टि अत्यधिक उदार और अनिर्दिष्ट होने के नाते कहीं कहीं बड़े विचित्र रूप में दिखाई पड़ती है। आचार्य शुक्ल की मानवतावादी दृष्टि सीमित होकर भी दृढ़ थी वह एकदम स्पष्ट थी। द्विवेदी जी की मानवता उदार होकर कहीं कहीं घपला कर

देती है। उन्होंने छायावादी कविताओं की वैयक्तिक चेतनाओं को सामाजिक ओर राष्ट्रीय विकास की पृष्ठभूमि पर परख कर उन्हें नयी चेतना का वाहक माना-सो तो ठीक है किन्तु क्या छायावाद की निराशामूलक, पलायन मूलक और अध्यात्म मूलक प्रवृत्तियाँ भी युग चेतना की प्रतिनिधि हैं ? इस युग में महादेवी और प्रसाद की अध्यात्मोन्मुखी कविताएँ निश्चित रूप से युग चेतना की प्रतिनिधि नहीं हैं। द्विवेदी जी इन कविताओं को मानवतावादी स्वर के रूप में स्वीकार करते हैं। दूसरी ओर (हम देख चुके है) वे सामाजिक विकास के अनुकूल विकसिक चेतना में विश्वास करते हैं। यह एक विरोधाभास सा है। वे छायावाद के निराशावादी स्वर को भी बचा गए हैं। ऐसे ही नए प्रगतिशील कवियों की पहचान भी उनकी खरी नही है। खैर ऐसा जहाँ-तहाँ है। इससे उनकी पकड़, दृष्टि और सहृदयता में दाग नहीं लगता।

पं० शान्तिप्रिय द्विवेदी

हिन्दी जगत में शान्तिप्रिय द्विवेदी प्रभाववादी समीक्षक के रूप में विख्यात हैं और आचार्य शुक्ल के शब्दों में "प्रभावाभिव्यंजक समीक्षा कोई ठीक-ठिकाने की वस्तु ही नही। न ज्ञान के क्षेत्र में उसका कोई मूल्य है न भाव के क्षेत्र में। उसे समीक्षा या आलोचना कहना ही व्यर्थ है। किसी कवि की आलोचना कोई इसीलिए पढ़ने बैठता है कि उस कवि के लक्ष्य को, उसके भाव को ठीक-ठीक हृदयंगम करने का सहारा मिले, इसलिए नही कि आलोचक की भाव-भंगी और सजीले पद-विन्यास द्वारा अपना मनोरंज करे। यदि किसी रमणीय अर्थ गर्भित पद्य की आलोचना इसी रूप में मिले कि 'एक बार इस कविता के प्रवाह में पड़कर बहना ही पड़ता है। स्वयं कवि को भी विवशता के साथ बहना पड़ा है वह एकाधिक बार मयूर की भाँति अपने सौन्दर्य पर आप ही नाच उठा है' तो उसे लेकर कोई क्या करेगा ?" शुक्ल जी की इस मान्यता के अनुसार शान्तिप्रिय द्विवेदी को प्रभावाभिव्यंजक अलोचक कहनेवाले स्पष्टतः उन्हें हेय दृष्टि से देखते हैं।

यदि प्रभावाभिव्यंजक आलोचना का स्वरूप उपर्युक्त है तो मैं द्विवेदी जी को पूर्णतः प्रभाववादी समीक्षक नहीं मानता। स्पष्ट रूप से इनकी आलोचना के दो रूप हैं (१) व्याख्याश्रयी (२) प्रभाववादी। व्याख्याश्रयी

आलोचनाओं में भी काव्यात्मक पुट अवश्य रहता है किन्तु वह आलोचना को गलदश्रु भावुकता में न डुबोकर अपेक्षित मात्रा में सरस कर देता है। प्रभावाभिव्यंजक आलोचनाओं में काव्यात्मकता इतनी अधिक हो जाती है कि उन्हें निचोड़ने पर विचारों की बहुत थोड़ी उपलब्धि होती है किन्तु उनका भी स्वरूप उस प्रकार का नही होता जिस कार का शुक्ल जी द्वारा उक्त प्रभावाभिव्यंजक आलोचना का। यथा अवसर इसके स्वरूप की व्याख्या होगी।

शान्तिप्रिय जी में विचार कर सकने की क्षमता नहीं है या उनमें गहरी पकड़ या सूझ का अभाव है ऐसा कहना नितान्त असंगत होगा। इसके विपरीत यह कहा जा सकता है कि जहाँ कहीं वे काव्यात्मक भावुकता से मुक्त होकर विचार क्षेत्र में उतर आते हैं वहाँ वे एक बहुत ही जागरूक और उद्‌बुद्ध विचारक के रूप में दिखाई पड़ते हैं। इस वैचारिक क्षमता के बावजूद उनकी समीक्षाओं में जो आलंकारिक गूँज दिखाई पड़ती है उसका कारण लेखक की अपनी रुचि है। उनकी इस रुचि का सैद्धांतिक प्रतिपादन उनके द्वारा की गयी शुक्ल जी या हजारी-प्रसाद द्विवेदी की आलोचनाओं से होता है—

"आचार्य शुक्ल जी साहित्य का रसात्मक विवेचन चाहते थे किन्तु उनकी समीक्षाओं में सरसता का प्रायः अभाव है। कहीं-कहीं उनका आलंकारिक विश्लेषण ऐसा शुष्क और गरिष्ठ हो गया है कि काव्य का सहज आनन्द उपलब्ध नहीं होता जैसे उनके द्वारा लिखित इतिहास नें बिहारी का विवेचन। हृदय स्पर्श के लिए समीक्षक के भीतर गीली मिट्टी (रसार्द्रता) होनी चाहिए[1]।"......"विचारों में यत्र तत्र शुक्ल जी से मतभेद रखते हुए भी उनकी (हजारीप्रसाद द्विवेदी की) समीक्षाएँ भी उन्हीं की तरह बौद्धिक स्तर पर है[2]।'

शान्तिप्रिय जी आलोचना में भी वस्तु सत्य की अपेक्षा भाव सत्य पर बल देने वाले हैं। आलोचना में रसार्द्रता या काव्यात्मकता उतनी ही मात्रा में अपेक्षित है जितने से वह गंभीर विषय को पाठकों के लिए सुग्राह्य बना सके। पाठक को ऐसा न लगे कि वह गणित के सिद्धान्तों पर सिर पटक रहा है। ऐसा भी न हो कि समीक्षक अपनी समीक्षा

---

[1] प्रतिष्ठान, श्री शान्तिप्रिय द्विवेदी, पृ० १४८।

[2] वही, पृ० १४९।

इतनी गीली कर दे कि वस्तु सत्य उसी में बहा बहा फिरे और जाल से छानने पर भी हाथ न लगे। व्याख्यात्मक समीक्षा का अर्थ होता है कि समीक्षक समीक्ष्य कृति की गहराई में पैठकर उसकी विशेषताओं, उसकी परंपराओं, उसकी नवीन उपलब्धियों और अन्यान्य स्वरूपों का वस्तुगत उद्घाटन करे। भावगत मार्मिकता का प्रत्यक्षीकरण भावगत पद्धति पर ही नहीं हो सकता। समीक्षक उसकी अनुभूति स्वयं तो कर सकता है किन्तु दूसरों के हृदय में उस अनुभूति को उतारने के लिए उसे व्याख्या का ही आश्रय लेना पड़ेगा। इसी दृष्टिकोण से श्री शान्तिप्रिय द्विवेदी के उपर्युक्त कथन का उत्तर पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने इन उपयुक्त शब्दों में दिया था—"गीली मिट्टी से बड़ी बड़ी इमारतें कैसे बन सकती है[१] ?"

शान्तिप्रिय जी की व्याख्यात्मक समीक्षाओं में उनकी प्रभाववादी समीक्षा झाँक उठती है तो भी इनके अनेक निबन्धों में प्रौढ़ वैचारिक पद्धति का स्वरूप लक्षित होता है। ये निबन्ध भी अन्य व्याख्यात्मक आलोचना के स्वरूपों से कुछ भिन्न ठहरते हैं। व्याख्यात्मक आलोचना किसी कृति का मूल्यांकन करते समय शास्त्रीय सानुक्रमता का ध्यान रखती है। सारी की सारी विचार-धारा आपस में संबद्ध और एक में से एक फूटती हुई जान पड़ती है। वह कृति के सूत्रों का भाष्य करती हुई एक सांगोपांग निरूपण प्रस्तुत करती है। कृति नवीन से नवीन हो, उसमें नवीन से नवीन व्यक्ति, युग और समाज सापेक्ष उद्भावनाएँ हों लेकिन उनका विवेचन शास्त्रीय (क्रमबद्ध) पद्धति से ही संभव है। किन्तु शान्तिप्रिय जी छायावाद को नवीन वस्तु मानकर स्वच्छन्द ढंग से उसकी आलोचना के पक्षपाती हैं। इसीलिए इनके विचारात्मक समीक्षा निबन्धों में शास्त्रीय क्रमबद्धता के स्थान पर उड़ती हुई स्वच्छन्दता दिखाई पड़ती है। एक बात को छूकर दूसरी पर निकल जाना इनकी प्रकृति है। आलोचनाओं में भी सूत्रात्मक सूक्तियों से काम लेना इन्हें पसन्द है। व्याख्या करने वाली पंक्तियाँ स्वयं व्याख्येय हो जाती हैं। लेकिन ऐसा सर्वत्र नहीं हुआ है और जहाँ हुआ भी है वहाँ दुरूहता की सृष्टि नहीं हुई हैं, छिछलापन भी (जो ऐसी शैली का सहज परिणाम होता है) नहीं आने पाया है। आलंकारिक प्रयोग का भी अभाव नहीं, लेकिन वे भी ताजगी लिए आते

---

[१] प्रतिष्ठान, श्री शान्तिप्रिय द्विवेदी, पृ० १४९।

हैं। इनके अलंकार और सूक्तियाँ व्याख्यात्मक समीक्षा के लिए अनुपयुक्त होकर भी जागरूक और काव्य-संस्कृत पाठकों के लिए तथ्य का मर्म खोल देती हैं। कुल मिलाकर इनके अधिकांश निबन्धों में विषय का सम्यक् बोध पाठक को नही हो पाता है। लेकिन कुछ निबन्ध ऐसे हैं जहाँ लेखक भावनिष्ठ की अपेक्षा वस्तुनिष्ठ हो गया है वहाँ लेखक की सूझ-बूझ, पांडित्य और मार्मिक पकड़ का परिचय मिलता है (यों इनकी सूझ-बूझ बड़ी पैनी है जिसका स्वरूप इनकी प्रायः सभी रचनाओं में दिखाई पड़ता है)—उदाहरण स्वरूप "शुक्ल जी का कृतित्व[१]" "प्रगतिवादी दृष्टिकोण[२]", "छायावादी दृष्टिकोण[३]", "इतिहास के आलोक में[४]" "साहित्य के विभिन्न युग[५]", "प्रेमचंद और गोदान[६]", "हिन्दी साहित्य[७]" आदि निबन्ध रखे जा सकते हैं।

शांतिप्रिय जी की विचार भूमि

शान्तिप्रिय जी उत्तर छायावाद काल के समालोचक हैं। इनकी आलोचना को जन्म देनेवाली, उसका पोषण करनेवाली छायावादी कविता है। इनका व्यक्तित्व भी मूलतः छायावादी है अतएव छायायादी कविताओं का सा गीलापन इनकी आलोचनाओं में भी लक्षित होता है जहाँ वह गीलापन छायावादी कवि की व्यक्तिवादी चेतना की तरह प्रधान हो उठता है वहाँ आलोचक प्रभाववादी हो जाता है और जहाँ वस्तु-निष्ठता की ओर झुक जाता है वहाँ व्याख्यापरक समीक्षक हो उठता है। कहना यह है कि छायावाद शान्तिप्रिय का क्षेत्र है और किन्हीं अर्थों में सीमा भी। छायावाद की उपलब्धियों पर विचार करनेवाले तत्कालीन समीक्षकों में शान्तिप्रिय जी का स्थान प्रमुख है। छायावाद को लेखक ने रवीन्द्र का प्रभाव माना है बल्कि लेखक तो हिन्दी छायावाद को रवीन्द्र से ही प्रारंभ करता है। किन्तु रवीन्द्र कोई विदेशी नहीं थे वे भारतीय चिन्ता धारा के प्रगल्भ पुंज थे और उनमें नवीनता का आलोक

---

[१] सामयिकी, श्री शांतिप्रिय द्विवेदी।

[२] वही। [३] वही।

[४] युग और साहित्य, श्री शांतिप्रिय द्विवेदी।

[५] वही। [६] वही।

[७] प्रतिष्ठान, श्री शांतिप्रिय द्विवेदी।

भी सम्यक् मात्रा में समाहित था। रवीन्द्र और हिन्दी के छायावादियों की कविताओं के निर्माण में एक ही सामाजिक चेतना काम कर रही थी। अतएव लेखक ने 'इतिहास के आलोक में' निबन्ध में भारतेंदु काल से उठनेवाली राष्ट्रीय, सामाजिक और राजनैतिक चेतना का बड़ा व्यापक और तर्क संगत विवेचन किया है, साथ ही हिन्दी साहित्य पर उनका कैसा-कैसा प्रभाव पड़ता गया इसका बहुत मौलिक ढंग से विश्लेषण प्रस्तुत किया है। यहाँ लेखक की मौलिकता इस बात में है कि उसने छायावाद को सर्वथा कोई नवीन वस्तु न मानकर मध्यकालीन मनोवृत्तियों का ही युग सापेक्ष विकास माना है। मध्यकालीन मूल आध्यात्मिक और शृंगारिक भावना भारतेन्दु काल और द्विवेदी काल को पार करती हुई छायावाद तक आ पहुँची है। लेकिन उन सबों के स्वरूपों में अंतर है और वह अन्तर भिन्न-भिन्न युगों की परिवर्तित सामाजिक रूपरेखाओं तथा अभिव्यक्तियों का है। लेखक का आशय समझने में भ्रम नहीं होना चाहिए। उसका तात्पर्य यह है कि भारतेन्दु काल और द्विवेदी काल में भारतीय चिन्ता-धारा के पुनरुत्थान का स्वर ऊँचा हुआ। राजनैतिक चेतना भी फूट रही थी। छायावाद काल में पूंजीवादी मनोवृत्ति मे सामन्तवादी मनोवृत्ति को करारी ठेस पहुँची और व्यक्तिवादी चेतना का आलोक फूटा। राजनैतिक आन्दोलन व्यापक हो गया। गान्धी और रवीन्द्र जैसे व्यक्तित्व प्रकाश में आये लेकिन इन सभी युगों में विचारकों और कवियों ने भारतीय अध्यात्म को ही अपनाये रखा। शृंगारिकता की भावना भी समानान्तर चलती रही यह बात भी अपवादों के साथ सत्य है। इसीलिए भारतेन्दु युग, द्विवेदी युग और छायावाद युग को लेखक नें एक ही युग का विकास माना है। व्याक्या के दृष्टिकोण भिन्न-भिन्न हो सकते हैं। लेखक के दृष्टिकोण से देखने पर यह व्याख्या युक्ति संगत ही प्रतीत होती है।

"ब्रजभाषा के स्थान पर खड़ी बोली के आने जाने पर भी भाषा के बाद भावों में कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ। ब्रजभाषा की जिस शृंगारिकता को अवांछनीय समझा जाता था वह शृंगारिकता 'कविता कलाप' में भी वर्तमान है। पं० नाथूराम शर्मा 'शंकर' की 'केरल की तारा' और 'वसन्त सेना' में तो शृंगार रस बहुत ही उत्तेजक हो गया है। यत्र-तत्र गुप्त जी ने भी सुन्दरी नायिकाओं के रूप-वर्णन में

रसिकता का परिचय दिया है। शृंगार जीवन का मूल रस है, रसराज है, साहित्य में भी उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती[१]।"

दोनों कविताओं में इस विषयगत एकता के बावजूद स्वाभाविक प्रवृत्ति की भिन्नता भी है इसकी ओर भी निर्देश करना आवश्यक था।

शान्तिप्रिय जी ने छायावादी कविताओं को आलंकारिक ढंग से मध्यकालीन सगुण कविताओं का आधुनिक रूपान्तर कहा है। इस प्रकार के कथन आलोचना के क्षेत्र में अत्यधिक भ्रान्ति और उलझन की सृष्टि करते हैं। यद्यपि लेखक ने अपनी बात साफ करने की कोशिश की है तो भी ऐसे आलंकारिक वाक्यों का न प्रयोग किया जाय तो अच्छा है। नन्ददुलारे वाजपेयी ने छायावाद की समीक्षा में मध्यकालीन भक्तों और छायावादी कवियों की अध्यात्मवादी कविताओं में अन्तर दिखाने का प्रयास किया है और उनका मन्तव्य दो युगों की सामाजिक विकास के परिणाम स्वरूप उत्पन्न होनेवाली प्रवृत्तियों का स्पष्ट दिग्दर्शन कराना रहा है किन्तु शान्तिप्रिय जी ने उन दोनों का अन्तर स्पष्ट करते हुए भी जैसे उन्हें एकता में बाँधने की चेष्टा की है। अंतर दोनों ने दिखाये हैं पर दोनों की नीयतों में भेद है। शान्तिप्रिय जी व्याख्याओं में भ्रान्त नहीं हैं, निष्कर्षों की ध्वनियों में भ्रान्त हैं।

"मध्ययुग के सगुण में नर रूप नारायण था, छायावाद में नर नारायण पीछे छूट गया, प्रकृति के रूप में उसकी अपरा और मुख्यतः परा शक्ति सामने आ गई। मानववाद में मनुष्य और प्रगतिवाद में जनसाधारण का प्राधान्य हो गया। किन्तु इन वादों के पृष्ठभाग में और अग्रभाग में जीवन के किसी उर्वर व्यक्तित्व का न तो संरक्षण है, न नेतृत्व[२]।"

लेखक ने शुक्ल जी की छायावाद सम्बन्धिनी परिभाषा को लेकर उसका खण्डन करते हुए छायावाद, रहस्यवाद और छायावाद के प्राकृतिक दर्शन पर विचार किया है। छायावाद का प्राकृतिक दृष्टिकोण सर्वथा मौलिक है। वह मध्यकालीन भक्तों और रीतिकालीन शृंगारिकों तथा प्राचीन संस्कृत कवियों की कविताओं में गृहीत प्रकृति रूपों से भिन्न ठहरता है। छायावाद के सम्बन्ध में लेखक के विचार अनेक स्थानों पर

---

[१] ज्योति विहग, श्री शान्तिप्रिय द्विवेदी, पृ० ११।

[२] प्रतिष्ठान, श्री शान्तिप्रिय द्विवेदी, पृ० ६४-६५।

बिखरे-बिखरे मिलते हैं । बातें थोड़ी कही गई हैं बार-बार कही गई हैं और कम वैज्ञानिक पद्धति पर कही गई हैं इसलिए वे बहुत पूर्ण, ठोस और नवीन विचारधारा का सर्जन करने में समर्थ नहीं दिखाई पड़तीं। पन्त, प्रसाद, महादेवी आदि कवि आलोचकों के विचारों को उन्ही की अलंकृत शैली में कहने की विशेष लालसा दिखाने के कारण लेखक छायावाद के सम्बन्ध में वह काम नहीं कर सका जो नन्ददुलारे वाजपेयी ने किया है ।

छायावाद की विशेषताओं और सूक्ष्मताओं का अपने ढंग से परिचय देने के साथ-साथ लेखक ने एक स्तुत्य कार्य यह किया है कि उसने छायावाद के अभावों पर निष्पक्षता से दृष्टिपात किया है । छायावाद के अन्य अनन्य आलोचकों में छायावाद एक कमजोरी बनकर रह गया है । शान्तिप्रिय जी यह बहुत पहले से स्वीकार करते आ रहे हैं । उन्होंने स्वीकार किया है कि छायावाद का वाह्य जगत से संबंध विच्छेद हो गया था, वह वाह्य रूप से निष्क्रिय था । जिस मध्ययुग में ब्रजभाषा थी उसी युग में छायावाद भी है—ब्रजभाषा के समय में यदि सामन्तवादी सामाजिक वातावरण था तो छायावाद काल में पूंजीवादी सामाजिक वातावरण । दोनों में अन्तर केवल अतीत और वर्तमान साम्राज्यवाद का है । मूलतः दोनों की विषम सामाजिक व्यवस्था एक सी है । इस व्यवस्था के वर्तमान रहते केवल आदर्श का आदेश देकर ही व्यक्तियों को संयमित नहीं बनाया जा सकता ।[१]"

लेखक इसीलिए प्रारंभ से ही प्रगतिवाद का समर्थक रहा है, प्रगतिवाद में समाज के नव निर्माण की चेतना है । वह समाज की (व्यक्ति की नहीं) भौतिक सुख-समृद्धि का साधन है, इसलिए ग्राह्य है । लेकिन खेद है कि शान्तिप्रिय जी प्रगतिवाद को खंडरूप में ही अपना सके हैं उसे वे सामयिक सुखसाधन मानते हैं, उसे वे केवल राजनीति मानते हैं । उनकी दृष्टि में वह मानव की आन्तरिक भाव संपत्ति नहीं है, वह केवल समाज की बाहरी विषमताओं को मिटाने का एक सफल आन्दोलन है । भीतरी सक्रियता छायावाद में है बाहरी सक्रियता प्रगतिवाद में, और इन दोनों का मेल गांधीवाद में है । गांधीवाद मानवता की भावी निधि है अर्थात् समाजवाद समाज को सम

---

[१] सामयिकी, श्री शान्तिप्रिय द्विवेदी, पृ० १८८ ।

कर गांधीवाद के उच्च मानवीय लक्ष्य की ओर अग्रसर कर देगा। कहना न होगा कि यह शुद्ध लेखक की कल्पना सृष्टि है वैज्ञानिक विवेचन नहीं। प्रगतिवाद या मार्क्सवाद राजनीति मात्र नहीं है वह ऐसा विश्व-दर्शन है जो विश्व की हर एक वस्तु को अपने प्रकाश में देखता है। क्या समाज शास्त्र, क्या राजनीति, क्या अर्थ शास्त्र, क्या धर्म, क्या साहित्य, क्या विज्ञान, सब उसकी सीमा में आते हैं। लेखक का समन्वयवादी दृष्टिकोण वस्तुगत नहीं व्यक्तिगत है। डा० सम्पूर्णानन्द ने गांधीवाद और मार्क्सवाद की अलग-अलग व्याख्याएँ कर यह सिद्ध किया है कि गांधीवाद जीवन संबंधी मौलिक प्रश्नों का उत्तर देता ही नहीं, उसका कोई अपना दार्शनिक मत नहीं है। वह कुछ बातों को गायब कर समस्या को सरल करना चाहता है। फिर उन्होंने मार्क्सवाद में निहित जीवन की सम्पूर्ण सम्भावनाओं पर भी विचार किया है। डा० साहब ने शान्तिप्रिय जी की उस प्रवृत्ति को भी अच्छा नहीं समझा है जिसमें ये रूढ़ दार्शनिक शब्दों को अपने विवेचन का जामा पहनाने लगते हैं और कहीं-कहीं पार्श्ववर्ती शब्दों में तुक भी जोड़ने लगते हैं।

शान्तिप्रिय जी ने कहीं-कहीं स्वीकार भी किया है कि वे पुराने संस्कारों में पले हैं अतएव उन्हें प्राचीनता से मोह है। ऐसे संस्कारी व्यक्ति के लिए यह स्वाभाविक ही है कि वह मशीन युग से घबड़ाए, मशीनों से उत्पन्न वस्तुओं को जन-मन-मंगल का बाधक समझे और ग्रामोद्योग दस्तकारियों के ही वातावरण को शाश्वत मानवता का श्रृंगार समझे, वैज्ञानिक यथार्थ को अधिकाधिक निखारने की अपेक्षा आध्यात्मिक जगत के सौन्दर्य में ही भटकता फिरे। वस्तुतः शान्तिप्रिय जी के समीक्षक का उन्नत बुद्धि-पक्ष नये समाजवादी समाज की स्थापना और तत्संबंधी साहित्य निर्माण की आवश्यकता का समर्थन करता है लेकिन उनका संस्कार-ग्रस्त भाव-पक्ष उन्हें पीछे की ओर ढकेलता है और सी के परिणाम स्वरूप लेखक इन दोनों प्रवृत्तियों का गान्धीवाद में समन्वय कर लेता है।

"शुक्ल जी का कृतित्व[१]" निबन्ध बड़ा ही गठा हुआ और विचार पूर्ण है। लेखक ने बड़ी ही सूक्ष्मता से शुक्ल जी के प्रकृति, रहस्यवाद, लोकवाद, छायावाद-रहस्यवाद-समाजवाद आदि पर व्यक्त विचारों की

---

[१] सामयिकी, श्री शान्तिप्रिय द्विवेदी, पृ०।

परीक्षा की है। कलात्मक धरातल, मानसिक निर्माण, समालोचना की संमिलित पृष्ठभूमि, प्राभाविक समालोचना, वैधानिक समालोचना, व्यक्ति प्रधान साहित्यिक रुचि, युग निर्देशन, हिन्दी साहित्य का इतिहास उपशीर्षकों के अन्तर्गत शुक्ल जी की विभिन्न मान्यताओं पर विचार किया गया है। कुछ मिलाकर लेखक ने शुक्ल जी को रीतिकालीन पद्धति के आधुनिक आचार्य के रूप में स्वीकार किया है। "उनकी आधुनिकता काव्य के मनोवैज्ञानिक विश्लेषण में है। उनका मनोवैज्ञानिक विश्लेषण अंग्रेजी ढंग का है—रीतिकाल की अपेक्षा नवीन और अति आधुनिक काल की अपेक्षा प्राचीन। यों कहें, वे रीतिकाल के नव्यतम भाष्यकार हैं।[१]"

शान्तिप्रिय जी ने शुक्ल जी की उन कमियों पर प्रकाश डाला है जिनमें वे काव्य के भाव पक्ष, व्यक्ति पक्ष को वस्तु पक्ष, लोकपक्ष के सामने उपेक्षित कर देते हैं, जिसका सहज परिणाम यह होता है कि वे छायावाद के साथ न्याय नहीं कर पाते। प्रकृति प्रेम में भी वे प्रकृति के यथातथ्य रूप के चित्रण के ही पक्षपाती होकर रह गये हैं। जीवन के खंड-चित्रों की अपेक्षा संपूर्णता के चित्रण को (विस्तार की दृष्टि से) श्रेयस्कर समझते हैं।

"व्यक्तिगत पक्ष में शुक्ल जी जैसे सूक्ष्म अनुभूति को छोड़ गये हैं वैसे ही मधुर अनुभूति को भी। जीवन और कला में शील और शक्ति को तो वे देख सके किन्तु माधुर्य को ओझल कर गये। हाँ, सौन्दर्य का प्रयोग उन्होने कर्म में किया है, संज्ञा में नहीं। सौन्दर्य कर्मवाचक होने के कारण वह शील और शक्ति में अंतर्भूत हो गया उसका निजी व्यक्तित्व (सुन्दर) नहीं रह गया[२]।" जहाँ तक छायावाद के वाह्य जगत-विच्छिन्न रूप की समीक्षा का प्रश्न है शान्तिप्रिय जी शुक्ल जी के साथ है।

'हिन्दी साहित्य[3]' शीर्षक निबन्ध में पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी के 'हिन्दी साहित्य (के इतिहास) पर लेखक ने विचार किया है। लेखक ने हजारीप्रसाद जी की वस्तु और शैली दोनों पर यथासंभव विचार करने की कोशिश की है। शान्तिप्रिय जी ने 'हिन्दी साहित्य' को हिन्दी

---

[१] सामयिकी, श्री शान्तिप्रिय द्विवेदी, पृ० १३५।

[२] वही, पृ० १३३।

[3] प्रतिष्ठान, श्री शान्तिप्रिय द्विवेदी, पृ० १५०–५१।

साहित्य के उद्भव और विकास का ऐतिहासिक दृष्टि से अध्ययन माना है। उनका कहना है कि 'साहित्य के इतिहास को आर्थिक, सामाजिक और मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी देखा जा सकता है तभी संस्कृति, राजनीति और वैयक्तिक रीति-नीति का स्पष्टीकरण हो सकता है। द्विवेदी जी ने आधुनिक साहित्य को तो अनिवार्यतः तत्कालीन सामाजिक चेतना की आधारपीठिका पर उपस्थित किया है किन्तु प्राचीन साहित्य को रूढ़ कालानुक्रम से ही निर्दिष्ट किया है। इसीलिए 'हिन्दी साहित्य' अनुसंधान ग्रंथ बन गया है। अनुसंधान की ओर न तो मेरी रुचि है न पहुँच। साहित्य के धारा-प्रवाह में कलाकार की जो अंतरंग और वहिरंग तरंगे (अनुभूति और अभिव्यक्ति, भाव और भंगिमा) आलोड़ित-विलोड़ित होती हैं मैं इस लेख में उन्हीं का पर्यवेक्षण करना चाहता हूँ[१]।"

शान्तिप्रिय जी का यह कथन सही है कि साहित्य के इतिहास को आर्थिक, सामाजिक और मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी देखा जा सकता है किन्तु यह कहना कि 'हिन्दी साहित्य' को केवल ऐतिहासिक और रूढ़ आधार पर देखा गया है पूर्णतः सत्य नहीं। हिन्दी के पुराने साहित्य के विवेचन में द्विवेदी जी ने ऐतिहासिक, सामाजिक, धार्मिक और पारंपरिक सभी दृष्टियों से काम लिया है। काल-विभाजन में काल की सीमाएँ रूढ़ भले ही हों (और यदि वे वैज्ञानिक ढंग से सही हैं तो उनमें उलट फेर करना कोई बुद्धिमानी नहीं है) लेकिन प्रवृत्तियों का विश्लेषण मौलिक ढंग से किया गया है, हाँ, निश्चय ही आर्थिक दृष्टि से प्राचीन समाज और उसके साहित्य को देखने की प्रवृत्ति का अभाव 'हिन्दी साहित्य' में भी है।

शान्तिप्रिय जी ने 'हिन्दी साहित्य' के आधुनिक काल को विशेष तन्मयता के साथ देखा है क्योंकि उनकी उसमें गहरी पैठ है और निश्चित रूप से उन्होंने 'हिन्दी साहित्य' के आधुनिक काल की—कुछ प्राचीन काल की भी—भ्रांतियों पर प्रकाश डाला है और उन पर गंभीर विचार किया है। 'हिन्दी साहित्य' का आधुनिक काल यों है भी थोड़ा कम सुविचारित, संतुलित और मौलिक।

लेखक ने 'हिन्दी साहित्य' की इतिहास-शैली को शास्त्रीय शैली माना है जिसमें सारल्य, तारल्य नहीं। साहित्य-इतिहास का लेखन-कार्य गंभीर विवेच-

---

[१] प्रतिष्ठान, श्री शान्तिप्रिय द्विवेदी पृ० १५०-१५१।

नात्मक ढंग से ही संभव है कविता की तरल-सरल शैली में नहीं । 'सूर की राधा' आदि जैसे स्वतंत्र आलोचनात्मक निबन्ध द्विवेदी जी की रसात्मक शैली का परिचय देने के लिए पर्याप्त हैं ।

'ज्योति विहग' में श्री सुमित्रानन्दन पन्त के काव्य-व्यक्तित्व के विकास क्रम का विवेचन है । उनकी कल्पना, प्रतिभा, विचारधारा और कला ने क्रमशः कैसे कैसे मोड़ लिए इन सबका सांगोपांग विश्लेषण है । साथ ही साथ छायावाद, प्रगतिवाद, गांधीवाद के स्वरूपों का भी निरूपण है । अन्यान्य कवियों की तुलना में पन्त को लेखक आधुनिक युग का सर्वश्रेष्ठ कवि मानता हुआ ज्ञात होता है । जहाँ पन्त की उपलब्धियाँ हैं वहाँ तो लेखक बहुत तन्मय होकर गद्गद भाव से मुग्ध दिखाई पड़ता ही है पन्त के अभावों को भी अपने स्नेह से भाव बना देता है, उन्हें सैद्धांतिक समर्थन प्रदान करता है ।

लेखक पन्त जी की कविताओं के क्रम विकास को 'सत्यम् शिवम् सुन्दरम् 'इन तीन सीमाओं में देखता है । छायावाद युग की रचनाएँ सुन्दरम्, प्रगतिवाद की रचनाएँ शिवम् और प्रगतिवादेत्तर (अरविन्द दर्शन से प्रभावित) रचनाएँ सत्यम् के अन्तर्गत आती हैं । लेखक ने जहाँ कवि पन्त या अन्य कवियों की साहित्यिक और कलात्मक विशेषताओं की छानबीन की है वहाँ उसकी पैनी दृष्टि स्पष्ट रूप से लक्षित होती है किन्तु जहाँ वह छायावाद, प्रगतिवाद और गान्धीवाद या अरविन्दवाद के तुलनात्मक अध्ययन के चक्कर में पड़ा है वहाँ संस्कार-सापेक्ष हो उठा है। प्रगतिवाद को शिवम् और अरविन्द दर्शन को सत्यम् मान लेना यह सिद्ध करता है कि एक ओर वह प्रगतिवाद के स्वरूप को खंड बुद्धि से समझता है दूसरी ओर अध्यात्म-सौन्दर्य को ही सत्य मानता है । प्रगतिवाद सत्य तो पहले है फिर शिवम् और सुन्दर । एक बात और कि कुछ ही विचारों और बातों को लेखक ने अपने भिन्न-भिन्न ग्रंथों में बार-बार फेटा है ।

शुद्ध प्रभाववादी समीक्षा

मैनें आरम्भ में ही कहा है कि शान्तिप्रिय जी की समीक्षाओं के दो रूप हैं—(१) प्रभाववादी रंगीनियों से लिप्त व्याख्यात्मक समीक्षा, (२) व्याख्यात्मक छौंक देनेवाली प्रभाववादी समीक्षा । पहले का विवेचन हो चुका । दूसरे का विचार करें । शुक्ल जी ने प्रभाववादी समीक्षा के

दोषों पर ही विचार किया था। उसकी एक उपयोगिता भी है और वह यह कि इसका स्वाद रचनात्मक साहित्य का सा होता है। उसमें बुद्धि और विचार के माध्यम से रचना की पृष्ठभूमि, अनुभूति, दर्शन और शैली का सर्वांगीण निरूपण तो नहीं हो पाता है किन्तु इससे रचना का सा रस मिलता है। यह सहृदय पाठकों के मन में कवि की सी अनुभूति जगाता चलता है यही इसका लक्ष्य भी होता है। लेकिन जिन पाठकों की कल्पना और कलात्मक रुचि बहुत ही परिष्कृत और सूक्ष्म होती है वही इन आलोचनाओं का रस ले सकते हैं। ये आलोचक कवि की कृतियों और व्यक्तित्वों को सटीक प्रतीकों उपमाओं, रूपकों और उत्प्रेक्षाओं द्वारा व्यक्त करते है। लेकिन इन रचनात्मक आलोचनाओं में भी यदि अधिक भावात्मक ऊहापोह हो गया, गलदश्रु भावुकता का कुहरा छा गया तो जागरूक से जागरूक पाठकों को भी आलोच्य वस्तु की अनुभूति नही उत्पन्न होगी। वह आलोचना एक शब्द-जंजाल मात्र रह जायेगी। सफल प्रभाववादी आलोचना का उत्कृष्ट स्वरूप हम पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी के 'सूरदास की राधा' निबन्ध में देख सकते हैं जहाँ राधा के व्यक्तित्व के साथ पाठक तन्मय हो उठता है, कवि की अनुभूति में पाठक बह उठता है और सूरदास की राधा का अन्य कवियों की राधा से भिन्न व्यक्तित्व का बोध भी हो जाता है। शान्तिप्रिय द्विवेदी की शैली द्विवेदी जी की शैली से भिन्न है अर्थात् हजारीप्रसाद जी की यह शैली भावों का स्वच्छन्द प्रवाह लेकर चलती है और शान्ति प्रिय जी की शैली आलंकारिक अनुरणन। तो भी दोनों एक स्थान पर साथ हैं अर्थात् दोनों की भावुकता विचारों के सूक्ष्म तंतुओं से अनुस्यूत होती है। इसलिए ये प्रभाववादी आलोचनाएँ अन्य सस्ती प्रभाववादी आलोचनाओं के क्षेत्र में तो नहीं ही आती है वरन् अपने लक्ष्य की दृष्टि से ये बहुत ही सफल और महत्वपूर्ण हो उठती हैं।

शान्तिप्रिय जी की पहले की समीक्षाओं में प्रभाववादी तत्त्व अपेक्षाकृत अधिक थे। शान्तिप्रिय जी की हिन्दी-आलोचना के क्षेत्र में अकारण उपेक्षा हुई है। व्याख्यात्मक और शास्त्रीय आलोचना के नाम पर चर्वित-चर्वण करनेवाले अनेक ख्यात आलोचकों की अपेक्षा शान्तिप्रिय जी निश्चय ही अधिक महत्व के समीक्षक हैं।

द्वितीय उत्थान के कवि समीक्षक

श्री जयशंकरप्रसाद

श्री प्रसाद जी अच्छे कवि और कथाकार तो थे ही अच्छे अध्येता, प्रौढ़ विचारक तथा दार्शनिक थे। इतिहास का इनका बड़ा गहरा अध्ययन था। लेकिन चूँकि ये मूलतः साहित्यकार थे इसलिए इतिहास का कोरा तथ्य निरूपण इनका क्षेत्र नहीं था। इन्होंने इतिहास के तथ्यों को लेकर नवीन दार्शनिक और साहित्यिक व्याख्याएँ प्रस्तुत की हैं। वे नवीन इस अर्थ में नहीं हैं कि वे आधुनिकतम युग की चेतना से अनुप्राणित हैं बल्कि इस अर्थ में हैं कि वे दर्शन और साहित्य के क्षेत्र में प्रचलित कुछ मान्यताओं के विरोध में जाती हैं या पुराने तथ्यों को एक विशेष ढंग और विशेष अभिप्राय से सजाती हैं। इन विश्लेषणों में निश्चय ही मौलिकता है किन्तु इस मौलिकता के नशे में ऐतिहासिक तथ्यों का न तो गला घोंटा गया है और न ऐतिहासिकता की कल्पना की गयी है। प्रसाद जी ने भले ही अपने विशेष प्रयोजन और सिद्धान्त के प्रतिपादन के लिए नये ढंग का विश्लेषण प्रस्तुत किया है किन्तु उनके समस्त विश्लेषण प्रमाण संमत हैं। वे जिस किसी मार्ग से विचार करते हैं अनेक ऐतिहासिक प्रमाणों का हवाला देते चलते हैं। ये प्रमाण इतने सही और बहुल होते हैं कि पाठक लेखक के कथन से अभिभूत हो उठता है और उसे इतनी सचाई से पकड़ता है कि असंगतियों का आभास भी लक्षित नहीं होता।

ऊपर कहा गया है कि वे ऐतिहासिक तथ्यों का विशेष प्रयोजन और ढंग से विश्लेषण प्रस्तुत करते हैं। वे प्रयोजन क्या हैं? प्रसाद जी भारतीय आनन्दवादी धारा के समर्थक हैं। वह आनन्दवादी धारा वैदिक काल से ही प्रारंभ होती है और निरन्तर विविध रूप रेखाओं और मात्राओं में प्रवहमान रही है। इसके विपरीत बुद्धिवादी धारा रही है जो भारतीय जीवन की मुख्य धारा न होकर भी अनेक रूपों में विकसित होती रही है। जीवन की ये दो चिन्तन-धाराएँ और मान्यताएँ दर्शन साहित्य और व्यावहारिक क्रियाकलापों में प्रवाहित होती रही हैं। ये विचार धाराएँ व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन को प्रभावित करती रही हैं। इतिहास की घटनाएँ इन विचारधाराओं से निर्मित होती रही हैं। अतएव प्रसाद जी इतिहास के तथ्यों, व्यक्तियों और समूहों की

कृतियों तथा जीवन-प्रेरक विचार धाराओं का आपस में संबंध जोड़ते चलते हैं। "इस प्रकार प्रसाद जी ने इतिहास के अस्थिपंजर को कार्य-कारण युक्त दार्शनिक सजीवता प्रदान की है जिससे उनका अध्ययन करने में एक अनोखा आनन्द प्राप्त होता हैं। वे इतिहास को मानव निर्मित संस्थाओं, उनके सामूहिक उद्योगों, मनोवृत्तियों और रहन-सहन की पद्धतियों के साथ देखना चाहते हैं और मनुष्यों की इन सारी प्रगतियों का केन्द्र समसामयिक दर्शन मानते हैं।[१]"

प्रसाद जी छायावादी और रहस्यवादी कवि थे। उन्होंने छायावाद पर अनेक आक्षेप सुने थे। आचार्य शुक्ल ऐसे प्रभावशाली समीक्षकों ने यह कहा कि छायावाद और रहस्यवाद विदेशी अनुकरण पर साहित्य में आये हैं और रहस्यवाद तो साहित्य के लिए नकली चीज है। साहित्य तो प्रत्यक्ष जीवन और जगत की प्रत्यक्ष अनुभूतियों को आधार मानता है और रहस्यवाद का विषय है परोक्षसत्ता जिसकी अनुभूति नहीं हो सकती है जिसका बौद्धिक विवेचन मात्र हो सकता है। प्रसाद जी ने आचार्य शुक्ल और उनके सहयोगियों की उक्त मान्यता का खण्डन करने के लि और छायावाद तथा रहस्यवाद के सम्बन्ध में फैलती भ्रान्त धारणा के निवारण के लिए ही दो चार निबन्ध लिखे। रहस्यवाद को उन्होंने भारतीय मानववादी अद्वैत चिन्तनधारा का स्वरूप माना। इन्होंने बड़ी विद्वत्ता से यह प्रतिपादित किया कि भारतीय रहस्यवाद सेमेटिक धर्म-भावना से नहीं आया बल्कि यह स्वयं भारत की मिट्टी से उपजा है और इसका आदि स्रोत वेद है। इस सम्बन्ध में इन्होंने यह बहुत जोर देकर कहा कि रहस्यवाद ही स्वाभाविक काव्य है रहस्यवाद से इतर काव्य अस्वाभाविक है। इसके लिए लेखक ने यह तर्क उपस्थित किया कि मन संकल्पात्मक और विकल्पात्मक है। विकल्प विचार की परीक्षा करता है, तर्क-वितर्क द्वारा श्रेय की प्रतिष्ठा करता है और संकल्प अनुभूति द्वारा सत्य (श्रेय) को ग्रहण कर लेता है। "काव्य आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति है जिसका सम्बन्ध विश्लेषण, विकल्प या विज्ञान से नहीं है। वह एक श्रेयमयी प्रेय रचनात्मक ज्ञान धारा है। विश्लेषणात्मक तर्कों से और विकल्प के आरोप से मिलन न होने के कारण आत्मा की मनन क्रिया

---

[१] काव्यकला तथा अन्य निबन्ध की भूमिका, पं० नन्ददुलारे वाजपेयी।

जो वाङमय रूप में अभिव्यक्त होती है वह निस्संदेह प्राणमयी और सत्य के उभय लक्षण प्रेय और श्रेय दोनों से परिपूर्ण होती है[१] ।" और आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति का स्वरूप रहस्यवादी कविताओं में ही लक्षित होता है । क्योंकि रहस्यवाद का सम्बन्ध उस अद्वैत आनन्दवाद से है जो अहम् और इदम् को विभक्त करके नहीं वरन् एक करके देखता है । विश्व सुन्दरी प्रकृति में चेतनता का आरोप है । "यह प्रकृति अथवा शक्ति का रहस्यवाद सौन्दर्य लहरी के 'शरीरं त्वं शम्भो' का अनुकरण मात्र है । वर्तमान हिन्दी में इस अद्वैत रहस्यवाद की सौन्दर्यमयी व्यंजना होने लगी है । वह साहित्य में रहस्यवाद का स्वाभाविक विकास है । इसमें अपरोक्ष अनुभूति, समरसता तथा प्राकृतिक सौन्दर्य के द्वारा अहम् का इदम् से समन्वय करने का सुन्दर प्रयत्न है । हाँ, विरह भी युग की वेदना के अनुकूल मिलन का साधन बनकर इसमें सम्मिलित है । वर्तमान रहस्यवाद की धारा भारत की निजी संपत्ति है, इसमें सन्देह नहीं[२] ।"

प्रसाद जी ने रहस्यवादी काव्यधारा के विकास की समुचित व्याख्या की है । दूसरी ओर यह दिखलाया है कि विकल्पात्मक विवेकवाद भी दर्शन में धीरे-धीरे उठ खड़ा हुआ और उसने साहित्य को प्रभावित किया । और इस प्रकार का साहित्य निर्मित होने लगा जिसमें आनन्द के स्थान पर दुःख की प्रतिष्ठा हुई । विश्व को अखण्ड चेतना से अलग मानकर उसे माया और मिथ्या माना गया तथा यहाँ के दुःखों से छुटकारा पाने के लिए भगवान की शरण ली गई । इस प्रकार अनात्मवादी या दुखवादी धाराएँ बुद्धिवाद के आधार पर नये-नये दर्शनों की स्थापना करने लगीं । मगध के व्रात्य और अयाज्ञिक आर्य, व्रज के वृष्णि संघ, जैन और बौद्ध संप्रदाय, पौराणिक धर्म तथा साहित्य में भक्ति साहित्य, दुःखों का चित्रण करने वाला यथार्थवादी साहित्य आदि ऐसे हैं जिनमें श्रेय ही श्रेय है प्रेय की जगह ही नहीं । कृष्ण यदि आनन्दवादी दर्शन के मूर्त रूप हैं तो राम अनात्मवादी विवेक की चरम कल्पना । रामायण और महाभारत भी विवेकवाद से (जो दुःखवाद का ही एक रूप है) अभिभूत हैं ।

प्रसाद जी की दूसरी साहित्यिक स्थापना यह है कि काव्य और कला में मौलिक अन्तर है । वास्तव में नयी हिन्दी समीक्षा में हेगेल के

---

[१] काव्य कला तथा अन्य निबन्ध, श्री जयशंकर प्रसाद, पृ० १६ ।

[२] वही, पृ० ५९ ।

विभाजन के अनुसार काव्य को एक कला और सबसे ऊंची कला-मान लिया गया। काव्य को कला मान लेने से उसमें नये तत्त्व के प्रवेश की संभावना लक्षित होने लगी। पश्चिम वाले कला को अनुकृति मानते हैं और भारत में काव्य को रसात्मक माना गया है। इस मौलिक अन्तर को ध्यान में रखकर उस समय के कुछ हिन्दी आलोचकों ने काव्य को कला के अन्तर्गत ग्रहण करने का विरोध किया और कुछ ने उपर्युक्त वर्गीकरण को ज्यों का त्यों मान लिया। आचार्य शुक्ल और प्रसाद जी ने दोनों की पृथकता का समर्थन किया और बाबू श्यामसुन्दर दास तथा अनेक नये आलोचकों—जिसमें छायावादी आलोचक प्रमुख हैं—ने दोनों की एकता के पक्ष में अपना मत दिया।

प्रसाद जी ने अपने ढंग से संस्कृत ग्रंथों का हवाला देते हुए यह सिद्ध करना चाहा है कि इन दोनों सिद्धान्तों के मूल में दो विभिन्न देशों के ज्ञान और सौन्दर्य बोध हैं जो देश काल और परिस्थितियों से तथा प्रधानतः संस्कृति के कारण भिन्न-भिन्न अस्तित्व रखते है। खगोलवर्ती ज्योति-केन्द्रों की तरह आलोक के लिए इनका परस्पर सम्बन्ध हो सकता है। वही आलोक शुक्र की उज्ज्वलता और शनि की नीलिमा में सौन्दर्य बोध के लिए अपनी अपनी अलग-अलग सत्ता बना लेता है। प्रसाद जी ने यह प्रतिपादित किया कि भारतीय काव्य का मूल आधार है आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति। उनका कहना है कि भारत में कलाओं को मनोरंजन करने वाले कौशल के भीतर रखा गया। इसके लिए उन्होंने अनेक आचार्यों के मत प्रस्तुत किये है। पश्चिमी कला के मूल में भी अनुभूति की प्रधानता नही वरन् अनुकरण की प्रवृत्ति मुख्य मानी गयी है। इसलिए पश्चिमी कला और भारतीय काव्य में स्पष्ट भेद है।

इस संबंध में दूसरा विचारणीय प्रश्न उन्होंने यह उठाया कि मूर्त्त और अमूर्त्त आधारों पर कविता को अन्य कलाओं से पृथक् और उच्च मानना भ्रमोत्पादक है। और सच पूछिये तो हीगेल ने जिस कविता को अमूर्त्त-आधारित माना है वह भी वर्ण-माला के मूर्त्त आधार पर टिकी हुई है। हीगेल की इस स्थापना की इस स्थूल सीमा के साथ-साथ एक आन्तरिक सीमा लक्षित होती है जो पाश्चात्य कला और भारतीय काव्य को दो भिन्न वर्गों में बाँट देती है। वह सीमा यह है कि पाश्चात्यों ने कला का सम्बन्ध लोक-यात्रा की उपयोगी वस्तुओं तक ही सीमित रखा।

प्लेटो संगीत का मन से और व्यायाम का शरीर से सीधा संबंध जोड़ कर लोक यात्रा की उपयोगी वस्तुओं का संकलन करता है। और उसने काव्य को संगीत के अन्तर्गत ग्रहण कर लिया है। इस प्रकार उसने काव्य को आध्यात्मिक भावनाओं मे विरहित और दर्शन से छोटा माना है। "हीगेल के मतानुसार कला के ऊपर धर्मशास्त्र और उससे भी ऊपर दर्शन का स्थान है।"

प्रसाद जी ने भारतीय विचार धारा का मत देकर यह स्पष्ट किया है कि यहाँ दर्शन और काव्य में छोटे-बड़े का प्रश्न नही था। यहाँ 'कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभू' का सिद्धान्त प्रचलित था, ऋषयो मंत्र द्रष्टारः थे। काव्य और दर्शन सभी श्रेय के द्रष्टा थे। बल्कि काव्य की विशेषता इस बात में थी कि वह श्रेय को मूल चारुत्व के साथ ग्रहण कर लेता था। प्रसाद जी का मत है कि काव्य शुद्ध अमूर्त नहीं है जैसा कि हीगेल ने माना है। लेकिन प्रसाद जी मूर्त और अमूर्त दोनों को ब्रह्म का रूप मानते हैं। वायु और आकाश अमूर्त अविनश्वर है इनसे इतर मूर्त्त और नश्वर (परिवर्तन शील) है। इस तरह मूर्त-अमूर्त का भौतिक भेद मानते हुए भी रूप दोनों में हो सकता है। अर्थात् उन्होंने रूप का स्थूल और सूक्ष्म दोनों अर्थ लिया है। और हृदय मूर्त रूप और अमूर्त रूप दोंनों का अनुभव करता है किन्तु काव्य के लिए रूप का होना आवश्यक है। इस प्रकार प्रसाद जी मूर्त और अमूर्त की सौन्दर्य सम्बन्धी दो धारणाएँ नहीं मानते और अपनी स्थापना पर बल देते हुए कहते हैं कि "मीधी बात तो यह है कि सौन्दर्य बोध बिना रूप के हो ही नहीं सकता। सौन्दर्य की अनुभूति के साथ-साथ हम अपने संवेदन को आकार देने के लिए उनका प्रतीक बनाने के लिए बाध्य हैं इसलिए अमूर्त सौन्दर्य बोध कहने का कोई अर्थ ही नहीं रह जाता"।

प्रसाद ने रस पर भी बड़ी गम्भीरता और पांडित्य से विचार किया। रस का स्वरूप सर्वप्रथम भारतीय नाटकों में ही लक्षित होता है। "नाट्योपयोगी काव्यों में आत्मा की अनुभूति रस के रूप में प्रतिष्ठित हुई।" एक ओर विधि निषेधों से पूर्ण शास्त्रों की परंपरा चलती रही दूसरी ओर लोक-पक्ष से मिलकर काव्य की धारा अपनी आनन्द साधना में लगी रही। इस आनन्द साधन का ही रूप रस है और वह पहले-पहल नाटकों में ही उपलब्ध था। अन्य काव्यों में रसों का विधान वहुत

बाद में हुआ। प्रसाद जी इसलिए नाटकों में या रसमय काव्य में आनन्द की उपलब्धि मानते हैं अर्थात् रस आनन्दमय होता है और वह ब्रह्मानन्द सहोदर है। "भट्ट नायक ने साधारणीकरण से जिस सिद्धान्त की पुष्टि की थी अभिनवगुप्त ने उसे अधिक स्पष्ट किया। उन्होंने कहा कि वासनात्मकतया स्थित रति आदि वृत्तियाँ ही साधारणीकरण द्वारा भेद विगलित हो जाने पर आनन्द स्वरूप हो जाती हैं। उनका आस्वाद ब्रह्मास्वाद के तुल्य होता है।[१]" यह मान्यता निश्चय ही आचार्य शुक्ल की रस सम्बन्धी मान्यता के विरुद्ध खड़ी होती है। इसी क्रम में प्रसाद जी ने आचार्य शुक्ल की उस मान्यता का भी खण्डन किया है कि रसानुभूति की उच्च और निम्न कोटियाँ भी होती हैं।

लेखक ने रसों का क्रमिक विकास भी प्रस्तुत किया है और यह दिखलाया है कि प्राचीन काल में काव्य में मुख्यतया दो संप्रदाय थे--- (१) रस सम्प्रदाय (२) अलंकार संप्रदाय। रस संप्रदाय शुद्ध काव्य को ध्यान में रखता था और अलंकार संप्रदाय (अलंकार संप्रदाय में रीति, अलंकार, वक्रोक्ति सबको लिया है) अभिव्यंजनावादी संप्रदाय था जो अनुभूति पर ध्यान न देकर वाक्वैचित्र्य पर ध्यान देता था और साहित्य में यह संप्रदाय विवेकवादी तार्किकों का प्रभाव था। फिर दोनों संप्रदाय एक दूसरे को प्रभावित करते हुए चले, दोनों की विभिन्न व्याख्याएँ हुई। प्रसाद जी उन सबका पांडित्वपूर्ण विवेचन करते चले हैं।

यथार्थवाद और छायावाद में प्रसाद जी ने यथार्थवाद, आदर्शवाद और छायायाद की व्याख्याएँ प्रस्तुत की हैं। वे भारतेन्दु काल से प्रारंभ होने वाली वेदनावादी कविता को यथार्थवादी कहते हैं। यथार्थवाद की विशेषताओं में प्रधान है लघुता की ओर दृष्टिपात। लघुता से प्रसाद जी का तात्पर्य है साहित्य के माने हुए सिद्धान्त के अनुसार महत्ता के काल्पनिक चित्रण के अतिरिक्त व्यक्तिगत जीवन के दुःख और अभावों का वास्तविक उल्लेख। उसमें स्वभावतः दुःख की प्रधानता और वेदना की अनुभूति आवश्यक है। यह वेदना संकलित यथार्थवाद उस काल्पनिक आदर्शवाद के विरुद्ध खड़ा होता है जिसमें महत्तम और क्षुद्रतम की कल्पना कर ली जाती है और महत्तम राम (आदर्श) का जीवन बिताने का उपदेश दिया जाता है क्षुद्र (रावण) का जीवन बिताने का नहीं।

---

[१] काव्य कला तथा अन्य निबन्ध, श्री जयशंकरप्रसाद, पृ० ७१।

यथार्थवादी एक तो इस प्रकार काल्पनिक महानताओं की ओर न झुक कर सर्वसाधारण व्यक्ति की ओर झुकता है दूसरे सामान्य व्यक्ति की शक्तियों और अच्छाइयों के साथ उसकी कमजोरियों और पतन का भी चित्र खींचता है। वह उसके पतन और कमजोरी को घृणा से नहीं सहानुभूति से देखता है और उन दुर्बलताओं के कारण की खोज करता करता व्यक्ति की मनोवैज्ञानिक अवस्था तथा सामाजिक रूढ़ियों को पकड़ता है। "और इस विषमता को ढूंढ़ने पर वेदना ही प्रमुख होकर सामने आती है। साहित्यिक न्याय की व्यावहारिकता वह संदिग्ध होता है। तथ्यवादी पतन और स्खलन का भी मूल्य जानता है और वह मूल्य है स्त्री नारी है और पुरुष नर है, इनका परस्पर केवल यही सम्बन्ध है......वेदना से प्रेरित होकर जनसाधारण के अभाव और उनकी वास्तविक स्थिति तक पहुँचने का प्रयत्न यथार्थवादी साहित्य करता है।"

प्रसाद जी आदर्शवाद और यथार्थवाद की संक्षिप्त व्याख्या के उपरान्त साहित्य में उनके व्यवहार की सीमाओं पर विचार करते हैं। "कुछ लोग कहते हैं साहित्यकार को आदर्शवादी होना ही चाहिए और सिद्धान्त से ही आदर्शवादी धार्मिक प्रवचनकर्ता बन जाता है। वह समाज को कैसा होना चाहिए यही आदेश करता है। और यथार्थवादी सिद्धान्त से ही इतिहासकार से अधिक कुछ नही ठहरता। क्योंकि यथार्थवाद इतिहास की सम्पत्ति है......किन्तु साहित्यकार न तो इतिहास-कर्ता है और न धर्मशास्त्र-प्रणेता। इन दोनों के कर्तव्य स्वतंत्र हैं। साहित्य इन दोनों की कमी को पूरा करने का काम करता है। साहित्य समाज की वास्तविक स्थिति क्या है इसको दिखाते हुए भी उसमें आदर्शवाद का सामंजस्य स्थिर करता है। दुखदग्ध जगत और आनन्दपूर्ण स्वर्ग का एकीकरण साहित्य है।'

प्रसाद जी की दृष्टि में साहित्य की इस आवश्यकता की पूर्ति हिन्दी में छायावाद ने की। वह लघुत्व (यथार्थवाद) और महत्व (आदर्शवाद) दोनो सीमान्तों के बीच की वस्तु है। "कविता के क्षेत्र में पौराणिक युग की किसी घटना अथवा देश-विदेश की सुन्दरी के वाह्य वर्णन से भिन्न जब वेदना के आधार पर स्वानुभूतिमयी अभिव्यक्ति होने लगी तब हिन्दी में उसे छायावाद के नाम से अभिहित किया गया।" इसके बाद प्रसाद जी ने बड़े संक्षेप में छायावाद के अन्तर्पक्ष और वहिर्पक्ष की सुन्दर

व्याख्या की है। और छायावाद के वहिर्पक्ष की नवीनता का भी सम्बन्ध प्राचीन शास्त्र की मान्यताओं से जोड़ दिया है। छायावाद प्राचीनों के छाया शब्द से बना है। "छाया भारतीय दृष्टि से अनुभूति और अभिव्यक्ति की भंगिमा पर अधिक निर्भर करती है। ध्वन्यात्मकता, लाक्षणिकता, सौन्दर्यमय प्रतीक-विधान तथा उपचार-बक्रता के साथ स्वानुभूति की विवृति छायावाद की विशेषताएँ हैं। अपने भीतर से मोती के पानी की तरह आन्तर स्पर्श करके भाव-समर्पण करनेवाली अभिव्यक्ति छाया कान्तिमयी होती है।"

ये हैं प्रसाद जी की साहित्य सम्बन्धी कुछ मान्यताएँ जिनसे हम सर्वत्र सहमत न होते हुए भी उनकी अद्‌भुत सूझ-बूझ, विश्लेषण-शक्ति और पाडित्य से चमत्कृत हुए बिना नहीं रहते। प्रसाद जी की उपर्युक्त मान्यताओं और समीक्षा-पद्धति को देखते हुए कहा जा सकता है कि छायावादी कवि होते हुए भी वे आलोचना के क्षेत्र में शास्त्रीय थे। प्रसाद जी प्राचीन साहित्य का अध्ययन करते-करते जैसे उसी में रम गये थे और नये प्रश्नो की ओर उनका ध्यान कम दिखाई पड़ता है। जहाँ नये प्रश्नों को उन्होंने पकड़ा भी है वहाँ उनका उत्तर देने में वे एकदम शास्त्रीय हो गये हैं और प्रत्येक नवीन या प्राचीन समस्या का आदि स्रोत वेदों में ही ढूंढ़ने की चेष्टा करते हैं। समाजशास्त्रीय प्रभाव जैसे उन पर था ही नही। नयी समस्याओं को नये युग के भौतिक परिपार्श्व में न देखकर उन्हें एक सनातन दार्शनिक धारा में प्रवाहित देखना चाहते थे। और वे शायद कहना यह चाहते थे कि दार्शनिक चिन्तन धाराएँ ही परिस्थितियों को प्रभावित करती हुई उन्हें बदलने का आयोजन करती रही हैं।

वे काव्य को दर्शन के साथ अनावश्यक रूप से संबद्ध करते हुए दिखाई पड़ते हैं। विवेकवादी और आनन्दवादी धाराओं के उद्‌गम और विकास की विवेचना उनकी अद्‌भुत व्याख्या शक्ति की परिचायिका हो सकती है किन्तु इन धाराओं के साथ साहित्य को भी बाँध देने से परिणाम यह निकला कि भक्ति कालीन काव्य को विवेकवादी धारा (जो कि काव्य का अस्वाभाविक रूप है) के अंतर्गत घसीटना पड़ता है और पूरा भक्ति काव्य आनन्दवादी रहस्यवाद से अलग हो जाने के कारण सच्चा काव्य नहीं बन सका है। "शुद्ध आदर्शवादी महाकवि तुलसीदास का रामायण

काव्य न होकर धर्म ग्रंथ बन गया।" और तब यह भी मानना पड़ेगा कि आनन्द के उपासक सिद्धों की कविता वास्तविक कविता थी। भक्ति-काव्य या दुःखमूलक काव्य का दर्शन विवेकवाद का परिणाम भले ही हो किन्तु काव्य में वह लोक जीवन के दुःख-सुख से समन्वित हो जाता है। अर्थात् उसमें दुःख का दर्शन नहीं, दुःख की संवेदना बोलती है। अतएव वह कृत्रिम काव्य नहीं कहा जा सकता। और वैयक्तिक दुःखों को व्यक्त करने वाली छायावादी कविता जब भारतीय काव्य की मुख्य धारा में आ सकती है तब भक्ति काव्य क्यों नहीं ?

काव्य और कला के सम्बन्ध में प्रसाद जी की खोज बड़ी ही मूल्यवान है और इसने तत्कालीन विचारकों को प्रभावित किया है। किन्तु धीरे-धीरे हिन्दी में कला और काव्य का देशगत अन्तर मिट चला है और लोगों ने दोनों को समान अर्थ में ग्रहण कर लिया है। अब इस प्रकार की कोई शंका ही उत्पन्न नहीं होती।

काव्य के स्वरूप और प्रयोजन के सम्बन्ध में प्रसाद जी के विचार शास्त्रीय ढंग से प्रतिपादित होते हुए भी सिद्धान्त रूप से स्वीकार्य हैं। आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति काव्य है। अर्थात् कविता में चिन्तन नहीं अनुभूति, तर्क नहीं संकल्प होता है। प्रसाद जी काव्य की आत्मा से पूर्णतया परिचित हैं और छायावादी काल के प्रभाव के कारण तथा रसवादी परंपरा के समर्थक होने के नाते ये अनुभूति के सक्षम समर्थक हैं। व्यावहारिक रूप से और सैद्धांतिक रूप से प्रसाद जी ने नयी कविता (छायावादी कविता) में अभिव्यंजना की नवीनता को स्वीकार किया किन्तु उसे साधन ही माना। वे स्पष्ट कहते हैं "क्या कारण है कि रामचन्द्र के वात्सल्य-रस की अभिव्यंजना उतनी प्रभावशालिनी नहीं हुई जितनी सूरदास के श्याम की। मैं तो कहूँगा कि यही प्रमाण है आत्मानुभूति की प्रधानता का। सूरदास के वात्सल्य में संकल्पात्मक मौलिक अनूभूति की तीव्रता है उस विषय की प्रधानता के कारण।...... रामचन्द्र के वात्सल्य रस का उपयोग प्रबन्ध काव्य में तुलसीदास को करना था, उस कथानक की क्रम-परंपरा बनाने के लिए। तुलसीदास के हृदय में वास्तविक अनुभूति तो रामचन्द्र की भक्त-रक्षण-समर्थ दयालुता है, न्यायपूर्ण ईश्वरता है......।" दोनों कवियों पर विचार करने से यह स्पष्ट प्रतीत होगा कि जहाँ आत्मानुभूति की प्रधानता है वहीं अभिव्यक्ति

अपने क्षेत्र में पूर्ण हो सकी है। वहीं कौशल या विशिष्ट पद रचना युक्त काव्य सुन्दर हो सका है।

स्वच्छन्दतावादी आलोचकों में अनुभूति की प्रधानता के पक्ष में समानता है किन्तु अनुभूति के साथ किसी आदर्श की स्थापना के क्षेत्र में मात्राभेद है। और आदर्श के स्वरूप तथा काव्य में उसकी अभिव्यक्ति के प्रकार के पक्ष में भी सभी प्रायः साथ हैं। आदर्श की स्थापना की बात तो सब करते हैं किन्तु उसके स्वरूप की प्रतिष्ठा कोई भी निर्भीकता और स्पष्टना से करता दिखाई नहीं पड़ता। प्रायः इन सभी आलोचकों ने यह प्रतिपादित करने की चेष्टा की है कि काव्य सौन्दर्य में शिव तत्त्व मिला ही होता है। काव्य की अनुभूति प्रेषणीय होकर पाठकों को आनन्द तो देती ही है उनकी संवेदनाओं को जगाती भी है। भारतीय रस में आनन्द और शिव का सम्मिश्रण अपने आप हो जाता है। सौन्दर्य मन को आनन्दित करता है वह किसी स्थूल उपयोगिता और आदर्श की चिन्ता न करके हमारे मानस को सुख पहुँचाता है, उसका मंगल करता है। भारतीय रस की व्याख्या में प्रसाद जी ने भी रसों के आनन्द और मंगल के इस स्वाभाविक सम्मिश्रण की ओर ध्यान दिलाया है। कविता की व्याख्या में भी उन्होंने श्रेय और प्रेय के समन्वय की बात उठाई है। और कहा है कि काव्य श्रेय को उसके मूल चारुत्व के साथ ग्रहण कर लेता है। प्रसाद जी का आनन्दवाद भी लोक जीवन के प्रति आस्था बनाये रखने का संदेश देता है। उससे भाग कर दैवी सत्ताओं की शरण खोजने का रास्ता साफ नहीं करता।

अन्त में कहना यह है कि प्रसाद जी ने गवेषणात्मक आलोचना का बड़ा गंभीर रूप प्रस्तुत किया। प्राचीन साहित्य की सामग्रियों को अत्यन्त समर्थ विश्लेषण-क्षमता के साथ अभिप्रेत उद्देश्य से सजाने का उपक्रम किया, शास्त्रीय ढंग से साहित्यिक प्रश्नों को सुलझाने का प्रयास किया किन्तु उनकी आलोचनाएँ वर्तमान आलोचना को बहुत दूर तक प्रभावित नहीं कर सकीं। प्रभावित करने का तात्पर्य मेरा इतना ही है कि उन्हें आधार मान कर आज का आलोचक किसी साहित्यिक प्रश्न को सोचने-समझने का उत्साह नहीं रखता, नहीं तो यों तो सब उन्हें पढ़ते हैं और उनका विश्लेषण भी करते हैं। इसका प्रधान कारण यह जान पड़ता है कि इन निबन्धों ने आधुनिक युग की चेतना और सामाजिक विकासजन्य

वास्तविकताओं को विशेष महत्व नहीं दिया और हर एक नई पुरानी साहित्यिक चेतना को अति प्राचीन काल के साहित्य और दर्शन से संबद्ध किया। रहस्यवाद और छायावाद को एक शाश्वत काव्य-चेतना मान लिया गया। नये समाज की नवीन स्थिति के कारण जो साहित्य और संस्कृति पर प्रभाव पड़ सकता था उसका स्पष्टीकरण नहीं किया गया। यथार्थवाद और आदर्शवाद की अत्यंत एकांगी व्याख्याएँ हुईं। फिर भी हिन्दी साहित्य के विद्यार्थियों के लिए यह अध्ययन और मनन की वस्तु है। इन निबन्धों की महत्ता अपने गवेषणात्मक गांभीर्य और विश्लेषणात्मक क्षमता के कारण तो है ही साथ ही साथ ये निबन्ध पाश्चात्य साहित्य सिद्धान्तों के पीछे अपनत्व खोकर दौड़ते हुए आलोचकों को यह राह सुझाते हैं कि अपनी संस्कृति और साहित्य की परंपराओं को ध्यान में रखकर ही साहित्य सिद्धान्तों का निर्माण श्रेयस्कर होगा। वाजपेयी जी के शब्दों में "यह अपने ढंग की अकेली रचना है जो हिन्दी की अपनी मानी जाय और साहित्य के सुयोग्य विद्यार्थियों को स्नेह और विश्वास-पूर्वक पढ़ने को दी जाय।"

श्री सुमित्रानन्दन पन्त

छायावादी कवियों में पन्त जी सबसे अधिक विकासशील रहे हैं। और उनका यह विकास सदैव परिस्थिति सापेक्ष रहा है। वे धीरे-धीरे प्रकृति से जीवन, कल्पना से भावना और भावना से चिन्तन, व्यक्तिवाद से गाँधीवाद, गाँधीवाद से समाजवाद और समाजवाद से अरविन्दवादी समन्वयवाद की ओर उन्मुख रहे हैं। इस विकास का कारण क्या है? कारण यही है कि पन्त जी सदैव परिस्थितियों से प्रभावित हुए हैं और परिस्थितियों से प्रमावित होने की क्रिया भावात्मक प्रतिक्रिया मात्र नहीं हैं उसमें पन्त जी का चिन्तन, मनन और आत्मालोचन भी संमिलित रहा है। कहना चाहें तो कह सकते हैं कि कवि पन्त में एक जागरूक आलोचक प्रारंभ से ही सक्रिय रहा है। उनकी कविताओं में लक्षित विकासशील विचार-परंपरा को देखने से यह बात स्पष्ट हो जाती है। और कविताओं में दिखाई पड़ने वाली विचार परंपरा उनके आलोचनात्मक गद्यों में भी दृष्टिगत होती है। यों कवि पन्त ने आलोचना के लिए आलोचन नहीं लिखी किन्तु अपनी पुस्तकों की प्रस्तावना और इधर

कुछ फुटकल निबन्धों के रूप में जो कुछ कहा है उसका अत्यधिक महत्व है क्योंकि उससे तत्कालीन काव्य के स्वरूप और उसमें निहित दृष्टिकोण को समझने में सहायता मिलती है। इनके विचारों ने काफी हद तक हिन्दी आलोचना को प्रभावित भी किया है।

छायायादी कवियों और आलोचकों में सबसे अधिक स्पष्टता से साहित्य में सामाजिक स्वर, सामाजिक हित, विकासशील मान्यता और वाह्य परिस्थितियों का प्रभाव स्वीकार करनेवाले पन्त जी हैं। जहाँ प्रसाद जी अपने निबन्धों में वैदिक काल और आधुनिक काल को एक संबंध-सूत्र में आबद्ध करने में रत दिखाई पड़े, महादेवी जी अधिक बारीकी से अन्तर्वाह्य की एकता का पट बुनती रहीं, वहाँ पन्त जी ने बड़ी ही सफाई और निर्भीकता से स्पष्ट किया कि साहित्य-रचना के लिए संवेदनशील हृदय का होना आवश्यक तो है ही साथ ही साथ साहित्यकार का नव युगीन क्रांतियों से प्रभाव ग्रहण करना और उन्हें साहित्य में प्रतिफलित करना भी आवश्यक है। पन्त जी ने जीवन की बाहरी क्रांतियों—जैसे आर्थिक, राजनैतिक, सामाजिक क्रांतियों को सदा सम्मान की दृष्टि से देखा है और यह स्वीकार किया है कि इन क्रांतियों से जीवन की मान्यताएँ बदलती हैं और उन मान्यताओं की उपेक्षा करके साहित्य अपनी ताजगी और सुगमता खो बैठता है। इसलिए उन्होंने ग्राम्या, युगान्त, युगवाणी आदि पुस्तकों की कविताओं में यह व्यक्त किया कि अध्यात्म मनुष्य के शरीर को स्वस्थ नहीं कर सकता। शरीर के अस्वस्थ होने पर मन भी स्वस्थ कैसे रह सकता है? पन्त जी उस समय इतने उपयोगितावादी विचार धारा के लक्षित होते हैं कि ताजमहल आदि महती कला कृतियों की भर्त्सना करते हैं। शोषित और पीड़ित मानवता का चित्र उतारते हैं। सामाजिक मनुष्य की भूख-प्यास का उपचार करनेवाले आन्दोलनों को स्वर देते हैं। 'वस्तु विभव पर ही जनगण का भाव विभव अवलंबित' की घोषणा करनेवाले कवि पन्त की समाजवादी मान्यता स्पष्ट हो जाती हैं। पन्त जी राजनैतिक दलों को सदोष और स्वार्थ लिप्त पाते हुए भी उनकी उपयोगिता और अनिवार्य अस्तित्व में विश्वास रखते हैं। "राजनीतिक क्षेत्र के किसी भी प्रगतिगामी वाद या सिद्धान्त से मुझे विरोध नहीं है, एक तो राजनीति के नक्कारखाने में साहित्य की तूती की आवाज कोई मूल्य नहीं रखती, दूसरे इन सभी वादों को मैं युग-जीवन के विकास के लिए किसी हद

तक आवश्यक मानता हूँ, ये परस्पर संघर्ष निरत तथा शक्ति लोलुप होने पर भी इस युग के अभावों को किसी न किसी रूप में अभिव्यक्त करते हैं, अपनी सीमाओं के भीतर उनका उपचार भी खोजते हैं और बहिरन्तर के दैन्य से पीड़ित पिछले युगों की अस्थि कंकाल रूप धरोहर जनता के हित को सामने रखकर सुख भोग कामी मध्योच्चवर्गीय चेतना का ध्यान उस ओर आकृष्ट करते हैं। सांस्कृतिक दृष्टि से इनकी सीमाओं से अवगत तथा साधनों से असन्तुष्ट होने पर भी मैं अपने युग की दुर्निवार तथा मानव मन की दुर्बोध सीमाओं से परिचित एवं पीड़ित हूँ।[1]"

कहा जा चुका है कि पन्त जी सदैव आत्मालोचन-रत विकासशील विचारक कलाकार रहे हैं। आगे उनके वैचारिक विकास के क्रमिक रूप का निरीक्षण करने का प्रयत्न किया जायगा। यहाँ उनकी मुख्य मान्यताओं पर दृष्टिपात कर लिया जाय। हाँ, तो पन्त जी ने समाजवाद को बहिरंग क्रान्ति मानकर उसके उपयोगितावाद को विचारों और रचनाओं में स्वीकार किया किन्तु आगे चलकर उन्होंने वहिरंग क्रांति के साथ आभ्यन्तर क्रांति को भी जीवन के हित के लिए आवश्यक माना। राजनैतिक क्रांति के साथ-साथ सांस्कृतिक क्रांति की अनिवार्यता में विश्वास किया। "मैं बाहर के साथ भीतर (हृदय) की क्रांति का पक्षपाती हूँ जैसा कि मैं ऊपर संकेत कर चुका हूँ। आज हम वाल्मीकि तथा व्यास की तरह एक ऐसे युग शिखर पर खड़े हैं जिसके निचले स्तरों में धरती के उद्वेलित मन का गर्जन टकरा रहा है और ऊपर स्वर्ग का प्रकाश, अमरों का संगीत तथा भू का सौन्दर्य बरस रहा है। ऐसे विश्व-संघर्ष के युग में सांस्कृतिक सन्तुलन स्थापित करने के प्रयत्न को मैं जाग्रत चैतन्य मानव का कर्तव्य समझता हूँ। यदि वह संभव न हो सका तो क्रांति का परिस्थितियों द्वारा संगठित सत्य तो भूकंप, बाढ़ तथा महामारी की तरह है ही उसके अदम्य वेग को कौन रोक सकता है[2] ?" सांस्कृतिक क्रांति के बिना मानव जीवन का सौन्दर्य अधूरा रह जायगा। राजनैतिक क्रांति तो जीवन की वाह्य आवश्यकताओं की पूर्ति के उपकरण एकत्र करती है किन्तु मनुष्य का मानसिक उत्थान और लोकव्यापी प्रेम-भावना

---

[1] गद्य-पथ, श्री सुमित्रानंदन पन्त, पृ० ८७।

[2] वही, पृ० ५६।

का प्रसार सांस्कृतिक क्रांति से ही संभव हो सकता है। पन्त जी सांस्कृतिक आन्दोलन को रूढ़िवादियों की तरह निरपेक्ष और प्राचीन मानों पर आधारित नहीं मानते हैं। सांस्कृतिक आन्दोलन बहिरंग क्रांतियों के साथ खड़ा होता है और वह ुग-सापेक्ष होता है। पुरानी मान्यताएँ नहीं, नयी मान्यताएँ उस आन्दोलन को अनुप्राणित करती हैं।

इसलिए पन्त जी ऐतिहासिक विकासवाद का सिद्धान्त स्वीकार करते हैं। पन्त जी बड़ी उदारता से स्वीकार करते हैं कि मार्क्स का द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद या ऐतिहासिक विकासवाद केवल बाहरी क्रांति का समर्थक नहीं है वरन् भीतरी क्रांति का चेता भी है। लेकिन भीतरी क्रांति वाह्य क्रांति पर अवलंबित होती हैं। "मनुष्य की सांस्कृतिक चेतना उसके मौलिक संस्कारों के संबंध में वस्तु जगत् की परिस्थितयों से प्रभावित होती है, वे परिस्थितियाँ ऐतिहासिक दिशा में विकसित होती रहती हैं। मनुष्य के मौलिक संस्कारों का देश-काल की परिस्थितियों के अनुसार जो मान निर्धारित हो जाता है अथवा उनके उपयोग के लिए जो सामाजिक प्रणालियाँ बँध जाती हैं उनका व्यावहारिक रूप संस्कृति से संबद्ध है[१]।" पन्त जी भौतिक दर्शन के इस दावे से सहमत हैं कि "ऐसी सामाजिक व्यवस्था में जिसमें अधिकाधिक मनुष्यों को क्षुधा काम की परितृप्ति के लिए पर्याप्त साधन मिल सकते हैं और वे वर्तमान युग की संरक्षण हीनता से मुक्त हो सकते हैं उन्हें अपने सांस्कृतिक एवं आध्यात्मिक विकास के लिए अधिक अवकाश और सुविधाएँ मिल सकेंगी।"

कला और उपयोगिता

उच्चकोटि के कलाकार पन्त जी कला के मर्म से परिचित नहीं है ऐसा तो कहा ही नहीं जा सकता, फिर जब वे कला में उपयोगिता को बहुत महत्व देते हैं तो इसका अभिप्राय यह है कि वे कला और उपयोगिता को अनिवार्य रूप से परस्पर संबद्ध मानते हैं। पन्त जी की कला-दृष्टि भी अत्यंत सूक्ष्म, परिष्कृत और विकसित है और जीवन संबंधी दृष्टिकोण भी अत्यंत मानवीय, व्यापक और गतिशील। पन्त जी कला के माध्यम से सदैव जीवन को-ऊर्ध्वमुखी जीवन को-स्वर देते रहने के पक्षपाती हैं। सामाजिक जीवन के बहिरंतर को विकसित करने के

---

[१] गद्य-पथ, श्री सुमित्रानंदन पंत, पृ० ११०।

लिए यह आवश्यक है कि नव युगीन चेतनाओं और उनके परिणाम स्वरूप प्रतिष्ठित नवीन मान्यताओं में विश्वास रखा जाय। पुराने युग और समाज की मान्यताएँ सामाजिक जीवन के विकास में बाधक सिद्ध होती हैं। इसीलिए पन्त जी सदैव नयी चेतनाओं को स्वीकार करने के लिए व्यक्तिगत और सामाजिक पुराने संस्कारों को झाड़ फेंकने के लिए तैयार बैठे रहे। पल्लव की भूमिका में सामन्तवादी समाज और रीति-कालीन साहित्य की विकृत चेतना और संस्कारों को समाज और साहित्य का घातक मानकर पूंजीवादी चेतना और छायावादी कला का समर्थन किया। नये साहित्य में उन्हें जीवन के लिए ताजगी और शक्ति का अनुभव हुआ। पूंजीवादी समाज ने अपने ही हाथों उन सपनों का गला घोंट दिया जिनको उसने स्वयं कवियों और जनता की आँखों में अंकित किया था। परिणामस्वरूप छायावादी काव्य एक अतिरिक्त निराशा और निष्क्रियता से पूर्ण दृष्टिगत हुआ। छायावाद में काव्य को जन-जीवन की व्यापक भूमिका नहीं मिल सकी थी। वह अभी नील गगन को ताक रहा था। उसमें भावी समाज के प्रति आस्था और सन्देश नहीं रह गया था। "छायावाद काव्य इसलिए अधिक नहीं रहा कि उसके पास भविष्य के उपयोगी नवीन आदर्शों का प्रकाशन, नवीन भावना का सौन्दर्य-बोध और नवीन विचारों का रस नहीं था। वह काव्य न रह कर अलंकृत संगीत बन गया था। द्विवेदी युग की तुलना में छायावाद इसलिए आधुनिक था कि उसके सौन्दर्य बोध और कल्पना में पाश्चात्य साहित्य का प्रभाव पड़ गया था, उसका भाव शरीर द्विवेदी युग के काव्य की परंपरागत सामाजिकता से पृथक् हो गया था किन्तु वह नये युग की सामाजिकता और विचारधारा का समावेश नहीं कर सका। उसमें व्यावहारिक क्रांति और विकासवाद के बाद का भावना-वैभव तो था पर महायुद्ध के बाद की धारणा (वास्ताविकता) नहीं आई थी। उसके हास-अश्रु, आशाऽकांक्षा, 'खाद्य मधु पानी', नहीं बने थे। इसलिए एक ओर वह निगूढ़, रहस्यात्मक, भावप्रधान (सबजेक्टिव) और वैयक्तिक हो गया, दूसरी ओर केवल टेकनीक और आवरण मात्र रह गया[१]।"

अन्य छायावादी कवियों और आलोचकों में छायावाद की कमजोरियों को उद्‌घाटित करने की यह निर्भीकता नहीं दिखाई पड़ती। पन्त जी ने

---

[१] गद्य-पथ, श्री सुमित्रानंदन पन्त, पृ० १४४।

पूँजीवादी दर्शन और व्यक्तिचेतना को नवीन समाज निर्माण के लिए अक्षम समझ कर मार्क्सवाद के समाज दर्शन को स्वीकार किया। और उन्होंने मार्क्सवाद को समाज के वहिरंतर में एक नवीन क्रांति और सृष्टि-विधायक चेतना उत्पन्न करनेवाला भौतिक आन्दोलन माना। किन्तु आगे चल कर उन्हें इस बात का बोध या भ्रम हो गया कि मार्क्सवाद केवल क्षुधा की तृप्ति कर आर्थिक समता उपस्थित करने वाला है। और इसलिए इधर वे अरविन्द के दर्शन से प्रभाविक होकर भौतिकवाद और अध्यात्मवाद का समन्वय करने लगे हैं। एक बात इस संबंध में अवश्य स्पष्ट हो जानी चाहिए--वह यह कि पन्त जी प्रारंभ से ही भारतीय अध्यात्म-दर्शन में आस्था रखते रहे है लेकिन वह उसे रूढ़ियों के रूप में स्वीकार नहीं करते हैं वरन् जड़-चेतन में एकता स्थापित करनेवाले शुद्ध अद्वैत को भारतीय दर्शन का मूल मानते हैं और मध्यकाल में उस पर चढ़ गयी विकृतियों की अनेक पर्तों को निकाल फेंकने का आग्रह करते हैं। किन्तु वे यह स्वीकार करते हैं कि अध्यात्म दर्शन वर्तमान समाज की आर्थिक विवशता और अन्यान्य वाह्य सामाजिक विषमताओं की समस्या हल करने में असमर्थ हैं।

जो हो पन्त जी ने जो भी नवीन दर्शन ग्रहण किया है मानव-मंगल से प्रेरित होकर। किन्तु पन्त जी कला के भीतर के मर्म को भी खूब पहचानते हैं और मानव-मंगल को कला के भीतर से मुखर करने के पक्षपाती हैं। इसीलिए वे स्वांतः सुखाय और बहुजन हिताय वाले सिद्धान्त को परस्पर विरोधी नहीं मानते। "हमारे वाह्य और अन्तर्जगत दो विरोधी तत्त्व नहीं हैं बल्कि मानव जीवन के एक ही सत्य के सूक्ष्म तथा स्थूल स्वरूप हैं और व्यक्ति तथा विश्व के अंतर्विधान को सामने रखते हुए ये दो समानान्तर सिद्धान्तों की तरह कहे जा सकते हैं। इस प्रकार हमारा विचारों का दर्शन हमारे जीवन-दर्शन से विभिन्न सत्य नहीं है बल्कि हमारे जीवन की प्रणालियों, उसके क्रिया-कलापों तथा अनुभूतियों का ही क्रमवद्ध तथा संगठित स्वरूप है[१]।" पन्त जी यथार्थ-चित्रण के पक्षपाती हैं किन्तु भावी समाज-निर्माण का स्वप्न सदैव उनकी आस्थाशील आँखों में सजग रहता है। पन्त जी साहित्य में वर्तमान युग के प्रति विश्वास और आस्था चित्रित करने के पक्ष पर जोर देते हैं।

---

[१] गद्य-पथ, श्री सुमित्रानंदन पन्त, पृ० १४४।

"यदि मैं कामायनी लिखता" शीर्षक निबन्ध से पन्त जी की व्यावहारिक मूल्यांकन की प्रतिभा भी लक्षित होती है। पन्त जी का संकोची स्वभाव यद्यपि इस उद्वेलित जल में अधिक नहीं उतरा है तो भी इस एक निबन्ध से उनकी परख-शक्ति और सूक्ष्म पकड़ दृष्टिगत होती है। इसमें पन्त जी ने कामायनीकार के प्रति अत्यंत श्रद्धावनत होकर तथा कामायनी की अप्रतिम उपलब्धियों का उद्घाटन कर उसकी शिल्पगत, दार्शनिक, मनोवैज्ञानिक शिथिलताओं और जीवन-संघर्ष की अशान्तियों और विषमताओं के समाधान रूप व्यक्त दृष्टिकोणों की एकांगिताओं की सहृदय व्याख्या प्रस्तुत की है।

पन्त जी समीक्षाओं में अपने विचारों को मुख्यत: दो रूपों में व्यक्त करते हैं। (१) आवेगपूर्ण आलंकारिक या भावात्मक रूप में (२) विचार प्रधान व्याख्यात्मक रूप में। पल्लव की भूमिका यदि पहली पद्धति का नमूना है तो अन्य अनेक निबन्ध दूसरी पद्धति के। कहीं-कहीं दोनों पद्धतियों का मेल भी दिखाई पड़ता है। पद्धति चाहे कोई भी हो उनके विचार बड़ी स्वष्टता से अभिव्यक्त होकर पाठकों की समझ में प्रविष्ट हो जाते हैं।

श्री पं० सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'

छायावादी कवि समीक्षकों में एक सामान्य विशेषता यह मिलती है कि उन्होंने आलोचना लिखने के लिए नही वरन् अपनी कविताओं और प्रवृत्तियों के विश्लेषण के लिए आलोचनाएँ लिखीं। इसीलिए उनमें एकांगिता है किन्तु उस एकांगिता में उनका मौलिक चिन्तन निहित है। सर्वमान्य या बहुमान्य समीक्षा सिद्धान्तों की स्थापना तो ये नहीं कर सके किन्तु एक सीमित क्षेत्र के भीतर अनेक मौलिक तत्त्वों की इन्होंने व्याख्याएँ प्रस्तुत कीं। वे व्याख्याएँ विवादास्पद होती हुई भी चिन्तन की नयी-नयी दिशाएँ खोलती हैं। प्रसाद, पन्त और महोदवी जी के प्रयास इस दिशा में स्तुत्य हैं।

निराला जी का कार्य न सभी कवि समीक्षकों से कुछ भिन्न था। जहाँ अन्य कवियों ने अपनी प्रवृत्तियों और वादों का सैद्धांतिक विवेचन तथा प्रतिपादन किया वहाँ निराला जी ने कृतियों की व्याख्या कर कला के मर्म की मीमांसा की। कौन सी कविता पूर्ण कलात्मक है, किस

कविता में कला विकलांग हो गयी है, किस कविता में जीवन का संवेदन पक्ष है, किसमें केवल रूप पक्ष, किसमें दोनों, किसमें जीवन का स्वर अधिक मुखर है, किसमें कम आदि तत्त्वों की विवेचना निराला जी से अधिक सक्षम रूप में उस समय कोई नहीं कर सका है। और सच बात तो यह है कि ऐसा कला-मर्मज्ञ समीक्षक इस पूरे आधुनिक युग में कोई नहीं दिखाई पड़ता।

कला के मर्म को समझने के लिए समीक्षा में जिन बातों की आवश्यकता पड़ती है वे हैं जाग्रत सौन्दर्य बोध, सूक्ष्म दृष्टि, अतीत और वर्तमान के उच्च कोटि के साहित्यों के अध्ययन से निर्मित रसज्ञता और विवेक। निराला जी उच्चकोटि के कलाकार हैं और साथ ही साथ अनेक उच्चकोटि के साहित्यों के मर्मज्ञ अध्येता भी। कविताओं की बारीकियों को पकड़ने की जितनी क्षमता निराला जी में है उतनी बहुत कम लोगों में होगी। 'पन्त और पल्लव' और 'मेरे गीत और कला' में निराला जी की कला-मर्मज्ञता स्पष्ट है। उन्होंने अपनी कविताओं के साथ-साथ अन्य अपेक्षित कवियों की कविताओं की बारीक विशेषताओं और दोषों को उद्घाटित किया है। 'पन्त और पल्लव' प्रतिक्रिया में लिखा गया निबन्ध है। पल्लव की भूमिका में व्यक्त विचारों का निराला जी ने निर्मम भाव से खण्डन किया है किन्तु पन्त की कविताओं की व्याख्या करके जो उसकी सूक्ष्म कमजोरियाँ दिखाई हैं और कहीं-कहीं विशेषताएँ भी, वह अत्यंत सम्मुन्नत प्रतिभा का ही परिणाम है। पन्त की कविता पर निराला द्वारा किये गये अनेक आक्षेपों के स्वर आपको कटु जान पड़ेंगे और उनमें एकांगिता भी आपको दिखाई पड़ सकती हैं—एकांगिता इस अर्थ में कि उन्होंने अपने काम लायक अशक्त कविताओं को चुन कर सशक्त कविताओं को छाँटकर पन्त जी का रूप विकृत करने का प्रयत्न किया है—किन्तु उन्होंने उन कविताओं में जो दोष दिखाये हैं वे कल्पना निर्मित नहीं हैं कृतियों की व्याख्या कर करके व्यावहारिक रूप में उन्हें उद्घाटित किया है। हमें यहाँ निराला जी की पकड़ की दाद देनी चाहिए। पन्त जी की कविताओं में उन्होंने मुख्यतः ये बातें लक्षित कीं। (१) शब्दों का चिन्त्य प्रयोग—जैसे, अभी तो हैं ये नवल-प्रवाल। हिलाते अधर प्रवाल,। में 'हिलाते' और दो बार प्रयुक्त 'प्रवाल' शब्द। या 'बजा दीर्घ सांसों की भेरी' वाली कविता में बजा, सजा, तान, खोल आदि क्रियाएँ। या

'गिरिवर के उर से उठ उठकर
उच्चाकांक्षाओं से तरुवर
हैं झाँक रहे नीरव नभ पर
अनिमेष, अटल कुछ चिन्ता पर'

में 'झाँक रहे' शब्द । "यहाँ निर्वाह अच्छा नहीं हुआ । पहाड़ के हृदय से उठकर पेड़ आसमान पर झाँकते हैं, ठीक नहीं, वाक्य ही असंगत है । आसमान की ओर झाँकते हैं यह ठीक नहीं, झाँकने के लिए पहले तो एक झरोखे का चित्र कहिए, जिनका इस पंक्तियों में अभाव है । फिर झाँकने वाले को दृश्य से ऊपर रहना चाहिए, नीचे से ऊपर की ओर झाँका नहीं जाता, पेड़ नीचे हैं आसमान ऊपर है, नीचे से ऊपर की ओर पेड़ क्या झाँकेंगे ? अपरंच झाँकना चंचलता का द्योतक है, झाँकते समय पेड़ों को अनिमेष, अटल और चिन्ता पर बतलाना प्राकृतिक सत्य की प्रतिकूलता है । यदि कोई कहे 'नभ पर' यानी 'नभ की गोद में रह कर' तो भी अन्यान्य विरोधों से संगति ठीक नहीं बैठती ।[१]" निराला जी ने शब्दों के उन्हीं चिन्त्य प्रयोगों को सदोष ठहराया है जिनसे चित्र बिगड़ जाता है और चित्रों से उत्पन्न होने वाले भाव विकृत हो जाते हैं ।

(२) मौलिकता का अभाव—"पन्त जी ने दूसरी जगहों से अच्छे अच्छे भाव लिए हैं । यह कहा जा चुका है कि इस तरह के भावापहरण के अपराध में बड़े से बड़े प्रायः सभी कवि दोषी हैं । जब कोई आलोचक ऐसे अपराध के कारण की जाँच करता है तब उसे उस कारण के मूल में एक प्रकार की कविता के ही दर्शन होते हैं । वह देखता है जिन भावों को ग्रहण करने के लिए वह कवि पर दोषारोप कर रहा था वे भाव कवि की हृदय भूमि में बीज रूप आप ही आप जम गए थे । उत्तमोत्तम भावों के ग्रहण करने की शक्ति रसग्राही कवि हृदय में ही हुआ करती है । जिन भावों को वह प्यार करता है, वे चाहे दूसरे के ही भाव हों, उसकी सहृदयता से धुलकर नवीन युग की नवीन रश्मि से चमकते हुए फिर वे उसी के होकर निकलते हैं ।"

"दूसरे के भाव लेकर प्रायः सब कवियों ने कविताएँ लिखी हैं । परन्तु वहाँ हर एक कवि ने दूसरे के भाव पर विजय प्राप्त करने की उससे बढ़कर अपना कोई विशेष चमत्कार दिखलाने की चेष्टा की है ।

पन्त जी में यह बात बहुत कम है। कहीं कहीं तो दूसरों के भावों को बदल बदल कर उसमें कुछ अपना हिस्सा मिला कर चमत्कार दिखलाने में इन्हें अच्छी सफलता मिली है परन्तु अधिकांश स्थलों में सुन्दर-सुन्दर भावों को इन्होंने बुरी तरह नष्ट कर डाला है। यह इसलिए कि यह भावों के सौंदर्य पर उतना ध्यान नहीं देते जितना शब्दों के सौन्दर्य पर।" किन्तु निराला जी ने पन्त जी की अपनी मौलिकता की ओर भी संकेत किया है। "पन्त जी की मौलिकता एक शब्द में कही जाय तो वह मधुरता है।"

(३) ओज का अभाव—"परिवर्तन को छोड़ कर पन्त जी की अन्यान्य कविताएँ जो पल्लव में आयी हैं जितनी मधुर हैं उतनी ओजस्विनी नहीं। जान पड़ता है बाल रचनाएँ हैं। पंखड़ियों के खोलने की चेष्टा की गई है।"

पन्त काव्य की इन सीमाओं (और साथ ही साथ कुछ उपलब्धियों) पर विचार करने के क्रम में और भी कुछ छोटी-छोटी बातें उठाई गई हैं। 'मेरे गीत और कला' में लेखक ने अपनी कला की व्याख्या के साथ साथ पन्त जी की अन्य विशेषताओं का भीं निर्देश किया है–जैसे पन्त जी के एक ही गीत के चित्रों में एक सूत्रता नहीं है। इनकी कविताओं में संकेत के स्थान पर उपदेश उभर आए है। पन्त जी के वर्ण-विन्यास के सम्बन्ध में निराला जी ने एक बड़ी मौलिक बात कही है कि वे कालिदास की तरह 'श, ण, व, ल,' स्कूल के हैं। निराला जी ने अपनी कुछ कविताओं की व्याख्या करके अपनी कला का जो विवेचन किया है वह अत्यन्त मार्मिक है। इसी प्रसंग में उन्होंने 'तमसो मा ज्योतिर्गमय' के स्वर को मुखर करना ही अर्थात् भारतीय आदर्श की व्यंजना करना ही कला का उच्च लक्ष्य माना है। कला प्रस्तुत चित्रों की सजीवता और सत्यता का निर्वाह करती हुई आदर्शों को ध्वनित करती है—जैसे 'जूही की कली' या 'मौन रही हार' कविता में। इस क्रम में उन्होंने किसी कृति के अधूरे रूप को लेकर समीक्षा करने वाले आलोचकों की इस वृत्ति की भर्त्सना की है। उनके मत से कृति का सम्पूर्ण रूप जाने बिना उसके प्रति कुछ कहना उसके साथ अन्याय है।

काव्य कला की इन व्यावहारिक व्याख्याओं के अतिरिक्त निराला जी ने काव्य सम्बधी कुछ अन्य नये प्रश्नों की भी बड़ी मार्मिक व्याख्या की। कवि पन्त ने पल्लव की भूमिका में अपने को मुक्त छन्द का सर्व प्रथम

प्रयोक्ता कह कर मुक्त छन्द का स्वरूप-निरूपण भी किया था। निराला जी ने पन्त जी के छन्दों को मुक्त छन्द नहीं माना है। "पन्त जी की कविताओं में स्वच्छन्द छन्द की एक लड़ी भी नहीं है।" "परन्तु यदि यथार्थ तत्त्व की दृष्टि से उनकी पंक्तियों की जाँच की जाय तो कहना होगा कि उनकी इस तरह की पंक्तियाँ—

'दिव्य स्वर या आँसू का तार बहादे हृदयोद्गार।'

जिनकी संख्या उनकी अबतक की प्रकाशित कविताओं में बहुत थोड़ी है विषम मात्रिक होने पर भी गीति काव्य की परिधि को पार कर स्वच्छन्द छन्द की निराधार नन्दन-भूमि पर पैर नहीं रख सकतीं। उद्धृत प्रथम पंक्ति में चार आघात है और दूसरी में तीन। इस तरह की पंक्तियों में छन्द की मात्राओं से पहले संगीत की मात्राएँ सूझ जाती हैं। छन्द भी संगीत प्रधान है, अतएव यह अपनी प्रधानता को छोड़कर एक दूसरे छन्द के घेरे में जो इसके लिए अप्रधान है नहीं जा सकता। दूसरे स्वच्छन्द छन्द में 'तार और गार' के अनुप्रासों की कृत्रिमता नहीं रहती—वहाँ कृत्रिम तो कुछ है ही नही, यदि कारीगरी की गई, मात्राएँ गिनी गईं, लड़ियों के बराबर रखने पर ध्यान रखा गया, तो इतनी वाह्य विभूतियों के गर्व में स्वच्छन्दता का सरल सौन्दर्य, सहज प्रकाशन, निश्चय है कि नष्ट हो जाता है।"

इसी सम्बन्ध में निराला जी पन्त जी की दूसरी धारणा का खण्डन करते है "पन्त जी ने लिखा है कि स्वच्छन्द छन्द ह्रस्व-दीर्घ मात्रिक संगीत पर चल सकता है, यह एक वहुत बड़ा भ्रम है। स्वच्छन्द छन्द में आर्ट आफ म्यूजिक नही मिल सकता, वहाँ है आर्ट आफ रीडिंग। वह स्वर प्रधान नहीं है व्यंजन प्रधान है। वह कविता की स्त्री-सुकुमारता नहीं, कवित्व का पुरुष-गर्व है। उसका सौन्दर्य गाने में नहीं वार्तालाप करने में है।"

निराला जी ने मुक्त छन्द और मात्रिक छन्द के तात्त्विक भेदों का हिन्दी में पहली बार सम्यक् विश्लेषण किया और उन्होंने यह स्थापना की कि मुक्त या स्वच्छन्द छन्द की सृष्टि कवित्त छन्द से हुई है। पन्त जी ने कवित्त छन्द के सम्बन्ध म कहा था कि कवित्त छन्द हिन्दी का औरस-जात नहीं, पोष्य पुत्र है। हिन्दी के स्वर और लिपि के सामंजस्य को छीन लेता है। उसमें यति के नियमों के पालनपूर्वक चाहे आप

इकतीस गुरु अक्षर रख दें, चाहे लघु, एक ही बात है, छन्द की रचना में अन्तर नहीं आता। इसका कारण यह है कि कवित्त में प्रत्येक अक्षर को, चाहे वह लघु हो या गुरु एक ही मात्रा-काल मिलता है, जिससे छन्दोबद्ध शब्द एक दूसरे को झकझोरते हुए परस्पर टकराते हुए उच्चारित होते हैं, हिन्दी का स्वाभाविक संगीत नष्ट हो जाता है। निराला जी ने पन्त जी के उपर्युक्त मतों का खण्डन कर कवित्त को राग रागनियों से बद्ध तथा भारतीय परंपरा का अपना छन्द सिद्ध किया। कवित्त छन्द की आवृत्ति करके आज भी ग्रामीण सरल मनुष्य अपार आनन्द अनुभव करते हैं, इसके समकक्ष कोई दूसरा छन्द उन्हें जँचता ही नहीं, करोड़ों मनुष्यों के इस जातीय छन्द को परकीय छन्द कहना ठीक नहीं है। फिर निराला जी ने इसे चौताला और तिताला में बाँधकर उसके विविध संगीतात्मक स्वर, पुरुष और स्त्री स्वर का विश्लेषण किया। उनकी दृष्टि में कवित्त छन्द की सी व्यापकता किसी अन्य हिन्दी छन्द में नहीं है।

निराला जी ने संगीत और काव्य को अपनी रचनाओं में ही संयुक्त करने की चेष्टा नहीं की वरन् उनके समन्वयात्मक सम्बन्धों की सुन्दर व्याख्याएँ भी कीं। इनके अतिरिक्त इन्होंने 'बंगाल के वैष्णव कवियों की शृंगार वर्णना' 'विद्यापति और चण्डीदास' 'कविवर श्री चंडीदास' निबन्धों में संबद्ध कवियों की कुछ काव्यात्मक विशेषताओं की सहृदय व्याख्या की। 'हिन्दी साहित्य में उपन्यास' निबन्ध हिन्दी उपन्यासों में चित्रित यथार्थ और आदर्शों के दैन्य का उद्‌घाटन करता है। 'नाटक समस्या' में रंगमंच की दृष्टि से हिन्दी नाटकों की असफलता का विचार किया गया है।

निराला जी साहित्यिक सिद्धान्तों की बातें कम उठाते हैं। उठाते भी हैं तो प्रायः व्यावहारिक मूल्यांकन के बीच-बीच में सूत्र रूप से। यों उनके सिद्धान्तों को स्पष्ट करनेवाले कुछ छोटे-छोटे स्वतंत्र निबन्ध भी हैं जैसे 'काव्य में रूप और अरूप', 'साहित्य और भाषा', 'हमारे साहित्य का ध्येय', 'साहित्य का फूल अपने ही वृंत पर' 'रचना सौष्ठव'। काव्य में रूप और अरूप बड़ा महत्वपूर्ण निबन्ध है। इसमें लेखक ने कला का आधार मूर्ति ही माना है। "अप्रतिहत मूर्ति-प्रेम ही कला की जन्मदात्री है, जो भावना पूर्ण सर्वांग सुन्दर मूर्ति खींचने में जितना कृत-विद्य है वह उतना ही बड़ा कलाकार है।" फिर उन्होंने जातीय कला

और अन्तर्जातीय कला के समन्वय का प्रश्न उठाया है और मार्जित तथा विराट भावनाओं को कला में अंकित करने का समर्थन किया है। 'कला के विरह में जोशी बन्धु' निबन्ध में अखिल विश्व में व्याप्त विरह देखने वाले जोशी-बन्धुओं की अच्छी खोज खबर ली गयी है। ऐसे निबन्धों में निराला जी की व्यंग्यात्मक शैली (जो उनकी अपनी विशेषता है,) चोट पर चोट करती हुई आगे बढ़ती है।

निराला जी मानवतावादी और विकासशील विचार और भाव-परंपरा के समर्थक हैं किन्तु 'मूड' के असंतुलित होने पर या प्रतिक्रिया के आवेश में वे कभी-कभी ऐसी बातें कह जाते हैं जिनमें अनावश्यक प्राचीनता-प्रेम और दार्शनिक उलझाव उभर आता है। पन्त जी की आलोचना में जैसे वे पन्त जी की सारी स्थापनाओं पर कुठाराघात करने पर तुले दिखाई पड़ते हैं। पन्त जी ने नये काव्य के जिस नवीन परिवेश और नवीन भाव, छन्द की मीमांसा की, निराला जी ने उसे वहाँ जैसे अनदेखा कर दिया।

सुश्री महादेवी वर्मा

छायावादी कवि आलोचकों में महादेवी जी का स्थान महत्वपूर्ण है। महादेवी जी की दृष्टि सूक्ष्म एवं कलात्मक संस्कारों से संस्कृत है। उनके विचारों में गंभीरता तथा साहित्यिक विवेक लक्षित होता है। इनकी आलोचनाओं की शैली भी आलंकारिक तथा चित्रात्मक है। इनकी शैली में न तो प्रसाद की दार्शनिक ऐतिहासिक पदावलियाँ एवं प्रसंगों की दुरूहता है और न पन्त की कहीं-कहीं लक्षिप्त होने वाली भावोच्छल तरंगायित वाक्य-योजना और अलंकार-विधानों का वेग तथा रंगमयता है। बल्कि इनके अलंकार और चित्र बहुत हलके रंगों से रंजित है तथा वाक्यों में उद्वेगहीन बहाव है और पदावलियाँ अत्यंत परिष्कृत और तत्सम होकर भी साहित्यिक हिन्दी के व्यावहारिक रूप के अनुकूल हैं। महादेवी जी ने भी प्रसाद की भाँति ऐतिहासिक और सांस्कृतिक परिपार्श्व में अधिक विचार किया है किन्तु कहीं भी उनकी भाषा शैली ऐतिहासिक आतंक से बोझिल नहीं होने पायी है। लेकिन फिर भी महादेवी जी की बात उतनी सरलता से समझ में नहीं आती जितनी सरलता से पन्त की। क्योंकि

महादेवी जी अभिप्रेत कथ्य कुछ वक्र ढंग से व्यक्त करती हैं। उनके वाक्य भी जटिल होते हैं।

महादेवी जी ने भी अधिकांश स्वच्छन्दतावादी आलोचकों की भाँति छायावादी काव्य-दृष्टि को शुद्ध साहित्यक दृष्टि मानकर उसके समर्थन में बहुत कुछ कहा है। महादेवी जी ने अपने सभी साहित्यिक निबन्धों में यह दिखाना चाहा है कि काव्य चेतना व्यापक सांस्कृतिक चेतना है जो प्रत्यक्ष और परोक्ष सभी सत्यों का स्पर्श सौन्दर्य के माध्यम से करती है। 'काव्य कला' शीर्षक निबन्ध में महादेवी जी ने काव्य कला के मूल तत्त्वों का विश्लेषण प्रस्तुत किया है। काव्य का सम्बन्ध सत्य और सौन्दर्य से है। "काव्य में कला का उत्कर्ष एक ऐसे विन्दु तक पहुँच गया, जहाँ से वह ज्ञान को भी सहायता दे सका क्योंकि सत्य काव्य का साध्य और सौन्दर्य उसका साधन है। एक अपनी एकता में असीम रहता है और दूसरा अपनी अनेकता में अनन्त, इसी से साधन के परिचय स्निग्ध खण्ड रूप से साध्य की विस्मय भरी अखण्ड स्थिति तक पहुँचने का क्रम आनन्द की लहर पर लहर उठता हुआ चलता है।"

महादेवी जी का कहना है कि हम खण्ड रूपों के माध्यम से अखण्ड सत्य तक पहुँचते हैं। अर्थात् प्रत्येक कलाकार व्यापक सत्य को किसी अपने परिचित रूप के द्वारा व्यक्त करता है। इसलिए वह रूप या वह अंश हमारी सीमा में बँधकर व्यष्टिगत हो ही जाता है "इस स्थिति में हमारी सीमा के साथ सापेक्ष पर अपनी व्यापकता में निरपेक्ष बना रहता है।" परिणाम यह होता है कि सत्य हमारी सीमा से लिपटा हुआ दूसरों के पास पहुँचता है और दूसरे लोग हमें तौल कर उस सत्य का मूल्य आँकने की इच्छा रखते हैं। 'इतना ही नहीं' उसकी तुला पर रुचि-वैचित्र्य, संस्कार, स्वार्थ आदि के न जाने कितने पासंगों की उपस्थिति भी संभव है अतः सत्य के सापेक्ष ही नहीं निरपेक्ष मूल्य के सम्बन्ध में भी अनेक मतभेद उत्पन्न हो जाते हैं।"

महादेवी जी सत्य की खोज के लिए बुद्धि और रागात्मिक वृत्ति दोनों को आवश्यक मानती हैं। किन्तु काव्य में या कलाओं में सत्य को खोजने या अभिव्यक्त करने का माध्यम अनुभूति होती है ज्ञान नहीं। "कला सत्य को ज्ञान के सिकता-विस्तार में नहीं खोजती अनुभूति की सरिता के तट पर एक विशेष विन्दु पर ग्रहण करती है।" मस्तिष्क

और हृदय परस्पर पूरक रह कर भी एक ही पथ से नहीं चलते। बुद्धि में समानान्तर चलने वाली भिन्न-भिन्न श्रेणियाँ हैं और अनुभूति में एकतारता लिए गहराई। अर्थात् ज्ञान में छोटे बड़े का प्रश्न लगा रहता है। एक ज्ञान दूसरे को पुराना और छोटा सिद्ध कर सकता है किन्तु अनुभूतियाँ अपने अपने स्थान पर महत् और चिरन्तन होती हैं उनमें सामान्य संवेदनशीलता होती है जो हर एक को प्रभावित करती है। "अनुभूति अपनी सीमा में जितनी सबल है उतनी बुद्धि नहीं। हमारे स्वयं जलने की हल्की अनुभूति भी दूसरे के राख हो जाने के ज्ञान से अधिक स्थायी रहती।" इसका कारण क्या है ? इसका कारण यह है कि ज्ञान बार-बार पढ़ने और सुनने से पुष्ट होता है किन्तु अनुभूति जीवन की गहराई में घुसकर किसी स्थिति या जीवन-सत्य का साक्षात-कार कराती है। अनुभूतिजन्य पीड़ा या हर्ष गहरा, असंदिग्ध और अविस्मरणीय होता है।

अनेक प्रकार से महादेवी जी ने बुद्धि और राग की क्रियाओं और छवियों का अन्तर उपस्थित कर बड़ी ही मार्मिकता से कला में अनुभूति पक्ष की प्रधानता का समर्थन किया है। अनुभूति पक्ष की प्रधानता तो प्रायः सभी अच्छे कलाकार और आलोचक मानते हैं और छायावाद युग की तो यह विशेष प्रवृत्ति रही है किन्तु महादेवी जी के प्रतिपादन का ढंग बड़ा विलक्षण और काव्यात्मक है और इन्होंने कला का रूप निर्माण करने वाले अनेक तत्त्वों के संबंध में उलझी हुई समस्याओं को एक एक करके लिया है।

काव्य कला का सत्य जीवन की परिधि में सौन्दर्य के माध्यम द्वारा व्यक्त अखण्ड सत्य है। सत्य अखण्ड और साध्य है तथा सौन्दर्य साधन तथा अनेक है, साधनों में कलाकार की वैयक्तिकता लगी रहती है, काव्य सौन्दर्य का संबंध अनुभूति से है बुद्धि से नहीं आदि विषयों पर चर्चा कर चुकने के बाद लेखिका सौन्दर्य की रूपरेखा और व्याप्ति पर विचार करती है। "सौन्दर्य क्या है ? यह बड़ा ही उलझा हुआ प्रश्न है। अनेकात्मक जगत् का 'सुन्दर' तथा 'कुरूप' में एक व्यावहारिक वर्गीकरण हो चुका है। किन्तु कला इस व्यावहारिक वर्गीकरण को स्वीकार नहीं करती है। इसकी दृष्टि में आने वाले सौन्दर्य और कुरूपता की कुछ और ही कथा है। सत्य की प्राप्ति के लिए काव्य और कलाएँ जिस सौन्दर्य

का सहारा लेते हैं वह जीवन की पूर्णतम अभिव्यक्ति पर आश्रित है केवल वाह्य रूपरेखा पर नहीं। प्रकृति का अनन्त वैभव प्राणि जगत् की अनेकात्मक गतिशीलता, अन्तर्जगत की रहस्यमयी विविधता सब कुछ इसके सौन्दर्य-कोष के अन्तर्गत है और इसमें से क्षुद्रतम वस्तु के लिए भी ऐसे भारी मुहूर्त आ उपस्थित होते हैं। जिनमें वह पर्वत के समकक्ष खड़ी होकर ही सफल हो सकती है और गुरुतम वस्तु के लिए भी ऐसे लघुक्षण आ पहुँचते हैं जिनमें यह छोटे तृण के साथ बैठकर ही कृतार्थ बन सकती है।" "जीवन का जो स्पर्श विकास के लिए अपेक्षित है उसे पाने के उपरान्त छोटा-बड़ा, लघु-गुरु, सुन्दर, विरूप, आकर्षक, भयानक, कुछ भी कला जगत से बहिष्कृत नहीं किया जाता।" तात्पर्य यह कि प्रत्येक अनुभूति और प्रत्येक सौन्दर्य अपने-अपने स्थान पर अपना महत्व रखता है। "वाह्य जीवन की कठोरता, संघर्ष, जय-पराजय सब मूल्यवान हैं पर अन्तर्जगत की कल्पना, स्वप्न, भावना आदि भी कम अनमोल नहीं।"

'उपयोग की कला और सौन्दर्य की कला' भी चिर काल से एक विवादास्पद विषय बना हुआ है। महादेवी जी दोनों को परस्पर समीप मानती हैं। कला का अस्तित्व स्थूल जगत से ही संभव है। कला जीवन की स्थिति, स्थूल जगत का अस्तित्व, किसी अभाव की अनुभूति, पूर्ति का आदर्श आदि उपकरणों को त्यागकर केवल शून्य निर्माण कर सकती है। महादेवी जी ने उपभोग को स्वीकार किया है किन्तु सूक्ष्म अर्थ में। अर्थात् कला जान बूझ कर उपयोगिता के लिए निर्मित नहीं होती है वरन् उसकी प्रकृति ही ऐसी हैं कि उससे उपयोगिता प्राप्त हो जाती है और वह उपयोगिता वाह्य योग-क्षेम की व्यवस्था नहीं है भूख-प्यास, कपड़े-लत्ते का प्रबंध नहीं है वरन् वह उच्चतम भूमि पर उपयोगिता प्रदान करती है, वह हमारी आत्मा में रस का संचार करती है और वह रस हमारे हृदयों को जीवित और विकासशील तो रखता ही है साथ ही साथ वह कठोर शारीरिक कार्यों को भी कोमल बना देता है। "जीवन को गति देने के दो ही प्रकार हैं एक तो वाह्य अनुशासनों का सहारा देकर उसे चलाना और दूसरे अन्तर्जगत में ऐसी स्फूर्ति उत्पन्न कर देना जिससे सामंजस्यपूर्ण गतिशीलता अनिवार्य हो उठे।" कला अन्तर्जगत में स्फूर्ति पैदा करती है। "विधि निषेध की दृष्टि से महान से महान कला-

कार के पास उतना भी अधिकार नहीं जितना चौराहे पर खड़े सिपाही को प्राप्त है।"

कला और दर्शन के संबंधों पर भी लेखिका ने अपने ढंग से विचार किया है। "जहाँ तक सत्य के मूल रूप का संबंध है वे दोनों एक दूसरे के अधिक निकट हैं अवश्य, पर साधन और प्रयोग की दृष्टि से उनका एक होना सहज नहीं।" दार्शनिक बुद्धि के निम्न स्तर से अपनी खोज आरंभ करके उसे सूक्ष्य बिन्दु तक पहुँचा कर सन्तुष्ट हो जाता है उसकी सफलता यही है कि सूक्ष्म सत्य के उस रूप तक पहुँचने के लिए वही बौद्धिक दिशा संभव रहे। अन्तर्जगत का सारा वैभव परख कर सत्य का मूल आँकने का उसे अवकाश नहीं, भाव की गहराई में डूबकर जीवन की थाह लेने का उसे अधिकार नहीं। "किन्तु काव्य या कला तो जीवन को, चेतना और अनुभूति के समस्त वैभव के साथ स्वीकार करता है। अतः कवि का दर्शन जीवन के प्रति आस्था का दूसरा नाम है।"

महादेवी जी ने यथार्थ और आदर्श, व्यक्ति और समिष्ट का प्रश्न भी उठाया है। यथार्थ और आदर्श के समन्वय पर इन्होंने भी जोर दिया है। साहित्य में व्यक्ति की अनुभूतियाँ समष्टि की अनुभूतियाँ बन जाती हैं।

महादेवी जी अनुभूति की व्यापकता पर विचार करते हुए कहती हैं:—"प्रत्येक सच्चे कलाकार की अनुभूति प्रत्यक्ष सत्य ही नहीं अप्रत्यक्ष सत्य का भी स्पर्श करती है उसका स्वप्न वर्तमान ही नहीं अनागत को भी रूप रेखा में बाँधता है और उसकी भावना यथार्थ ही नहीं संभाव्य यथार्थ को भी मूर्तिमत्ता देती है। परन्तु इन सबकी व्यष्टिगत और अनेक रूप अभिव्यक्तियाँ दूसरों तक पहुँच कर ही तो जीवन की समष्टिगत एकता का परिचय देने में समर्थ हैं।" महादेवी जी जीवन और कला का सम्बन्ध अनिवार्य समझती हैं। कलाकार के निर्माण में जीवन के निर्माण का लक्ष्य छिपा रहता है जिसकी स्वीकृति के लिए जीवन की विविधता आवश्यक रहेगी। कला और जीवन का सम्बन्ध सभी छाया-वादी कवि और आलोचक स्वीकार करते रहे हैं और आज तो प्रगतिवादी समीक्षा में यह स्वर और भी सशक्त हो गया है। किन्तु इन सम्बन्धों के स्वरूप की व्याख्या में भिन्नता हो जाती है। जो भी हो काव्यकार के लिए जीवन की संभावनाओं में आस्था होनी चाहिए चाहे वह आस्था

किसी भी आदर्श का रूप निर्मित कर ले। ये समस्त आदर्श जीवन को निरन्तर उदात्त बनाने के ही प्रयास हैं। हाँ, जब वे आदर्श किसी रूढ़ धर्म-संप्रदाय या राजनीतिक वर्ग का रूप धारण कर लेते हैं तब वे जीवन की विविध नई छवियों और वास्तविकताओं को नहीं आँक पाते। ऐसे ही अवसर पर उनके प्रति विद्रोह और अस्वीकृति के स्वर खड़े होते हैं। किन्तु यह केवल नास्तिकता भी साहित्य और जीवन के लिए श्रेयस्कर नहीं। "नास्तिकता उसी दशा में सृजनात्मक विकास दे सकती है जब ईश्वरता से अधिक सजीव और सामंजस्यपूर्ण आदर्श जीवन के साथ चलता रहे।"

कहा जा चुका है कि छायावादी दृष्टिकोण आतमवादी (सबजेक्टिव) है और वह काव्य के लिए विषय की महानता और लघुता को महत्वपूर्ण नहीं मानता है वह महत्वपूर्ण मानता है कवि के उस पारस हृदय को जो सबको अपने स्पर्श मात्र से सोना कर दे। महादेवी जी इस विचार की प्रबल पोषिका हैं। न्याय के लिए कहा जा सकता है कि पन्त जी ने औरों की अपेक्षा विषय की महत्ता स्वीकार की है। महादेवी जी की दृष्टि में विषय भिन्न-भिन्न हृदयों की सीमा और स्थिति के अनुकूल भिन्न-भिन्न रूप धारण करता है। अर्थात् कविता में हृदय विषय से बड़ा होना चाहिए। "जल का एक रंग भिन्न-भिन्न रंग वाले पात्रों में जैसे अपना रंग बदल देता है उसी प्रकार चिरंतन सुख-दुःख हमारे हृदयों की सीमा और रंग के अनुसार बन कर प्रकट होते हैं।"

महादेवी जी जड़ और चेतन के अन्योन्याश्रित संबंध को स्वीकार करती हैं—जड़ के बिना चेतन का आकार नहीं और चेतन के बिना जड़ का विकास शून्य है। और कविता में हार्दिकता का होना आवश्यक है इस शर्त के साथ कविता में कोई भी चीज व्यक्त हो सकती है। पार्थिव अपार्थिव, जड़, चेतन, वर्तमान, भूत और भविष्य सभी हार्दिकता के रस में घुल मिलकर एक हो जाते हैं। महादेवी जी इस प्रकार अनुभूति और रागात्मकता को कविता की चिरन्तन आत्मा मानती हैं। "यह स्वाभाविक है कि प्रत्येक युग अपनी विशेष समस्याएँ लेकर आता है जिनके समाधान के लिए नई दिशाएँ खोजती हुई मनोवृत्तियाँ उस युग के काव्य और कलाओं को एक विशिष्ट रूप-रेखा देती रहती हैं। मूल तत्त्व न जीवन के कभी बदले हैं और न काव्य के, कारण ये उस शाश्वत

चेतना से संबद्ध हैं जिसके तत्त्वतः एक रहने पर ही जीवन की अनेक रूपता निर्भर है।"

काव्य कला के संबंध में महादेवी जी की ये प्रमुख मान्यताएँ हैं जिन्हें आधार बनाकर उन्होंने छायावाद, रहस्यवाद, गीति काव्य और सामयिक समस्या आदि प्रश्नों पर विचार किया है। छायावाद की व्याख्या के माध्यम से लेखिका ने छायावाद की बड़ी प्रशस्ति गायी है। छायावाद के संबंध में लेखिका के विचारों का मूल मन्त्र समझने के लिए निम्न उद्धरण सहायक होगा। "छायावाद का कवि धर्म के अध्यात्म से अधिक दर्शन के ब्रह्म का ऋणी है जो मूर्त और अमूर्त विश्व को मिलाकर पूर्णता पाता है। बुद्धि के सूक्ष्म धरातल पर कवि ने जीवन की अखण्डता का भावन किया। हृदय की भावभूमि पर उसने प्रकृति में बिखरी सौन्दर्य-सत्ता की रहस्यमयी अनुभूति की और दोनों के साथ, स्वानुभूत सुख दुःखों को मिलाकर एक ऐसी काव्य-सृष्टि उपस्थित कर दी जो प्रकृतिवाद, हृदयवाद, अध्यात्मवाद, रहस्यवाद, छायावाद, आदि अनेक नामों का भार सँभाल सकी।" इस सिलसिले में लेखिका ने छायावाद पर लगाये गये आरोपों का उत्तर देने की चेष्टा की है।

"विज्ञान से समृद्ध भौतिकता की ओर उन्मुख बुनियादी आधुनिक युग ने हमारी कविता के सामने एक विशाल प्रश्नवाचक चिह्न लगा दिया है विशेष कर उस कविता के सामने जो व्यक्त जगत् में परोक्ष की अनुभूति और आभास से रहस्य और छायावाद की संज्ञा पाती जा रही है।" महादेवी जी ने इसके उत्तर में इस भाव-धारा को नवीन न मानकर इसे अपने साहित्य की लम्बी पुरानी परंपरा से सम्बद्ध माना है। इस भाव धारा की इस व्यापकता का कारण यह है कि भारतीय संस्कृत के मूल तत्त्व एक हैं चाहे युगों का कितना भी व्यवधान उपस्थित हो गया हो। काव्य अन्तर्चेतना से संबद्ध हैं और संस्कृति की अन्तर्चेतना नहीं बदलती है वाह्य रूप रेखा बदलती रहती है।

"छायावाद दर्शन के ब्रह्म का ऋणी है" कहने का तात्पर्य यही है कि अद्वैतदर्शन जिस प्रकार ब्रह्म की अखण्ड व्यापक चेतना को जड़ और चेतन में समान भाव से मानता है उसी प्रकार छायावाद भी प्रकृति में चेतना का आरोप करता है। महादेवी जी ने इसे सर्ववाद कहा है। "ज्ञान क्षेत्र के तत्वमसि सर्वं खल्विदं ब्रह्म, सोहम् आदि ने उस युग के

चिन्तन को कितनी विविधता दी है यह कहना व्यर्थ होगा।" यही विविधता छायावाद में लक्षित होती है। लेकिन यह विविधता चिन्तन-प्रसूत नहीं, राग प्रसूत है।

छायावाद का सौन्दर्य-बोध रीतिकालीन रूढ़िवाद को तोड़कर नवीन मार्ग प्रशस्त करता है। इस नवीन सौन्दर्य की नवीनता की कोई सामाजिक परिस्थिति—सापेक्ष व्याख्या न देकर महादेवी जी इसे चिरन्तन क्रम मानती हैं। कुछ विशेष ढंग की प्रवृत्तियाँ हैं जो क्रिया प्रतिक्रिया के रूप में निरन्तर उदय अस्त हुआ करती हैं। "कविता के जीवन में भी सरल जीवन से संबंध रखनेवाला इतिवृत्त, सूक्ष्म सौन्दर्य की भावना, उसके चिन्तन में अत्यधिक प्रसार और अन्त में निर्जीव अनुकृतियाँ आदि क्रम मिलते ही रहते हैं। निश्चय ही महादेवी जी का यह सिद्धान्त एक विशेष संप्रदाय का सिद्धान्त है जो चिंत्य है।

महादेवी जी ने छायावाद पर लगाये गये अस्पष्टता, वैज्ञानिक दृष्टिकोण का अभाव, यथार्थ से पलायन वृत्ति, सूक्ष्म की अभिव्यक्ति, अतीत और वर्तमान से संबंध विच्छेद आदि आरोपों का निराकरण किया है जो अपनी प्रतिपादन शैली की विशेषता रखते हुए भी अनेक स्थलों पर विवादास्पद है। उन विवादों में जाने का यहाँ अवसर नहीं है।

'रहस्यवाद' में छायावादी रहस्य का सम्बन्ध भी महादेवी जी ने वैदिक काल से जोड़ा है। वेदों और उपनिषदों में विविध लौकिक सम्बन्धों के रूप में अभिव्यक्त रहस्यानुभूति की परंपरा की ओर वे संकेत करती हैं। ज्ञान क्षेत्र की रहस्यानुभूति एक सिद्धांत मात्र थी वह हृदय की कोमलतम भावनाओं में प्राण-प्रतिष्ठा पाकर रहस्यवादी काव्य का रूप धारण कर लेती है। वही भावात्मक रहस्यानुभूति हिन्दी में जायसी, कबीर आदि की कविताओं से होकर वर्तमान युग तक पहुँचती है। महादेवी जी आज के बुद्धिवादी युग में भी रहस्यानुभूति की स्थिति स्वीकार करती हैं। "इतना निश्चित है कि इस वस्तुवाद प्रधान युग में भी वह (रहस्य का समुद्र) अनाहत नहीं हुआ चाहे इसका कारण मनुष्य की रहस्योन्मुख प्रवृत्ति हो और चाहे उसकी लौकिक रूपकों में सुन्दरतम अभिव्यक्ति।" किन्तु इतना अवश्य है कि उस रहस्यानुभूति के लिए लौकिक भाव और लौकिक रूपकों की उपेक्षा वे नहीं करतीं वरन् उन्हें

अपने आप में पर्याप्त मानती हैं तथा रहस्मानुभूति व्यक्त करने के लिए भी आवश्यक ।

छायावाद काव्य का मुख्य रूप गीतात्मक है । गीत इस युग की अनिवार्य विवशता है । "हिन्दी काव्य का बर्तमान नवीन युग गीत-प्रधान ही कहा जायगा । हमारा व्यस्त और व्यक्ति प्रधान जीवन हमें काव्य के किसी और अंग की ओर दृष्टिपात करने का अवकाश ही नहीं देना चाहता । आज हमारा हृदय ही हमारे लिए संसार है । हम अपनी प्रत्येक साँस का इतिहास लिख रखना चाहते हैं अपने प्रत्येक कंपन को अंकित करने के लिए उत्सुक हैं और प्रत्येक स्वप्न का मूल्य पा लेने के लिए विकल हैं[१] ।"

इस ऐतिहासिक यथार्थ की ओर दृष्टिपात करने के साथ-साथ लेखिका गीतिकाव्य की परिभाषा भी स्थिर करती हैं जिसमें छायावादी तत्त्वों की ही प्रमुखता है । किसी भी प्रवृत्ति या रूप की ऐतिहासिक व्याख्या आपत्तिजनक नहीं होती उसमें आपत्तिजनक बात तब आ पड़ती है जब उसमें लक्षित विशेषताओं को ही किसी विशेष प्रकार की साहित्यिक विधा का संपूर्ण स्वरूप मान लिया जाय । महादेवी जी ने गीति काव्य में इसी प्रकार सीमा को असीम मान लिया है । "साधारणतः गीत व्यक्ति गत सीमा में तीव्र सुख-दुःखात्मक अनुभूति का वह शब्द रूप है जो अपनी ध्वन्यात्मकता में गेय हो सके ।" इसमें छायावाद का व्यक्तिवाद मुखर है । गीत के लिए कोई आवश्यक नहीं कि वे व्यक्तिगत सुख-दुःख से ही संबद्ध हों उनमें सामाजिक हर्ष-विषाद भी आ सकता है और आया है । सामाजिक स्थिति, सामाजिक दर्शन आदि के अनुकूल साहित्य का स्वर भी व्यक्तिगत और सामाजिक हुआ करता है ।

'यथार्थ और आदर्श' को लेखिका अभिन्न मानती है । दोनों का सामंजस्य ही जीवन और साहित्य को संपूर्ण बना सकता है । "जीवन प्रत्यक्ष जैसा है और हमारी कल्पना में जैसा है वही हमारा यथार्थ और आदर्श है और इस रूप में तो वे दोनों जीवन के ही उतने ही दूर पास हैं जितने जल की आर्द्रता से मिले रहने के कारण एक ओर उसे मर्यादित रखने के लिए भिन्न-भिन्न, नदी के दो तट ।" प्रत्येक युग पिछले

---

[१] गीति काव्य, महादेवी का विवेचनात्मक गद्य, पृ० १४३–४४ ।

युग की पूर्णता और सामंजस्य के स्वप्न को सृजनात्मक प्रेरणा से सत्य बना लेता है और भावी युग के लिए नवीन स्वप्नों की रूपरेखाएँ स्पष्ट कर जाता है। महादेवी जी इस प्रकार जीवन का और युग का विकास मानती हैं। युग और जीवन के विकास की यह विचित्र व्याख्या है। देखने में यह बड़ी सहज है किन्तु इसके पीछे बूर्ज्वा मानवतावादी धारणा काम कर रही है। तो भी इस पूरे निबन्ध में यथार्थ और आदर्श के विविध पक्षों पर सूक्ष्मता से विचार किया गया है।

महादेवी जी ने साहित्य की सामयिक समस्याओं पर भी दृष्टिपात किया है। उनके विचार से वर्तमान यथार्थवादी कविता में बुद्धि ने हृदय की उपेक्षा की है और फिर उसी हृदय को चंचल बनाने के लिए यथार्थ का कुत्सित पक्ष सामने रखा है। पिछले युगों के यथार्थ में सुधार की भावना थी और आज का यथार्थवाद प्रगति का प्रश्न आगे रखकर अपनी अवांछनीय स्थिति का समर्थन चाहता है। इस प्रकार हृदय का साथ छोड़कर आज का यथार्थवादी साहित्य स्थूल उत्तेजना की वैसाखी के सहारे चल रहा है। इस नवीन यथार्थवादी साहित्य की कुछ प्रमुख विशेषताएँ ये हैं—

"साधारणतः नवीन काव्य धारा ने अभी छायावाद की वाह्य रूप रेखा नहीं छोड़ी, केवल शब्दावली, छन्द ध्वनि आदि में एक निरन्तर सतर्क शिथिलता लाकर उसे विशेषता मान लिया है।"

"इस काव्य की धारा ऐसी है जो चिन्तन प्रधान रचनाओं को जन्म दे रही है जिनमें एक ओर विविध बौद्धिक निरूपणों के द्वारा कुछ प्रचलित सिद्धान्तों का प्रतिपादन होता चलता है और दूसरी ओर पीड़ित मानवता के प्रति बौद्धिक सहानुभूति।"

"दूसरी धारा में पिछले वर्षो के राष्ट्रीय गीतों की परंपरा ही कुछ अतिशयोक्ति और उलट फेर के साथ व्यक्त हो रही है। ऐसी रचनाओं में कवि का अहंकार स्वानुभूत न होकर रूढ़ि मात्र बन गया है। इसी से वह प्रलयंकर महानाश की ज्वाला आदि रूपकों में व्यक्त क्षणिक उत्तेजना में फुलझड़ी के समान जलता बुझता रहता है।"

"तीसरी काव्य धारा की रूपरेखा आदर्शवाद की विरोध-भावना से बनी है। इसमें एक ओर यथार्थ की छाया में वासना के नग्न चित्र हैं

जो मूलतः हमारी सामाजिक विकृति से सम्बन्ध रखते हैं और दूसरी ओर जीवन के वे घृणित कुत्सित रूप जो हमारी समष्टिगत चेतना के अभाव से उत्पन्न हैं।"

इसी प्रकार के और भी विचार यथार्थवाद के सम्बन्ध में इस निबन्ध में व्यक्त हैं। जब जब छायावादी कवि और आलोचक यथार्थवाद के विश्लेषण के लिए सचेष्ट हुए हैं तब तक वे अपनी छायावादी मान्यताओं की सीमा में घिर गए हैं। यथार्थवाद के ऐतिहासिक विकास और परिणाम स्वरूप उसके विविध रूपों की व्याख्या में असफल रहे हैं। उन्होंने उसके स्थूल रूप और उसकी व्यावहारिक सीमाओं पर ही विचार किया है। नवीन चेतना के आलोक में उपलब्ध होने वाली उसकी संभावनाओं पर ध्यान नहीं दिया है। प्रगतिवाद को भी—जो अश्लीलता और वासना के नग्न चित्र का विरोधी है—सामान्य यथार्थवाद का एक रूप मान लिया गया है और उसी एक ही लाठी से इसे भी हाँक दिया जाता है। महादेवी जी के इन निबन्धों की विशेषताओं और चिन्तन-पद्धति पर कहा जा चुका है। सीमाओं के सम्बन्ध में कोई अलग से विचार करने की आवश्यकता नहीं। स्वच्छन्दतावादी आलोचकों की सीमाएँ कुछ कम वेश मात्रा में उनमें भी लक्षित होती हैं।

डा० रामकुमार वर्मा

डा० रामकुमार वर्मा के प्रारंभिक निबन्धों में विवेचनात्मक शक्ति की अपेक्षा भावुकता अधिक है। किन्तु धीरे-धीरे इन दोनों वृत्तियों का संतुलन होता गया है। इन्होंने आलोचना के क्षेत्र में मुख्यतः तीन काम किये—(१) 'साहित्य समालोचना' नाम से साहित्य के विविध विधाओं (कविता, कहानी, रंगमंच और समालोचना) की रूपरेखा प्रस्तुत करने की चेष्टा की। (२) कबीर के रहस्यवाद की व्याख्या की। (३) हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास (अधूरा) लिखा। इस प्रकार आलोचना के सभी क्षेत्रों—सैद्धांतिक, व्यावहारिक, ऐतिहासिक—में इनकी गति दिखाई पड़ती है।

डा० वर्मा छायावादी कवि हैं अतएव इनकी प्रारंभिक समीक्षा-कृतियों में इनका कवि समीक्षक का नियंत्रण न स्वीकार कर कहीं-कहीं उन्मुक्त आवेग के साथ उभर आया है। 'साहित्य समालोचना' के निबन्ध सन्

१९२८–२९ के आस-पास के हैं। इसलिए यह स्वाभाविक था कि छाया-वादी युवक कवि की भावुकता उसकी बौद्धिकता से अधिक सशक्त दिखाई पड़ती। प्रस्तुत पुस्तक में लेखक के चार निबन्ध संगृहीत हैं। कविता के ऊपर लिखा गया निबन्ध प्रभाववादी समीक्षा का शुद्ध स्वरूप प्रस्तुत करता है। इस निबन्ध को पढ़ने से कविता की रूप रेखा, मान्यताओं, उद्देश्यों आदि तत्त्वों का कोई बुद्धि-ग्राह्य विश्लेषण पाठकों को नहीं मिल सकता है। इसमें रूपकों द्वारा कविता की अनिर्वचनीयता, सुन्दरता, स्वच्छन्दता आदि गुणों की ओर संकेत किए गए हैं। "कविता की शक्ति एक परी के समान है। यह पूर्ण स्वच्छन्द है। जिन वस्तुओं की ओर जाना चाहती है, वेग से उड़ जाती है। एक मिनट में, एक सेकंड में। जिसको उसके पंखों की हवा छू भी गई है, भला वह उसे परिभाषा के पिंजड़े में बन्द करने का व्यर्थ प्रयास क्यों करेगा ? ऐसी सलोनी और सुकुमार परी क्या पिंजड़े में बन्द की जा सकती है ? यह सरासर अन्याय होगा कि उसको एक पंक्ति में कैद कर लिया जाय। हाँ, इसलिए कि वह परी है—अस्तित्व रखने वाली एक वस्तु विशेष है, हम उसका कुछ अनुभव कर सकते हैं। और वह अनुभव यही है कि कविता में जीवन की शक्तियाँ होने के कारण—उसमें हृदय स्पर्श करने की भी शक्ति है—किसी वस्तु का मूल्य बढ़ाने की भी ताकत है। कविता की सजीव शक्ति नीरस से नीरस पदार्थ को सरस बनाकर वस्तु स्वभाव में विशेष परिवर्तन कर देती है। फूल में काँटा और काँटे में फूल का आभास होता है।"

फिर भी लेखक ने काव्य सम्बन्धी कुछ तथ्यों की ओर निर्देश किया है। उसकी दृष्टि में (और पूरे स्वच्छन्तावादी कवियों की दृष्टि में) कविता का चरम उद्देश्य प्राकृतिक और मानवीय क्षेत्र के अलौकिक सौन्दर्यों और भावनाओं को चित्रित करना है। कवि इस अलौकिक सौन्दर्य को देखने के लिए पाठकों के हृदय की खिड़की खोल देता है। वर्मा जी साथ ही साथ यह भी स्वीकार करते हैं कि कविता के जीवन में परिवर्तन का क्रम लगा रहता है। किन्तु कविता क्यों बदलती है इसकी मीमांसा इस निबन्ध में कहीं दृष्टिगत नहीं होती। जीवन और प्रकृति के प्रांगण में बदलते हुए रंगों को आधार मान कर रूप बदलने वाली कविता की ओर इशारा मात्र करके लेखक ने बात समाप्त कर दी है। व्रजभाषा और खड़ी बोली की (छायावादी) कविताओं के विभिन्न

वर्ण्य विषयों की भी काव्यात्मक झाँकी दी है और स प्रसंग में कुछ विवादास्पद तथ्यों की स्थापनाएँ भी लेखक कर गया है—जैसे कविता निरन्तर स्थूल से सूक्ष्म की ओर बढ़ रही है। अथवा छायावाद रहस्य-वाद एक ही है (लेखक ने यह नहीं कहा है कि छायावाद और रहस्य-वाद एक ही है वरन् उसने छायावाद और रहस्यवाद की अलग-अलग विवेचना न कर हमेशा दोनों को जैसे एक मान लिया है)। "छायावाद जीवात्मा की उस अंर्तहित प्रवृत्ति का प्रकाशन है जिसमें वह दिव्य और अलौकिक शक्ति से अपना शान्त और निश्छल सम्बन्ध जोड़ना चाहता है। ऐसी स्थिति में परमात्मा के बिना जीवात्मा की शक्तियों का विकास नहीं होता।"

इस प्रकार छायावाद की विवेचना में जो उस काल के अन्य आलोचकों द्वारा भ्रांतियाँ उत्पन्न हो रही थीं उनका निराकरण वर्मा जी के इस निबन्ध से संभव न हो सका, और नहीं तो इसे रहस्यवाद से मिला कर उस भ्रांति की और पुष्टि ही की गई। लेखक की इस प्रारंभिक कृति से इतनी आशा भी नहीं करनी चाहिए।

इस निबन्ध में एक बात बड़े महत्व की है—यह कि लेखक ने स्वयं छायावादी कवि होने के उपरांत भी छायावाद की कुछ कमजोरियों की ओर संकेत किया है। उसके मत से ये कमजोरियाँ सफल छायावादी कवि बनने के मार्ग में वाधाएँ हैं। "पहली बाधा तो अत्यधिक भावुकता का होना है। कवि यदि पागल होकर चिड़ियों के चहचहाने में विश्व की वेदना सुने तो वह अपनी हँसी कराता है।" "दूसरी बाधा सत्य के सौन्दर्य में भावात्मक कल्पनाएँ करना है।" "तीसरी बाधा है कवि का सदैव के लिए आकाश में उड़ कर पृथ्वी पर न जाना।" "चौथी बाधा है ईश्वर की सत्ता के सामने आत्मा की सत्ता का विनाश।......ईश्वर की सत्ता सर्वोपरि अवश्य हो, पर आत्मा की सत्ता भी संसार में एक स्थान रक्खे।" इसी प्रसंग में उन्होंने देश-भक्ति संबंधी कविताओं के निर्माण की आवश्यकता का समर्थन किया है। "वर्तमान समय में देशभक्ति-संबंधी कविताओं की ही रचना होनी चाहिए। उत्साह और सेवा की महान वृत्तियों का उदय कर भारतीय हृदय को देश के हृदय से मिला देना चाहिए।" छन्द की चर्चा करते हुए वर्मा जी ने छन्द संबंधी छायावादी स्वच्छन्दता का समर्थन किया है।

'कहानी', 'रंगमंच' और 'समालोचना' नामक निबन्धों में लेखक ने बौद्धिक विश्लेषण का दामन पकड़ा है। पहले के निबन्ध की सी भावुकता न निबन्धों में नहीं है। लेखक ने इन निबन्धों में इन साहित्य-विधाओं की रूप रेखाओं, उनके विकृत और आदर्श स्वरूपों की व्याख्या अपेक्षाकृत वैज्ञानिक ढंग से की है। जब यह पुस्तक लिखी गयी उस समय इस प्रकार की पुस्तकों का अभाव था। पाश्चात्य साहित्य के प्रभाव से हिन्दी साहित्य में उत्पन्न होनेवाली नवीन विधाओं के नवीन और व्यवस्थित विवेचन की आवश्यकता थी। यह पुस्तक भी उसी आवश्यकता की पूर्ति में योग देती है इसलिए इसका महत्व है। किन्तु इस बात की ओर ध्यान दिलाना आवश्यक प्रतीत होता है कि इसके पहले बाबू श्यामसुन्दर दास का साहित्यालोचन प्रकाशित हो गया था। इस पुस्तक में इन निबन्धों में विवेचित विधाओं के अतिरिक्त उपन्यास तथा अन्य अनेक संबद्ध छोटे-छोटे विषयों पर लिखा गया है। और उस पुस्तक में विवेचन भी अत्यधिक व्यापक, बहुमुखी और गंभीर है। इसलिए महत्व के लिए इस पुस्तक के बाद निकलने वाली पुस्तक को अत्यधिक पूर्ण और सुविचारित होना ही चाहिए था।

'कबीर का रहस्यवाद' में डा० वर्मा ने रहस्यवाद की नाना अवस्थाओं का निरूपण कर कबीर के रहस्यवाद का अध्ययन किया है। कबीर सच्चे रहस्यवादी थे। वे अपनी आत्मा की पुकार पर कविताएँ लिखते थे। वे अपनी आत्मा के सच्चे आज्ञाकारी सेवक थे। इसीलिए कबीर काव्य के भेदोपभेदों से अपरिचित होकर भी, निरक्षर होकर भी सच्चे कवि बन सके थे। लेखक ने कबीर को कवि न मानने वालों का विरोध किया है। कबीर का सन्देश बड़ा था उस सन्देश को उन्होंने आत्मसात कर लिया था इसीलिए जब वह संदेश उनकी वाणी से फूटता था तो कविता अपने आप बन जाती थी। उनका उद्देश्य था कि अनन्त शक्ति—एक सत्पुरुष—का संदेश लोगों को किस प्रकार दिया जाय।

कबीर पर फुटकल निबन्धों में तो बहुत लिखा जा चुका था किन्तु पुस्तक रूप में उनकी किसी साहित्यक विशेषता का विशद् मूल्यांकन करने का शायद यह पहला प्रयास था। इस दृष्टि से भी इस पुस्तक का महत्व है। कबीर के रहस्यवाद पर पड़े हुए विविध प्रभावों की स्पष्ट व्याख्या भी इस पुस्तक में हुई है। इस प्रसंग में आचार्य शुक्ल

के विचारों को काफी दूर तक अपनाया गया है। रहस्यवाद के क्षेत्र में परिकल्पित अनेक रूपकों और विधि-विधानों तथा कबीर के सांप्रदायिक और व्यक्तिगत स्वरूपों के विवेचन के साथ लेखक ने अपने अभिप्रेत विषय को अधिकाधिक पूर्ण और गंभीर बनाने की कोशिश की है। कबीर की प्रवृत्तियों की छान-बीन की ओर ही लेखक का ध्यान रहा है, उन प्रवृत्तियों को निर्मित करने वाली परंपराओं और सांस्कृतिक सामाजिक स्थितियों की मीमांसा में वह नहीं उलझा है।

'हिंदी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' में चिन्तन की कोई नयी दिशा दी गयी हो ऐसी बात लक्षित नहीं होती। शुक्ल जी का इतिहास ही इसका आधार रहा है। किन्तु शोध की सामग्रियाँ इसमें अधिक संगृहीत हैं। इस प्रकार यह एक व्यापक (कम्प्रेहेन्सिव) प्रयत्न है।

तृतीय उत्थान (प्रगतिवादी समीक्षा)

(सन् १९३५ से अब तक)

यह तो हम पिछले अध्यायों में ही देख चुके हैं कि हिन्दी की आधुनिक समीक्षा उत्तरोत्तर पाश्चात्य समीक्षा-साहित्य के सम्पर्क में आकर अपनी परंपरा के आधार पर अपना रूप निर्माण कर रही थी। प्रगतिवाद तक आते-आते इसने बाहर भीतर की सीमा तोड़कर एक सार्वभौम दृष्टिकोण अपना लिया। इसका यह तात्पर्य नहीं है कि इसने अपने को पाश्चात्य विचारों और समीक्षा-प्रणालियों के हाथ बेंच दिया वरन् इसका आधार सामाजिक यथार्थवाद का सिद्धान्त हुआ और यह सिद्धान्त विश्व के समाजों का वैज्ञानिक अध्ययन करके बना। समस्त विश्व में कुछ अपवादों और काल-क्रमों के थोड़े इधर-उधर के साथ समाजों का विकास एक ही सा हुआ है। पिछले कालों में विज्ञान का विकास न हो सकने के कारण एक देश और समाज की आवश्यकताएँ और समस्याएँ दूसरे को प्रभावित न कर सकी। आज अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के मजबूत होने के कारण सभी देशों के समाज एक दूसरे को प्रभावित कर रहे हैं और उनके ऊपर निर्मित सिद्धान्तों को सभी समान भाव से ग्रहण कर रहे हैं। किसी साहित्य के रचना और आलोचन पक्षों का व्यक्तित्व इसमें सुरक्षित है कि वह सार्वभौम दृष्टिकोणों से अपने समाज को देखे और इस दृष्टिकोणगत एकता में अपने समाज के अन्य बाहरी भीतरी व्यावहारिक रूपों का अपनत्व मिला दे। दृष्टि-कोण का सम्बन्ध वैज्ञानिक चिन्तन से है और संवेदना या साहित्य के विषय और भाव पक्ष का सम्बन्ध अपने समाज के साथ रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करने से है। केवल समाज सिद्धान्तों के आधार पर साहित्य का संवेदनशील रूप नहीं निर्मित हो सकता। उसके लिए यह आवश्यक है कि साहित्यकार अपने समाज के बीच घुसकर उसकी मानसिक बनावट के हर एक स्तर को स्पर्श करे, उसके विश्वासों, परंपराओं और आकांक्षाओं का वास्तविक स्वरूप पहचाने। उसकी प्रगतियों और पिछड़ेपन का अध्ययन करे। यहाँ इतना कहने की आवश्यकता इसलिए हुई कि प्रगतिवादी समीक्षा को कुछ उदार आलोचक रूसी या मार्क्सवादी विचारों

की क्रीत दासी मानने लगे हैं। पता नहीं क्यों वे यह नहीं समझ पाते कि विचारों का आदान प्रदान न कोई नई चीज है और न बुरी। वे स्वयं पश्चिम के विचारों की छाया में भारतीयता की दुहाइ देकर बोलना पसन्द करते हैं किन्तु स्पष्ट रूप से मार्क्सवाद के स्वस्थ सार्वभौम दृष्टिकोण को अपनाने वालों को घृणा की दृष्टि से देखते हैं।

समाज के सम्बन्धों और मनोवृत्तियों के बदलने के साथ-साथ साहित्य का स्वरूप भी बदला करता है। रचना के स्वरूप और आलोचना के मानदण्ड दोनों में परिवर्तन उपस्थित हुआ करते हैं। छायावाद काल की कविताओं और आलोचनाओं के मानदंड में पूंजीवादी समाज की व्यक्तिगत चेतना और उसके अनेक संभव परिणामों तथा राष्ट्रीय जागरण का घुला-मिला रूप पाया जाता है। छायावादी साहित्य-चेतना में पश्चिमी प्रभाव तो है लेकिन उसमें अपने देश-काल की सजीव अभिव्यक्ति है। विदेशी प्रभाव उसमें उतना ही है जितना अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के स्थापित होने के कारण ले लेना अनिवार्य और वैज्ञानिक है। इसी आधार पर हम छायावाद को कोरी विदेशी चीज नहीं कह सकते। ये समस्त वाद-छायावाद प्रगतिवाद-यद्यपि पश्चिमी विचारकों के वैज्ञानिक चिन्तन के आलोक में ही चलते हैं (और वैज्ञानिक चिन्तन एक ही प्रकार के विश्व के सभी देशों के समाजों के लिए समान भाव से सत्य होता है) लेकिन उनकी आधारभूमि उनका अपना समाज ही है। इसीलिए हिन्दी में ये समस्त वाद योरोपीय वादों के साथ नहीं आये बल्कि उनसे पीछे अपने समाज के रूप परिवर्तन के साथ आते और जाते रहे।

छायावाद १९२०-३५ के बीच भारतीय समाज की सूक्ष्म अभिव्यक्ति है। पूंजीवाद युग का अनिवार्य परिणाम यह होता है कि उसके चरम विकास के अवसर पर समाज आर्थिक दृष्टि से खोखला होने लगता है, उत्पादन में योग देने वाले मजदूर गरीबी और असंतोष से प्रेरित होकर उत्पादन में अपना हिस्सा माँगने लगते हैं, संघर्ष होता है और अन्त में पूंजीवाद पराजित होता है, नया मजदूर-राज्य कायम होता है। पूंजीवाद संघर्षकाल में अपनी रक्षा के लिए दर्शन साहित्य और कला का निर्माण करता है। पतनोन्मुख पूंजीवाद का सारा साहित्य गतिरोध-ग्रस्त, जड़ और निर्जीव होता है। मजदूर आन्दोलन से समाज में एक नई शक्ति

आती है। समाज के सम्बन्धों में परिवर्तन आता है और समाज के सम्बन्धों को अभिव्यक्ति देने वाले साहित्य की नवीन चेतनाएँ और प्रवृत्तियाँ नवीन उत्साह से सक्रिय हो उठती हैं।

छायावाद अपने अंतिम काल में कुण्ठा-ग्रस्त हो रहा था। उसमें गत्यवरोध उत्पन्न हो गया था। पतनोन्मुख पूँजीवाद की साँसों को अभिव्यक्ति देता हुआ स्वयं निर्जीव हो रहा था। उसमें सामाजिक बल नहीं रह गया था। धीरे-धीरे हिन्दी के साहित्यकारों ने इस ह्रास की स्थिति का अनुभव कर नवीन सशक्त सामाजिक तत्त्वों को पहचानना शुरू किया और उन्हें रूप देने के लिए उत्सुक हो उठे। समाज की ऐसी स्थिति रूस आदि देशों में आ चुकी थी, वे देश और उनके साहित्य ऐसे संक्रमण काल से गुजर चुके थे। तथा उन्होंने नवीन समाज—सर्वहारा के अधिनायकत्व का समाज—स्थापित भी कर लिया था। मार्क्स और एंगेल्स ने समाजों के वैज्ञानिक अध्ययन के परिणाम स्वरूप द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की स्थापना की थी। मार्क्स ने इसी दृष्टिकोण से समाज और प्रकृति के हर एक पहलू पर सुचिन्तित विचार दिये। सामाजिक विकास के मूल में उसका आर्थिक आधार है। उत्पादन के साधनों के बदलने के साथ-साथ सामाजिक संबंध बदलते हैं और सामाजिक संबंधों के बदलने के साथ उन्हें अभिव्यक्ति देने वाले साहित्य और दर्शन भी बदलते हैं। हर एक युग में समाज की नयी शक्तियाँ पुरानी से संघर्ष करती हैं। इन्हीं जीवनोन्मुख सामाजिक शक्तियों को स्वर देने वाले साहित्य जीवन-उष्म होते हैं प्राचीन मरणोन्मुख शक्तियों की वकालत करने वाले साहित्य स्वयं निर्जीव हो उठते हैं। मार्क्सवाद की स्थापना है कि पूजीवाद के बाद साम्यवाद का क्रम स्वाभाविक है। मार्क्सवाद का यह नवीन दर्शन देश-विदेश के साहित्यकारों को प्रभावित कर अपने अनुकूल साहित्य निर्माण कराने में समर्थ हुआ। मरणोन्मुख पूँजीवाद के प्रभाव से पीड़ित साहित्य के स्थान पर इस उत्साहमय जीवनान्दोलित साहित्य को ग्रहण करने के लिये सभी देशों में एक अपूर्व उल्लास दिखाई पड़ा।

हिन्दी साहित्य में भी १९३५ के आस-पास प्रगतिवाद का स्वर मुखर होने लगा। सन् १९३५ में ई० एम० फार्स्टर के सभापतित्व में पेरिस में प्रोग्रेसिव राइटर्स असोसिएशन नामक अन्तर्राष्ट्रीय संस्था का

प्रथम अधिवेशन हुआ। १९३६ में सज्जाद जहीर, डा० मुल्कराज आनन्द के प्रयत्नों से भारतवर्ष में भी इस संस्था की शाखा खुली और प्रेमचन्द की अध्यक्षता में लखनऊ में उसका प्रथम अधिवेशन हुआ। छायावादी कवि स्वयं अपनी छायावादी कविताओं की कुंठाओं से ऊब चुके थे अतएव इस नये दर्शन और नवीन समाज-कल्पना ने उनमें नवीन साहित्य निर्माण के लिए उल्लास भर दिया और स्वनिर्मित कारा से निकल कर पहले-पहले वे ही प्रगतिवाद के पक्षधर हुए। इन कवियों में सुमित्रानन्दन पन्त का नाम उल्लेख्य है। इन्हीं के आगे पीछे निराला आदि भी प्रगतिवाद के क्षेत्र में आये। प्रगतिवाद के इतिहास या रचनाओं के विवेचन के विस्तार में जाना मेरे निबन्ध का प्रतिपाद्य नहीं है। मैं यहाँ यह दिखाने का प्रयत्न करूँगा कि १९३५ के आसपास से हिन्दी में जो प्रगतिवाद की नयी धारा अवतरित हुई उससे रचना और आलोचना के क्षेत्रों में नवीन जीवन-दृष्टि, नयें सौंदर्य-बोध, नये विधान-कौशल और नवीन सामाजिक संवेदनशीलता का प्रवेश हुआ। प्रगति वाद के ऊपर क्या-क्या आक्षेप हुए? उसे कितना कुत्सित और कृत्रिम करार दिया गया? यह अब पुरानी बात हो चुकी है और इन शंकाओं का समाधान भी प्रगतिवादी लेखकों द्वारा समय-समय पर होता रहा है। यह और वात है कि न समझने की कसम खाकर बैठे हुए विद्वान समालोचकों के दिमाग अब भी साफ न हुए हों।

प्रगतिवाद रचना और आलोचना के क्षेत्र में सर्वथा नवीन दृष्टिकोण लेकर आया। ऐसा इसलिए संभव हुआ कि जीवन को देखने का उसका दृष्टिकोण सर्वथा नवीन था। इसलिए पिछले युगों की समीक्षा-कसौटियाँ नवीन साहित्य को परखने में समर्थ नहीं थीं। भारतेंदु काल से अब तक हिन्दी समीक्षा ने भिन्न-भिन्न रूप धारणा किये थे। उसने रीति युग में रीति का आश्रय लिया, भारतेंदु युग में पत्र पत्रिकाओं में स्थान पाकर प्रशंसामूलक विवेचन की आभा ग्रहण की। द्विवेदी काल में वह धीरे-धीरे पुस्तकों का रूप धारण कर प्रभाववादी तुलनात्मक समीक्षा हो गयी। आचार्य शुक्ल ने अपनी गहरी सूझ-बूझ, व्यापक अध्ययन, गहरी पैठ, काव्य मर्मज्ञता और ठोस चिन्तन द्वारा उसे व्याख्यात्मक आलोचना के रूप में प्रतिष्ठित किया। प्रगतिवाद ने अब उसे व्याख्या के साहित्यिक रस और सूक्ष्म तत्त्व-उद्घाटन की सीमा से आगे बढ़ाकर

एक विशेष किन्तु उदात्त लोक मंगल के दृष्टिकोण से समन्वित सामाजिक यथार्थवाद की भूमिका पर प्रतिष्ठित किया । अर्थात् प्रगतिवादी समीक्षा का प्रमुख मानदण्ड यह है कि साहित्य का निर्माण सोद्देश्य है । और वह उद्देश्य क्या है ? आत्म सुख-दुख की अभिव्यक्ति मात्र नहीं, कल्पना-विलास नहीं, शैली का चमत्कार-प्रदर्शन नहीं वरन् सामाजिक यथार्थ का सही और मार्मिक उद्घाटन । यही तत्त्व रचना को जीवन्त और अमर बनाता है । 'सामाजिक यथार्थ' शब्द का भ्रान्त अर्थ लेने वाले भी कम नहीं हैं । वे समाज के ऊपरी सतह पर दिखायी पड़ने वाली निर्जीव और पतनोन्मुख समाज की विकृतियों को ही सामाजिक यथार्थ मान बैठते हैं और ऐसा मानने वालों में दो वर्ग हैं । एक तो आदर्शवादी हैं जो वास्तविक जगत् को छोड़ कर हमेशा ऊपर ऊपर उड़ने की कोशिश करते हैं। वे इन विकृतियों को ही यथार्थ मान कर यथार्थवाद से घृणा करने लगते हैं । दूसरे वे व्यक्तिवादी हैं जो इन्हीं विकृतियों को समाज का यथार्थ मानकर उनका चित्रण करते हैं और सबसे बड़ा यथार्थवादी होने का दम्भ भरते हैं । यहीं मार्क्सवादी दृष्टिकोण की आवश्यकता पड़ती है । उस दृष्टिकोण के प्रकाश में यथार्थ को देखने वाले इस प्रकार की भ्रांतियाँ न कर युग के 'बुनियादी सत्यों' को ग्रहण करते हैं । वे बुनियादी सत्य क्या हैं ? प्रत्येक युग में दो शक्तियाँ काम करती हैं—मरणोन्मुख पुरानी शक्तियाँ, नवीन जीवन्त शक्तियाँ । नवीन जीवन्त शक्तियाँ पुरानी को नष्ट कर एक नवीन जन-मंगल शाली समाज की स्थापना की कोशिश करती हैं । पुरानी शक्तियों में शोषक होते हैं और नवीन शक्तियों में शोषित गरीब मजदूर किसान । ऊपरी सतह पर तो पुरानी शक्तियों की विकृतियाँ उतरायी रहती हैं लेकिन उसके नीचे नवीन शक्तियाँ धीरे-धीरे उन्हें काटती रहती हैं । ये शक्तियाँ व्यक्ति की नहीं समाज की होती हैं और उनमें पीड़ा और अभाव के साथ ही साथ जिन्दगी का अडिग विश्वास और भविष्य की सुन्दर आकांक्षा होती है । इन अनेक बुनियादी तत्त्वों को ग्रहण करने वाला ही सच्चा यथार्थवादी है । ऐसा ही साहित्य अपने युग की वास्तविकता का सच्चा प्रतिनिधि होता है और भावी युगों के साहित्यों के लिए भी प्रेरणा स्रोत होता है । "प्राचीन काल में लिखी गयी पुस्तकें जो अपने काल के जीवन की सतह का ठीक चित्रण करती थीं और जो आज हमारे अनुभव-सिद्ध जीवन

के बारे में हमें कुछ नहीं बतातीं साहित्य के नाते मृत हैं चाहे ऐतिहासिक लेख्य पत्र के रूप में उनका महत्व भले ही हो। तथापि अतीत में जिस पुस्तक ने जीवन की सतह के नीचे काम करने वाली शक्तियों को प्रतिबिम्बित किया है वह बहुत संभव है हमारे आज के बुनियादी यथार्थों के बारे में भी महत्वपूर्ण बातें बता सकें। सतह के ऊपर गति नीचे से अधिक क्षिप्र होती है और जितनी ही गहराई से किसी लेखक की अन्तर्दृष्टि सतह भेद कर नीचे पहुँचेगी उतने ही दीर्घकाल तक उसकी कृति परिवर्तनशील यथार्थ जगत के प्रति बासी पुरानी नहीं पड़ेगी[1] ।"

इस प्रकार प्रगतिवादी समीक्षा का प्रमुख मानदण्ड यही है कि रचना में सामाजिक यथार्थ की अभिव्यक्ति हो। ऊपर की व्याख्या से स्पष्ट है कि सामाजिक यथार्थ में पुरानी शक्तियों के अत्याचार और कुरूपताएँ तथा उनसे युद्ध करती नवीन शक्तियों के दुःखदर्द, सामूहिक विश्वास और संघर्ष तथा भविष्य के प्रति अडिग आस्था ये सभी बातें मिली जुली है। प्रगतिवाद, जिसका दर्शन मार्क्सवाद है भिन्न-भिन्न युगों के साहित्यों को उन युगों की वास्तविकताओं के आधार पर परीक्षित करता है। भिन्न-भिन्न युगों के संघर्षों और सामाजिक सम्बन्धों की रूप-रेखाएँ भिन्न-भिन्न होती हैं उस युग का साहित्यकार अपने युग के ही सम्बन्धों और जन-विश्वासों को व्यक्त कर सकता है। लोग यह गलत समझते हैं कि प्रगतिवाद आज के संघर्षों की ही गन्ध अतीत में ढूँढ़ता फिरता है और वह गन्ध न पाकर अतीत के साहित्यों को रद्दी की टोकरी में फेंक देना चाहता है। बल्कि इसके विपरीत वह हर युग की सीमाओं के अंतर्गत ही उस काल के साहित्य की परीक्षा करता है, उसमें वह शाश्वत चिरन्तन सार्वभौम जैसे वायवी सत्यों की खोज के फेर में न पड़कर ठोस प्रत्यक्ष सामाजिक सत्यों का अनुसंधान करता है, वे सत्य अपने युग की सीमाओं से बँधे होते हैं। तत्कालीन दर्शन, साहित्य और कला का स्वरूप इन्हीं सीमाओं के अन्तर्गत ही निर्मित होता है। प्रत्येक युग के पास अपनी समस्याओं को देखने का उस काल तक का विकसित दर्शन या दृष्टिकोण होता है। साहित्यकार अपने समाज और युग की नवीन सामाजिक जागृति और उसके अनेक पहलुओं का चित्र उतारता है। प्रगतिशील

---

[1] साहित्य की मार्क्सवादी व्याख्या, हंस प्रगति अंक, एडवर्ड अपवर्ड।

साहित्य समाज के इन युगीन सम्बन्धों को छोड़कर हवा में शाश्वत महल बनाने वाले साहित्य को नकली और निर्जीव मानता है। यदि कोई शाश्वत वस्तु है तो यही कि नवीन सामाजिक मानवता सदैव पुरानी जर्जर दानवी भावनाओं से युद्ध करती है। और विभिन्न युगों की ये ही सामाजिक मानवता की भावनाएँ परंपरा का निर्माण करती हैं इसी युगीन मानवता में आगे आने वाले युगों के मनुष्यों को भी शक्ति और सौन्दर्य प्रदान करने की क्षमता होती है।

प्रगतिशील आलोचना आज की बुनियादी शक्तियाँ उन्हें मानती है जो पूंजीवाद को नष्ट कर समाजवाद स्थापित करने के लिये प्रयत्नशील हैं। "अतः वह समझता है कि कोई आधुनिक पुस्तक तब तक जीवन के प्रति सच नहीं हो सकती जब तक वह कम व वेश स्पष्ट रूप से मौजूदा समाज के ह्रास और जन क्रान्ति की अनिवार्यता न माने[१]।" आज के युग में मार्क्सवाद के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का सिद्धान्त विकसित हो चुका है उसने सिद्ध कर दिया है कि संसार की सृष्टि और संचालन किसी अज्ञात दैवी सत्ता द्वारा नहीं होता वरन् स्वयं प्रकृति की अपनी ही द्वन्द्वात्मक प्रकृतियों द्वारा होता है। इस भौतिकवाद ने पिछले अध्यात्म-वादी दर्शनों को निर्मूल सिद्ध कर दिया है। यह भौतिकवादी दृष्टिकोण अपनाना आज के साहित्यकारों के लिये आवश्यक है किन्तु प्रगतिवाद पिछले साहित्यों में इसी दृष्टिकोण को नहीं खोजता वरन् वह ऐतिहासिक व्याख्या करता है।

प्रगतिवाद की विचारधारा मूलतः मार्क्सवादी दर्शन द्वन्द्वात्मक भौतिक-वाद से प्रभावित है। अतः प्रगतिवादी समीक्षा अतीत के साहित्य ग्रंन्थों की परीक्षा करती तो अवश्य है और बहुत श्रद्धा के साथ करती है किन्तु कोरे-कोरे रस और चमत्कार की कसौटी पर नहीं बल्कि उन ऐतिहासिक सामाजिक सत्यों के आधार पर जिनसे ये रस चमत्कार और सौन्दर्य उद्भूत होते हैं। "जहाँ यह सत्य है कि वाह्य परिस्थितियों से साहित्य अनेक स्वस्थ और अस्वस्थ प्रभाव ग्रहण करता है वहाँ यह भी उतना ही सत्य है कि ये प्रभाव साहित्य की ऐतिहासिक परंपराओं के माध्यम से जीवन के अगणित संबंधों को ग्रहण करके ही व्यक्त होते हैं और इस

---

[१] साहित्य की मार्क्सवादी व्याख्या, हंस प्रगति अंक एडवर्ड अपवर्ड।

प्रकार एक ओर वे साहित्य की परंपरा को बदलते हैं तो दूसरी ओर साहित्य के इतिहास की तारतम्यता और संबद्धता को पुष्ट करते हैं[१] ।" पिछले युगों की चिंता का स्वाभाविक परिणाम अध्यात्म के रूप में ही उपलब्ध था अतएव अध्यात्मवादी दृष्टिकोण से लिखित साहित्य को वह उपेक्षा की दृष्टि से नहीं देखता । हाँ, इतना अवश्य है कि उच्च कोटि के पुराने साहित्य अध्यात्मवादी दृष्टिकोण से जन चेतना को ही मुखर करने का प्रयास करते थे जो साहित्य अध्यात्म की आड़ में शोषकों की अत्याचारमूलक वर्ग चेतना का समर्थन करते थे वे प्रगतिवाद की दृष्टि में हेय हैं चाहे उनमें कितना ही वाह्य सौन्दर्य क्यों न हो ।

प्रगतिवाद साहित्य को वर्ग चेतना की अभिव्यक्ति मानता है । इसका अर्थ यह है कि साहित्यकार का संबंध जिस वर्ग से होगा उसी की प्रतिध्वनि उसके साहित्य में मिलेगी । कवि जिस वातावरण में पलता है उसी का संस्कार उसके हृदय में बद्धमूल होता है । इसीलिए वह अपने साहित्य में अपने संस्कारों से आगे नहीं बढ़ पाता । शोषकों के वर्ग से संबंध रखने वाला साहित्यकार उसी प्रकार की बात करेगा और जन सामान्य के बीच पलने वाला और लिखने वाला साहित्यकार जन सामान्य की चेतना को स्वर देगा । इसीलिए यह आवश्यक होता है कि साहित्यकार जीवन्त और ताजा साहित्य रचने के लिए जन सामान्य के साथ अपना रागात्मक संबंध बनाये रखे । हाँ, कुछ महान साहित्यकारों के लिए अवश्य ही कोई इस प्रकार का कठोर नियम नहीं बनाया जा सकता । उनके हृदय में ऐसी उदात संवेदनशीलता होती है जो सीमित वर्ग चेतना की सीमा तोड़ कर संपूर्ण मनुष्यता की भावना भर लेती है । लेकिन वे अपनी सामग्री अपने समाज से ही लेते हैं । प्रगतिशील विचार धारा का ऐसा विश्वास है कि नया समाजवाद स्थापित होने से वर्ग-भेद मिट जायगा और एक वर्गहीन समाज की स्थापना होगी । तब साहित्य का स्वर भी उसी प्रकार वर्ग-भावना हीन होगा ।

जाग्रत समाज में साहित्य भी जाग्रत होता है । स्थिति-शील मन्द और ह्रासोन्मुख समाज में साहित्य का उच्च स्वर सुनने में नहीं आता । 'काडवेल के अनुसार महान कविता केवल वे ही लिख सकते हैं जो

---

१ साहित्य की परख, श्री शिवदान सिंह चौहान पृ० २१-२२ ।

आजाद है (इल्यूजन एण्ड रियलिटी पृ० ३६)। सामन्त वर्ग अपेक्षा कृत आजाद है अतएव वह महाकाव्यों की सृष्टि करता है शोषित शूद्र और दास केवल दन्त कथाओं, लोक गीतों, भजन जैसे गौण साहित्य को जन्म देते हैं। सामन्ती युग में कविता की भाव संपदा और आंगिक में महत्व-पूर्ण विकास होते हैं किन्तु दास प्रथा पर अवलंबित मिश्र, चीन, भारत, ग्रीस इत्यादि की सामन्ती सभ्यता जब पतनोन्मुख हुई तब उनकी कला का भी सैकड़ों वर्ष तक ह्रास होता रहा (वही पृ० ३३)[१]। यह मत उन लोगों के विचारों का प्रतिवाद करता है जो दुःखों और अभावों में ही उच्च साहित्य की सृष्टि स्वीकार करते हैं और जो प्रकारान्तर से समाज की विषमता और विपन्नता पर ईश्वरेच्छा की मुहर लगा कर उसे बनाये रखना चाहते हैं। ऊपर के कथन का स्पष्ट अभिप्राय यह है कि उन्नत और सुसंस्कृत समाज में ही उन्नत साहित्य की रचना संभव है। अपढ़ दीनहीन विपन्न वर्ग निश्चय ही अपने भावों को व्यक्त करते हैं लेकिन उनके साहित्य सामाजिक व्यापकता, कलात्मक सौन्दर्यों और मानसिक स्वच्छन्दता की संपूर्णता को समेट नहीं पाते। पतनोन्मुख समाज के उच्च वर्ग भी (जिनका सौन्दर्य बोध जाग्रत तो है लेकिन नया नही पुराना है) सुन्दर साहित्य नही दे पाते। सुन्दर साहित्य का निर्माण स्वतंत्र जागरूक समाज या स्वतंत्रता की चेतना से ऊष्म और उसके लिए संघर्ष करते हुए समाज में ही संभव है। प्रगतिशील समीक्षा किसी काल और समाज के साहित्य की परीक्षा करते हुए समाज की इस रूप रेखा की भी परीक्षा करती है। प्रगतिवादी समीक्षा ने शुद्ध रसवाद, भाववाद का विरोध कर उनके प्रेरणा स्रोतों पर विचार किया। शुद्ध रसवादी पाठकों के हृदय में रस संचार करने के लिए अनुकूल आलम्बनों का चित्रण करना अलम् समझते थे और इसी में साहित्य की चरम सार्थकता स्वीकार करते थे। प्रगतिवादी समीक्षा ने ऐसे साहित्य को निष्क्रिय माना और उसने साहित्य का लक्ष्य माना संवेदनशीलता और चित्रात्मकता के माध्यम से ह्रासशील समाज की कुरूपता और गतिशील समाज के जीवन्त विश्वासों और उठती हुई आस्थाओं का स्वरूप उद्घाटित करना, संघर्ष करती हुई जनता को नव समाज-निर्माण के लिए विश्वास

---

[१] अवन्तिका, आलोचनांक, पृ० २८२।

देना । इसीलिए उसने व्यक्तिवादी दर्शन को पतनोन्मुख मध्यम वर्ग के लोगों की मानसिक विकृति मानकर अस्वीकार किया ।

प्रगतिवादी समीक्षा ने सौंन्दर्यबोध की व्याख्या परिवर्तशील समाज के परिवर्तनशील हृदय की सापेक्षता में की । व्यक्ति का सौन्दर्यबोध फ्रायड आदि मनोवैज्ञानिकों की दृष्टि में कामवासना युक्त होता है । व्यक्ति के सारे सम्बन्ध कामवासना के ही सूत्र में बँधे होते हैं व्यक्ति जहाँ कहीं भी सौन्दर्य देखता है उसमें उसकी वासना लिपटी रहती है । अध्यात्म-वादियों ने सौन्दर्य का दर्शन इस लोक में नही, उस लोक में किया । यहाँ का सारा सौन्दर्य मिथ्या है क्षणिक है । पूर्ण सौन्दर्य तो उसी लोक की वस्तु है । समाज की गतिशीलता में विश्वास न करने वाले शाश्वतवादी कुछ गिनी-गिनायी वस्तुओं में ही सौन्दर्य देखते रहे और वह भी विशेषतया प्रकृति के क्षेत्र में ही । सामन्तवाद और पूँजीवाद के अभिजात वर्गीय कवि अभिजात वर्गों में ही सौन्दर्य देखते रहे । कलावादी कवि इस संसार से दूर किसी कल्पना लोक में सौन्दर्य खोजते रहे । प्रगतिवादी समीक्षा ने जनता में सौन्दर्य खोजा । हमारा सौन्दर्यबोध परिस्थितियों और सामाजिक सम्बन्धों से बनता है । आज भौतिकतावादी दृष्टिकोण ने अध्यात्म के अज्ञात लोक के अस्तित्व का भ्रम मिटा दिया है हमें इसी संसार में जन्म लेना है, बढ़ना है, मरना है, यहीं का जीवन हमारी चरम प्राप्ति है ऐसा विचार करने वाला भौतिकवाद इसी संसार में सौन्दर्य खोजता है । प्रगतिवाद द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद पर आधारित है । अतः वह सौन्दर्य को इसी जीवन की वस्तु मानते हुए भी उसे व्यक्ति-व्यक्ति की अपनी रुचि और शाश्वत के हवाले नहीं करता । वह वर्तमान जन जीवन में सौन्दर्य खोजता है । सौन्दर्य का सम्बन्ध हमारे हार्दिक आवेगों और मानसिक चेतना दोनों से होता है । इन दोनों का सम्बन्ध सामाजिक सम्बन्धों से होता है । फ्रायड के सिद्धान्त के अनुकूल व्यक्ति अपने जीवन के समस्त कार्यों का प्रेरणा-स्रोत अपने अवचेतन में खोजता है और समाज उसके लिए एक बन्धन मालूम पड़ता है किन्तु प्रगतिवाद समाज में—वह भी नये समाज में—सौन्दर्य देखता है । नये समाज में पलने वाला अथवा उसके साथ चलने का प्रयास करने वाला नए उठते हुए समाज में सौन्दर्य देखेगा, वह संघर्षों से भाग कर किसी

अतीत लोक या कल्पनालोक के निष्क्रिय सौन्दर्य में मुँह छिपाकर प्रतिक्रियावाद का स्वर नहीं मुखर करेगा।

प्रसिद्ध मार्क्सवादी रसियन दार्शनिक एन० जी० चरनीशवस्की ने हीगेल के सौन्दर्य सिद्धान्त और उसके विकास[१] की कड़ी परीक्षा कर उसकी कमियों का उद्‌घाटन किया और सौन्दर्य के सम्बन्ध में अपना स्पष्ट सुलझा हुआ मार्मिक विचार व्यक्त किया। "मनुष्य को जीवन सबसे प्यारा है इसीलिए सौन्दर्य की यह परिभाषा अत्यन्त संतोषजनक मालूम पड़ती है। सौन्दर्य जीवन है।"

"सुन्दर वह वस्तु है जिसमें हम जीवन देखते हैं वह जीवन जो हमारे विचारों के अनुकूल हो। सुन्दर वह वस्तु है जो जीवन को अभिव्यक्त करता है या हमें जीवन का स्मरण दिलाता है[२]।"

जहाँ जीवन होता है वहीं मनुष्य सौन्दर्य देखता है। जीवन के रूप भिन्न-भिन्न वर्गों में भिन्न-भिन्न होते हैं अतएव ग्रामीणों और नागरिकों की सौन्दर्य-दृष्टि में भेद होता है। ग्रामीण नारियों का जीवन शारीरिक श्रम से सम्बद्ध है शारीरिक श्रम (थकाऊ शारीरिक श्रम नहीं) से शरीर मांसल और रक्तिम होता है। लोक गीतों में इसी प्रकार के सौन्दर्य की अभिव्यक्ति मिलती है। नागरिक नारियों का जीवन शारीरिक श्रम से विशेष सम्बद्ध नहीं होता। यदि उनके पास खाने पीने की कमी नहीं है तो वे आलसी होती है और उनका शरीर दुबला पतला होता है लेकिन हर एक पढ़ा लिखा व्यक्ति यह अनुभव करता है कि सही जीवन हृदय

---

[१] 'The complete correspondence of an object the idea'. 'that being is beautiful in which the idea of this being is fully expressed'.
'Beauty is the perfect manifestation of the idea in a single object.
(Aesthetic relation of art to reality).

[२] 'Beauty is life'
Beauteful is that being in which we see life as it sound be according to our conceptions, beautiful is the object whieh expresses life or reminds us of life.

ileid—

और मस्तिष्क का जीवन होता है और यह अपनी छाप किसी के चेहरे की अभिव्यक्ति पर छोड़ता है और विशेषतया आँखों में। इसीलिए मुखीय अभिव्यक्ति—जिसकी चर्चा लोक गीतों में नहीं होती है—पढ़े लिखे व्यक्तियों की सौन्दर्य दृष्टि के निर्माण में विशेष महत्व रखती है। आज की प्रगतिवादी समीक्षा उसी साहित्य में सौन्दर्य देखती है जो नए समाज के जीवन्त विश्वासों और संघर्षों की अभिव्यक्ति करता हो अर्थात् उसमें जीवन की ताजगी हो। निश्चय ही प्रतिक्रियावादी अपने प्राचीन मृत समाज में ही सौन्दर्य खोजने की चेष्टा करेगा। समाज के सम्बन्धों के अतिरिक्त मनुष्य प्रकृति के उपादानों में जो सौन्दर्य देखता है वह भी इसीलिए कि उनमें जीवन की नित नूतनता होती है।

प्रगतिवादी समीक्षा के सम्बन्ध में यह भ्रान्त प्रचार किया जाता है कि वह साहित्य को प्रचार के रूप में देखना चाहती है। प्रगतिवादी समीक्षा प्रचार का समर्थक नही वह वास्तविकता के चित्रण का पक्षपाती है। वास्तविकता को हम विभिन्न माध्यमों से व्यक्त करते हैं और उन्हीं माध्यमों में से साहित्य भी एक है। साहित्य भावों, आवेगों, रागात्मक सम्बन्धों और कला के सहारे यथार्थ की अभिव्यक्ति करता है। इस यथार्थ की रूपरेखा क्या होती है इस पर हम विचार कर चुके हैं। प्रगतिबाद का अपना एक दृष्टिकोण है, उसी दृष्टिकोण से समाज को देखता है—साहित्य में प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से यह दृष्टिकोण दिखाई पड़ता है। लेकिन दृष्टिकोण किस वाद में नही होता ? सभी वाद कोई न कोई मत लेकर चलते हैं। वह चाहे वीरगाथा काल की रचनाएँ हों, चाहे भक्तिकालीन रचनाएँ हों, चाहे छायावादी रचनाएँ हों सबका कोई न कोई दृष्टिकोण था। यदि दृष्टिकोण ही प्रचार है तो प्रगतिवाद सबसे उदार, वैज्ञानिक और जन-मंगलकारी प्रचार है।

प्रचार बुरा नहीं है यदि वह जनहित में हो और वास्तविकता के आधार पर हो और सबसे बड़ी बात यह कि साहित्य में वह उभर कर न आया हो। प्रगतिवादी समीक्षा साहित्य में प्रचार का ढिढोरा पीटना पसन्द नहीं करती।

"लेकिन यहाँ हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि सारे साहित्य को प्रोपैगेण्डा या सामाजिक प्रभाव का अस्त्र कह कर आज के समाज में

उसके एक महत्वपूर्ण संविधायक पहलू का ही निर्देश किया जाता है और केवल इस दृष्टि से खरी उतरने वाली कोई रचना अपने में श्रेष्ठ रचना नहीं हो जाती। उसकी श्रेष्ठता का निरूपण करते समय उसकी सौन्दर्यानुभूति, उसकी रूप-योजना, शैली और प्रौढ़ता, वाक्य रचना, शब्द, प्रयोग आदि अनेक दूसरी कसौटियों पर भी कसना आवश्यक है और प्रगतिवादी इन सब कसौटियों पर किसी भी काव्य या साहित्य कृति का कसना आवश्यक समझते हैं उनके महत्व को जानते है यद्यपि आज के संक्रमणकाल में वे साहित्य के संविधायक पहलू को दृष्टि में रखकर उसका सामाजिक दृष्टिकोण से विवेचन करना अधिक आवश्यक समझते हैं[1]।" प्रगतिवादी समीक्षा का मत है कि कला या साहित्य को सामाजिक उद्देश्य और उपयोग से अलग नही किया जा सकता, ये दोनों उसके आवश्यक अंग हैं।

कला का वाह्य रूप उसके वक्तव्य विषय के अनुरूप होता है। उसके बदलने के साथ उसका बदलना अनिवार्य है इसलिए प्रगतिवादी समीक्षा का कला के वाह्य पक्ष के संबंध में यह स्पष्ट मत हुआ कि वह अस्पष्ट, वायवी, असामान्य, रेशमी परिधानशालिनी और रूढ़ न होकर सुस्पष्ट, सामान्य, लौकिक जीवन के विभिन्न संबंधों की तरह बहुमुखी और नवीन हो। प्रगतिवाद के आन्दोलन के आरंभ में भाषा-शैली की यह स्पष्टवादिता अतिवादिता को पहुँच कर व्याख्यान की भाषा की तरह सपाट हो गयी उसमें अभिधा के लम्बे प्रसार के अतिरिक्त भाषा की विकसित अन्य शक्तियों का दर्शन कम मिलता है। शैली सांकेतिक और चित्रात्मक न होकर उपदेशात्मक हो गयी। इस प्रकार काव्य का कलात्मक सौन्दर्य निखर नहीं पाया। लेकिन यह दृष्टिकोण का दोष नही था, यह उस दृष्टिकोण को न समझ सकने का परिणाम था और छायावादी शैली की अतिसूक्ष्मता की प्रतिक्रिया भी थी, नवीन शैली का इसे अनगढ़पन भी कह सकते हैं। छायावाद के कवि प्रगतिशील बनने के चक्कर में अराजक बन कर विध्वंस को ललकार रहे थे, इस ललकार में जन-जीवन की वास्तविक चेतना, नव समाज-सृजन की पीड़ा नहीं थी, वैयक्तिक आवेश का विनाशकारी वेग ही प्रमुख था। इनके

---

[1] प्रगतिवाद, श्री शिवदान सिंह चौहान, पृ० २१।

सामने न कोई दृष्टिकोण था न जन जीवन का अध्ययन—कुछ था तो बस केवल रहे सहे समाज को तोड़-फोड़ डालने का उतावलापन । सलिए इन कवियों की शैली जब अपने प्राचीन वैभव से उतर कर इस विध्वंस क्षेत्र में आयी तो कला का दामन उससे छूट गया । ललकार के रूप में भाषाशैली का भोंड़ा विस्तार रह गया । लोग इन कविताओं को भी प्रगतिशील कह कर इनका सारा दोष प्रगतिशील साहित्य के मत्थे मढ़ देते हैं । किन्तु इन्हें यदि अलग कर दें तो भी समाज निर्माण की चेतना से लिखने वाले पहले के प्रगतिशील कवियों में इस अभिधात्मक विस्तार का अभाव नही है यद्यपि विध्वंसकारियों की अपेक्षा कम है । दूसरे यह कि विध्वंसकारियों के शब्द नवीन चेतना के अनुरूप न होकर उसी पुराने छायावादी ढाँचे में ढले हुए थे—हाँ, अब वे कोमल न होकर कठोर थे—लेकिन सर्जनात्मक कविताएँ लिखने वाले जन सामान्य के आस-पास की सहज भाषा में लिखने का प्रयास कर रहे थे । जो भी हो इन कविताओं में सहजता है, सरलता है, सामान्यता है किन्तु यह हम कह सकते हैं कि भाषा शैली और शिल्प का जितना विकास अब तक हो चुका था उसे समेटने की भावना का नमें अभाव लक्षित होता है । इसका कारण ऊपर बताया जा चुका है । किन्तु यह दोष प्रगति-शील साहित्य के मानदण्ड का नही है यह दोष एक नये उगते हुए जन-साहित्य की प्रारंभिक साधना का है । प्रारंभ का आवेग अब शान्त हो चुका है । चंचल लहरों को समेट कर ये छोटी-छोटी क्षिप्रधाराएँ एक अतल गंभीर महासिन्धु के रूप में परिणत हो रही है । आज का प्रगतिशील लेखक बड़ी गंभीरता और मनोयोग से समाज के भीतर घुस कर उसके विविध सत्यों के उद्‌घाटन की ओर उन्मुख है । उसके संमुख नये समाज-निर्माण का आदर्श है लेकिन यह उसे यों ही चिल्ला-चिल्ला कर पुकार नहीं रहा है वरन् वह विविध गहन मानवीय संवेदनाओं और विभिन्न सामाजिक संबंधों के गंभीर चित्रणों के बीच से ध्वनित कर रहा है । इसलिए उसकी भाषा, उसका शिल्प-विधान, उसकी वाह्य साज-सज्जा सभी धरातल के हैं, जन सामान्य के बीच के हैं लेकिन उनमें पहले का सा विखराव और वक्तव्य नहीं वरन् कला का संयम, मूर्तिमत्ता और संकेत है, परंपरागत विकसित शिल्प सौन्दर्य को अपनाने की भावना और नया सौन्दर्य जोड़ने की लालसा लक्षित होती है । आज के गंभीर प्रगतिशील समीक्षक पहले वाली प्रगतिशील शिल्प-पद्धति पर चलने वाले

लेखकों को सच्चे अर्थों में प्रगतिशील और कलाकार दोनों नहीं कहते। यह दूसरी बात है कि आज भी बहुत से ऐसे समीक्षक और कृतिकार बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव से विद्यमान हैं।

प्रगतिशील समीक्षा छन्द, अलंकार, भाषा, शैली को जन सामान्य के बीच से ग्रहण करने की प्रवृत्ति जगाती है। लोक जीवन के बीच से ली गयी उपमायें, भाषा की सहजता, शैली का प्रवाह और लोक गीतों की धुन, ताजगी और जीवन्त शक्तियों से भरी होती है जनता को प्रभावित करने की उनमें शक्ति होती है और इसीलिए उनमें अमरता के तत्त्व भी अधिक होते हैं।

प्रमुख प्रगतिवादी समीक्षक

श्री शिवदान सिंह चौहान

प्रारंभ में हिन्दी की प्रगतिवादी धारा से प्रभावित होने वाले और अपने विचारों और रचनाओं से उसे प्रभावित करने वाले जिन साहित्यकारों का नाम उल्लेख्य है वे हैं सर्वश्री प्रेमचन्द, सुमित्रानन्दन पन्त, निराला, राहुल सांकृत्यायन, भगवतशरण उपाध्याय, शिवदान सिंह चौहान, राम-विलास शर्मा और प्रकाशचंद्र गुप्त आदि। इनमें प्रेमचन्द, सुमित्रानन्दन पन्त, निराला का कार्य मुख्यतः रचनात्मक था। राहुल जी ने अपने विचारों और रचनाओं दोनों में समान भाव से कार्य किया किन्तु उनकी विचार प्रधान कृतियाँ साहित्यिक समालोचना के अन्तर्गत प्रायः नहीं आती उनका संबंध मुख्यतः इतिहास और दर्शन से है। भगवतशरण जी के संबंध में भी यही बात सत्य है। शिवदान सिंह चौहान, रामविलास शर्मा, प्रकाशचन्द्र गुप्त ऐसे प्रगतिशील साहित्यकार हैं जो हिन्दी के प्रगति-शील आन्दोलन के लगभग प्रारंभ से ही उसके साथ हैं और जिनका मुख्य क्षेत्र समालोचना है।

शिवदान सिंह चौहान ने प्रेमचन्द के बाद प्रगतिशील पत्र 'हंस' का संपादन संभाला और अपने संपादन और निबन्धों से प्रगतिशील विचार

धारा को स्पष्ट किया। हंस का 'प्रगति अंक' (सं० १९४३) इस दिशा में एक महत्वपूर्ण प्रयास था।

श्री चौहान का प्रगतिशील दृष्टिकोण स्पष्ट और स्वस्थ है, साहित्य का अध्ययन गंभीर है, कलात्मक रुचि परिष्कृत है। इसीलिए चौहान की समीक्षाओं में प्रगतिवादी दृष्टिकोण के रूखे-सूखे अभिव्यंजन का पिटा-पिटाया आदेश नहीं रहता, वे सौन्दर्यानुभूतियों, मानव की सहज संवेदनाओं, विकसित कलात्मक उपलब्धियों की मांसलता साहित्य में देखने के पक्षपाती हैं इसलिए एक ओर उनकी समीक्षा में प्रगति की संभावनाएँ बराबर बनी रहती हैं दूसरे अतीत के साहित्य के प्रति अन्याय नहीं हो पाता। उनकी आलोचना संकीर्णता से बच जाती है।

प्रगतिवादी आन्दोलन केवल एक मत-प्रचार का आन्दोलन नहीं है वह एक वैज्ञानिक और विश्वजनीन दृष्टिकोण है जो वर्तमान में एक जनवादी समाज की स्थापना करने के लिए प्रयत्नशील तो है ही साथ ही साथ वह इतिहास की सही व्याख्या प्रस्तुत करता है, समाज के अनेकानेक संबंधों में अन्तर्निहित मूलाधार का अन्वेषण करता है, वह स्थूल और सूक्ष्म, भूत और चेतना सभी वस्तुओं को अलग-अलग न देखकर एक ही तरंग प्रवाह (प्रोसेस) में देखता है। श्री चौहान प्रगतिवाद के इस उदात्त स्वरूप से परिचित हैं। "साहित्य या कला मनुष्य की संस्कृति का सर्वोत्कृष्ट या सार भाग है। केवल इतना ही नहीं, युग युगान्तर से व्यष्टि और समष्टि, आत्म और परिवृत्ति में जो भौतिक प्रगतिमूलक क्रिया प्रतिक्रियात्मक संघर्ष अनवरत चलता आया है और चलता जायगा और जिसके परिणाम स्वरूप ही मनुष्य का सामाजिक जीवन वर्धमान है और मनुष्य का पूर्ण आत्म विकास संभाव्य बना है—इस महान संघर्ष का मनुष्य ने किस प्रकार सामना किया है, कैसे निरन्तर घटित होने वाले असामंजस्य और वैषम्य का विरोध करके उसने नित नूतन जीवनप्रद संतुलन प्राप्त किया है और करता जा रहा है—इस समस्त मानवीय कृतित्व और तज्जनित मानव मूल्यों के निर्माण का इतिहास, मनुष्य की समस्त विकासोन्मुखी सचेतन अवचेतन प्रचेष्टा और परिणाम का विविध भाव, वर्ण, रूप, रस, गन्धमय अनुभव कला और साहित्य में अपनी विशिष्ट मूर्तिमत्ता के साथ प्रतिबिम्बित है। निरपवाद रूप से व्यक्ति और समाज दोनों की भावी प्रगति के योग-क्षेम की दृष्टि से जैसे कला और साहित्य

का नव निर्माण प्रयोजनीय है वैसे ही उसके व्यापक मानव मूल्यों का निर्धारण भी उतना ही प्रयोजनीय है[१] ।"

साहित्य को इतनी व्यापक और गतिशील सामाजिक भूमिका पर देखने वाले समीक्षक के लिए यह स्वाभाविक है कि वह केवल 'रसवाद' को साहित्यिक समालोचना का मानदण्ड मानने से अस्वीकार करे । चौहान के रसवाद, मनोविज्ञान वाद, प्रभाववाद आदि आलोचना और रचना के दृष्टिकोणों का उनकी एकांगिता के कारण समर्थन नहीं किया है । प्रगति वाद के समर्थक होकर भी चौहान उसकी खामियों के प्रति सावधान हैं । वे प्रगतिवाद के नाम पर सामयिक आन्दोलन को लिपिवद्ध करने वालों और कुत्सित समाजशास्त्रियों को प्रगतिवाद की संकीर्ण सीमा के रूप में स्वीकार करते हैं । "कुत्सित समाज शास्त्रीयता केवल प्राचीन लेखकों का ही एक सीमा तक सही मूल्यांकन कर पाती है, यद्यपि इसमें भी अपने दृष्टिकोण की यान्त्रिकता के कारण वह लेखकों को इस वर्ग या उस वर्ग का लेखक सिद्ध करने की समस्या से ही अधिक जूझती रहती है और अवसर के अनुकूल कतिपय पंक्तियों के आधार पर ही उन्हें प्रगतिशील या प्रतिक्रियावादी सिद्ध करती रहती है । आधुनिक साहित्य का मूल्यांकन करने में वह नितान्त असमर्थ है क्योंकि वह किसी रचना के सामयिक महत्व को ही उसके स्थायी सौन्दर्य का पर्यायवाची स्वीकार करती आयी है[२] ।"

ये कुत्सित समाजशास्त्री जब प्राचीन लेखकों के सम्बन्ध में लिखते हैं तब उनके मापदण्ड कुछ होते हैं जब जीवित लेखकों के सम्बन्ध में लिखते हैं तब कुछ और, और फिर लेखक-दर-लेखक ये मापदण्ड बदलते जाते हैं। इसके अतिरिक्त देश की तीव्र गति से बदलती हुई राजनीतिक परिस्थिति के साथ-साथ भी इन मापदण्डों को बदलना पड़ता है । परिणाम यह होता है कि एक लेखक कल तक प्रतिक्रियावादी था आज किसी विशेष घटना के बारे में एक तुच्छ रचना करके तुरन्त प्रगतिशील बन जाता है, दूसरा लेखक जो कल तक युग प्रवर्तक और प्रगतिशील था इनकी दृष्टि से एक प्रतिकूल रचना करके या केवल बातचीत में ही प्रतिकूल

---

[१] साहित्य की परख, श्री शिवदान सिंह चौहान, पृ० २ ।

[२] वही पृ० २४ ।

विचार प्रकट करके युग विध्वंसक और प्रतिक्रियावादी बन जाता है। चौहान ने इन सीमाओं के निर्देश के साथ ही साथ प्रगतिशील समीक्षा के सही स्वरूप पर भी विचार किया है। "प्रगतिवाद यदि किसी लेखक के सामाजिक सूत्रों को प्रकाश में लाता है अर्थात् उन सामाजिक परिस्थितियों का विश्लेषण करता है जिन्होंनें लेखक को एक विशेष प्रकार से प्रभावित करके अपनी रचना के लिए प्रेरित किया तो वह उस रचना द्वारा समाज की बदलती परिस्थितियों पर पड़े प्रभावों का भी मूल्यांकन करता है। × × × साहित्य या कला की कोई कृति अपने समय की वास्तविकता का निष्क्रिय प्रतिबिम्ब मात्र नहीं होती जिस प्रकार आइने में पड़ा प्रतिबिम्ब होता है बल्कि वह समाज या मनुष्य के अहं (भाव-चेतना) का परिवर्तित परिस्थितियों में भिन्न-भिन्न प्रभाव डाल कर परिष्कार भी करती रहती है अर्थात् उसे बदलती रहती है। इसी कारण उस रचना का सौन्दर्य या मूल्य सामाजिक परिस्थितियों की अपेक्षा अधिक स्थायी होता है[१]।"

इस प्रकार श्री चौहान ने कलावादियों के एकांगी दृष्टिकोण और समाजवादियों की अधकचरी समझ दोनों का विरोध कर प्रगतिवाद के उस स्वरूप का समर्थन किया जो साहित्य और कला में अभिव्यक्त अतीत और वर्तमान, समाज और व्यक्ति, प्रगति और परम्परा; विषय और शैली म व्याप्त एक सूत्रता का दर्शन और परीक्षण करता है, यहाँ का कंकड़ वहाँ का रोड़ा बटोर कर एक लचर समन्वय नहीं स्थापित करता।

प्रगतिवाद को अनेक समालोचक एक विशेष पाश्चात्य दृष्टिकोण समन्वित वाद मान कर उसे संकीर्ण और विदेशी कह कर भर्त्सना करते हैं। चौहान जी ने प्रगतिवाद निबन्ध में यह प्रतिपादित किया है कि साहित्य की विचार धारा किसी एक दार्शनिक सिद्धान्त को अपना आधार मानती रही हो यह नयी बात नहीं है। हाँ, प्रगतिवाद अपने पूर्व के आध्यात्मिक आदर्श प्रधान दार्शनिक आधारों के स्थान पर द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद को आधार मानता है। चूंकि अपने यहाँ ऐसी कोई आधार भूमि नहीं रही है इसीलिए प्रगतिवाद वर्जित है ऐसा सोचना गलत होगा। इसे पश्चिम की वस्तु मान कर अपने यहाँ के लिए गर्हित मानना भी

---

[१] साहित्य की परख, श्री शिवदान सिंह चौहान, पृ० १९-२०।

अनुचित होगा। "यह गलत है क्योंकि समाज के परिवर्तन के साथ-साथ समाज की मानसिक संस्कृति में भी पतिवर्तन हो जाते हैं और आज जब पूँजीवाद की सामूहिक उत्पादन प्रणाली ने विश्व की साधारण समस्याओं को एक कर दिया है तब हम 'पूर्व पश्चिम' 'भारतीय अभारतीय' कह कर विचारधाराओं, मनोवृत्तियों और सौन्दर्य मूल्यों को देश-काल की संकुचित परिधि में बाँध कर नहीं रख सकते। × × × इसका यह तात्पर्य नहीं कि भौगोलिक विशेषता, भाषा और जीवनयापन की परम्पराओं की विभिन्नता द्वारा उत्पन्न राष्ट्रीय विभिन्नताएँ आज नष्ट हो गयी हैं, वे हैं और समाजवाद के अन्दर राष्ट्रीय संस्कृतियाँ और भी विकसित होंगी। तात्पर्य केवल इतना ही है कि इन राष्ट्रीय संस्कृतियो की मूल प्रवृत्तियाँ (विचार वस्तु या कन्टेन्ट) एक होती जा रही है, यद्यपि उनकी अभि-व्यक्ति का कलेवर (प्रकार रूप या फार्म) राष्ट्रीय रहता है[१]।

श्री चौहान ने आधुनिक साहित्य के विभिन्न प्रकारों पर नयी दृष्टि से विचार किया है। समर्थ प्रगतिशील समीक्षक किसी भी कला कृति की समीक्षा में सामाजिक सापेक्षता का साथ नही छोड़ता। उसका मानदण्ड क्षण-क्षण, स्थान-स्थान पर बदलता नही रहता। शिवदान सिंह चौहान ने कविता, कहानी, रेखाचित्र, रिपोर्टज, समीक्षा आदि सभी साहित्य-प्रकारों पर सामाजिक दृष्टिकोण से विचार किया है। ये सभी प्रकार और भिन्न-भिन्न कालों में अभिव्यक्त इनकी भावभूमियाँ अपने-अपने समाज सम्बन्धों के सहज परिणाम हैं। श्री चौहान ने "कविता की आधुनिक व्याख्या में" कविता के स्वरूप और लक्ष्य को लेकर किये गये विभिन्न विचारों पर दृष्टिपात किया है और उनकी गहराइयों में पैठकर यह स्पष्ट करने का प्रयास किया है कि सभी प्रकार के साहित्य-सिद्धान्तों का सम्बन्ध तत्कालीन सामाजिक विकास की स्थिति से रहा है। इस क्षेत्र में प्रसिद्ध प्रगतिशील समीक्षक काडवेल इनके आदर्श रहे हैं। विभिन्न साहित्य सिद्धान्तों पर विचार करनेवाले प्रायः अपनी रुचि और लक्ष्य के अनुसार किसी एक वाद को अच्छा समाजोपयोगी और दूसरे को इसके प्रतिकूल कह कर छुट्टी पा लेते हैं किन्तु श्री चौहान ने हरएक वाद को उसके सामाजिक परिपार्श्व में देखा है और विभिन्न अस्वास्थ्यकर

---

[१] प्रगतिवाद, श्री शिवदान सिंह चौहान, पृ० १-२।

पलायनोन्मुखी चरम व्यक्तिवादी सिद्धान्तों को पतनोन्मुख समाज की सांस्कृतिक अभिव्यक्ति सिद्ध कर आज उनकी अनुपयोगिता सिद्ध की है। इसी प्रकार उन्होंने विभिन्न युगों की कविताओं को तत्कालीन समाज के पारस्परिक तथा प्रकृति के साथ के सम्बन्धों की पृष्ठभूमि पर रखकर देखा है। काव्य में प्रकृति चित्रण को भी समाज की विकासशील स्थिति के साथ-साथ परिवर्तनशील माना है।

श्री चौहान में साहित्य के विषय पक्ष और उसके कलात्मक सौन्दर्य दोनों पर विचार करने का संतुलन है। वे कुछ स्थूल दृष्टि वाले प्रगतिशीलों की तरह साहित्य को समाज का निष्क्रिय प्रतिबिम्ब नहीं मानते जिस प्रकार आइने में पड़ा प्रतिबिम्ब होता है बल्कि वह मानते हैं कि साहित्य समाज या मनुष्य के अहं का, परिवर्तित परिस्थितियों में भिन्न-भिन्न प्रभाव डाल कर, परिष्कार भी करता हैं अर्थात् उसे बदलता रहता है। इसी कारण उस रचना का सौन्दर्य या मूल्य सामाजिक परिस्थितियों की अपेक्षा अधिक स्थायी होता है।

लेखक ने विभिन्न साहित्य प्रकारों के सूक्ष्म भेदों को भी परखा है। इस प्रकार उसने कविता के मौलिक स्वरूप के संबंध में कुछ विचार निश्चित किये हैं। (१) कविता शब्दों से रची जाती है। शब्दों के दो पक्ष होते है एक तो वे प्रत्यक्ष जगत् (परसेष्चुवल वर्ल्ड) के किसी अंग का संकेत करते है दूसरे वे वास्तविकता के उस अंग के प्रति मनुष्य के अन्तर्गत के रागात्मक संबंध या दृष्टिकोण का द्योतन करते हैं। और चूंकि शब्दों का प्रयोग व्यक्ति द्वारा ही होता है इसलिए वास्तविकता के द्रष्टा के रागात्मक संबंध की भी वे अभिव्यक्ति करते हैं जिससे प्रत्यक्ष जगत में वह वर्ण, गन्ध, ताप, भाव, स्पर्श आदि का अनुभव करता है और यह एक सामूहिक अनुभव होता है। (२) कविता प्रभाव युक्त भाषा (हाइटेन्ड लेंग्वेज) है अर्थात् वह लय युक्त होती है। कविता लययुक्त इसलिए होती है कि वह मनुष्य की अन्तर्वृत्तियों और भावों में, उन सामाजिक संबंधों में जिसके द्वारा सामूहिक रूप से भाव अपनी पूर्णता प्राप्त करते हैं सूक्ष्म रूप से एक निश्चित संतुलन की अभिव्यक्ति करती है। इसलिए समाज के प्रति मनुष्य जब अपनी भावनाओं और अन्तर्वृत्तियों का नये सिरे से मूल्य आँकता है तो छन्द और लय की परंपराओं के प्रति उसका दृष्टिकोण भी बदल जाता है। (३) कविता चूंकि

उसका संगठन काल (टाइम) में नहीं वरन् देश (स्पेस) में होता है अर्थात् कविता में व्यक्त भाव ऐतिहासिक विकास क्रम के अनुसार नियोजित नहीं होते हैं जिस प्रकार उपन्यास की कथा का घटना चक्र, बल्कि उनके प्रभाव प्राचीन और अर्वाचीन भाव-धाराओं से ग्रहण किये जाते हैं इसलिए उसमें व्यक्त वाह्य वास्तविकता में तारतम्य या साम्य होना आवश्यक नहीं होता किन्तु उसमें आन्तरिक वास्तविकता अर्थात् उसके भाव और अन्तर्वृत्ति-निरूपक मनस्थितियों में तारतम्य और साम्य होता है । इससे एक बात और सिद्ध होती है कि कविता प्रतीकवादी नहीं हो सकती । क्योंकि प्रतीकवादी होकर कविता केवल ध्वनिमात्र या संगीत रह जाती है । लेकिन यद्यपि कविता में वाह्य प्रतीकत्व नहीं होता, उसमें आन्तरिक अथवा भावात्मक प्रतीकत्व अवश्य होता है अर्थात् वह भावात्मक संबंधों का संकेत करती है । × × × उसका (कविता का) अनुवाद नहीं किया जा सकता ।

कविता इन आन्तरिक दृष्टिकोणों को साधारणीकरण द्वारा व्यवस्थित कर मनुष्य के सामाजिक अहं को स्फुरित करती है । यह अहं अकेला ऐसा प्रतीक है जो समस्त आन्तरिक वास्तविकताओं को अपनी पकड़ में ले आता है । इस अहं की दृष्टि से वास्तविकता कभी ओझल नहीं होती क्योंकि जिन भावों का उद्रेक कर वह आन्तरिक वास्तविकता का संगठन परिवर्तन करता है वे वाह्य वास्तविकता के अंगों से संबद्ध रहते हैं । इसीलिए कविता मूर्त्त होती है ।

अन्त में कविता में सौन्दर्य और सत्य अवस्थित होता है अर्थात् उसके लिए इतना ही काफी नहीं है कि वह भावात्मक हो । यदि उसके अन्दर व्यक्त भाव या अनुभूति का आधार ऐसा वैयक्तिक अनुभव है जो सामाजिक रूप से अनुभूत नहीं किया जा सकता तो वह सौन्दर्य की सृष्टि नहीं कर सकता । क्योंकि सौन्दर्य भावना का उद्रेक चेष्टाशील मनुष्य के पारस्परिक संबंधों में निहित रागात्मक संबंध पर निर्भर करता है ।[१]

सामयिकता और चिरन्तनता के प्रश्न को लेकर भी विचार किया गया है । "काडवेल के अनुसार यह अनुभव (कवि द्वारा प्राप्त अनुभव) दो प्रकार का होना चाहिए । अर्थात् पहले तो वह महत्वपूर्ण हो अर्थात्

---

[१] प्रगतिवाद, श्री शिवदान सिंह चौहान ।

उसके भाव अपरिपर्तनशील अन्तर्वृत्तियों को गहरे भादोद्रेक से हिला सकें। दूसरे यह अनुभव सामान्य होना चाहिए। पहली बात से महान कला या कविता को चिरन्तनता का गुण प्राप्त होता है क्योंकि मनुष्य की अन्तर्वृत्तियाँ चिरन्तन हैं। दूसरी बात से उसे सामयिकता का महत्त्व प्राप्त हो जाता है।"

लेखक ने रेखाचित्र और रिपोर्टंज पर एक एक निवन्ध में विचार किया है। रेखाचित्र किन अर्थों में कहानी रिपोटीज आदि से भिन्न है इसका सूक्ष्म विवेचन किया है। रेखाचित्र साहित्य में चित्रकला के अनुरूप है। उसमें वर्ण्यवस्तु का संगठन प्रधानतः कविता और चित्रकला की तरह देश (स्पेस) में होता है। रेखाचित्र में किसी वस्तु, मनुष्य या स्थान के वाह्य रूप से उसकी आन्तरिक सुन्दरता-कुरूपता, सम्पन्ना-विपन्नता को पकड़ने की चेष्टा होती है।

'रिपोर्टज' में रिपोर्टज की अलग से आवश्यकता, उसके रूप विधान और अन्य साहित्य-विधाओं से उसके भेद पर गहरा परीक्षण प्रस्तुत किया गया है।

'कथा साहित्य की समस्याएँ' निबन्ध में उनका कथा साहित्य पर जनवादी दृष्टिकोण बड़ा ही संतुलित और गम्भीर है। कहानी के रूप-विधान को लेकर पिटे-पिटाये ढंग से विचार करने के कारण ही कहानी में प्राणमत्ता नही आ पा रही है। हिन्दी कथा साहित्य में जीवन्तता नहीं आ पा रही है लेखक ने इसके दो कारण दिए हैं—(१) व्यक्तिगत (२) सामाजिक। "व्यक्तिगत यह कि हमारे तरुण लेखक कथा साहित्य की आवश्यकताओं के प्रति सचेत नही है क्योंकि उनके अध्ययन की परम्परा दोषपूर्ण रही है। उस परम्परा के अन्तर्गत, जैसा मैं आपको बता चुका हूँ कहानी को एक निरपेक्ष परिवर्तनहीन, स्थविर चीज माना जाता है। पर कहानी तो एक कला है और इसलिए विकासशील है। उसका विकास व्यक्ति के माध्यम से होता है। अर्थात् एक श्रेष्ठ लेखक कहानी कला को जिस धरातल पर उठा कर छोड़ना है, दूसरा श्रेष्ठ लेखक उसके धरातल को और ऊँचा उठा जाता है।"

इसी सम्बन्ध में श्री चौहान ने स सत्य का भी उद्घाटन किया है कि हमारे लेखक अपने पूर्ववर्ती लेखकों की कला में निपुणता प्राप्त

करने का प्रयत्न नहीं करते। वे घटनाओं को अपनी चेतना में पूरी तरह पका नही पाते।

इस प्रश्न का दूसरा कारण सामाजिक है। लेखक ने इने गिने चोटी के कलाकारों के कारण ही किसी साहित्य की उत्कर्षता का ढिंढोरा पीटने की प्रवृत्ति का विरोध किया है। वास्तव में उत्कर्ष प्राप्त साहित्य वही है जिसका सामान्य धरातल भी ऊँचे उठा हुआ हो। और ऐसा साहित्य तभी निर्मित हो सकता है जब उसका प्रत्येक कलाकार सामाजिक जीवन की सच्ची समस्याओं का एक सजीव किन्तु काल्पनिक चित्र देकर उसके समाधान की दिशाओं की ओर संकेत कर देता है जिससे हम कल्पना द्वारा उन समस्याओं को हल कर लें और वह हमारे भावों और विचारों को अपने अनुकूल बना कर हमारी चेतना का एक अंग बन जाय।

'छायावादी कविता में असंतोष की भावना' निबन्ध शिवदान जी की इतिहास-दृष्टि का परिचायक है। छायावादी कविता किन-किन परिस्थितियों से फूटी है? पूँजीवादी अर्थ व्यवस्था, समाज-व्यवस्था से उसकी कला और स्वर का क्या सम्बन्ध है? पूँजीवाद की व्यक्तिवादी चेतना किन-किन रूपों में छायावाद मुखर हुई है? और जीवन और कला में सामन्ती घुटन के पश्चात् एक नया प्रकाश भरने वाला पूँजीवाद किस प्रकार फिर असंतोष की दृष्टि करने लगा? इन अनेक प्रश्नों को इस निबन्ध में उठाया गया है।

श्री चौहान की आलोचना विशेषतया सैद्धांतिक ही है व्यावहारिक आलोचनाएँ इन्होंने बहुत कम लिखी हैं उन सबों में अधिक प्रौढ़ और गंभीर समीक्षात्मक निबन्ध है श्री सुमिमानन्दन पन्त। पन्त जी के काव्य विकास की कई मंजिलें हैं। प्रस्तुत निबन्ध में लेखक ने पन्त की प्रगतिशील कविताओं की समीक्षा की है। पन्त जी की कविताओं की समीक्षा के लिए लेखक ने विस्तृत परिपार्श्व को समेटा है यानी यह कि छायावादी काव्य के पश्चात् हिन्दी कविता किन मोड़ों से गुजर रही थी कि ये सभी मोड़ तथाकथित काव्य विषयों, जीवन-रूढ़ियों के विरोध का स्वर लेकर उठ खड़े हुए थे कि इन सभी नये स्वरों में क्या मौलिक साम्य और वैषम्य था कि पन्त जी इनमें किस श्रेणी में आते हैं आदि।

छायावाद के पश्चात् नया स्वर दो रूपों में फूटा—(१) नाशवादी स्वर (२) निर्माणवादी स्वर। पहले के प्रतिनिधि कवि भगवतीचरण

वर्मा और दिनकर रहे हैं दूसरे के सुमित्रानन्द पन्त। पहले प्रकार की कविताओं के सम्बन्ध में विचार करते हुए लेखक ने इनकी उपलब्धियों और सीमाओं का निर्देश किया है—

(१) इन कविताओं में छायावाद की अन्तर्मुखी, व्यक्तिवादी, केवल सौन्दर्योपासक, समाज विरोधी कविता से पृथक् होकर प्रतीकवादी यथार्थवाद (सिम्बालिक रियलिज्म) की शैली के प्रारंभ की झलक है।

(२) इन कविताओं में क्रान्ति को गौरवान्वित किया गया है।

(३) इन कविताओं में जिस अनीति, हाहाकार, वैषम्य, उत्पीड़न या आर्तनाद के विरुद्ध क्रान्ति या परिवर्तन का ओजपूर्ण आवाहन किया गया है वह इसी समाज की देन है अर्थात् पूँजीवादी समाज और भारत की परतंत्रता के फलस्वरूप उत्पन्न हुई हैं। इसलिए ये कविताएँ वर्तमान समाज व्यवस्था के विरुद्ध जनमत का संगठन करने में सहायक सिद्ध हो रही हैं।

(४) इन कविताओं में गहरा विद्रोह है और ये एक मूलगत सांस्कृतिक परिवर्तन की द्योतक हैं। इनकी सीमाएँ—

(१) इन कविताओं का जन्म बुद्धि तत्त्व और भाव-तत्त्व के सामंजस्य से नहीं हुआ है बल्कि ये भावात्मक आवेश के गर्भ से उत्पन्न हुई हैं।

(२) ये कवि नयी प्रगतिशील कला के रूप-विधान या शैली और उसके विषय, बुद्धि-तत्त्व या वस्तु के प्रति पूर्णतः सचेत नहीं हैं।

(३) इन कविताओं में व्यक्त भावनाएँ जीवन या क्रान्ति की आवश्यकताओं के प्रति सचेत नहीं हैं इसीलिए वे ध्वंसात्मक या नाशवादी हैं, नवांकुरित जीवन और गर्भजात भविष्य की रूप-रेखा के विशिष्ट सौन्दर्य की कल्पना का उनमें अभाव है।

(४) इन कविताओं में आधुनिक जीवन की जिन प्रतारणाओं के विनाश की कामना और जिस सुख, शान्ति, करुणा और स्नेह से परिपूरित स्वतंत्र जीवन की आकांक्षा की गयी है वह मध्य वर्ग की आकांक्षा है।

(५) इन कविताओं में जिस क्रान्ति का वर्णन किया गया है वह वास्तव में क्रान्ति नहीं अराजकता है।

(६) इन कविताओं में यथार्थवाद का अभाव सा है……

(७) विचार धारा के अभाव के कारण चूँकि इन कवियों में क्रान्ति की आवश्यकताओं की चेतना का अभाव है इसलिए वे वास्तव में अन्त तक क्रान्ति का स्वागत करते जायँगे, इसमें संदेह है।

लेखक ने स्पष्ट रूप से इन अराजकतावादी कविताओं की प्रकृति-विवेचना कर इन्हें वास्तविक प्रगतिशील कविताओं से अलग किया है। वास्तविक प्रगतिशील कविताएँ वे हैं जिनमें वैयक्तिक अराजक भावना के स्थान पर सामाजिक यथार्थ का चित्र हो, जिनमें कुव्यवस्था के साथ नव निर्माण की जागरूकता हो। ये कविताएँ किसी क्षणिक प्रतिक्रिया के आवेश में नहीं लिखी गयी हैं वरन् ये समाज के सही अध्ययन, सामाजिक क्रांन्ति की वास्तविक चेतना, मनुष्य की भावी विजय की आस्था, सामाजिक मानव की संवेदनाओं और एक व्यापक और बौद्धिक दृष्टिकोण से प्रेरित हैं। सुमित्रानन्दन पन्त इन्हीं वास्तविक प्रगतिशील कवियों की परंपरा में आने वाले कवि हैं। पन्त जी ने हिन्दी प्रगतिशील कविता का शुरू-शुरू में नेतृत्व किया। श्री चौहान ने इसी आधार भूमि पर पन्त की प्रगतिशील कविताओं की संतुलित समीक्षा की है। संतुलित इसलिए कहा गया है कि उन्होंने प्रगतिशील कवि पन्त की नयी उपलब्धियों की ओर निर्देश तो किया ही साथ ही साथ उनकी सीमाओं पर भी प्रकाश डाला। और ये दोनों प्रकार की विवेचनाएँ स्वाभाविक विकास क्रम की पृष्ठभूमि पर हुई।

पन्त जी की उपलब्धियाँ महान हैं। उन्होंने पीड़ित शोषित मानवता का पक्ष ग्रहण किया और उसके उद्धार के लिए नूतन सामाजिक संबंध-सृष्टि पर बल दिया। शोषक संस्कृति की विरूपता को अनावृत किया। किसानों, मजदूरों, गरीबों, गाँवों को देखा। आध्यात्मिक कल्पना जगत से उतार कर मनुष्य को भौतिक धरातल पर खड़ा किया और उसके पावों में बल दिया। सामाजिक विपन्नता का चित्र उतार कर हमारी संवेदनाओं को जगाया। लेकिन इतना तो कहना ही पड़ेगा कि उन्होंने सामाजिक यथार्थ को नवीन दृष्टिकोण से देखा पर उसके साथ तादात्म्य स्थापित नही किया, अतः उनकी कविताओं में दृष्टिकोण और बौद्धिक विश्लेषण की प्रधानता है। काव्य सुलभ संवेदनशीलता अनुभूति-प्रवणता

का अभाव है । वे कविताएँ हमें नये यथार्थ से परिचित तो कराती हैं किन्तु उसकी अनुभूति नहीं करातीं ।

"पन्त जी की दूसरी सीमा यह है कि उनकी कविताएँ यटोपियन हैं यद्यपि उनका यूटोपियनिज्म समाजवादी है । × × × वे उसके (समाजवाद के) रचनात्मक तत्त्व को ही देखते हैं उसके दूसरे आवश्यक अंग विध्वंसात्मक तत्त्व को नजर अन्दाज सा कर जाते हैं । लेकिन विध्वंसात्मक तत्त्व के बिना क्रान्ति सफल नहीं हो सकती और नूतन जीवन प्रतिफलित नहीं हो सकता । यूटोपियन होने के कारण ही पन्त जी की कविता यथार्थवादी न होकर आदर्शवादी है[१] ।"

इसी से मिलती जुलती उनकी तीसरी सीमा है टेकनीक की । नये युग सत्य के साथ-साथ उसकी अभिव्यक्ति की शैली भी बदलती है । पन्त जी की प्रगतिशील कविताओं की शैली छायावादी शैली के ही समीप है । "छायावाद की कविता वैयक्तिक भाव प्रकाशन की कविता है, सलिए उसमें व्यक्तिगत अनुभव की ही अभिव्यंजना हो सकती है मनुष्य के सामूहिक अनुभव की अभिव्यक्ति नहीं की जा सकती ।" "इसलिए पन्त की कविता में एक और ऐतिहासिक विकास की आवश्यकता है ।"

इसी सिलसिले में श्री चौहान ने एक स्थान पर लिखा है कि "प्रतीकों का प्रयोग वास्तविकता का सर्वांगपूर्ण चित्रण नहीं कर सकता ।" यह कथन पूर्णतः सत्य नहीं है । कहानियाँ, उपन्यास जीवन की सामान्य घटनाओं के चित्रण के माध्यम से समाज की चेतना मुखर करते हैं उनमें विशेषतः वर्णन होता है, कहानी होती है । कविताओं (विशेषतया आज की कविताओं) में कहानी या वर्णन नहीं होता उसमें हमारे भावों और अनुभूतियों का गहरा और संक्षिप्त या व्यापक चित्र होता है ये कविताएँ इन भावों और अनुभूतियों के जगाने वाले स्थूल घटनाओं के थोड़े से उपकरण लेती है । ये अधिक सांकेतिक होती है इसलिए इनमें प्रतीक विधान जरूरी होता है बिना प्रतीक विधान के कविता वर्णन उपदेश या सतही हो जाती है यहाँ तक कि लोक गीतों में भी प्रतीक विधान की विशेषता दिखायी पड़ती है । हाँ, प्रतीकों में अन्तर होता है, कुछ प्रतीक

---

[१] प्रगतिवाद, श्री शिवदान सिंह चौहान, पृ० ६९–७० ।

एसे होते हैं जो व्यक्ति के अपने गढ़े हुए प्रतीक होते हैं जिनके द्वारा निगूढ़ वैयक्तिक भाव ही व्यक्त होते हैं, वे सामाजिक भाव और अर्थमत्ता को वहन न कर सकने के कारण अप्रेषणीय और दुरूह होते हें। दूसरे प्रतीक ऐसे होते हैं जो सामाजिक जीवन के बीच से चुने गए होते हैं वे अधिक प्रेषणीय सशक्त तथा हृदयों को प्रभावित कर सकने में समर्थ होते हैं। कविता के लिए ऐसे ही प्रतीक उपादेय और ग्राह्य हैं।

चौहान कहीं-कहीं कुछ ऐसे सिद्धान्त स्थापित कर गये हैं जो कुछ आत्मविरोधी ज्ञात होते हैं। एक स्थान पर इन्होंने लिखा है कि लेखक स्वभावतः प्रगतिशील होता है तो फिर लेखकों को प्रगतिशील और प्रतिक्रियावादी खेमों में बाँटने की क्या आवश्यकता ?

आचार्य शुक्ल पर लिखते हुए श्री चौहान ने प्रेषणीयता के प्रश्न को लेकर शुक्ल जी की खामियाँ दिखायी है। "साधारणीकरण और लोक मंगल' शुक्ल जी द्वारा प्रतिपादित साहित्य के इन दोनों आदर्शों या लक्ष्यों की कल्पना अत्यंत संकुचित और अवास्तविक है। प्रचलित रूढ़ धाराओं में प्रकट सत्याभास ही उनके आधार हैं क्योंकि धार्मिक शब्दाडंबर को त्याग कर "साधारणीकरण" का तात्पर्य यदि केवल प्रेषणीय गुण से है तो इस पर इतना जोर देना एक स्वयं सिद्ध को ही सिद्ध करने का व्यर्थ प्रयास है और विशेष कर के तब जब प्रेषणीयता के आधार पर एकांगी मूल्यांकन ही संभव है। अन्यथा द्विवेदीकालीन इतिवृत्तात्मक काव्य छायावाद के काव्य से श्रेष्ठ माना जाय और निराला जी की तुलना में सोहनलाल द्विवेदी को श्रेष्ठ कवि घोषित किया जाय। साहित्य-कला रचनाकार की भावनाओं का साधारणीकरण ही नहीं करती बल्कि वास्तविकता को प्रतिबिम्बित भी करती है। और यदि वास्तविकता संश्लिष्ट और जटिल है जैसी कि वह सर्वदा से है तो उसका प्रतिबिम्ब भी सीधी समानान्तर रेखाओं से अंकित नही किया जा सकता[१]।"

मैं समझता हूँ कि यहाँ शुक्ल जी की सीमाओं को बढ़ाकर देखा गया है। शुक्ल जी के लोक मंगल का स्वरूप, रस निरूपण आदि सिद्धान्तों की सीमाएँ हो सकती हैं और हैं और चौहान ने इसी निबन्ध

---

[१] साहित्य की परख, श्री शिवदान सिंह चौहान।

में बड़ी ही बारीकी से उनकी ओर संकेत भी किया है किन्तु जो शुक्ल जी में नही है उसे भी खोज निकालना शुक्ल जी के प्रति अन्याय है। साधारणीकरण का प्रश्न नया नहीं है फिर भी क्या सभी युगों में कला-कला के लिए का स्वर ऊँचा करने वाले कला में दुरूहता नहीं भरते जा रहे हैं। इन दुरूहताओं और वैयक्तिक चमत्कारों की धूम मचाने वालों के बीच यदि फिर से प्रेषणीयता का प्रश्न उठाया जाय तो स्वयं सिद्ध को सिद्ध करने के नाहक प्रयास का दोषी नहीं ठहराया जाना चाहिए। शुक्ल जी ने क्या काव्य का एक मात्र गुण प्रेषणीयता ही माना है जिसके आधार पर एकांगी समीक्षा की आशंका श्री चौहान को हुई है। अन्य गुणों के साथ प्रेषणीयता भी एक अत्यावश्यक गुण है जिसका काव्य में होना जरूरी है वह चाहे स्पष्ट अभिव्यक्ति में हो चाहे प्रतिबिम्ब में हो, चाहे व्यंग्य में हो। यदि शुक्ल जी प्रेषणीयता को ही एक मात्र काव्य की कसौटी मानते तो लेखक की आशंका के अनुकूल ही वे द्विवेदीकालीन इतिवृत्तात्मक काव्य और सोहनलाल द्विवेदी की कविताओं को क्रमशः छायावाद और निराला की कविताओं से श्रेष्ठ मानते किन्तु उन्होंने ऐसा कहाँ किया ? क्या निराला की दुरूह कविताओं से उनकी उसी जोड़ की भाव धारा वाली किन्तु प्रेषणीय कविताएँ ऊँची नहीं है ? श्री चौहान के इस उद्धरण का अंतिम वाक्य अंतश्चेतना वादियों के पक्ष समर्थन के लिए भी काम का सिद्ध हो सकता है। यद्यपि चौहान की मन्सा कुछ दूसरी है और वह यह है कि हमारे सामाजिक संबंध कभी-कभी बहुत जटिल हो उठते हैं और उन जटिलताओं को हम एक सीधी सादी शैली में व्यक्त नही कर सकते उसे व्यक्त करने के लिए हमें अभिव्यक्ति के नये रूप गढ़ने पड़ते हैं और अभिव्यक्ति के वे रूप नये होने के कारण ढर्रे पर चले आते हुए लोगों की समझ में सहज ही नहीं आ पाते हैं।

श्री चौहान का यह कथन अत्यधिक सुविचारित है। नये युगों की वास्तविकताओं को काव्य में प्रतिविम्बित होना होना है शुक्ल जी निश्चय ही इस पर विशेष बल नही दे सके हैं, वे भावों और रसों के विवेचन में ही अधिक व्यस्त दिखाई पड़ते हैं। किन्तु इससे प्रेषणीयता वाले सिद्धान्त में कोई व्याघात होता हुआ नजर नहीं आता। संश्लिष्ट वास्तविकताएँ यदि काव्य में प्रतिबिम्बित होती हैं—भले ही वे तिरछी टेढ़ी कला-रेखाओं द्वारा प्रतिबिम्बित होती है—तो भी उन्हें दूसरों के हृदय तक

तो पहुँचना ही है। यदि कवि वास्तविकता को स्वयं प्रतिबिम्बित कर स्वयं ही देखता रहे तो उसका सामाजिक मूल्य क्या हुआ ? कुछ कवियों में तो जान बूझ कर उलझा देने की आदत होती है ऐसे लोगों की उलझन का क्या उत्तर हो सकता है ?

प्रेषणीयता के प्रश्न के क्रम में हम चौहान जी की शैली के संबंध में कहना चाहते हैं कि उसमें गंभीरता है, विचारों का भारीपन है किन्तु उलझाव भी कम नहीं है। उसमें विशाल चौड़ी धारा तो है लेकिन सहज प्रवाह नहीं है। साधारण बात को भी घुमा फिरा कर लम्बे-लम्बे भारी वाक्यों में कहने की उत्सुकता है। काडवेल की गंभीर विचार धारा और जटिल अभिव्यक्ति पद्धति दोनों से ये अत्याधिक प्रभावित हैं।

डा० रामविलास शर्मा

डा० रामविलास शर्मा की सूझ-बूझ बड़ी पैनी, दृष्टिकोण प्रगतिशील और उलझनहीन, व्यक्तित्व बड़ा ही निर्भीक, स्पष्ट और ओजस्वी है। इन्होंने बहुत लिखा है और निरन्तर लिखते जाने का हौसला रखते हैं। लेकिन बहुत तीव्र गति से लिखते रहने पर भी इनकी कृतियों में विचार गांभीर्य का अभाव नहीं आने पाया है। शर्मा जी हिंदी प्रगतिशील आन्दोलन के कर्णधारों में से एक रहे हैं। प्रगतिशील आंदोलन को अनेक तरह के आक्षेप सहने पड़े हैं इसीलिए शर्मा जी की कृतियों में उसी अक्खड़पन से उनके जवाब भी दिये गये हैं। इस अक्खड़पन को देखकर अभिजात आलोचकों को शर्मा जी की कृतियों से शील की शिकायत हो सकती है किन्तु उनमें निर्दिष्ट तथ्यों और तर्क-प्रणालियों को झूठा सिद्ध कर देने का साहस बहुत कम में हो सकता है। अक्खड़पन के अतिरिक्त इनसे एक शिकायत और हो सकती है वह यह कि ये कभी-कभी एकांगी विचार कर बैठते हैं लेकिन यह मानना होगा कि जितना विचार करते हैं उसमें ये बहुत सही और खरे उतरते हैं।

डा० शर्मा साहित्य में सामाजिक यथार्थ के समर्थक हैं। साहित्य में नयी मानवता स्थापित करने के लिए पुरानी जर्जर शक्तियों से संघर्ष करती हुई नयी सामाजिक शक्तियों का ही चित्र होना चाहिए। ये

आध्यात्मिक और उच्च सांस्कृतिक अर्थों का आभास देने वाले शब्दों के चमकीले मुलम्मों के नीचे छिपे हुए प्रतिक्रियावादी और अमानवीय धारणाओं को बड़ी निर्ममता से उद्घाटित करते हैं। बड़े से बड़े आचार्यों की मान्यताएँ वहन करना अस्वीकार कर देते हैं यदि वे इनके काम की नहीं हैं तो। इनकी काव्य संबंधी धारणा स्पष्ट करने के लिए इनका ब्रह्मानन्द सहोदर निबन्ध पर्याप्त है। पुराने आचार्यों का कथन है कि काव्यानन्द ब्रह्मानन्द सहोदर है अलौकिक है। "यह रस अलौकिक किस के प्रेम प्रकार हो जाता है इसकी व्याख्या भट्टनायक ने की है। दुष्यन्त और शकुन्तला के प्रेम व्यापार को भावना एक साधारण व्यापार बना देती है अर्थात् वह उनका व्यक्तिगत प्रेम न रहकर साधारण दाम्पत्य प्रेम हो जाता है। भावना के बाद भोग की क्रिया आरंभ होती है। किसी विचित्र प्रकार से सत्वगुण का उद्रेक होता है और इस प्रकार प्रकाशरूप आनन्द का अनुभव होता है: 'सत्वोद्रेक प्रकाशानन्द संविद्विश्रांति'। इसी भोग से वह आनन्द प्राप्त होता है जो अलौकिक होता है। यह समग्र तर्क एक मिथ्या धारणा पर निर्भर है। किसी प्रकार के आनन्द को सत्वगुणी मान लिया गया है। इसलिए विषय चिन्तन से भी जो आनन्द होगा वह सत्वगुणी और अलौकिक होगा। वास्तव में तमोगुण से उत्पन्न आनन्द मनुष्य को तमोगुण की ओर ले जायगा न कि सत्वगुण की ओर[१]।"

डा० साहब ने यह निर्देश किया है कि पाठकों के भीतर साधारणीकरण नाम की क्रिया होने पर भी उनका रसानुभव अलग-अलग तरह का होता है। साधारणीकरण के बाद भी दर्शकों और पाठकों का अपना अपना भाव ग्रहण असाधारण रहता है। अतः रसों का संबंध अलौकिकता से नहीं है वे व्यवहार जगत् की वस्तु हैं। रसों का अनुभव एक सा नहीं होता वरन् वह विषय की प्रकृति और उसका चिन्तन करने वाले व्यक्ति के अनुसार भिन्न-भिन्न हुआ करता है। क्योंकि 'गीता के अनुसार विषयों के चिन्तन से उनमें आसक्ति उत्पन्न होती है। यह जीवन का एक दृढ़ सत्य है। साहित्य में भी विषय चिन्तन से विषयासक्ति उत्पन्न होगी, इस बात को वितंडावाद से छिपाया नहीं जा सकता। साहित्य शास्त्र की प्रधानतः समस्या यह है कि किस प्रकार का साहित्य

---

[१] संस्कृति और साहित्य, डा० रामविलास शर्मा, पृ० १८४।

हमारे चित्त पर किस प्रकार के संस्कार बनाता है। ये संस्कार समाज के लिए शुभ हैं[1]।

डा० शर्मा ने रस की अलौकिकता में काव्य को फँसाकर उसके सामाजिक कर्तव्य की ओर से आँख मूँदने वाली मान्यता को अनावृत किया है। जैसी युग और समाज की मनोवृत्ति होती है उसी से प्रभावित होकर या उसके विरोध में खड़े होकर कलाकार अपनी कृतियों को जन्म देता है। डा० साहब ने ब्रह्मानन्द का संबंध विशेष रूप से शृंगार रस से माना है। शृंगार रस की सृष्टि करने वाले आचार्यों ने शृंगार रस का संबंध अलौकिक आनन्द से जोड़कर उसके कुप्रभावों को छिपा दिया। उनका कहना था कि साहित्य में भावना और व्यंजना द्वारा एक अलौकिक आनन्द उत्पन्न होता है जो चित्त पर कोई संस्कार नहीं छोड़ता। परन्तु गीता में कहा गया था कि विषय के चिन्तन से उसमें आसक्ति उत्पन्न होती है इस महान मनोवैज्ञानिक तथ्य को साहित्य शास्त्रियों ने उलट दिया।

डा० साहब की यह स्थापना है कि एक व्यक्ति जो एक प्रकार की साहित्यिक रचना से आनन्द पाता है एक अन्य प्रकार की रचना के प्रति नितान्त उदासीन भी हो सकता है। दूसरे यह कि सभी कालों के पाठकों की रुचियों में भेद हुआ करता है, एक ही व्यक्ति के काव्यानन्द में काल भेद के कारण परिवर्तन उपस्थित हुआ करते हैं। इसलिए रस का आनन्द कोई शाश्वत और सर्वसामान्य के लिए एक ही सी वस्तु नही है, उसे व्यक्तियों के संस्कारों और सामाजिक विकासों की पृष्ठभूमियों पर परखने की आवश्यकता है।

आचार्य शुक्ल ने पहले पहल रस को अलौकिकता के काल्पनिक धरातल से उतार कर व्यावहारिक धरातल पर प्रतिष्ठित किया किन्तु शुक्ल जी की व्यावहारिकता की भी सीमाएँ थीं। उनके रस चिन्तन में गंभीरता थी किन्तु उसमें यथार्थवादी दर्शन और सामाजिक मनोविज्ञान का अभाव था। वे युग विकास के आधार पर रसों का विचार नहीं कर सके और मनोविज्ञान के स्थान पर आदर्शवाद उनमें प्रमुख हो उठा

---

[1] संस्कृति और साहित्य, डा० रामविलास शर्मा, पृ० ८५।

है। राम विलास जी ने उसे यथार्थवादी दर्शन और सामाजिक मनोविज्ञान के आधार पर परखा। यद्यपि इनके रस निरूपण में इनके प्रकृत्यानुकूल ही गंभीरता और दार्शनिक गहनता नही है किन्तु बातें पकड़ की कही गयी हैं विचार स्पष्ट और सुलझे हुए हैं। रस की अलौकिकता के साथ उन्होंने यह कह कर उचित न्याय भी किया है कि "साहित्य और कला से जो आनन्द प्राप्त होता है उसे ब्रह्मानन्द न मानकर भी बहुत से लोग यह स्वीकार करना चाहेंगे कि वह लोकोत्तर होता है और जीवन में प्राप्त आनन्द की अन्य श्रेणियों से वह भिन्न है।" और उन्होंने इस मान्यता का समर्थन एक अतिव्यावहारिक उदाहरण से किया है। "जीवन में जैसे मदिरा पीने से किसी को आनन्द मिलता है साहित्य में उसके वर्णन से आनन्द मिलता है और दोनों प्रकार के आनन्दों में भिन्नता है। मदिरा पीने में गाली बकने से लेकर नाली में गिरने तक का आनन्द लोगों को सुलभ होता है, उमर खय्याम की रुबाइयाँ पढ़ने में लोग लोक-परलोक दोनों सुधार लेते हैं कम से कम सुधारने की चेष्टा तो करते हैं। मदिरा पान के वर्णन से जो आनन्द प्राप्त होता है उसे हम लोकोत्तर आनन्द इसलिए कह सकते हैं कि लोक में इस प्रकार का आनन्द हमें नहीं मिलता।" इस निबन्ध के सम्बन्ध में यह तो कहना ही होगा कि पूर्व आचार्यों के विचारों का सहानुभूति के साथ परीक्षा नही की गयी है ऐसे निबन्धों में पूर्वपक्ष का गंभीर और सही विवेचन आवश्यक होता है। साधारणीकरण आदि पूर्व मान्यताओं की उपलब्धियों पर या तो विचार नही हुआ है या हुआ है तो बड़े ही चलते ढंग से। परिणाम यह हुआ है कि शर्मा जी ने निष्कर्ष तो सही निकाला है या अपनी नवीन स्थापना तो सही ढंग से की है किन्तु पूर्वपक्ष के विवेचन में न्याय नहीं हो सका है, उनकी बारीकियों का मंथन नही किया गया है।

प्रगतिशील विचारकों के ऊपर सदैव यह आक्षेप किये गये हैं कि वे अतीत के प्रति उपेक्षा भाव रखते हैं किन्तु सभी प्रगतिशील विचारकों ने यह बात स्पष्ट कर दी है कि उन्हें अतीत से घृणा नहीं है किन्तु अन्धमोह भी नहीं है। वे अतीत की उपलब्धियों को वहीं तक स्वीकार करते हैं जहाँ तक वे वर्तमान जीवन-संघर्ष में प्रेरणा देती हैं। यदि अतीत का साहित्य, संस्कृति हमारे पाँव पकड़ कर जीवन संघर्ष से भागने,

कल्पना लोक में मुँह छिपाने, सामाजिक शोषणों को दैवी न्याय का जामा पहनाकर उन्हें स्वीकार करने के लिए हमें मजबूर करती है तो वह हमारे लिए उपेक्षणीय है। अतीत के जीवंत साहित्यों में अपने युग के जन जीवन की सच्ची तसवीर और उनके जीवन्त प्रयासों, अत्याचार के विरुद्ध संघर्षो की अभिव्यक्ति होती है। डा० साहब ने भी अतीत और वर्तमान साहित्यों के सम्बन्धों पर दृष्टिपात किया है—

"युग-युग में जो सामाजिक परिवर्तन होते हैं उनके साथ एक सामाजिक विकामक्रम भी चला करता है। एक बीता हुआ युग इस सामाजिक विकास क्रम के कारण बीत जाने पर भी हमसे जुड़ा हुआ हो सकता है, वर्तमान काल का सम्बन्ध भूत और भविष्यत् दोनों कालों से है। इसलिए हम उस विकास शृंखला को भूल नही सकते। एक सजग और सचेत वर्तमान के लिए आवश्यक है कि वह भविष्य की ओर उन्मुख होते हुए भी अपनी पिछली ऐतिहासिकता से अनभिज्ञ न हो। ऐतिहासिकता के ज्ञान बिना कोल्हू का बैल एक ही दर पर चक्कर लगाकर अपने को अत्यंत प्रगतिशील समझ समता है। एक साहित्यिक रिवाइवल के रूप में नही, ऐतिहासिक विवेचन के आधार पर अपनी साहित्यिक एवं सामाजिक परंपरा का ज्ञान आवश्यक है।"

ऐतिहासिक ज्ञान की आवश्यकता का जोरदार समर्थन करते हुए डा० शर्मा उन तत्त्वों का विवेचन करते हैं जिनके कारण अतीत के साहित्य हमें आज भी प्रिय लगते हैं। "बीते युग की रचना के अच्छे लगने के दो कारण हो सकते हैं एक तो उसमें हम वह अर्थ ढूँढ़ लेते हैं जो हम ढूँढ़ना चाहते हैं परंतु जो उसमें है नही, दूसरे हम उसमें वही अर्थ पाते हैं जो उस युग को भी अभीष्ट था।" प्रगति और परंपरा के संबंधों को सभी प्रगतिशील विचारकों ने थोड़े घने अन्तरों के साथ एक ही ढंग से विचारा है।

कुछ का कथन है कि अतीत की रचनाएँ अपने साहित्यिक सौदर्य के कारण हमें प्रिय लगती है, बात ठीक है, किन्तु यह साहित्यिक सौन्दर्य है क्या? वह विषय-विच्छिन्न शैलीगत चमत्कार है? डा० साहब ने साहित्यिक सौन्दर्य को विषय, भाव, बिचार और व्यंजना-प्रणाली सभी के मिले जुले रूप पर आधारित माना है केवल व्यंजना प्रणाली से सौन्दर्य नहीं फूट सकता और सच बात तो यह है कि "साहित्य में विषय और

व्यंजना दोनों एक दूसरे के आसरे हैं। एक सफल साहित्यिक रचना में विषय और व्यंजना का सामंजस्य होता है। एक प्रतिक्रियात्मक और दूसरी प्रगतिशील नहीं हो सकती।" "महान लेखकों में विषय तथा व्यंजना का असामंजस्य बहुत कम होता है।" भाषा शैली का उचित रूप वही है जो लोक चेतना को बहन करे, जो अपने ही साज-सिंगार में व्यस्त रहेगा वह औरों की बात क्या कहेगा ? भाषा संबंधी अध्यात्मवाद में डा० साहब ने भाषा के अधिक बनाव सिंगार, वाक्य पटुता, जबान के चटखारेपन को पतनशील साहित्य का लक्षण माना है। विद्रोही कवि जो नये भाव विचार लेकर आता है उसके लिए शैली भी ढूंढ़ निकालता है। रूढ़िवादी अपने बुढ़िया पुराण पर आक्रमण होते देखकर उसे भाषा और संस्कृत का शत्रु घोषित करते हैं। हिन्दी के पुराने कवियों में भाषा को देव-विहारी से अधिक किसने संवारा है परन्तु साहित्यिक और सामाजिक प्रगति में उनका कौन सा स्थान है ? इस प्रकार यह स्पष्ट है कि डा० शर्मा विषय की सामाजिकता और उसके साथ सहज भाव से फूटी हुई भाषा शैली को ही साहित्यिक सौन्दर्य का स्रष्टा मानते हैं। किन्तु विषय की महत्ता के साथ शैलीगत साधना की आवश्यकता होती है—बिना शब्द शोधन और अभिव्यक्ति-साधना के अपने महान् विचारों और भावों को भी सफल रूप में पाठकों के सामने रखना मुश्किल होता है। यह सच है कि भाषा में अधिक रंगीनी भरना पतनशील साहित्य का लक्षण है किन्तु भाषा का परिष्कार और उस पर सम्यक् अधिकार विषय को और चमका देता है। हाँ, यह दूसरी बात है कि भाषा जन-जीवन में व्यवहृत प्रवाहमयी भाषा हो न कि अजायब घर में संचित कोई मृत भाषा चमकीले परिधान में सजाकर लायी जाय। इन शंकाओं का समाधान लेखक ने अपने दूसरे निबन्ध 'कविता में शब्दों का चुनाव' में किया है।

डा० साहब अन्य प्रगतिशीलों की तरह ही विषय को शैली से अधिक महत्व देते हैं। और विषय भी सामाजिक हो, जन-जीवन से संबद्ध हो, इस बात के वे जोरदार समर्थक हैं। उनका कहना है कि कला में शक्ति केवल उसे माजने से नहीं आती वरन् विषय की जीवन्तता से आती है। 'साहित्य में जनता का चित्रण' नामक निबंध में उन्होंने जनता

के चित्रण से साहित्य में अधिकाधिक सौन्दर्य उत्पन्न होने की बात कही है। "यह समझना कि जनता के जीवन को निकट से देखने से कवि का भाव जगत धुँधला हो जायेगा या उसके अंतस्थल की कोमल वृत्तियों का सर्वनाश हो जायेगा, एक प्रवंचना छोड़कर और कुछ नहीं है।"

"पिछले दो महायुद्धों के बीच में जो नया साहित्य रचा गया है चाहे वह हिन्दुस्तान में हो, चाहे पश्चिम के देशों में, उसे देखने से यह धारणा पुष्ट होती है कि जनता का चित्रण करके अपनी कला को अधिक विकसित करना और उसके विभिन्न रूपों को अधिक आकर्षक बनाना संभव है।"

डा० शर्मा यथार्थवाद के नाम पर रोमान्स और व्यक्तिवादी अहम् तथा नग्न भोग विलास के विस्तृत चित्रों को उपेक्षणीय समझते हैं। इसीलिए वे शरतचन्द, यशपाल जैसे लेखकों के साथ भी रियायत नहीं करते। ऐसे लेखक चाहे यशपाल, अश्क जैसे अपने प्रगतिवादी खेमे के हों चाहे अज्ञेय, जैनेन्द्र जैसे तथाकथित दूसरे खेमों के, सभी अपने चटकीले रोमान्स-चित्रण के कारण लेखक के कोप-भाजन हुए हैं। डा० शर्मा ऐसे अवसरों पर कुछ अनावश्यक उग्र हो उठते हैं और कृतियों के अन्तिम अभिप्राय का विचार न कर सभी को एक ही लाठी हाँक देते हैं जैसे रोमान्स का नाम ही कोई भयानक संक्रामक रोग हो।

सामाजिक यथार्थवाद के आधार पर ही इन्होंने रिचार्ड्स से भी समझा है और हिन्दी आलोचक नगेंद्र से भी। रिचार्ड्स बड़े गंभीर विचारक हैं। इनकी मान्यताएँ मनोविज्ञान पर आधारित हैं और ये मनुष्य की वृत्तियों को संतुष्ट करने तथा उनमें संतुलन स्थापित करने में ही काव्य का चरम लक्ष्य मानते हैं। भारतीय रस परंपरा में भी वृत्तिशोधन का गुण मौजूद है इसीलिए रसवादी शुक्ल जी ने रिचार्ड्स को इतना सराहा है किन्तु रामविलास जी ने रिचार्ड्स के मनोविज्ञान और सिद्धान्त के विवेचन मूल में पूंजीवादी विकास के आरंभ काल का व्यक्तिवाद माना है। रिचार्ड्स साहित्य का ध्येय सुख या वृत्तियों का संतोष मान लेता है, ऐसा मान लेने पर कई समम्याएँ खड़ी होती हैं। पहली यह कि साहित्यकार अपने जिस अनुभव का वर्णन करता है उसे समाज के लोग किस तरह ग्रहण करते हैं और उनकी वृत्तियों का संतोष

वैसे ही होता है जैसे मूल लेखक का या उससे भिन्न होता है ? दूसरी यह कि वृत्तियों को संतुष्ट करते समय हम कैसे जानें कि कौन कितनी महत्वपूर्ण है ?

रिचार्ड्स ने इन प्रश्नों के उत्तर अपने ढंग से दिये हैं किन्तु वे उत्तर प्राय: व्यक्तिवादी हैं । ये उत्तर सामाजिक मनोविज्ञान, सामाजिक सम्बन्धों की विविधता और यथार्थवादी स्पष्टता के अभाव से ग्रस्त हैं । रिचार्ड्स देश काल के परिपार्श्व में विचार न कर अपने सिद्धान्तों को या मानवीय वृत्तियों और बोध को शाश्वत जैसी वस्तु मान लेता है । वह यह विचार नही करता कि भिन्न-भिन्न कवियों द्वारा स्थापित किया हुआ मानसिक संतुलन भिन्न-भिन्न युगों में बदलता रहता है ।

"रिचार्ड्स ने अनुभव के मूल्य को आनन्द और शिक्षा के ऊपर रखा है" किन्तु अनुभव किस प्रकार के हों इसका उत्तर वह सामाजिक उत्थान को ध्यान में रख कर नहीं वरन् कुछ व्यक्तियों के श्रेष्ठ संतुलन को दृष्टि में रख कर देते हैं । किन्तु "कविता में हमें मूल्यवान अनुभव चाहिए, उसका मूल्य हम इस तरह निर्धारित करेंगे कि वह व्यवस्थित सामाजिक जीवन-यापन में कहाँ तक सहायक होता है कहाँ तक बाधक होता है रिचार्ड्स के रहस्यवाद से उसकी व्याख्या नहीं हो सकती ।"

इसी प्रकार लेखक ने डा० नगेंद्र के अहम् के विस्फोट की भी व्याख्या की है । डा० नगेंद्र साहित्य को दमित वासनाओं का विस्फोट मानते हैं । वे कला की गहराई के समर्थक हैं कला की गहराई व्यक्ति-मन के स्तर उधेड़ देने से ही प्राप्त होती है इसीलिए डा० नगेंद्र की दृष्टि में प्रेमचन्द द्वितीय श्रेणी के कलाकार हैं । डा० रामविलास ने डा० नगेंद्र की इस व्यक्तिवादी विचार धारा का निर्मम विरोध किया है ।

रामविलास जी की इतिहास-दृष्टि सामाजिक यथार्थवाद से निर्मित स्पष्ट और स्वस्थ है । रामविलास जी उग्र प्रगतिशील माने जाते हैं और लोगों का आक्षेप है कि इस कोटि के प्रगतिशील इतिहास को वर्तमान के साँचे में ढालने की कोशिश करते हैं । ऐसा आक्षेप वे ही करते हैं जो या तो प्रगतिशील साहित्य से परिचित नहीं हैं या अपने पिछले संस्कारों के कारण इससे भयभीत हैं । रामविलास जी ने अपने

निबन्धों में अतीत के साहित्य का विश्लेषण करते हुए सदैव तत्कालीन सामाजिक परिस्थिति का ध्यान रखा है । और उन्होंने तुलसी, भूषण, भारतेन्दु, मैथिलीशरण गुप्त, प्रसाद, पन्त, निराला आदि कवियों को अपने जमाने के क्रांतिकारी कवि कहा है । इस क्रान्तिकारी का मतलब यही है कि न कवियों ने अपने युग की पुरानी शोषक प्रवृत्तियों का खण्डन किया और जनता का चित्रण कर मानवतावादी परंपरा को आगे बढ़ाया। हर काल के कवियों ने अपने-अपने युग तक की विकसित दार्शनिकता को जो चिन्तन का दृष्टिकोण बनाया वह स्वाभाविक और उचित ही है उससे आगे वे कुछ कर ही नहीं सकते थे । किन्तु देखने की बात यह होती है कि उस दृष्टिकोण के माध्यम से कवि ने मनुष्यता को कहाँ तक चित्रित किया है । 'गोस्वामी तुलसीदास और मध्यकालीन भारत' नामक निबन्ध में लेखक ने तुलसीदास की दार्शनिकता का सांगोपांग निरूपण या उनके रसों का शास्त्रीय विवेचन या उनकी नवधा भक्ति का मुग्ध आकलन न कर यह दिखाने की कोशिश की है कि तुलसी की कविताओं को शक्ति कहाँ से मिली है ? किसी की कविता की शक्ति जनता होती है । जनता और युग का चित्रण तुलसी की कविताओं में कहाँ तक हुआ है इस बात की परीक्षा की है । निश्चय ही महाकवियों की वाणी अपने युग की राजनीति, समाजनीति, आर्थिक अवस्था, सामाजिक बंधों, सांस्कृतिक स्वरूपों से प्रभावित होती है । यह जरूर है कि ये प्रभाव कहीं स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ते हैं कहीं परोक्ष रूप से ।

भारतेंदु काल के कवि और लेखक अपने समय की परिस्थितियों के प्रति बहुत जागरूक थे । उन्होंने राजनीतिक और सामाजिक अव्यवस्थाओं के प्रति विद्रोह किया । उन्होंने उच्च कला का ध्यान न रखकर जनता की बोलियों में कविताएँ लिखीं । ये कविताएँ उच्च कोटि की कला कृतियाँ न होकर भी मानवतावादी स्वर को मुखर करती हैं और नवीन युग के साहित्य को रीतिकालीन दलदल से निकाल कर सामाजिक चेतना के आसन पर प्रतिष्ठित करती हैं । इसी प्रकार द्विवेदीकालीन और छायावादी कविताएँ भी नये यथार्थ की अभिव्यक्ति कर नवीन मानवता को मुखर करती हैं अत्याचारों और दमन के विरुद्ध रोष प्रकट करती हैं नये सुन्दर सपनों की सृष्टि करती हैं । इन कविताओं के कमजोर पहलू भी हैं लेखक ने उन पहलूओं का भी स्पष्टता से उद्‌घाटन किया है । वे

कमजोर पहलू भी सामाजिक व्यवस्था से ही संबद्ध हैं। इस प्रकार लेखक ने ऐतिहासिक यथार्थ की पृष्ठभूमि पर कविताओं की अच्छाइयों-बुराइयों को देखा है। सभी प्रगतिशील आलोचकों ने छायावाद की क्रान्ति-भावना और उसकी निराश व्यक्तिवादिता दोनों को पहचाना है। जब कि कुछ छायावादी समीक्षक छायावाद की अनुभूति मीमांसा में ही रह गये और दूसरी ओर छायावाद के ईर्ष्यालु विरोधी उसमें केवल पलायन ही खोजते-खोजते थक गये। इनके विचारों को इनकी अन्य ो पुस्तकों 'प्रगति और परंपरा' तथा 'लोक जीवन और साहित्य' में भी देखा जा सकता है।

व्यावहारिक समीक्षा

डा० शर्मा का मुख्य क्षेत्र व्यावहारिक समीक्षा ही है इस क्षेत्र में उन्होंने बहुत काम किया है। 'प्रेमचन्द और उनका युग', 'प्रेमचन्द', 'भारतेंदु युग', 'निराला', 'रामचंद्र शुक्ल' विभिन्न लेखकों और कवियों पर लिखी गयी स्वतंत्र पुस्तकें हैं। इनके अरिरिक्त प्रसाद और वृन्दाबन लाल वर्मा पर कुछ लेख इधर 'नयापथ' में दिखाई पड़े। संस्कृति और साहित्य में शरत्चंद्र चटर्जी, नजरुल इस्लाम, शैली और रवीन्द्रनाथ, स्व० बलभद्र दीक्षित पढ़ीस, भूषण का वीर रस, कवि निराला, आई० ए० रिचार्डस के आलोचना-सिद्धान्त, अनामिका और तुलसीदास, हिंदी साहित्य पर तीन नये ग्रंथ, देशद्रोही, अहम् का विस्फोट, सतरंगिनी बच्चन जी का नया प्रयोग, कुप्रिन और वेश्या जीवन आदि फुटकल निबन्ध हैं।

शर्मा जी अपने सिद्धान्त निरूपणवाले निबन्धों में साहित्य के विषयपक्ष पर बल देते हुए भी उसके शैलीपक्ष पर विचार करना नहीं भूलते, यद्यपि वे सब समय शैली-निरूपण में तल्लीनता नहीं दिखा पाते। किन्तु व्यावहारिक समीक्षाओं में वे विषयपक्ष को आत्यंतिक महत्व दे उठते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि साहित्य सौन्दर्य के विवेचन का एक पक्ष ही छूट जाता है। साहित्य सौन्दर्य की सृष्टि केवल विषय से नहीं होती। उसमें अनेक छोटे बड़े तत्त्व काम करते हैं। विषय पक्ष में भी अनेक जटिलताएँ होती हैं सर्वदा विषय स्थूल, स्पष्ट या प्रत्यक्ष रूप

से सामाजिक नहीं होता, उसकी प्रवृत्ति कभी-कभी अत्यंत सूक्ष्म और सांकेतिक होकर भी लोकहित के समीप होती है। विषय की नवीनता या सामाजिकता कोई नपी-तुली चीज नहीं, उसे साहित्यकार अपने-अपने ढंग से ग्रहण करते हैं। यह सत्य है कि विषय की एक सामान्य प्रवृत्ति भी होती है जो युग और समाज से निर्मित होती है किन्तु यह विषय की सामान्य प्रवृत्ति लेखकों की वैयक्तिक सौन्दर्य-चेतना, संस्कार और शक्ति से अलिप्त नहीं होती। दूसरे यह कि विषय के अभिव्यक्ति पक्ष की कोई सीमारेखा या स्थूल ढाँचा नहीं। अभिव्यक्ति में ललित कलाओं की सारी विशेषताएँ आ जाती हैं। हर साहित्यांग की कुछ अपनी शिल्प-विधियाँ होती हैं—उन विधियों में साहित्यकार निरन्तर प्रयोग करता है, विकास करता है। सुन्दर शिल्प विषय को प्रभावशाली रूप में उपस्थित करने में समर्थ होता है। साहित्य का समग्र सौन्दर्य इन अनेक तत्त्वों से निर्मित होता है। इसलिए आलोचक का धर्म होता है कि वह विषय की प्रवृत्ति की सूक्ष्म परीक्षा करे अर्थात् यह देखे कि विषय नया है या पुराना, जीवन्त है या मरणशील, सामाजिक है या व्यक्तिगत और विषय की विभिन्न स्थूल और सूक्ष्म शिराएँ किस साहित्यकार में किस रूप में फैली हुई हैं और फिर वह उसके अभिव्यक्त सौन्दर्य का गहरा विवेचन करे।

डा० रामविलास की दृष्टि विषयपक्ष की ओर विशेष है। विषय में भी वे कहीं-कहीं स्थूल पक्ष को ही ग्रहण करते दिखाई पड़ते हैं किन्तु एक बात अवश्य है कि विषय निरूपण में डा० साहब युग की उन सामान्य और प्रतिनिधि चेतनाओं को ग्रहण कर लेते हैं जो तत्कालीन साहित्य निर्माण के मूल में थीं। कभी-कभी ये विषय के एक पहलू को लेकर एक विशेष निष्कर्ष निकाल लेते हैं अर्थात् जहाँ किसी की स्तुति करनी होगी वहाँ उसके साहित्य में से उत्तम अंश ढूँढ़-ढूँढ़ कर एकत्र कर देंगे और जहाँ किसी पर बिगड़ खड़े होंगे वहाँ उसके दोषों को चुन-चुन कर आपके सामने लाकर पटक देंगे। इससे साहित्यिक समीक्षा का उत्तम रसमय स्वरूप उपस्थित नहीं हो पाता। अभिव्यक्ति पक्ष पर तो ये ध्यान ही नहीं देते। ये शर्मा जी की सीमाएँ हैं—इसका तात्पर्य यह नहीं है कि उनकी व्याख्यात्मक आलोचना में वस्तुगत विवेचन या साहित्यिक उदारता का अभाव है।

हम उनके 'साहित्य का उद्देश्य'[१] से शुरू करेंगे। यह निबन्ध श्री शिवदान सिंह चौहान के 'साहित्य की परख' निबन्ध में व्यक्त विचारों की आलोचना है। चौहान, यशपाल, राहुल, रांगेय राघव, अश्क सभी प्रगतिवादी विचारधारा के लेखक हैं। एकमात्र उनकी सीमाओं और असंगतियों को चुन-चुन कर उन्हें उनकी मुख्य स्थापना के रूप में प्रस्तुत कर देना सर्वथा अनुचित है। लेखक ने आरोप लगाया है कि ये लेखक मूलतः सामन्तवादी, पूंजीवादी मनोवृत्तियों के हैं, वे वास्तव में साम्राज्यवादी कला के समर्थक हैं। यह आरोप संकीर्णता सूचक है। शिवदान सिंह चौहान के उपर्युक्त निबन्ध के बीच में एक वाक्य आया है 'कलाकार स्वभावतः प्रगतिशील होता है।' इसी को मूल स्थापना मानकर शर्मा जी ने विविध प्रकार से उसका खण्डन किया है। इतना ही नहीं बल्कि जहाँ-जहाँ शिवदान सिंह ने समीक्षा संबंधी बातें कही हैं उन-उनका संचय कर लिया है और कुल मिला कर फतवा दिया है कि भारती (धर्मवीर भारती) और चौहान एक ही रस (इनका तात्पर्य पूँजीवादी रथ से है,—प्रस्तुत लेखक) के दो पहिए हैं। ये पहिये अपनी घरघराहट को सौन्दर्यमूलक प्रवृत्ति, मानववाद वगैरह नाम देते हैं।

चौहान के उपर्युक्त मत से सहमत नहीं हुआ जा सकता इसका निर्देश मैंने पिछले निबन्ध में किया है। किन्तु यह निबन्ध का प्रतिपाद्य नहीं है उसे निबन्ध में से निकाल दें तो निबन्ध का कुछ बनता बिगड़ता नहीं है वह लेखक के विचारों की असंगति है और ऐसी असंगतियाँ चौहान के वाक्यों में अनेक हैं जैसा कि रामविलास जी ने निर्देश किया है। देखना यह होता है कि पूरे निबन्ध की ध्वनि क्या है और किस प्रसंग में किस स्थान पर असंगति वाले वाक्य कहे गये हैं। हमें यह स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं है कि शिवदान सिंह ने अपने निबन्धों में अधिक गंभीर ढंग से प्रगतिशील साहित्य पर विचार किया है। उनका दृष्टिकोण सामाजिक यथार्थवाद का है, साथ ही साथ वे साहित्य के अधिक स्थायी सौन्दर्य-मूल्यों का आकलन करते हैं। वे प्रगतिवादी साहित्य के राजनीतिक और सामयिक प्रचार के पहलू पर आघात करते हैं और साहित्य का संबंध सामाजिक संघर्षों के भीतरी तत्वों से

---

[१] प्रगतिशील साहित्य की समस्याएँ, डा० रामविलास शर्मा।

मानते हैं । चौहान साहित्य के विषयपक्ष और कलापक्ष दोनों को महत्व देते है । डा० शर्मा यदि तटस्थता से देखें और विचार करें तो उन्हें चौहान समग्रतः सच्चे प्रगतिशील समीक्षक दिखाई पड़ेंगे । निबंध के किसी अंग को काटकर विकृत बना कर पाठकों के सामने रखेंगे तो अवश्य वे कच्चे पाठकों के मन में चौहान के साम्राज्यवादी होने का विश्वास जगा सकेंगे ।

इसी प्रकार यशपाल, राहुल आदि कलाकारों को सीधे-सीधे सामन्त-वादी और पूँजीवादी दृषि कोण का कलाकार कह देना हिमाकत की बात है । प्रगतिशील विचारक का मतलब शायद शर्मा जी उस व्यक्ति से लगाते हैं जो एक विशेष साँचे में ढलकर ठीक-ठीक वैसा ही निकले जैसे कि शर्मा जी हैं । वे क्यों नहीं स्वीकार करते कि प्रगतिशील विचा-रकों में भी कहीं-कहीं मतभेद हो जाना संभव है । इस मतभेद से किसी को अप्रगतिशील कह देना ठीक नहीं है । हाँ, आप इस बात के लिए पणंतः स्वतंत्र हैं कि उन मतभेदों पर आप अपने गंभीर विचार गंभीरता से व्यक्त करें । यशपाल और राहुल की कृतियों में अश्लीलता हैं इस बात से उन्हें बहुत दुःख है और जैनेन्द्र, यशपाल राहुल, अश्क, अज्ञेय सभी को एक ही कतार में खड़ा कर देते हैं । क्या यशपाल, राहुल, अश्क और जैनेन्द्र, अज्ञेय के दृष्टिकोणों में समानता है ? क्या दोनों वर्ग दो दृष्टियों से अश्लीलता का चित्रण नहीं करते ? माना कि अश्लील चित्रण बुरा है किन्तु क्या इसी एक दोष के आधार पर लेखक की अन्य सारी अच्छाइयों को तरह दे जाना आलोचक की ईमानदारी है ? इन दोनों प्रकार के कथाकारों में अभिप्राय का अन्तर है—यशपाल आदि की कथाओं का उद्देश्य केवल नग्नता का चित्र उतारना नहीं होता है वरन् कुछ सामाजिक लक्ष्य होता है उन्हें बचा कर केवल तथाकथित दोषों का दर्शन कराना अन्याय है । जैनेन्द्र, अज्ञेय, फ्रायड के अंतश्चेतनावाद के सिद्धान्त से प्रभावित हैं । यह सिद्धान्त व्यक्तिवादी अतः समाज विरोधी और प्रतिक्रियावादी है । इनके अश्लील चित्रण का उद्देश्य अश्लील चित्रण ही होता है, ये दूसरी कोटि के लोग हैं । इनकी कथाओं में सामाजिक शक्ति नहीं, इनके पात्र अहंवादी, उलझे हुए और पुंसत्वहीन होते हैं । किन्तु इन्होंने कथा साहित्य को जो नया शिल्प-विधान दिया है, जो नई शैलियाँ दी हैं उन्हें स्वीकार करने में क्या संकोच ? उन्होंने जितना नहीं दिया या

विकृत दिया उसके प्रति हमारी शिकायत न्यायसंगत है किन्तु उन्होंने जो दिया उसे अस्वीकार कर देना अन्यायपूर्ण है । चौहान और नेमिचन्द जैन शर्मा जी के कोपभाजन इसलिए हुए कि उन्होंने शेखर एक जीवनी के विषयपक्ष की कमजोरी स्वीकार करते हुए शिल्प विधान की नवीनता की दृष्टि से उसे ऊँचा स्थान दिया है । यह ऊँचा स्थान भी सापेक्ष शब्द है और उसे उसके आसपास के निकले हुए उपन्यासों को ध्यान में रख कर देखना होगा ।

यह अवश्य है कि प्रगतिशील विचारकों की दृष्टि में विषयपक्ष और कलापक्ष का स्पष्टतः अलगाव ठीक नहीं और संभव भी नहीं । इसलिए वे यह नहीं मानते कि विषयपक्ष के कमजोर होने पर कलापक्ष उन्नत हो सकता है । यह ठीक है कि शेखर एक जीवनी का विषयपक्ष असामाजिक और प्रतिक्रियावादी है अतः उसका शिल्पपक्ष भी सामाजिक स्वास्थ्य की दृष्टि से उन्नत नहीं कहा जा सकता । किन्तु यह तो निश्चित है कि विषय को व्यक्त करने के लिए कला की साधना करनी पड़ती है । इसी कला की साधना के अभाव में बहुत सी प्रगतिशील चीजें सतही और उद्बोधन शील अतः प्रभावशून्य हो जाती हैं । अज्ञेय और जैनेन्द्र से हम इस बात की सीख लें कि कला में संयम कैसे लाया जाता है, अपनी बात कहने के लिए हम अभिव्यक्ति के सौन्दर्यों को कैसे कहाँ से ग्रहण करें, क्या कहें क्या छोड़ें और भाषा, संवाद, दृश्य विधान, संवेदना-निरूपण की प्रचलित परिपाटियों में कैसे नया प्रयोग कर नये व्यंजना-सौन्दर्य की सृष्टि करें । क्या सामाजिक यथार्थ को व्यक्त करने के लिए ये प्रश्न नही खड़े होते ? जैनेन्द्र, अज्ञेय ने अपने विषय और कला का सम्यक् सामंजस्य किया है । डा० रामविलास एक ओर अज्ञेय द्वारा संपादित प्रतीक दूसरी ओर मार्क्सवादी शिव वर्मा द्वारा सम्पादित 'नया पथ' के व्यक्तित्वों को देखें । क्या कह सकते हैं कि 'नया पथ' 'प्रतीक' से अच्छा है ?

इसी प्रकार रामविलास जी ने शरत्चंद्र चट्टोपाध्याय पर एक निबन्ध लिख कर उनके उपन्यासों के सामाजिक अभावों को देखा है । लेखक की दृष्टि पैनी है, पकड़ मजबूत है यह हमने स्वीकार किया है । इसलिए शरत् बाबू के उपन्यासों में शर्मा जी ने जो खामियाँ दिखाई हैं वे हैं । इतने बड़े लेखक के दोषों को इतनी निर्भीकता से उद्घाटित करना डा०

शर्मा का ही काम है किन्तु फिर मैं निवेदन करूँगा कि शरत बाबू की महती उपलब्धियों पर विचार नहीं हुआ है। इस निबन्ध को पढ़ने से पाठक की धारणा हो जायगी कि शरतचन्द्र दो कौड़ी के कथाकार थे। किन्तु यह विदित है कि शरत् बाबू के पाठक असंख्य हैं और उनमें छोटे से छोटे और बड़े से पाठक सम्मिलित हैं। वहाँ कौन सा सौन्दर्य है जो शरत् के उपन्यासों को इतना जीवन्त बनाए हुए है। क्या शरत् बाबू में मानवतावादी परंपरा का कोई प्रभाव नहीं ? यदि है तो किन रूपों में ? शरत् बाबू में नये प्रभाव भी बहुत हैं जैसे शेष प्रश्न में। इन सबका निरूपण करके ही शर्मा जी शरत् के प्रति न्याय कर सके होते। श्री सुमित्रानन्द पन्त पर लिखा हुआ उनका निबन्ध पैना था। जिन दोषों को उन्होंने पकड़ा था वे दोष निश्चय ही पन्त में हैं और फूहड़ रूप में हैं किन्तु वह निबन्ध जैसे खीझ में दोष-दर्शन कराने के लिए ही लिखा गया था। उसमें पन्त का सौन्दर्य उद्घाटित नहीं किया गया था।

दूसरे प्रकार के निबन्ध वे हैं जिनमें लेखक ने कवियों, लेखकों के विषयपक्ष के विवेचन के साथ उनकी प्रशंसा की है। 'प्रेमचन्द' पुस्तक में डा० साहब ने प्रेमचन्द के उपन्यासों में चित्रित सामन्ती और महाजनी सभ्यता की कुरूपताओं, उनके शोषणों, किसान मजदूर वर्ग से उनके सम्बन्धों, दलित पीड़ित वर्गों के उठते हुए विश्वासों तथा उनकी कमजोरियों आदि के विविध रूपों का वर्गीकरण किया है। यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि प्रेमचन्द का वर्ण्य विषय सामाजिक यथार्थ, सामाजिक मनोविज्ञान और नव-युगीन मानवीय दृष्टिकोण से अनुप्राणित था। 'प्रेमचन्द और उनका युग' में प्रेमचन्द के उपन्यासों को विकास क्रम से लेकर अलग-अलग उनकी विवेचना की गई है। यह दिखाया गया है कि समाज की विभिन्न ज्वलंत समस्याएँ प्रेमचन्द के उपन्यासों में अंकित हैं—क्रमशः उन समस्याओं के स्वरूप में व्यापकता और मार्मिकता आती गई है। नारी की पराधीनता की समस्या, किसानों की गरीबी, कर्जखोरी-बेदखली की समस्या, राष्ट्रीय आन्दोलन की समस्या आदि प्रेमचन्द साहित्य के वर्ण्य विषय हैं। डा० साहब ने बड़ी सफाई और विश्वास के साथ इन वर्ण्य विषयों के सौन्दर्यों का उद्घाटन किया है—उन सामाजिक शक्तियों का विश्लेषण किया है जो प्रेमचन्द साहित्य की रीढ़ हैं। उन अन्तश्चेतनावादियों का बड़ा तर्क पूर्ण खण्डन किया है जो प्रेमचन्द-साहित्य में मनो-

विज्ञान का अभाव देखते हैं। इन दोनों पुस्तकों में प्रेमचन्द के शिल्प विधान पर प्राय: नहीं कहा गया है लेखक केवल उनकी अनुभूति पक्ष और विचारपक्ष तक ही सीमित रहा है। प्रेमचन्द्र डा० शर्मा के प्रिय लेखक हैं लेकिन उन्होंने प्रेमचन्द के कल्पित आदर्शों, समाधानों और असंगतियों का भी निर्ममता-पूर्वक उद्घाटन किया है।

'भारतेंदु-युग' में भी लेखक की यही प्रवृत्ति रही है। भारतेंदु युग के लेखकों और कवियों ने आधुनिक काल में सामाजिक यथार्थ का सूत्रपात किया। उनमें सामन्ती संस्कार भी थे और नये जन जीवन की चेतना भी। उन्होंने अपने व्यक्तिगत जीवन और साहित्य दोनों में सामाजिक रूढ़ियों को तोड़ने की कोशिश की, राजनीतिक आन्दोलनों से प्रभावित हो विदेशी सत्ता की निन्दा की और अन्य देशों के भी मानवतावादी युद्धों से वे प्रभावित हुए। इन कवियों और लेखकों ने अभिजात संस्कार से उतर कर जन-जीवन के विषय और कला पक्ष को ग्रहण किया। इनका विश्लेषण प्रस्तुत ग्रंथ में हुआ है। विषय की सामाजिकता, नवीन जागर्ति मय दृष्टि के बावजूद भारतेंदु काल के साहित्य में वह कौन सा अभाव था जिससे उच्चतम कोटि के साहित्यिक सौन्दर्य की सृष्टि नहीं हो सकी, इसकी परीक्षा छूट गयी है।

'निराला' पुस्तक, तथा निराला और मुक्त छन्द, कवि निराला आदि निबन्धों में डा० शर्मा की व्यावहारिक समीक्षा का सबसे संतुलित रूप दिखाई पड़ता है। लेखक ने कवि का सर्वांगीण विवेचन किया है, उसकी उपलब्धियों और सीमाओं पर तटस्थ भाव से विचार किया है। इसी प्रकार इन्होंने शैली और रवीन्द्रनाथ के तुलनात्मक निबन्ध में दोनों महाकवियों की सौन्दर्य-चेतनाओं का विविध रूप उद्घाटित किया है।

इधर इनके कुछ ऐसे निबन्ध देखने में आये हैं जो सर्वथा स्तुति-मूलक हैं। उनमें प्रतिक्रिया का भाव लक्षित होता है—अर्थात् यदि तुम यह कहोगे तो मैं यह कहूँगा। 'आचार्य रामचन्द्र शुक्ल' पुस्तक में शुक्ल जी पर और 'नया पथ' में प्रकाशित 'उपन्यासकार वृन्दावनलाल वर्मा', 'साहित्य में लोक जीवन की प्रतिष्ठा और स्व० जयशंकर प्रसाद' निबन्धों द्वारा वर्मा जी और प्रसाद जी पर नये ढंग से विचार हुआ है लेकिन उस नवीनता के आग्रह में इन लेखकों की कमजोरियों को या तो छिपा दिया गया

है या उन्हें गुणों में परिणत कर दिया गया है। आचार्य शुक्ल पर जो निजी आग्रह, मर्यादावाद, युग निरपेक्षता का आरोप किया गया है वह यों ही नहीं है। आचार्य शुक्ल ने सामाजिक भाव-चित्रण और रस निष्पत्ति के क्षेत्र में आइ० ए० रिचार्डस को अपना आदर्श माना है और डा० शर्मा ने रिचार्ड के रस सिद्धान्त को साफ-साफ उड़ा दिया है और शुक्ल जी को सराहा है। शुक्ल जी ने जितना दिया बहुत दिया, वे अपने क्षेत्र में अन्यतम हैं लेकिन समीक्षक का कर्तव्य होता है कि इस महान आलोचक की सीमाओं का निर्देश कर यह स्पष्ट करे कि उनके आगे साहित्य में और कौन-कौन से काम हुए हैं। मेरी यही शिकायत डा० शर्मा के और दोनों निबन्धों से भी है। ऐसे ही आपने 'तुलसी साहित्य के सामन्त विरोधी मूल्य, निबन्ध में तुलसी साहित्य से काम भर की चीजें छाँट ली हैं और सिद्ध कर दिया है कि तुलसीदास बहुत बड़े सामन्त विरोधी थे। बात तो नयी है किन्तु पूर्णतः सत्य नही। यह सत्य है कि तुलसी बहुत महान कवि थे। उनकी महानता के कारणों में अन्य बहुत सी बातें आती हैं।

डा० शर्मा की दृष्टि, पकड़, समझ और अनुभूतिशीलता में आलोचक की पूरी-पूरी क्षमता है जहाँ वे तटस्थ होकर विचार करते है वहाँ अच्छी चीज दे जाते हैं जहाँ आग्रही हो उठते हैं वहाँ निन्दा और स्तुति के दो अलग-अलग मार्ग पकड़ लेते हैं। फिर भी शर्मा जी में नवीनता है, मौलिकता है, वे पिटे-पिटाए, घिसे-घिसाए मार्ग से चलना पसन्द नही करते। उनकी अभिव्यक्ति प्रणाली बड़ी ही स्पष्ट, प्रत्यक्ष और तीखी है। वह पाठकों को सीधे प्रभावित करती है।

प्रकाशचंद्र गुप्त

प्रकाशचंद्र जी प्रगतिशील समीक्षकों में अपना स्थान रखते हैं वह इसलिए कि उन्होंने प्रगतिशील आन्दोलन को अपने लेखों से अधिक सहयोग दिया है। 'नया हिन्दी साहित्य' और 'हिन्दी साहित्य की जनवादी परंपरा' उनकी ये दो मुख्य समीक्षा पुस्तकें हैं। प्रगतिशील समीक्षा के जितने मानदण्ड होते हैं सबको गुप्त जी ने अपनी आलोचनाओं का आधार

बनाया है । किन्तु सिद्धान्त-निरूपण और व्यावहारिक समीक्षा दोनों क्षेत्रों में गुप्त जी की कोई मौलिकता या गहरा चिन्तन दृष्टिगत नहीं होता । उन्होंने प्रायः मार्क्सवादी पुस्तकों में उल्लिखित ऐतिहासिक और सामाजिक तथ्यों और कला के साथ उनके संबंधों को बहुत सामान्य ढंग से निरूपित किया है । वे परिचयात्मक अधिक हैं विवेचनात्मक और मौलिक चिन्तापरक कम । ऐतिहासिक या वर्तमान समाज की जो संश्लिष्ट वास्तविकता थी, उनके जो जटिल संबंध थे उनकी छानबीन में न पड़कर उन्होंने मोटे तौर पर किसी युग की वास्तविकता को प्रस्तुत कर दिया है ।

इसी प्रकार इनकी व्यावहारिक आलोचना में व्याख्या की मार्मिकता, गहरी पकड़, सौन्दर्य-बोध की सूक्ष्मता, भेदक गुणों के विश्लेषण का अभाव सा है । ये कृतिकारों और उनकी कृतियों का एक स्थूल परिचय देते चलते हैं । उस परिचय में कोई नवीन सत्य उद्घाटित नहीं होता ।

कहीं-कहीं इनका सौन्दर्यबोध इतना उदार हो उठता है कि वे सभी प्रकार की कविताओं को युग चेतना का प्रतिनिधि मानने लगते हैं जैसे बच्चन की कविताओं को आपने उन्नति पथ की ओर अग्रसर कृतियाँ माना है । 'बच्चन उन्नति के पथ पर तीव्रगामी कवि हैं । लोकमत ने आपका नाम हालावाद के साथ जोड़ रखा है किन्तु आप हालावाद को भी पीछे छोड़ चुके हैं । 'मधुशाला' 'मधुबाला' 'मधुकलश' 'निशा निमंत्रण' एकांत संगीत' 'सतरंगिनी' आदि उन्नति पथ के पग हैं । मधु के अतिरिक्त आप 'पगध्वनि' आदि अनेक कविता लिख चुके हैं जो हिन्दी में प्रसिद्धि पा चुकी हैं । 'पगध्वनि' और 'निशा निमंत्रण' के गीत बच्चन बड़ी सुन्दरता से और मीठे स्वर से सुनाते हैं । आपकी कविता में भी जीवन के प्रति घोर असंतोष और विद्रोह भाव है[१] ।

उपर्युक्त उद्धरण से स्पस्ट है कि गुप्त जी बच्चन की कविताओं का स्पष्ट स्वरूप-निर्देश नहीं कर सके हैं, उनमें जीवन के प्रति असंतोष और विद्रोह किस प्रकार का है और वह विद्रोह किस प्रकार के जीवन के प्रति है, आदि भेदक गुणों का स्पष्टीकरण नहीं कर सके हैं । इसे पढ़ने से

---

[१] नया हिन्दी साहित्य एक दृष्टि, प्रकाशचंद्र गुप्त, पृ० ४० ।

लगता है कि बच्चन भी जैसे स्वस्थ सामाजिक भाव भूमि को अपनाने वाले कवि हैं। दूसरी बात यह है कि आलोचना की दृष्टि कविता की गहराइयों में न पैठ कर यह देखने लगती है कि "पग ध्वनि और निशा निमंत्रण के गीत बच्चन बड़ी सुन्दरता से और मीठे स्वर से सुनाते हैं।" इसी कार की आलोचना का आपकी पुस्तकों में प्राचुर्य है।

प्रकाशचन्द्र जी की उदारता इसी प्रकार के ह्रासशील कवियों को प्रायः छूट दे देती है। वह छूट इस मानी में नहीं होती कि वे उनकी कृतियों के कलात्मक सौंदर्य की निष्पक्ष परीक्षा करते हैं (ऐसा तो होना ही चाहिए, किसी भी वर्ग का कलाकार हो उसकी संवेदनात्मक गहराई का परीक्षण तो होना ही चाहिए) बल्कि वह इस मानी में होती है कि उनकी ह्रासशील प्रवृत्तियों का समुचित विश्लेषण न कर उन्हें भी स्वस्थ विकासोन्मुख साहित्य धारा में शामिल कर लेते हैं या उन्हें अनिर्णीत छोड़ देते हैं। इधर उनके वार्षिक साहित्य के रिव्यूज़ वाले निबन्धों में प्रायः इस प्रकार की प्रवृत्ति देखने को मिली है।

नये लेखकों और कवियों को उठाने में भी उनकी उदारता दिखाई पड़ती है। यह एक अविवार्य गुण है किन्तु उनका यह प्रयास इसलिए सदोष हो जाता है कि वे उन प्रगतिशीलों की सराहना और विज्ञापन करते हैं जो कला के सौन्दर्य के प्रति सजग नहीं हैं वरन् कुछ उद्‌बोधन के ढंग की चीजें सपाट रूप से लिखते हैं। यहीं उनकी उदारता संकीर्णता-ग्रस्त हो जाती है या कहिए कि उनका सौन्दर्य-बोध अपेक्षाकृत स्थूल है (इस संबंध में एक बात का उल्लेख आवश्यक है कि हिन्दी के अधिकांश प्रतिष्ठित और नये आलोचक इस संरक्षण वृति (पेट्रनाईजिग मेंटिलिटी) के शिकार हो रहे हैं और निश्चय ही उनकी आलोचना के वे स्थल सदोष हो उठते हैं) यही कारण है कि वे पन्त की कृतियों में ग्राम्या को अन्यतम मानते हैं।

गुप्त जी इंगलिश के प्रोफेसर हैं पाश्चात्य आलोचना साहित्य से उनका परिचय है—विशेषतया नवीन साहित्य से। अतः उनके अधिकांश निबन्ध नवीन इंगलिश साहित्य से प्रभावित हिन्दी साहित्य से ही संबद्ध होते हैं। यों वे यदाकदा सूरदास आदि पुराने कवियों पर भी लिख दिया करते हैं।

प्रकाशचन्द्र जी की आलोचना-पद्धति के सम्बन्ध में डा० रामविलास शर्मा के ये विचार महत्वपूर्ण हैं—

"प्रकाशचंद्र गुप्त काफी अर्से से प्रगतिशील आदर्शों के अनुसार हिन्दी साहित्य का मूल्यांकन करते रहे हैं। आदर्शों में मतभेद न होते हुए भी उनके मूल्यांकन से मैं सब कहीं सहमत नहीं हो पाता और मुझे ऐसा लगता है कि पन्त जी की भाँति उनके हृदय में कुछ कोमल कोमल है जो उन्हें ओज गुण से प्रसाद गुण की ओर अधिक ले जाता है। फिर भी वे जिस तरह अपनी आलोचना से किसी को रुष्ट नहीं करते, अपनी सज्जनता की मधुर छाप से अपने लेखों को भी मधुर बना देते हैं और जिसका भी विरोध करना होता है उसे पहले प्रशंसा से खुश कर देते हैं इन सब बातों को देखकर मुझे उनसे ईर्ष्या होने लगती है[१]।"

---

[१] हंस प्रगति अंक, डा० रामविलास शर्मा, (फरवरी-मार्च १९४३)।

चतुर्थ उत्थान (मनोविश्लेषणवाद से प्रभावित समीक्षा)

७

चतुर्थ उत्थान (मनोविश्लेषणवाद से प्रभावित समीक्षा)

वर्तमान काल

मनोविश्लेषणवादी समीक्षा का सम्बन्ध मूलतः मनोविज्ञान से है। मनोविज्ञान साहित्य के लिए कोई नयी वस्तु नहीं है। व्यावहारिक समीक्षाओं में कवि या लेखक और उसके पात्रों की आन्तरिक स्थितियों, अर्न्तद्वन्द्वों, मानसिक भाव-भूमियों का उद्घाटन होता रहा है। हिन्दी में आचार्य शुक्ल ने व्याख्या की गहराई में उतर कर आलोच्य कवियों की कृतियों के भीतरी स्तरों को उद्घाटित किया। शुक्ल जी ने मनोवैज्ञानिक सत्यों के उद्घाटन के साथ-साथ वाह्य सामाजिक नैतिकता के निर्वाह पर विशेष ध्यान रखा किन्तु स्वच्छन्दतावादी समीक्षकों ने केवल रचना की अनुभूति को ही उसका सब कुछ माना। अनुभूति का सम्बन्ध हृदय से होता है। स्वच्छन्दतावादियों की दृष्टि सामाजिक राजनैतिक परिपार्श्व के विस्तार की ओर न जाकर कवि की निजी अनुभूति और भाव-सौष्ठव की गहराई में उतरती गयी। उन्होंने घोषणा की कि कविता में अनुभूति मूल वस्तु है और अनुभूति छोटी बड़ी नही होती। तात्पर्य यह कि इन आलोचकों ने कवियों के मानसिक पक्ष का ही मार्मिक उद्घाटन किया। प्रगतिवाद ने समीक्षा का मानदण्ड बदला। उसका दृष्टिकोण समाजवादी हुआ। मनोविज्ञान का बड़ा ही सूक्ष्म और प्रौढ़ रूप समीक्षा में दृष्टिगत हुआ किन्तु यह मनोविज्ञान निरा व्यक्तिगत न होकर सामाजिक हुआ। अर्थात् व्यक्तियों की मानसिक दशा परिस्थितियों की सापेक्षता में कैसी हुआ करती है, उनमें कैसे-कैसे परिवर्तन आया करते हैं, उनमें विभिन्न ढाँचों में गढ़े गये वर्गो की क्या वैचारिक और भावनात्मक स्थितियाँ होती हैं, उन वर्गों के पात्रों में वर्गों की आंतरिक विशेषताएँ कौन-कौन होती हैं और उनमें अपनी निजी वस्तुएँ कहाँ तक हो सकती हैं और सामाजिक समर्थनों और विरोधों में वे कहाँ तक पनप सकती हैं, इन मनोवैज्ञानिक सत्यों का चित्रण और परीक्षण प्रगतिशील साहित्य की रचना और समीक्षा में हुआ करता है।

अतएव मनोविज्ञान पश्चिम और पूरब के साहित्य के लिए अपरचित वस्तु बिलकुल नही है किन्तु मनोविश्लेषणवादी समीक्षा का संबंध मनो-

विज्ञान से होकर भी मनोविज्ञान के एक विशेष संप्रदाय से है। यह समीक्षा फ्रायड के अंतश्चेतनावादी सिद्धान्तों पर आधारित है जिस प्रकार प्रगतिशील समीक्षा-मार्क्सवादी समीक्षा-समाजवादी सिद्धान्तों पर। मार्क्सवादी समीक्षा का स्वरूप पूर्णतः स्पष्ट हो चुका है। रूस के अतिरिक्त अन्य देशों के साहित्य में भी और हिन्दी साहित्य में भी इस दर्शन को आधार मान कर बहुत साहित्य रचा गया है और उनके परीक्षण की विधि का स्पष्ट स्वरूप सामने आ चुका है किन्तु मनोविश्लेषणात्मक समीक्षा का कोई सर्वमान्य मानदण्ड विश्वास के साथ घोषित नही हुआ है, फिर भी एक वर्ग ऐसा अवश्य है जो फ्रायड और उनके शिष्यों द्वारा प्रतिष्ठित सिद्धान्तों को आधार मानकर काफी दूर तक चलने का प्रयास करता है। अंगरेजी में मनोविश्लेषण के सिद्धान्तों को आधार मान कर शेक्सपीयर आदि के ग्रंथों की समालोचना हुई है अतएव इंगलिश में यह एक वाद के रूप में स्वीकार किया जा सकता है किन्तु हिन्दी में यह अभी साहित्यिक वाद के रूप में अपने किसी सामान्य गुण धर्म की प्रतिष्ठा नही कर सका है। यह सत्य है कि फ्रायड एडलर युग के मनोविश्लेषणवादी सिद्धान्त आज के अनेक हिन्दी साहित्यकारों और समीक्षकों को प्रभावित कर सके हैं किन्तु किसी भी समीक्षक ने इसे ज्यों का त्यों नहीं स्वीकार किया, उस पर भिन्न-भिन्न वादों और मतों के प्रभाव स्पष्ट लक्षित हैं (इन विभिन्न मतों और वादों के प्रभावों की व्याख्या लेखकों पर अलग-अलग लिखते समय होगी)। उन सबमें सामान्य बात इतनी ही है कि वे सभी कुछ-कुछ दूरियों तक मनोविश्लेषणवाद से प्रभावित हैं। इसीलिए हम हिन्दी की इस समीक्षा प्रणाली को मनोविश्लेषणवादी न कह कर मनोविश्लेषण प्रभावित कहना पसन्द करते हैं। चूँकि मनोविश्लेषण का मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त इन सभी समालोचकों में कुछ दूर तक सामान्य है अतः हम इस सामान्य सिद्धान्त के स्वरूप पर बहस करना चाहते हैं।

साहित्य की प्रेरणा

फ्रायड ने अपने मनोविज्ञान के सिद्धान्त-निरूपण में साहित्य रचना की प्रेरणाओं पर विचार किया है यह विचार साहित्य के अब तक के आचार्यों के विचारों से सर्वथा भिन्न है। संस्कृत साहित्य के आचार्यों ने साहित्य की प्रेरणा या प्रयोजन के सम्बन्ध में व्यापक विचार प्रस्तुत किया

है। भरत मुनि का कहना है कि काव्य के द्वारा सभी मनोभिलाष पूरे होते हैं[१]।

भामह के कथनानुसार काव्य अर्थ, धर्म और काम के साथ-साथ मोक्ष का भी साधन है। काव्य के प्रयोजन के सम्बन्ध में सबसे प्रसिद्ध उक्ति आचार्य मम्मट की है।

काव्यं यशसे अर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये
सद्यः परिनिर्वृत्तये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे

और विभिन्न आचार्यों ने मम्मट के इस कथन का भाष्य किया है।

भक्तिकालीन हिन्दी कवियों में श्रेष्ठ कवि तुलसीदास जी ने स्वांतः सुखाय काव्य सृष्टि की। यद्यपि उनके स्वांतः सुखाय में 'कीरति भनित भूति भल सोई, सुरसरि सम सब कर हित होई' की भावना भी निहित थी। अर्थात् वह ऐसे व्यक्ति के स्वांतः सुख के लिए लिखी गयी कविता थी जिसका स्व पर में अन्तर्भूत हो गया था, जिसका महान व्यक्तित्व सर्वभूत की संवेदनाओं से निर्मित था। जिसका स्वसामाजिक चेतनाओं का पुंजीभूत रूप था। सभी महाकवियों के स्वर और पर में यही सम्बन्ध होता है। और उनकी कविताएँ स्वांतः सुखाय के साथ-साथ पर सुखाय भी होती हैं। उनके स्वांतः सुखाय कहने का तात्पर्य यह होता है कि वे किसी के आदेश पर रचना करने नहीं बैठते हैं बल्कि जब उनकी सच्ची अनुभूतियाँ उन्हें प्रेरित करती है तभी लिखने बैठते हैं।

रीतिकालीन कविताओं की प्रेरणा अर्थ से प्राप्त होती थी। वे राजाओं के आदेश पर उनकी विलास-तृष्णा की तृप्ति के लिए बँधी

---

[१] धर्मो धर्मप्रवृत्तानां कामः कामोपसेविनाम्
निग्रहो दुर्विनीतानां विनीतानां दमक्रिया
क्लीषानां धाष्टर्भजननमुत्साहः शूरमानिनाम्
अबुधानां विबोधश्च वैदुष्यं विदुषामपि
दुःखातीनां श्रमातीनां शोकातीनां तपस्विनाम्
विश्रान्तिजननं काले नाट्यमेतद्भविष्यति
धर्म यशस्यमायुष्यं हितं बुद्धि विवर्द्धनम्
वेद विद्येति हासानामाख्यान परिकल्पनम् ॥

नाट् शास्त्र ।१। १०९-१२४।

बँधायी पद्धति से कविता लिखते थे । यों काव्य के प्रयोजन के सम्बन्ध में उन्होंने मौलिक चिन्तन के आधार पर कोई सिद्धान्त-निरूपण नहीं किया ।

भारतेन्दु काल में राष्ट्रीय और सामाजिक जागरण लेखकों को लिखने के लिए प्रेरित कर रहा था । पुनर्जागरण की नैतिकता द्विवेदीकालीन लेखकों को विशेषरूप से प्रभावित कर रही थी । छायावाद ने द्विवेदी-कालीन नैतिकता और स्थूल उपयोगिता के प्रति विद्रोह किया । सूक्ष्म सौन्दर्यानुभूति की अभिव्यक्ति ही काव्य का प्रयोजन या प्रेरणा हुई । कवि के हृदय में व्यक्तिगत सुख-दुख की गहरी चेतना विद्यमान है वह उसे स्वर देने के लिए व्याकुल है उसको व्यक्त किये बिना वह रह नहीं सकता । उसकी अनुभूतियाँ इतनी तीव्र और स्वाभाविक हैं कि वे अनायास स्वर धारा में फूट पड़ती हैं—वे स्पांटेनस ओवरफ्लो हैं, वे व्यंजना के लिए आभास नहीं करतीं । कवि अपनी व्यक्तिगत सुख-दुख की चेतना में ही संसार को रंग देते हैं । यह भी सत्य है कि उनकी सुख-दुख की अनुभूति देश काल से प्रभावित है लेकिन उनमें वैयक्तिक ऐकान्तिकता ही अधिक है सामूहिक वेग कम ।

प्रगतिवाद जनता को ही साहित्य की प्रेरणा मानता है । कवि या कलाकार समाज का प्राणी है । वह सामाजिक यथार्थ को चित्रित करने के लिए जागरूक रहता है । सामाजिक यथार्थ एक ओर समाज के प्राणी कलाकार की चेतना को निर्मित करता है दूसरी ओर उस चेतना द्वारा अपने को व्यक्त कराना चाहता है । सामाजिक यथार्थ बदलते रहते हैं इसलिए कलाकार की चेतना और उसकी कला में भी परिवर्तन आया करते हैं । अर्थात् कला के सौन्दर्य बोध की कसौटियाँ सामाजिक यथार्थ के साथ ही साथ बदला करती हैं । जो सच्चे कवि होते हैं वे अपने युग के सामाजिक यथार्थ जीवनोन्मुख जन-समूह को बारीकी से पहचानते हैं और उनके संघर्षों, आशा-निराशाओं, अभावों और उपलब्धियों और उनकी भावी विजय की सम्भावनाओं को अपनी कला में उतारते हैं अर्थात् जनता की ये अवस्थाएँ सद्कवि को कला निर्माण के लिए प्रेरित करती हैं । निर्जीव कवि अपनी व्यक्तिगत पीड़ाओं और मरणशील समाज की जर्जर वासनाओं को सत्य मानकर उन्हीं को अभिव्यक्ति देने का प्रयास करते हैं ।

मनोविश्लेषणवाद साहित्य की प्रेरणा की छानबीन के लिए एक नए

मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त की गहराई में उतरता है। उस पूरे सिद्धान्त पर एक दृष्टि डाल लेने से ही साहित्य की प्रेरणाविषयक फ्रायडिन विचार-धारा स्पष्ट हो सकती है।

फ्रायड के मतानुसार मनुष्य के चेतन मन की अपेक्षा अवचेतन मन अधिक व्यापक और शक्तिशाली है। मनुष्य का व्यक्तित्व बहते हुए हिमशैल की तरह है जिसका छोटा सा अंश चेतना की सतह के ऊपर लक्षित होता है और शेष नीचे छिपा रहता है। यह शेष भाग अवचेतन है और यह केवल विस्तृत ही नहीं शक्तिशाली भी है। चेतना में जो अंश प्रकट होता है वह अवचेतन से होकर आता है जहाँ वह जन्म लेता है। अवचेतन को चेतन के विषय का निर्धारक कहा जा सकता है।

फ्रायड के चेतन अवचेतन के सम्बन्धों को एक ही मकान की विभिन्न मंजिलों पर रहने वाले परिवारों के सम्बन्धों से समझा जा सकता है। पहली मंजिल पर विकास करने वाला—चेतन स्तर पर बसने वाला—परिवार सम्मानित है, अनुशासित है, नियम पालक है अपने को अपने तक सीमित रखता है पड़ोसियों के साथ सद्व्यवहार करता है अपने समान-यश को संसार से अम्लान रखता है। तहखाना-अवचेतन-बदनाम चरित्र वालों के परिवार से अधिकृत है। इसके कई सदस्य एक समय ऊपर वाले परिवार से सम्बन्ध रखते थे लेकिन उनके स्थान के अयोग्य होने के कारण वहाँ से निकाल दिए गये वे आदिवासी कामुक और स्वार्थी हैं। उनका पहला कार्य है अपनी इच्छाओं की पूर्ति करना और वे इच्छाएँ मुख्यतया यौन हैं। इसी इच्छा की पूर्ति के लिए वे ऊपर वाली मंजिल पर पहुँचने की कोशिश करते हैं। किन्तु ऊपर मंजिल वाले परिवार नीचे वालों के इस प्रयास को भयप्रद समझते हैं इसलिए वे अपने तक अपने ही को सीमित रखने के लिए दोनों मंजिलों के बीच के दरवाजे पर पुलिस मैन को खड़ा कर देते हैं जिसे सेन्सर कहते हैं। कभी-कभी यह सेन्सर नीचे वालों को ऊपर आने से रोकने में सफल हो जाता है और कभी-कभी उन्हें सर्वथा रोक सकने में असमर्थ हो जाता है। और अवचेतन इच्छाएँ चेतन में प्रकट हो सकने में समर्थ हो जाती हैं। इस अवस्था में सेन्सर उन्हें शुद्ध करने का प्रबन्ध करता है जिससे कि वे इच्छाएँ चेतन स्तर पर रहने लायक हो जाएँ। इस शुद्धीकरण के क्रम को 'सबलीमेशन' कहते हैं।

वे अवचेतन वासनाएँ जो बार-बार सेन्सर द्वारा दमित की जाती हैं, अपने आप तक लौट आती हैं और वे बाँध दी गयी नदी की भाँति अवचेतन में एक प्रकार के दलदल की सृष्टि करती हैं जिसे ग्रंथियाँ (कमप्लेक्स) कहते हैं। ये ग्रंथियाँ हिस्टीरिया, नर्वसनेस, उन्माद और प्रेत बाधाओं को जन्म देती हैं। ग्रंथियों को प्रकाश में लाने से और उन्हें बाहर कर देने से ये बीमारियाँ छूट सकती हैं जो कि वासनाओं के निरन्तर दमन के कारण उद्भूत हुई हैं। फ्रायड का विचार है कि चेतना की सारी वस्तुएँ अवचेतन के परिशोधित तत्त्वों को अवश्य किसी न किसी मात्रा में धारण किये रहती हैं। यह सिद्धान्त केवल मनुष्य के भावात्मक और वासनात्मक तत्त्वों तक ही सीमित नहीं वरन् यह उसके विश्वासों और विचारों पर भी लागू होता है। मनुष्य की कला रुचि और धर्म के प्रति विश्वास अवचेतन से उसी प्रकार निश्चित होते हैं जिस प्रकार उसकी किसी नारी सौन्दर्य के प्रति रुचि या अपने चरित्र के प्रति विश्वास।

फ्रायड के सिद्धान्तों के अनुसार मस्तिष्क के वास्तविक कर्म तर्क से नहीं, प्रवृत्ति और आवेग से संचालित होते हैं। मस्तिष्क स्पन्दनों, विचारों, बोध-ज्ञान और तार्किक क्रमों या कुछ निश्चित आध्यात्मिक सारों का समुच्चय नहीं है बल्कि वह एक गहरा और उर्मिल सिन्धु है जिसके रहस्यमय तत्त्व उसके चेतन स्तर या तर्क में उपलब्ध नहीं होते बल्कि वे पूर्ण अवचेतन और प्रवृत्तियों की गहराई में ही प्राप्त होते हैं[1]।

इस प्रकार नीतिशास्त्र—जिसे हम लोग तर्क की उपज समझते रहे हैं—

---

[1] The man is not a collection of sensations, perceptions, ideas and retional processes, or a certain spiritual substance having ideas, sensations and like, but rather a deep and troubled sea, where secrets are found, not in its placid surface of consciousness and reason, but in its profound unconscious and irrational depths. (Patrick, introduction to Philosophy, p. 262).

These illusions are derived from the life of fantasy...... At the heaf of these fantasy pleasures stands the enjoyment of works of Art. Art is thus 'a mild narcotic'......of life. —Civilisation and its discontents, Freud.

केवल एक आड़ है जिसे मनुष्य ने उन प्रवृत्तियों की रोक-थाम के लिए आविष्कृत किया है जिनके विस्फोट से समाज का अस्तित्व खतरे में पड़ जायगा। फ्रायड का कहना है कि चेतन द्वारा दमित वासनाएँ अपनी अभिव्यक्ति के लिए मार्ग ढूँढ़ती हैं। कुछ वासनाएँ ऐसी होती हैं जो दमित होकर विनाशकारी रूप से फूटती हैं और कुछ ऐसी होती हैं जो परिशोधित रूप में व्यक्त होती है। कला, स्वप्न और धर्म का निर्माण दमित वासनाओं के अभिव्यक्ति के मार्ग खोजने के कारण ही होता है। इनकी सृष्टि बुद्धि और विवेक से नहीं होती बल्कि दमित प्रवृत्तियों से ही होती है। फ्रायड समस्त महत्वपूर्ण और शक्तिशाली कार्यों की सृष्टि अवचेतन में स्थित वासनाओं और प्रवृत्तियों से ही मानता है। कला, नीति आदि वास्तविकताओं के नग्न रूप से हट कर माया-लोक की सृष्टि करने के साधन हैं। कला का महत्व इस बात में है कि वह वस्तुओं के वास्तविक रूप की असह्य स्वीकृति के विरुद्ध माया निर्मित करने वाली मनुष्य की आवश्यकता की पूर्ति करती है। अवचेतन में वर्तमान मूल प्रवृत्तियाँ सामाजिक मनुष्य के लिए असह्य हैं उन्हें वह ज्यों का त्यों नहीं स्वीकार करता। अतः वह कला के द्वारा एक ऐसे लोक की सृष्टि करता है जहाँ वे असह्य नंगी प्रवृत्तियाँ परिशोधित और ग्राह्य रूप में आती हैं। मनुष्य सामाजिक बन्धनों को भी ज्यों का त्यों नही स्वीकार कर सकता, वे भी असह्य होते हैं। वह उनसे भी बचने का प्रयत्न करता है। नीतिशास्त्र, कला और विज्ञान यहाँ तक कि सभी बौद्धिक क्रियाओं में हम इसीलिए प्रवृत्त होते हैं कि बाधित और दमित प्रवृत्तियों की क्षति-पूर्ति चाहते हैं। अर्थात् सभी बौद्धिक क्रियाओं के मूल में हमारी दमित काम-प्रवृत्तियाँ और वासनाएँ ही हैं। तात्पर्य यह है कि कलाकार अपनी चेतना से सामाजिक दायित्व का अनुभव कर कला सृष्टि नही करता वरन् वह अपनी अवचेतन-स्थित मूल प्रवृत्तियों और कामवासनाओं से प्रेरित होकर ही लिखता है। यहाँ तक कि हम वास्तविकताओं और सत्यों का निश्चय भी तर्कों से नहीं, सहज प्रवत्तिजन्य इच्छाओं से ही करते हैं। वे तार्किक क्रियाएँ जो तर्कों द्वारा किसी परिणाम पर पहुँचने का प्रयास करती हैं—उस परिणाम तक जहाँ कि प्रवृत्तियाँ पहले से ही पहुँची रहती हैं—उन्हीं प्रवृत्तियों के ही परिशोधित रूप हैं।

नैतिकता के संबंध में भी फ्रायड का यही दृष्टिकोण है। वह व्यक्तित्व

के तीन अंश को मानता है 'इड', 'इगो,' 'सुपर इगो'। ड अवचेतन है। इगो (अहं) स्व के प्रति चेतना है जिससे हम परिचित रहते हैं और सुपरइगो वह वस्तु है जहाँ एक सभ्य वयस्क का इगो पहुँचना चाहता है। इगो को सुपरइगो तक पहुँचने में मूल असभ्य प्रवृत्तियों द्वारा बाधा पहुँचती है। इसलिए इगो बार-बार इड को दबाता है। इगो सुपरइगो तक पहुँचने के लिए मार्ग में बाधा देने वाले इड को नैतिकता और सभ्यता के द्वारा नीचे ढकेलता है। अन्ततोगत्वा सुपरइगो अपनी माँग पूरी करने के क्रम में इगो और इड दोनों को दबाता है।[1]

इस धारणा से सभ्यता के असन्तोष का मूल और फ्रायड की प्रणाली का लक्ष्य दोनों स्पष्ट हो जाते हैं। सौन्दर्य, स्वच्छता, अनुशासन, बौद्धिक व्यापार और सामाजिक संबंध सभी फ्रायड की इसी पद्धति पर जाँचे जाते हैं—अर्थात ये सभी इड की सहज इच्छाओं के परिशोधित रूप हैं।

एडलर

फ्रायड के समकालीन शिष्य एडलर ने फ्रायड के प्रतिपाद्य का समर्थन करते हुए भी कारणों और साधनों की दूसरी व्याख्या की। एडलर का कहना है कि व्यक्ति संसार में कमजोर, महत्वहीन और असहाय रूप में आता है। प्रवृत्ति से लड़ने में वह असमर्थ होता है और वह भोजन, वस्त्र तथा शरण के लिए अपने से बड़ों पर अवलंबित रहता है। बालक को प्रत्येक आवश्यकता की पूर्ति के लिए अपने बड़ों का मुँह ताकना पड़ता है दूसरी ओर वह देखता है कि उसके बड़ों के पास अधिक शक्ति है, वे विश्व के प्रति अधिक ज्ञान रखते हैं और जैसे चाहते हैं, रहते हैं। इन सब कारणों से वह बड़ों की शक्ति से अभिभूत हो उठता है वह एक हीनता की भावना का अनभव करने लगता है। अपनी हीनता की क्षति-पूर्ति के लिए वह अपने वातावरण को अपने द्वारा प्रभावित करना चाहता

---

[1] It does not trouble enough about the mental condition of human beings, it enjoins a command and never asks whether or not it is possible for them to obey it. It presumes on the contrary that a man's Ego is psychologically capable of any thing that is required of it—that his Ego has unlimited power over his idia —Civilisation and its discontents, Freud, p. 139.

है। वह अपने पर लोगों का ध्यान आकृष्ट करने के लिए अपने साथियों की प्रशंसा प्राप्त करने के लिए प्रयास करता है। किन्तु जब वह अपनी कोशिशों के बावजूद अपने वातावरण से कोई उत्तर नहीं पाता है समाज की अपने प्रति उपेक्षा देखता है तब उसे अत्यंत कष्ट होता है। और अपने प्रयास में असफल होकर कल्पना के अवास्तविक लोक में शरण लेता है जिसमें वह उन लोगों पर रोब जमाता है जो लोग उस पर हँस चुके हैं। इस प्रकार एडलर के कथनानुसार हीन भावना की यह अनुभूति बच्चों के प्रयत्नों को जन्म देने वाली प्रेरक शक्ति है। बच्चा अपनी हीनता की क्षतिपूर्ति के लिए जिन मार्गों को ग्रहण करता है वह उसके लक्ष्य का निश्चय करता है और जो उसके वयस्क जीवन के समस्त व्यापारों का निर्देश करता है।

बचपन की हीन भावनाओं की भिन्नताओं के कारण मनुष्य-मनुष्य के जीवन के लक्ष्य भिन्न-भिन्न हुआ करते हैं। वे स्पष्टतः दृष्टिगत नहीं होते हैं। यहाँ तक कि वे जीवन के व्यवहारों के संबंधों का भी निर्माण करते हैं ऐसे साँचे जिनमें हमारे जीवन के समस्त अनुभव अपना स्थान बना सकें। इस तरह किसी विशेष परिस्थिति में एक मनुष्य को आनन्द मिल सकता है दूसरे को ऊब आ सकती है। बचपन में हमारे व्यवहारों का जो साँचा बन जाता है उसमें यदि कोई अनुभूनि आवेग नहीं अँट पाते तो उन्हें हम स्वीकार करने से इनकार कर देते हैं।

युंग भी फ्रायड का समकालीन शिष्य ही था उसने इन दोनों के सिद्धान्तों को और उनकी सीमाओं को स्वीकार करते हुए एक तीसरे सिद्धान्त की स्थापना की। उसने जीवनेच्छा को ही मूल प्रेरक शक्ति माना। जीवनेच्छा में लोक, वित्त और पुत्र तीनों एषणाएँ समाविष्ट हो जाती हैं। मनुष्य जीना चाहता है, वह चाहता है कि उसका अस्तित्व अमर रहे, इसी इच्छा की पूर्ति के लिए वह अनेक प्रयत्न करता है। साहित्य निर्माण उन प्रयत्नों में से प्रमुख है। क्योंकि साहित्य द्वारा हम अपने को भलीभाँति व्यक्त कर सकते हैं और व्यक्त करना जीवन की इच्छा का ही एक रूप है। युंग के जिजीविषा वाले सिद्धान्त में फ्रायड और एडलर के सिद्धान्त समाविष्ट हो जाते हैं। युग व्यक्तिगत अवचेतन और सामूहिक या जातीय अवचेतन में अन्तर दिखाता है।

मनोविश्लेषण के इन सिद्धान्तों का प्रभाव आधुनिक साहित्य और समीक्षा पर पर्याप्त रूप से पड़ा है। वे प्रभाव मुख्यतया ये हैं—

(१) साहित्य निर्माण की प्रेरणा मनुष्य की चेतना से नहीं अवचेतन में दमित वासनाओं (काम वासनाओं, हीनता की क्षतिपूर्ति की वासनाओं, जीने की वासनाओं) से मिलती है।

(२) चूँकि अवचेतन में दमित वासनाएँ प्रवृत्तिमूलक होती हैं, सहज होती हैं, सामाजिक चेतन से विच्छिन्न होती हैं और उन्हीं दमित वासनाओं के परिशोधित रूप से साहित्य बनता है अतः साहित्य सामाजिक होने की अपेक्षा व्यक्तिगत अधिक होता है। साहित्य या कला में जो कुछ सामाजिक तत्व दिखाई पड़ते हैं वे कलाकार के सामाजिक दायित्व के अनुभव के परिणाम नहीं होते हैं बल्कि सामाजिक दबाव के परिणाम होते हैं अर्थात् कला स्वांतः सुखाय होती है।

(३) साहित्य या कला में बौद्धिकता नहीं वरन् प्रवृत्तियाँ काम करती हैं। बुद्धि या तर्क से हम मानव सत्य के किसी निर्णय पर नहीं पहुँचते बल्कि वे हमारी सहज प्रवृत्तियाँ हैं जो वास्तविकता और सत्य के पास तक हमें ले जाती हैं। प्रोफेसर मैकडुगल के अनुसार सहज प्रवृत्तियाँ ही मनुष्य प्रकृति की मूल शक्तियाँ हैं। बिना हम इन प्रवृत्तियों को संतुष्ट किए न सोच सकते हैं न कार्य कर सकते हैं[1]।

डा० जी० ई० यम० जोड ने मैकडूगल के उपर्युक्त कथन की व्याख्या करते हुए स्पष्ट किया है कि 'यहाँ तक कि यदि हम यह स्वीकार करें

---

[1] The instincts are the prime movers of all human activities by the conative or impulsive forces of some instincts every train of thought, however cold and passionless it may seem, is borne along towards its end, all the complex intellectual apparatus of the most highly developed mind is but the instrument by which these impulses seek their satisfaction. Take away these instinctive dispositions with their powerful mechanism and the organism would become incapable of activity of any kind, it would be inert and motionless like a wonderful piece of clock work whose main spring had been removed.

—Outline of Psychology, Mc. Dougale, p. 218.

कि हमारी मानसिक बनावट में संकल्प (विल) नाम की स्वतंत्र और अलग शक्ति है तो भी यह तब तक निष्क्रिय सिद्ध होगा जब तक प्रवृत्तियों की उत्तेजना उन्हें नहीं प्राप्त होती। हम एक अबोधित इच्छा को दबाने के लिए जब तक संकल्प (विल) का व्यवहार करने की इच्छा नहीं करते तब तक हम अबोधित इच्छाओं को दबा नहीं सकते। संकल्प (विल) का प्रयोग करने की इच्छा अन्य इच्छाओं की भाँति ही एक घटना है जो तात्विक रूप से प्रकृति में प्रवृत्तिमूलक ही है जिसके घटित होने या शक्ति के लिए हम उत्तरदायी नहीं करार दिये जा सकते[1]।'

(४) सामाजिक नैतिकता के पुराने रूप को धक्का लगा, इतनी ही बात नहीं हुई (प्रत्येक नवीन सामाजिक नैतिकता से पुरानी नैतिकता को धक्का लगता है) नैतिकता नाम की वस्तु से इस सिद्धान्त ने विश्वास उठा दिया। फ्रायड ने काम वासना को जीवन के प्रत्येक व्यापार में प्रेरक स्वरूप माना। समाज के ऐतिहासिक विकास ने क्रमशः परिवार और समाज में जो नैतिक संबंधों का विकास किया था उन्हें मनोविश्लेषण द्वारा फ्रायड ने नंगा कर दिया। उसने लिबिडो को मानव प्रकृति का मूल प्रेरणा स्रोत माना। और मनुष्य के समस्त संबंधों और व्यापारों में रति का अस्तित्व घोषित किया। छोटे-छोटे बच्चों को आत्म रति में सुख मिलता है। बच्चों का अंगूठा चूसना आत्म रति का ही एक रूप है बच्चों को मल त्याग और मूत्र त्याग में भी रति का सुख मिलता है। इससे एक कदम और आगे बढ़ कर फ्रायड वाडिपस काम्प्लेक्स (Oedipus complex) और इलेक्ट्रा कम्पलेक्स (Electra complex) की कल्पना करता है। जिनमें क्रमश. छोटे लड़के का अपनी माँ की ओर और छोटी लड़की का अपने पिता की ओर यौन आकर्षण होता

---

[1] Even if we admit that there is in our mental make up a seperate, independent something called the will, it remains in operative unless the urge of instinet is brought into play to set it going, unless therefore, we desire to use the will to suppress an unruly desire, we cannot in fact suppress it. Now the desire to use the will for this purpose is, like our other desires, an event which is fundamentally instinctive in character, for occurrence and strength of which we cannot be held responsible.
—Guide to Modern Thought, Dr. G. E. M. Joad, p. 254-55.

है। फ्रायड की व्याख्या के अनुसार पाप-पुण्य या गलत-सही का कोई स्वरूप निर्धारित करना व्यर्थ है। मनुष्य अपनी सहज प्रवृत्तियों से प्रेरित होता हुआ परिस्थितियों के अनुकूल कार्य किया करता है उन कार्यों के हो जाने या न हो जाने की उसकी कोई अपनी जिम्मेदारी नहीं है। इसलिए इस सिद्धान्त से प्रभावित उपन्यासों और कहानियों में चरित्रों का अभाव होता है। अर्थात् कोई स्मरणीय शक्तिशाली चरित्र इन उपन्यासों में उपलब्ध नही होता क्योंकि ये उपन्यासकार तो पात्र की अवचेतन स्थित मूल प्रवृत्तियों और चेतन के संघर्ष की उधेड़ बुन में ही लगे रहते हैं। कही-कहीं तो उनकी यह उधेड़ बुन अन्तश्चेतनावादी सिद्धान्तों की व्याख्या के समीप पहुँच जाती है। ये पात्र किसी दृढ़ निश्चय के हों, किसी सामाजिक महोद्देश्य के लिए अविचल भाव से लड़ने वाले हों, किसी सद्-असद् से संघर्ष करते हुए बीच-बीच में गिर कर भी पराजित न होते हों या पराजित भी होते हों तो उनके विश्वास न टूटते हों, इनमें व्यक्तिगत विशेषताओं के साथ वर्गीय शक्तियाँ, संभावनाएँ और कमजोरियाँ भरी हुई हों ऐसा कम देखने में आता है। वे जैसे भी है, भले है, बुरे हैं, सही हैं क्योंकि वे वही हो ही सकते थे। पुराने और नये उपन्यासों के उद्देश्यों के अन्तर स्पष्ट करने वाले डा० जी० ई० एम० जोड के ये विचार महत्वपूर्ण हैं—

For, while the object of the nineteenth century novelist is to create memorable characters to point a moral or to adorn a tab., the modern writer's chief concern is to find out exactly what people are like and to record his discoveries. His purpose is psychological research: he wants to get at all that there is in any individual, and in conducting his researches he discovers, what of course is obvious, that human beings are not simple for less simple in fact than the character in Victorian novels. Victorian characters when they are not down right heroes and villains are generally composed of few elements, of which the good preponderate notably over the bad, or vice versa, so that the reader is never left in any doubt, by the time he reaches the end of the book, which are nice people and which are not.

Now real people are not just good and bad, they are not even simple mixtures in which the balance of virtuous and vicious elements can be readily struck......A human being psychology

teaches, is mere like a river than a bundle of qualities running now fast now slow, now dear and turbid, he presents a different surface at every moment capable at one moment of supreme heroism, he is guilty at another of incredible meanness and as with individual, so also with the relations between them in a victorian novel a man's intentions towards an attractive woman are apt to be either virtuous or the reverse; in fact, however, every love-affair is composed of elements of gold and of clay, of sun light and of savagery which in a busy man's life women are alternately blown aloft like soap bubbles or jettisoned as lumber[1].

स्पष्ट है कि ऐसे पात्रों का जीवन निरुद्देश्यता का शिकार भी हो सकता है। किन्तु अनेक अनिश्चितताओं और चारित्रिक कमजोरियो के बावजूद मानव जीवन का एक महत् उद्देश्य है। इस महत् उद्देश्य से हीन ये पात्र सूने में भटक भी सकते हैं। यही इन उपन्यासों की कमजोरी है कि इनके अधिकांश पात्र सामाजिक जीवन से कट कर बिना रीढ़ की हड्डी के रह जाते हैं। वे अन्तर्मुखी होते हैं अर्थात् अधिकांश रूप में ये सब में केंद्रित होते है।

(५) मनोविश्लेषणवाद अवचेतन की दमित-वासनाओं को ही साहित्य की प्रेरणा मानता है और ये दमित वासनाएँ चिरन्तन और सनातन हैं इसलिए यह साहित्य की मूल चेतना को शाश्वत और चिरन्तन मानता है। अवचेतन की दमित वासनाओं पर परिस्थितियों का असर पड़ता है किन्तु वह ऊपरी असर होता है। यह असर मूल प्रवृत्तियों को इधर-उधर कमवेश किया करता है उसकी शाश्वतता में कोई अंतर नहीं पड़ता। साहित्य में यदि नवीनता आती है तो बस इसी अर्थ में, अर्थात् ऊपरी अर्थ में। इसलिए नवीन सामाजिक विधि-विधानों, नवीन राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक परिस्थितियों और अभिव्यक्ति की नूतनताओं के साथ चिरन्तन व्यक्ति-प्रवृत्तियों का संघर्ष और सामंजस्य होता रहता है।

(६) अभिव्यंजना के क्षेत्र में नये प्रयोग होने चाहिए। नये प्रयोग के पक्षपाती वे सभी लोग हैं जो युग को गतिशील मानते हैं और यह मानते हैं कि प्रत्येक युग की नवीन परिस्थितियों और नवीन भावात्मक प्रतिक्रियाओं को व्यक्त करने के लिए नयी कविता की आवश्वकता होती

---

1 Guide to Modern Thought, p. 289-90.

है और कविता के नवीन कार्य विषय के साथ उन्हें अभिव्यंजित करने के माध्यमों में भी नवीनता आया करती है पुरानी शैली, पुरानी शब्दावली, पुराने प्रतीक नवीन विषय की सफल अभिव्यक्ति नहीं कर सकते । अतः नवीन साहित्य प्रेरणा और दृष्टिकोण को उद्घाटित करने वाला मनोविश्लेषणवाद साहित्य की नवीन शैली का हिमायती है । समाज ज्यों-ज्यों विकसित होगा उसके सनातन अवचेतन और चेतन का संघर्ष बढ़ता जायगा और परिणाम स्वरूप मानव चरित्र की संश्लिष्टता और जटिलता भी बढ़ती जायगी । उन संश्लिष्टताओं और जटिलताओं को नवीन प्रतीकों (जो अधिकतर अस्पष्ट और उलझें हुए रहेंगे) नवीन वाक्य वक्रता, नवीन स्वर भंगिमाओं, नवीन अधूरे पूरे संगीत नादों, नवीन छन्दों से अभिव्यक्त किया जा सकता है । (इन जटिलताओं और उलझी-सुलझी संवेदनाओं का मुख्य सम्बन्ध व्यक्ति से रहता इसलिए इस धारा की कला कृतियों में अस्पष्टता का अधिक खतरा लगा रहता है) ।

श्री इलाचन्द जोशी

श्री इलाचन्द जोशी उस धारा के आलोचकों में सबसे प्रमुख हैं; सबसे प्रमुख इसलिए कि वे अपेक्षाकृत मनोविश्लेषणवाद के सिद्धान्तों के अत्यधिक समीप हैं । उन्होंने स्थान-स्थान पर फ्रायड और एडलर के सिद्धान्तों की श्रेष्ठता को सराहा है और अपने आलोचन-सिद्धान्तों का निर्माण उन्हीं आधारों पर किया है । जोशी जी मनोविश्लेषणवाद में प्रगाढ़ आस्था रखते हैं और उसकी व्याख्या भी बहुत ही गहराई और उदारता से करते हैं । और इस सिद्धान्त के अनुसार प्राचीन और नवीन कवियों और कलाकारों की मानसिक परीक्षा भी करते हैं और उनकी कृतियों की श्रेष्ठता का निर्णय भी ।

जोशी जी ने मनोविश्लेषण वाद के आलोक में 'कला और नीति', 'प्रगति या दुर्गति', 'जन साधारण के साहित्य का आदर्श,' 'साहित्य कला और विरह', 'साहित्य में दुखवाद', 'साहित्य सम्बन्धी कतिपय तथ्य[1]', 'युगसाहित्य' 'आधुनिकतम उपन्यास का दृष्टिकोण[2]' आदि साहित्यिक

---

[1] साहित्य सर्जना, श्री इलाचन्द जोशी ।

[2] विवेचना, श्री इलाचन्द जोशी ।

समस्याओं पर अपने विचार व्यक्त किये हैं जिनसे इनके साहित्यालोचन सम्बन्धी सिद्धान्त स्पष्ट हो उठते हैं ।

'कला और नीति' के सम्बन्धों की विवेचना करते हुए जोशी जी यह स्पष्ट घोषित करते हैं कि कला का मूल उत्स आनन्द है । आनन्द प्रयोजनातीत है प्रभात की उज्ज्वलता और सन्ध्या की स्निग्धता देखकर चित्त को एक अपूर्व शान्ति प्राप्त होती है पर उससे हमें कोई शिक्षा नहीं मिलती और न कोई सांसारिक लाभ ही होता है कारण आनन्द का भाव समस्त लौकिक शिक्षा तथा व्यवहार से अतीत है । उसमें कोई बहस नहीं चल सकती । हमें आनन्द क्यों मिलता है इसका कोई कारण नहीं बताया जा सकता । वह केवल अनुभव किया जा सकता है । 'ज्यों गूँगे मीठे फल को रस अन्तर्गत ही भावे[१]' । आगे जोशी जी स्वीकार करते हैं कि नीति का सम्बन्ध चेतन मन के साथ है । चूँकि चेतन मन बिना आलोचना के आनन्द के सहज भाव को स्वीकार नहीं करता इसलिए साहित्य में सहज आनन्द का सम्बन्ध चेतन मन और उसकी नैतिकता से जोड़ना अनुचित है । जोशी जी ने विश्व साहित्य से उद्धरण खोज-खोज कर अपने सिद्धान्त का प्रतिपादन करने की चेष्टा की है । जोशी जी ने इस प्रकार या तो एकांगी विचार किया है या नीति का उन्होंने संकीर्ण अर्थ लिया है । नीति का एक उदात्त अर्थ भी होता है और वह यह कि वह उदार मानवता का प्रचार करती है कर सकती है । जोशी जी कला का सम्बन्ध केवल आनन्द या भाव जगत से मानते हैं किन्तु क्या वे यह नहीं सोचते कि यह आनन्द जीवन जगत की जड़ से ही फूटता है और यदि जीवन और जगत में भयानक असन्तुलन है, विकार है तो आनन्द-रस भी सूख जायगा । चाँद का सौन्दर्य, सन्ध्या की स्निग्धता एक भूखे कलाकार का मन नहीं बहला सकती । यदि बहलायेगी भी तो कुछ क्षणों के लिए । शारीरिक आधिव्याधियों से पीड़ित कलाकार क्या आनन्द की अनुभूति प्राप्त करेगा और क्या रचना करेगा ? नीति का यह भी काम होता है कि वह समाज को इस भयानक सन्तुलन और विकार से परिचित कराये तथा नवीन समाज और स्वस्थ सामाजिक सम्बन्धों के निर्माण के लिए स्वर ऊँचा करे जिससे मनुष्य सौन्दर्य का

---

[१] साहित्य सर्जना, श्री इलाचन्द जोशी, पृ० १४ ।

अधिकाधिक अनुभव कर सके और उसे अधिक आनन्द प्राप्त हो सके। क्या इस प्रकार की उदार और युग सापेक्ष नैतिकता की सांकेतिक अभिव्यक्ति कला के लिए घातक सिद्ध हो सकती है ?

जोशी जी स्वयं जान में या अनजान में नैतिकता के इस महत्व को अनेक स्थानों पर स्वीकार करते हुए दिखाई पड़ते हैं। 'सारे काव्य (कामायनी) को आदि से अन्त तक मननपूर्वक पढ़ जाने पर यह धारणा वद्ध मूल हो जाती है कि सारी रचना एक महान आदर्श के मूलभास से ओत प्रोत है[1], (मैं आदर्श और नीति को एक अर्थ में ले रहा हूँ किसी आदर्श को सामने रखकर ही नीति बनती है दोनों रूढ़ और गतिशील हो सकते हैं)। छायावादी कविता प्रकृति के कोमल सौन्दर्य से ओत-प्रोत हैं अर्थात् वहाँ आपको निरपेक्ष सौन्दर्य और तज्जनित आनन्द राशि मिलेगा लेकिन निरपेक्ष आनन्दवादी जोशी जी के छायावादी काव्य के सौन्दर्य के सम्बन्ध में विचार पढ़िए--

'आपका अन्तर यदि अपनी प्रियतमा के विरह के कारण आकुल है, अथवा जीवन में किसी का प्रेम न पा सकने के कारण आप संसार को असार समझ कर दुखी हैं, अथवा अपनी प्रिया से आप कब किस तरु छाया के नीचे कैसे मिले थे, उसका वर्णन करने के लिए विशेष उत्सुक हैं, अथवा सांध्य छाया, प्रभात के तरल तुहिन कण नदी या सागर के बीच विलास, पल-पल परिवर्तित होने वाले पर्वत वेश, शेफाली और जुही के आमोद प्रमोद आदि रूप रस गंधमय विविध प्राकृतिक दृश्यों को देख कर आपका भावावेग उमड़ पड़ता है, अथवा वर्षा के उद्दाम बादलों का मल्लार राग, बसंत के तरुण कोकिल की अग्निमय तान और निर्झर के कल क्रन्दन मय गाने सुन आपकी अन्तरात्मा उल्लसित हो उठती है तो उससे समाज को और संसार को क्या वास्ता ? आप संसार से यह आशा क्यों रखते है कि आपके इन निपट स्वार्थमय आत्मोद्गारों से पुलकित होकर वह आपको अपना मोक्षदाता अथवा कल्याण कर्ता मान ले[2]।'

जोशी जी अपनी प्रारंम्भिक आलोचनाओं में कुछ निश्चित सिद्धान्त नहीं बना सके हैं। इसलिए वे कोई विचार संकल्पात्मक ढंग से न

---

[1] साहित्य सर्जना, श्री इलाचन्द जोशी, पृ० १४।

[2] वही, पृ० १३०।

व्यक्त कर द्विधा में उलझे हुए ज्ञात होते हैं। 'कला और नीति' में विशुद्ध आनन्द का समर्थन किया। 'साहित्य कला और विरह' में आपने विश्ववादी विरह को कला का मूल माना है। यह विरह भी और कुछ नहीं अदम्य आत्मप्रकाश की प्रवृत्ति के कारण स्फुरित होने वाला भाव है। यह विरह आनन्द की ही सृष्टि है उसी आनन्द की जिसे लेखक ने कला और नीति के प्रसंग में शुद्ध निरपेक्ष आनन्द माना है। अनन्त की वेदना की अनुभूति से आनन्द का अनुभव कराना ही साहित्य का मूल उद्देश्य है। लेखक ने विरह के अर्थ को बहुत दूर तक खींच कर उसे मनुष्य के प्रत्येक आवेग और भाव मूलक अनुभूति के साथ संबद्ध किया है किन्तु लेखक की यह प्रतिपादन प्रणाली विवेचनात्मक या वैज्ञानिक न हो कर प्रभावात्मक और भावुकता पूर्ण है।

लेकिन जोशी जी अपने दूसरे निबन्ध 'साहित्य संबंधी कतिपय तथ्य' में आधुनिक युग को आदर्शवाद तथा वास्तववाद का सम्मिश्रण युग मानते हैं। लेखक यहाँ स्पष्ट ही आदर्श का अर्थ तुच्छ नैतिक श्रेष्ठता से नहीं ले रहा है (निश्चय ही कोई भी आधुनिक आदर्शवादी या नैतिकतावादी आदर्शवाद का अर्थ इतने संकीर्ण रूप में नहीं ग्रहण करता)। लेखक के शब्दों में मानवीय आत्मा की महत्तम वृत्तियों का विकास जब पूर्णता प्राप्त कर लेता है तब वह वृत्तियाँ जिन-जिन स्वरूपों में अपने को प्रकट करती हैं वे आदर्श कहलाते हैं। इस परिभाषा में प्रधान दोष यह है कि मानवीय आत्मा की महत्तम वृत्तियों को युग और समाज की गतिशीलता की सापेक्षता में न देखकर एक शाश्वत वस्तु मान लिया गया है। फिर भी मुझे इससे मतलब नहीं। मेरे कहने का तात्पर्य यह है कि जोशी जी ने यहाँ आदर्श को साहित्य के लिए अनिवार्य तत्त्व स्वीकार किया है और कालिदास आदि जैसे महाकवियों की कृतियों को सामने रखकर इस बात की परीक्षा की है और यह निष्कर्ष निकाला है कि साहित्यिक कृतियाँ उच्चकोटि की तभी हो सकती हैं जब उनके कला पक्ष की प्रौढ़ता के साथ-साथ उनका संदेश भी महान हो। इसी कसौटी पर लेखक ने रीतिकालीन शृंगारिक रचना, गीत गोविन्द की पदावलियों, बंगला के कुछ ग्रंथों यहाँ तक कि छायावादी कविताओं को भी कस कर उन्हें अश्रेष्ठ श्रेणी का काव्य घोषित किया है। अपने दूसरे ग्रंथ 'विवेचन' में लेखक ने इसी मान्यता को प्रधानता दी है। इसलिए हम इसे यदि लेखक की

विचार धारा का क्रमिक विकास कहें तो अधिक शालीनता की रक्षा हो सकेगी ।

'कला और नीति' या 'कला और आदर्श' के साथ-साथ साहित्य में उठ खड़ा होने वाला एक दूसरा महत्व पूर्ण प्रश्न है—मनुष्य के भीतर और बाहर का संबंध । कला में यथार्थ के समर्थन में सभी एक साथ दिखाई पड़ रहे हैं किन्तु यथार्थ के स्वरूपों पर गहरी मत-भिन्नता है । मार्क्सवाद द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद और आर्थिक उत्पादन प्रणाली के आधारों पर प्रकृति और समाज का ऐतिहासिक विकास मानता है । वह युगीन और सामाजिक प्रवृत्तियों को उत्पादन प्रणाली के परिवर्तित रूपों के आधार पर परिवर्तित सामाजिक संबंधों का परिणाम मानता है । वह मानता है कि युग और समाज की वे प्रवृत्तियाँ उस युग और समाज के सभी व्यक्तियों की मानसिक स्थितियों, संस्कारों और विचार सरणियों में परिवर्तन उपस्थित करती हैं । उस काल की समस्याएँ अलग होती हैं और वे समस्याएँ हमारी अनुभूतियों और विचारों को प्रभावित करती हैं । वह मानवीय वृत्तियों का विश्लेषण सामूहिक रूप से करता है वह व्यक्ति के अहं तथा अलग समस्याओं पर ध्यान नहीं देता । वह द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के अनुसार यह मानता है कि एक सामाजिक तत्त्व मरता है दूसरा उठता है । उठने वाले समाज के साथ रहने वाले लोग प्रगतिशील, सच्चे यथार्थवादी हैं । क्योंकि पुराने समाज की समस्याएँ और संस्कार मरणोन्मुख हैं अतः वे यथार्थ नहीं हैं । अर्थात् इनके मतानुसार यथार्थ परिवर्तनशील है और वह जीवनोन्मुख समाज के साथ संबद्ध है । यथार्थ का संबंध समाज से है पुराने समाज और व्यक्ति का यथार्थ वास्तविक यथार्थ नहीं यथार्थाभास है[1] ।

दूसरे लोग वे हैं जो फ्रायड, एडलर, युंग के मनोविश्लेषणवाद से प्रभावित होकर व्यक्ति-मन में दमित वासनाओं में ही वास्तविक यथार्थ ढूँढ़ने का प्रयास करते हैं । जोशी जी इन दोनों मतवादों के सम्यक् समन्वय में ही सत्य का स्वरूप देखते हैं । उनकी दृष्टि में "मार्क्स और फ्रायड दोनों महारथी एक ही मूल सत्य के दो छोरों के प्रतिनिधि हैं । मार्क्स ने वाह्य जगत् की कालानुक्रमिक प्रगतिशीलता का पाठ हमें

---

[1] विस्तृत विवेचन प्रगतिवादी समीक्षा वाले अध्याय में देखिये ।

पढ़ाया है और सामूहिक जीवन की वास्तविकता की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करके उसके सुचारु संगठन का उपाय सुझाया है। यह एक बहुत ही महत्वपूर्ण बात है जिसके उद्देश्य की मांगलिकता पर किसी भी समझदार व्यक्ति को संदेह नहीं हो सकता। पर फ्रायड ने भी अन्तर्जगत के गहन सत्य की पुंजीभूत जटिलताओं की गहन सत्यता की ओर हमारी आँखें प्रेरित की हैं तथा जीवन और जगत् का एक नया दृष्टिकोण हमारे सामने रखा है जो मार्क्सीय दृष्टिकोण से किसी कदर कम महत्वपूर्ण नहीं है। वह सामूहिक मानव-मन के सघन अंधकारमय अन्तर्लोक में प्रकाश डाल कर वाह्य जगत के साथ उसकी संगति का स्वास्थकर उपाय हमें सुझाता है। करोड़ों वर्षों के विकास-क्रम से मानवता ने अपने भीतर जो असंख्य विकार और संस्कार संचित कर रखे हैं, उनकी अवज्ञा करने का अर्थ है सभ्यता के विकास और ह्रास के इतिहास की अवज्ञा करना। एक ओर वाह्य जगत् का गतिशील क्रम अन्तर्जगत का निर्माण करता जाता है दूसरी ओर अन्तर्जगत के वही संस्कार वाह्य जगत् पर अज्ञात में अपना प्रभाव डालते जाते हैं। इसलिए एक महान सत्य के इन दो चरम पहलुओं को समान भाव से अपनाने की चरम आवश्यकता है[1]।" इस प्रकार जोशी जी एक मनोवैज्ञानिक यथार्थवाद की स्थापना करते हैं जिसका वाह्य पक्ष मार्क्सवाद है और अन्तर्पक्ष मनोविश्लेषणवाद।

प्रश्न उठता है कि इन दोनों जीवन-दर्शनों का समन्वय किस आधार पर और किस मात्रा में किया जाय? क्या मार्क्सवाद केवल समूह की स्थूल आकांक्षाओं और समस्याओं तक ही सीमित है और उसे क्या फ्रायडियन अन्तर पक्ष की आवश्यकता है? और क्या फ्रायड का अंतश्चेतनावाद मानव मन की सही और व्यापक व्याख्या करने में समर्थ हो सका है? जोशी जी इन दोनों प्रश्नों का उत्तर गलत तरीके से देते हुए दिखाई पड़ते हैं। मार्क्सवाद के अनुयाइयों की कुछ विकृत अर्थात् सतही कृतियाँ देकर मार्क्सवाद को जीवन का बाहरी पक्ष घोषित कर देना उचित है तो फ्रायड के सिद्धान्तों को आधार मान कर अवचेतन की विकृत सड़ांध को ही व्यक्त करने वाली कृतियों को देखकर समूचे फ्रायडवाद को कलंकित कर देना क्या उचित नहीं है? मैं समझता हूँ विकृत अनुकृतियों के आधार पर मूल सिद्धान्तों को सदोष घोषित नहीं करना

---

[1] विवेचना, श्री इलाचंद जोशी, पृ० २२।

चाहिए। जोशी जी ने एक ओर हिन्दी की सतही प्रगतिशील रचनाओं को देखकर मार्क्सवाद को ही पानी पी-पी कर कोसा है दूसरी ओर फ्रायड के सिद्धान्तों को अत्यंत मनोवैज्ञानिक सत्य मानते हुए मंगलमय भी माना है। मार्क्सवाद किसी भी ऐसे नवीन ज्ञान और विचार-पद्धति को अग्राह्य नहीं मानता है जो सत्य हो और सामाजिक विकास के साथ-साथ व्यक्ति का विकास देखता हो। वह मानव जीवन की समस्याओं का सर्वांगीण विवेचन करता है। साहित्यिक और कलात्मक कृतियों में वह मानव जीवन की गहराइयों, मानसिक सत्यों आदि के चित्रण का पक्षपाती है, वह फ्रायड के या किसी भी मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त के स्वस्थ पक्ष को अपनाने का विरोध नहीं करता। जहाँ तक मार्क्सवाद के सिद्धान्तों की माला जपनेवाली कला कृतियों का सम्बन्ध है उनसे सबका विरोध है किन्तु क्या फ्रायड के सिद्धान्तों की माला जपने वाली कला कृतियों का अभाव है ?

मार्क्सवाद जीवन के सर्वांगीण प्रश्नों को लेकर चलने वाला दर्शन है। फ्रायडवाद की पहुँच अन्तर्मन की सीमा तक ही है। अपने-अपने क्षेत्र में किसे कितनी सफलता मिली है यह सवाल मैं नहीं उठाता। किन्तु इतना संकेत अवश्य कर देना चाहता हूँ कि फ्रायड की सीमाओं को स्वयं उनके समकालीन शिष्यों एडलर और युंग ने पहचाना था और उनका विस्तार करने के लिए कुछ भिन्न ढंग की स्थापनाएँ की थीं।

फिर जोशी जी इनका समन्वय किन आधारों पर किस मात्रा में चाहते हैं यह भी एक विचारणीय प्रश्न है। दोनों सिद्धान्त मानव व्यापारों और कला कृतियों की प्रेरणाएँ भिन्न-भिन्न तत्त्वों में मानते हैं आप किसकी प्रेरणा सही मानते हैं और किसकी गलत ? दोनों को सही मानकर दोनों में कैसे समझौता कराएँगे ? ऐसे स्थलों पर जोशी जी फ्रायड के सिद्धान्तों को प्रधानता देते हुए दिखाई देते हैं क्योंकि वे मार्क्सवाद को जीवन की स्थूल आवश्यकताओं से संबद्ध मानकर टाल देते हैं। और वे फ्रायड के सिद्धान्तों की उदात्त व्याख्या कर उसे मानव जीवन की चिरन्तन और सामयिक सामाजिक समस्याओं का समाधान सिद्ध करते हैं क्योंकि वाह्य सामाजिक समस्याओं को वे आन्तरिक समस्याओं का प्रतिबिम्ब मानते हैं।

किन्तु इस प्रसंग में एक बात कह देना जरूरी है कि वे फ्रायड के सिद्धान्तों की बड़ी उदात्त व्याख्या करते हैं। व्याख्या कहाँ तक सही है

कहाँ तक गलत या फ्रायड के अभिप्रायों से कहाँ तक मेल खाती हैं यह प्रश्न दूसरा है किन्तु उस व्याख्या के परिणामों से मतभेद की गुंजाइश कम है। जोशी जी व्यक्तिगत अहंवाद, अश्लीलता, कुत्सित वासना, समाज विरोधी अस्वस्थ मनोविकारों के घोर विरोधी हैं। वे मानव मन के विश्लेषण द्वारा उसके स्तर-स्तर में छिपी हुई कुरूपताओं को उद्घाटित करने के पक्षपाती हैं किन्तु वे उन कुरूपताओं को जीवन का सत्य या लक्ष्य न मानकर उनसे बचने की चेष्टाएँ चित्रित करने वाली कला को उच्च मानते हैं।

यह सत्य है कि आज के युग में पुरानी नैतिकताएँ व्यर्थ सिद्ध हो गयी हैं, बदली हुई उलझी हुई परिस्थितियों में मानव मन की जटिलताएँ बढ़ गयी हैं अतः पुराने पाप-पुण्य, नैतिक-अनैतिक, उदात्त और निम्न आदि के बँधे-बँधाए दृष्टिकोण से वर्तमान चरित्रों की व्याख्या नहीं हो सकती। आज का मनोविज्ञान चरित्रों की विभिन्न परिस्थितियों में बदलने वाली मानसिक स्थितियों तथा उनकी उदारताओं और कुत्साओं को व्यक्त कर एक यथार्थवादी साहित्य की सृष्टि में योग देता है। जोशी जी इसके समर्थक हैं किन्तु वे यह जोर देकर कहते हैं कि ऐसी वृत्तियों की परिणति मांगलिकता में होनी चाहिए। दमित वासनाएँ विनाश लीला में भी तत्पर होती हैं और परिशोधित होकर रचनात्मक कार्य में भी। दूसरा व्यापार ही श्रेयस्कर है। जोशी जी फ्रायडवाद को थोंथी भावुकता, नग्न वासना, ऐकान्तिक रुदन और निराशा, वैयक्तिक कुंठावाद से दूर सिद्ध करना चाहते हैं।

जैसे फ्रायडवाद ऐतिहासिक विकास का कोई सम्यक् संतोष जनक विश्लेषण करने के संबंध में चुप हैं वैसे ही जोशी जी भी। वे इतनी दूर तक अवश्य जाते हैं कि अमुक युग में अमुक परिस्थिति थी और अमुक कवियों ने अपने युग को वाणी दी। किंतु वे युगीय परिस्थितियाँ कैसे विकसित हुईं इसके सम्बन्ध में वे चुप हैं या उसे स्वयं सिद्ध मान लेते हैं। ऐतिहासिक विकास के सम्बन्ध में इन लोगों का यह विचार ध्यान देने योग्य है कि ये लोग एक युग को दूसरे की प्रतिक्रिया मानते हैं और ये प्रतिक्रियाएँ जैसे एक वृत्त में घूमा करती हैं—सूक्ष्म के प्रति स्थूल और स्थूल के प्रति सूक्ष्म का विद्रोह एक अनिवार्य सत्य बन कर गोलाकार घूमता रहता है।

व्यावहारिक समीक्षा

जोशी जी ने अपने इन्हीं सिद्धान्तों के आलोक में अनेक व्यावहारिक समीक्षात्मक निबन्ध लिखे हैं। व्यावहारिक समीक्षा के लिए जिस गहन और व्यापक अध्ययन, सहृदयता, काव्य मर्मज्ञता और पकड़ की आवश्यकता होती है वह जोशी जी में है। वे जिन रचनाओं में मनोवैज्ञानिक यथार्थ-वाद का चित्रण पा सके हैं उन्हें वे ऊँचा स्थान प्रदान कर सके हैं। 'भारतीय साहित्य में प्रगतिशीलता,' 'छायावादी तथा प्रगति पंथी कवियों का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण,' 'उन्नीसवीं शताब्दी और उसके बाद का उपन्यास साहित्य,' 'आधुनिकतम उपन्यास का दृष्टिकोण', 'आधुनिक कथा साहित्य का क्रम', 'विकास और नयी दिशा', 'हिन्दी आलोचना साहित्य का भविष्य', 'महादेवी जी का आलोचना साहित्य', 'चिरयुवा और चिरजीवी रवीन्द्रनाथ', 'मेघदूत रहस्य', 'मानव धर्मा कवि चण्डीदास', 'कामायनी', 'शरत्चन्द्र की प्रतिभा' आदि निबन्ध उनकी व्यावहारिक समीक्षा की शक्तियों, सौन्दर्यों और सीमाओं को पूर्ण रूप से व्यक्त कर देते हैं।

साहित्यिक सौन्दर्यों की परीक्षा सचमुच किसी राजनीतिक या दार्शनिक वाद की कठोर कसौटी पर नहीं हो सकती है। साहित्यिक सौन्दर्य की सृष्टि अनेक सामाजिक और वैयक्तिक तत्त्वों के संश्लेषण से होती है। वह एक समन्वित सौन्दर्य है। जो कोई रचना या आलोचना किसी वाद के संकेत पर होती है उसे उस वाद का विज्ञापन कह सकते हैं वह साहित्य तो नहीं हो सकता। साहित्य के लिए यह जरूरी है कि वह उस वाद (यदि वह नवीन और मानवतावादी वाद है) की दृष्टि अपनाये और उस दृष्टि से सापेक्षिक रूप से संसार को, जीवन को देखे और जीवन-जगत् की गहरी अनुभूतियाँ प्राप्त कर उन्हें एक दृष्टि से सजाए (जिससे एक मानवतावादी संदेश की निष्पत्ति हो)। बिना दृष्टि के अनुभूतियाँ एक ढेर के समान एक दूसरे पर लद जाएँगी और बिना रीढ़ के हड्डी के समान अनुभूतियों रूपी अवयव लुंजपुंज होकर पसर जायँगे। वाद का महत्व एक दृष्टिकोण के रूप में स्वीकार करना होगा। सद्साहित्य-समालोचक किसी रचना के अनुभूतिमूलक सौन्दर्य और उसके मानवीय संकेतों की खोजबीन करते हैं। जोशी जी निश्चय ही अपनी व्याख्यात्मक समालोचनाओं में काफी दूर तक समालोचना के इस उत्तरदायित्व का निर्वाह करते हैं। वे मनोविश्लेषणवाद के समर्थक

हैं किन्तु मनोविश्लेषण का विकृत अर्थ लेकर विकृत यथार्थ का चित्रण करने वालों को बड़ी निर्ममता से नंगा कर देते हैं। वे सर्वत्र मानवीय मंगलकारिता की निष्पत्ति चाहते हैं यद्यपि इस मंगलकारिता का स्वरूप कुछ स्पष्ट नहीं है।

किन्तु जोशी जी अनेक स्थानों पर जोश में आ जाते हैं और जोश में आकर कुछ लोगों पर अनुदार भाव से प्रहार करने लगते हैं। उनके इस अनुदार प्रहार के सबसे बड़े भागी हैं बेचारे छायावादी, प्रगतिवादी, प्रेमचन्द और कहीं-कहीं शरत्चन्द्र। छायावाद को आपने रवीन्द्रनाथ द्वारा भारतवर्ष में आने वाले इंगलिश रोमांटिसिज्म की विकृत अनुकृति कहा है और छायावादियों की देन को जैसे अस्वीकार करते हुए उन्हें बहुत ही उपेक्षित दृष्टि से देखा है[1]।

इसी प्रकार प्रगतिशील कविताओं के प्रति भी वे असहिष्णु हैं और प्रगतिवाद की मूल चेतना को न पहचान कर आप विध्वंसवादी और नंगी वासनावादी (जो प्रगतिशील कविताओं का गुण कत्तई नहीं है) कविताओं को प्रगतिवाद का वास्तविक स्वरूप घोषित करते हैं। छायावाद और प्रगतिवाद दोनों के सम्बन्ध में जोशी जी जो भ्रांत धारणा व्यक्त करते हैं उसका मूल कारण उस ऐतिहासिक दृष्टि का अभाव है जो किसी भी रचना को उसकी परिस्थिति की उपज (बाहर की अंध अनुकृति नहीं) मानती है। कमजोरियाँ कहाँ नहीं होती हैं किन्तु उनके विश्लेषण के साथ-साथ किसी युग साहित्य के ऐतिहासिक मूल्य को नहीं भूल जाना चाहिए। छायावाद ने हिन्दी साहित्य को बहुत कुछ दिया (बावजूद इसके कि उसमें अनेक कमजोरियाँ हैं)। प्रगतिवाद को आप सामाजिक ऐतिहासिक आवश्यकता न मानकर कुछ बिगड़े हुए मस्तिष्कों के अहं की अभिव्यक्ति मानते हैं। वे प्रगतिवादी थोंथे भावुक हैं अपनी धाक जमाना चाहते हैं और 'क्षीणा जना निष्करुणा भवन्ति' के आप्त सिद्धान्त के अनुसार वे भीतर-भीतर शक्ति रिक्त होने के नाते विप्लव परिवर्तन का शोर मचाते फिरते हैं। यह सही है कि बहुत से छायावादी अपने छायावादी संस्कार लेकर प्रगतिवाद में आये किन्तु वह प्रगतिवाद की सीमा नहीं है। प्रेमचन्द जोशी जी ही नहीं, सभी मनोविश्लेषणवादियों की उपेक्षा के शिकार हुए

---

[1] देखिए 'छायावादी कविता का विनाश क्यों हुआ।' (विवेचना)

हैं। इन लोगों का आरोप यह है कि उनमें मनोवैज्ञानिक गहराइयों को समझने और चित्रित करने की शक्ति नहीं थी वे सतही ढंग पर युग की सामयिक समस्याओं का निरूपण और काल्पनिक समाधानों का विधान करते रहे हैं। ये मनोविश्लेषणवादी समाज की धारा में से व्यक्ति को किनारे लगाकर उसका मनोवैज्ञानिक परीक्षण करते हैं और समझते हैं कि साहित्य में इसी प्रकार का चित्रण वांछित है। प्रेमचन्द ने यह नहीं किया। उन्होंने अपने पात्रों को सामाजिक प्रवाह में डाल कर विभिन्न परिस्थितियों में दिखाई पड़ने वाली उनकी मानसिक स्थितियों का विश्लेषण किया है। उनमें मनोवैज्ञानिक चित्रण का अभाव नहीं है। मनोविश्लेषणवादी व्यक्ति की व्यक्तिगत (विशेषतया काम-जनित) परिस्थितियों में अपने को डाल कर उसके मन के रेशे-रेशे अलग करते हैं चाहे वे सामाजिक दृष्टि से काम के हों या न हों। प्रेमचन्द ने यह नहीं किया इसलिए वे मनोविश्लेषणवादियों के कोप-भाजन हैं। प्रेमचन्द में काल्पनिक समाधान की कमजोरियाँ थीं किन्तु वे अन्त में आती थीं, उनके आने के पहले की सारी की सारी कथा सामाजिक यथार्थ की दृढ़ भूमि पर आधारित दिखाई पड़ती है। उनकी कमजोरियों का क्रमशः परिमार्जन होता गया है। जोशी जी में असंगतियाँ कम नहीं हैं। साहित्य सर्जना में संगृहीत 'शरत्चन्द्र की प्रतिभा' वाले निबन्ध में आपने शरत्चंद्र को एक क्रान्तिकारी लेखक माना है और उनकी प्रतिभा के स्वरूप का निदर्शन किया है किन्तु 'विवेचना' में शरत्चन्द्र को आपने प्रतिक्रियावादी ढंग का लेखक करार दिया है।

"शरत्चन्द्र के प्रायः सभी लोकप्रिय उपन्यासों (श्रीकान्त, चरित्रहीन आदि) में देवदास की तरह ही उच्छृंखल, निकम्मे, विकारग्रस्त और साथ ही अपने को समाज द्वारा प्रवंचित समझने और बनाने वाले नायकों की अवतारणा हुई है—और पाठकों की पूरी सहानुभूति उनकी आवारागर्दी की ओर उभाड़ने का प्रयत्न किया है। रोमांटिक कला का यह बूर्जवा दृष्टिकोण आज के युग में खंडित हो चुका है।"

फिर आप लगे हाथों जैनेन्द्र जी को खींच खाँच कर, वास्तविक यथार्थवादी मनोवैज्ञानिक उपन्यासकार सिद्ध करते हैं।

इसके अतिरिक्त कला और नैतिकता वाले प्रश्न पर जगह-जगह असंगतियाँ व्यक्त करते हैं। कभी तो कला का उद्देश्य शुद्ध निरपेक्ष

सौन्दर्य जन्य आनन्द मानते हैं और कभी जीवन के आदर्श का अभाव देख कर छायावादियों को कोसते हैं।

व्याख्यात्मक आलोचना में जो गंभीरता और तटस्थता अपेक्षित होती है वह आप में नहीं है। आप जगह-जगह मसीहा बनने की कोशिश करते हैं और डंके की चोट पर घोषणा करते हैं कि अभी तो अज्ञानी लोग इस मत को नहीं मानते किन्तु भविष्य में जब इनका दिमाग ठीक हो जायगा तब इसे स्वीकार करेंगे। किसी मनोविज्ञानवेत्ता का भविष्य-वाणी और उपदेश की घोषणा करना आश्चर्यजनक है। इसीलिए जोशी जी की आलोचनाओं में अनेक स्थलों पर गंभीरता और सहृदयता का अभाव लक्षित होने लगता है।

———

डा० नगेंद्र

डा० नगेंद्र की समीक्षा-पद्धति मनोविश्लेषणवाद से गहरी प्रेरणा लेकर भी सर्वतः वही नहीं है। एक ओर तो आप मनोविश्लेषणवाद से प्रभावित होकर यह स्वीकार करते हैं कि कविता या कला के पीछे आत्माभिव्यक्ति की प्रेरणा होती है और चूंकि आत्म के निर्माण में काम वृत्ति का और अतृप्तियों का योग है, इसलिए इस 'प्रेरणा' में उनका विशेष महत्व मानना अनिवार्य है। दूसरी ओर वे उपयोगिता का व्यापक अर्थ लेकर आत्माभिव्यक्ति में ही उसका समावेश करके उपयोगिता का तथा वाह्य परिस्थितियों का महत्व भी स्वीकार करते हैं लेकिन पहले के सामने इसे अत्यंत गौण स्थान देते हैं। तीसरी ओर समस्त प्राचीन साहित्याचार्यों के विचारों की निधि ग्रहण कर उनके आधार पर शास्त्रीय ढंग के विचारक हो उठते हैं। चौथी ओर वे छायावाद के काव्य लालित्य और स्वच्छन्दवृत्ति से प्रेरित होकर प्रभाववादी समीक्षा का स्पर्श अपनी आलोचनाओं में देते चलते हैं। इस प्रकार ये अनेक तत्वों के संयोग नगेंद्र की समीक्षा पद्धति को अधिक साहित्यिक रूप दे देते हैं।

साहित्य-सिद्धान्तों के निरूपण में डा० नगेन्द्र मूल चेतना फ्रायड के अंतश्चेतनावाद से ही ग्रहण करते हैं। आपने अनेक प्रसंगों में अनेक स्थलों पर इस बात पर जोर दिया है कि साहित्य की मूल प्रेरणा आत्मा-

भिव्यक्ति है। 'साहित्य की प्रेरणा' के सम्बन्ध में पूर्व और पश्चिम के अनेक मतवादों की चर्चा करते हुए आप निष्कर्ष निकालते हैं—

(१) काव्य के पीछे आत्माभिव्यक्ति की प्रेरणा है।

(२) यह प्रेरणा व्यक्ति के अंतरंग—अर्थात् उसके भीतर होने वाले आत्म और अनात्म के संघर्ष से ही उद्भूत होती है। कहीं बाहर से जानबूझ कर प्राप्त नहीं की जा सकती।

(३) हमारे आत्म का निर्माण जिन प्रवृत्तियों से होता है उनमें काम वृत्ति का प्राधान्य है। अतएव हमारे व्यक्तित्व में होने वाला आत्म और अनात्म का संघर्ष मुख्यतः काममय है और चूँकि ललित साहित्य तो मूलतः रसात्मक होता है, उसकी प्रेरणा में काम-वृत्ति की प्रमुखता असंदिग्ध ही है[१]।

इस प्रकार नगेंद्र जी साहित्य को वस्तुतः वैयक्तिक चेतना मानते हैं। वैयक्तिक चेतना और सामाजिक चेतना दोनों अन्योन्याश्रित हैं। नगेंद्र जी दोनों के इस संबंध को स्वीकार करते हैं। साहित्य में दोनों की मिली-जुली अनुभूति की अभिव्यक्ति होती है। किन्तु जब वे इन दोनों का तुलनात्मक महत्व आँकने लगते हैं तो व्यक्ति और व्यक्ति की अनुभूति को समाज और समाज की अनुभूति के ऊपर प्रतिष्ठित करते हैं। वे स्पष्ट घोषित करते हैं—

"फिर भी पूर्ण विचार करते हुए यदि दोनों का सापेक्षिक महत्व आँकें तो व्यक्ति की सत्ता समाज की सत्ता से अधिक बलवती ठहरती है। वैसे तो व्यक्ति समाज का एक अंग है और समाज पर निर्भर रहता है पर समय आने पर वह उसके ऊपर उठ सकता है उसको उपेक्षित ही नहीं ओवरहाल भी कर सकता है। संसार का इतिहास लक्ष कर उठा कर इस सत्य का समर्थन कर रहा है। समाज का अधिकांश जन-साधारण—मैं वर्ग की और संकेत नहीं कर रहा—से ही बना हुआ है और महान् साहित्य की सृष्टि साधारण प्रतिभा की शक्ति के बाहर है—महान साहित्य असाधारण प्रतिभा और उद्दीप्त क्षणों की अपेक्षा करता है...व्यक्ति की चेतना पर समाज देश का प्रभाव पड़ता है और खूब पड़ता है

---

[१] विचार और अनुभूति, पृ० १०।

परन्तु यह कहना कि रवीन्द्र नाथ के संपूर्ण साहित्य का श्रेय केवल उनके सामन्तीय वातावरण और पूंजीवाद को ही है अथवा कबीर की कविता के लिए केवल उनका हीन जाति में जन्म होना ही उत्तरदायी है, छिछली वर्ग मनोवृत्ति का परिचय देना है[१] ।"

इसी आधार पर डा० नगेंद्र साहित्य के मूल्यांकन का मानदण्ड निर्धारित करते हैं । "साहित्य का मूल्य साहित्यकार के आत्म की महत्ता और अभिव्यक्ति की सम्पूर्णता एवं सचाई के अनुपात से ही आँकना चाहिए । अन्य मान एकांगी हैं, अतः प्रायः धोखा दे जाते हैं ।" साहित्यकार अपनी कुशल अभिव्यक्ति द्वारा अपने को व्यक्त करता है । इससे आनन्द (रस) की सृष्टि होती है लेखक के लिए भी और पाठक के लिए भी । और रस जीवन का सबसे बड़ा पोषक तत्त्व है । ये हैं कुछ मूल तत्त्व जिन पर नगेंद्र जी की साहित्य-समीक्षा संबंधी सारी मान्यताएँ आधारित हैं ।

नगेन्द्र जी का यह व्यक्तिवाद छायावाद और फ्रायडवाद से प्रभावित है । वे भौतिक सामाजिक चेतना को साहित्य में स्थान देते-देते भी नहीं देते हैं । नगेन्द्र जी ने साहित्य-समीक्षा के मानदण्ड निर्धारण में अधिक समन्वयी और विवाद्हीन दृष्टि से काम लेने की चेष्टा की है किन्तु विवाद के घटने की गुंजायश नहीं दीखती । स्वभावतः ये प्रश्न उठ खड़े होते हैं—(१) साहित्यकार समाज के अन्य प्राणियों से अधिक प्रतिभा सम्पन्न प्राणी है और ऊँची प्रतिभा और शक्ति से ही ऊँचा साहित्य निर्मित होता है । नगेन्द्र जी के इस कथन में सामान्यतः किसी को आपत्ति नहीं है (ऐसे भी सम्प्रदाय हैं जो साहित्यकार की प्रतिभा से अधिक महत्त्व उसकी तटस्थता और अभिव्यक्ति कुशलता को देते हैं किन्तु उन्हें मैं आगे के लिए छोड़ रहा हूँ) किन्तु वह प्रतिभा है क्या ? यह प्रतिभा वह शक्ति है जो अधिक से अधिक ऐतिहासिक सामाजिक चेतनाओं को देख सके, कवि के लिए उनकी अनुभूति सुलभ कर सके । सामान्य जन सामाजिक प्राणी होकर भी समाज की व्यापक और गहरी चेतनओं और अनुभूतियों को अपने में समेट नहीं पाता है वह जहाँ रहता है उतने ही में उसकी दृष्टि और कल्पना सीमित रहती है । साहित्यकार अपनी तीव्र कल्पना और प्रतिभा से समाज की सम्पूर्णता को अपने में

---

[१] विचार और अनुभूति, डा० नगेंद्र, पृ० १५-१६ ।

समेटने की कोशिश करता है। इस प्रकार महान से महान व्यक्ति के व्यक्तित्व का निर्माण सामाजिक चेतना करती है (न कि फ्रायड के अनुसार व्यक्ति की दमित काम वासना) और इस तरह जब साहित्यकार—डा० नगेन्द्र के इस कथन को ज्यों का त्यों मान लेने पर कि साहित्यकार साहित्य में मुख्यत: आत्माभिव्यक्ति करता है—आत्माभिव्यक्ति करता है तो वह समाज की ही अभिव्यक्ति करता है। रवीन्द्रनाथ टैगोर और कबीर की प्रतिभाएँ अपनी थीं किन्तु क्या उन प्रतिभाओं ने कोई आकाश में सृष्टि की। निश्चय ही उनकी महान रचनाओं के सारे तत्त्व अपने और अपने संपर्क में आये हुए समाज के ऐतिहासिक और तत्कालीन चेतनाओं से निर्मित हैं। इसलिए भौतिक या सामाजिक वस्तु स्थितियों की साहित्य में इस प्रकार उपेक्षा अवैज्ञानिक है।

साहित्य आनन्द है, रस है। यह सिद्धान्त भी पूर्ण रूपेण व्यक्तिवाद पर अवलम्बित है। आत्माभिव्यक्ति आनन्द है, आनन्द साहित्य है। जिस कला कृति में आनन्द देने की जितनी ही अधिक शक्ति रहेगी वह उतनी अधिक महत्वशालिनी होगी। इस आनन्द का परिमाण कौन और कैसे तै करे? नगेन्द्र जी ने यह प्रश्न भी उठाया है। कौन का उत्तर देते हुए आप लिखते हैं कि "जीवन की विभिन्न विद्याओं और कलाओं की भाँति वह अधिकारियों की, विशेषज्ञों की वस्तु है, जन साधारण की नही।" कैसे करे? विशेषज्ञ के लिए कला कृतियों का सापेक्षिक महत्व आँकना कठिन नहीं है। उसके लिए सबसे निर्भ्रान्ति मार्ग है पहले यह देखना कि कृति का कर्ता कहाँ तक उसमें अपने व्यक्तित्व को अनूदित अर्थात् लय कर सका है और फिर यह भी देखना कि वह व्यक्तित्व अपेक्षाकृत कितना प्राणवान है। अधिक प्राणवान व्यक्तित्व का पूर्ण अनुवाद या लय कम प्राणवान व्यक्तित्व के पूर्ण लय की अपेक्षा गुरुतर कार्य है, स्वभावत: उसके द्वारा प्राप्त आनन्द अधिक सशक्त और परिपक्व होगा और कृति का महत्व भी गुरुतर होगा। 'दूसरी बात यह कि आत्माभिव्यंजन जितना निष्कपट तीव्र एवं सम्पूर्ण होगा कला उतनी ही रसवती होगी।"

इस सम्बन्ध में पहली बात तो यह कि न तो प्राचीन साहित्याचार्यों ने और न आधुनिक सामाजिक हितैषिता पर जोर देने वाले साहित्यकारों ने इसको साहित्य का लक्ष्य माना है। रस या आनन्द साहित्य

की आत्मा है। वह अपनी आत्मीयता के रस में पाठकों को डुबा कर कुछ ऐसी बात कहना चाहता है जिससे पाठकों का चित्त सामाजिक जीवन के प्रति उदार हो, सामाजिक यथार्थ का ज्ञान प्राप्त कर सामाजिक सौन्दर्य को गढ़ने और कुरूपता को विनष्ट करने की ओर अग्रसर हो, समाज के बीच उसकी मानवीय भावनाएँ दृढ़तर हों।

किन्तु पुराने और नए साहित्याचार्यों का हवाला देकर किसी अन्य मतवाद का खण्डन अवैज्ञानिक है। हमें उसी मतवाद के भीतर घुस कर देखना होगा, डा० नगेन्द्र का यह आनन्दवादी मत छायावादी काव्य और समीक्षा से प्रभावित है और इस साहित्यिक मान्यता के पीछे नवीन मनोविज्ञान काम कर रहा है। आनन्द या रस निश्चय ही साहित्य का भेदक गुण है। वह जहाँ नहीं है वह साहित्य कहलाने का अधिकारी नहीं हो सकता। किन्तु उस आनन्द के निर्माण में आत्माभि-व्यक्ति है—साहित्य का सम्बन्ध समाज, राजनीति या अन्याय जीवन विधियों से नहीं है या नगण्य है यह मत पहले-पहल द्विवेदीकाल के समालोचकों और पं० रामचन्द्र शुक्ल के उपयोगितावादी नैतिक दृष्टिकोण के विरोध में छायावादी आलोचकों—विशेषतया पं० नन्ददुलारे वाजपेयी ने उठाया। नगेन्द्र जी ने आनन्द के परीक्षण के कर्त्ता का प्रश्न उठाया है। कुछ प्रगतिवादियों का विचार है कि साहित्य जन साधारण के लिए है। 'साहित्य जन साधारण के लिए हो' इस मान्यता में शायद ही आज के किसी जागरूक साहित्यकार को विरोध हो। विरोध वहाँ खड़ा होता है जब प्रगतिवादी जन साधारण का अर्थ यह लगाते हैं कि वह जन साधारण की समझ में पूरी तरह आ जाय और जन साधारण ही कृतियों का मूल्यांकन करे। निश्चय ही यह एक भ्रामक दृष्टिकोण है। नगेन्द्र जी इस भ्रम को ध्यान में रखकर यह घोषित करते हैं कि साहित्य का मूल्यांकन विशेषज्ञ लोग ही कर सकते हैं जन साधारण उसका यथाशक्ति आनन्द ले सकते हैं। बात मर्म की कही गयी है, क्योंकि साहित्य जीवनाभिव्यक्ति की एक कला है। कला की परम्पराओं और उसके विविध स्वरूपों से पूर्णतः परिचित सहृदय ही कला की श्रेष्ठता और अश्रेष्ठता का निर्णय दे सकता है।

'कैसे करें ?' के सम्बन्ध में भी व्यक्त डा० नगेन्द्र के विचार विचारणीय हैं। जितने ही अधिक प्राणवान साहित्यकार की जितनी ही

तीव्र निष्कपट और सम्पूर्ण आत्माभिव्यक्ति होगी वह कृति उतनी ही उच्च कोटि की होगी। इस सम्बन्ध में पहला प्रश्न यह उठाया जा सकता है—जैसा कि मैंने ऊपर उठाया है—क्या साहित्य लेखक की केवल आत्माभिव्यक्ति है ? किसी तरह साहित्य को आत्माभिव्यक्ति मान लेने पर भी दूसरा प्रश्न यह उठ खड़ा होता है कि डा० नगेन्द्र प्राणवान व्यक्तित्व से क्या अर्थ लेते हैं ? समाजवादी सिद्धान्तों के अनुकूल सामाजिक चेतना और सम्वेदना को अधिक से अधिक मात्रा में अपने जीवन का अंग बना लेने वाला अनुभूतिशील साहित्यकार ही प्राणवान है। फ्रायड के अनुसार जिसकी कामवासनाएँ जितनी ही अधिक मात्रा में दमित होंगी उसमें उतनी ही अधिक जीवनी शक्ति होगी, अभिव्यक्ति की उत्कण्ठा उसकी उतनी ही तीव्र होगी। डा० नगेन्द्र निश्चय ही फ्रायड के सिद्धान्त से प्रभावित हैं। "मैं कविता या कला के पीछे आत्माभिव्यक्ति को प्रेरणा मानता हूँ और चूँकि आत्म निर्माण में कामवृत्ति का और उसकी अतृप्तियों का योग है इसलिए इस प्रेरणा में उनका विशेष महत्व मानना भी अनिवार्य समझता हूँ।" और मैं नहीं समझता हूँ कि नगेन्द्र जी की उपर्युक्त मान्यता मूल्यांकन की सर्वमान्य या बहुमान्य विधि हो सकती है।

एक बार फिर मैं दुहरा देना चाहता हूँ कि नगेंद्र जी स्थान-स्थान पर जैसे सजग होकर साहित्य में सामाजिक तत्त्वों के ग्रहण का आभास दे उठते हैं लेकिन दूसरे क्षण यह स्पष्ट हो जाता है (कम से कम सैद्धान्तिक आलोचनाओं में—व्यावहारिक आलोचनाओं में निश्चित रूप से लेखक पर पड़े सामाजिक प्रभाव की उपेक्षा वे नहीं कर सके हैं) कि वे सामाजिक प्रभावों को ऊपरी क्षण स्थायी और गौण स्वीकार करते हैं।

"आत्मनः प्रिय के साथ धर्म की भाँति साहित्य के लिए भी सदाचार, स्मृति और वेद के अनुकूल होना अनिवार्य है। सदाचार का अर्थ है : सत् आचारः :—अर्थात् सज्जनों का आचार और सज्जनों के आचार से तात्पर्य है सामाजिक हितों के अनुकूल व्यवहार। अतएव सत्साहित्य में केवल व्यष्टि के ही प्रसन्न करने का गुण नहीं, समष्टि के भी प्रसादन का गुण होता है।···हमें समाज के वाह्य आवरण को चीर उसके मूल मानवीय अन्तर्तत्त्व को पकड़ना पड़ेगा। ऐसा करने का एक सीधा उपाय

है। किसी प्राचीन कलाकृति को लेकर पहले तो आलोचक यह स्पष्ट करे कि जिस समय आलोच्य वस्तु की रचना हुई थी उस समय समाज की क्या अवस्था थी। किन सामाजिक प्रेरणाओं ने उनके निर्माण में योग दिया था और उन कारणों की छानबीन करे जिनके द्वारा एक देश-काल की कृति दूसरे सर्वथा भिन्न देश काल के व्यक्तियों को प्रिय लगती है। कहने की आवश्यकता नहीं कि यहीं वह मानवीय अन्तर्तत्त्वों को पकड़ लेगा और साहित्य को केवल सामयिकता की कसौटी पर कसने की भूल न करेगा।

निश्चय ही डा० नगेन्द्र के उपर्युक्त विचार ग्राह्य हैं। किन्तु लगता है कि वे साहित्य के दो स्पष्ट पक्ष मानते हैं—(१) ऊपरी या सामयिक (२) भीतरी या चिरन्तन मानवीय। उपरी या सामयिक तत्त्व का सम्बन्ध सामाजिकता से है और भीतरी चिरन्तन मानवीय तत्त्व का सम्बन्ध व्यक्तिगत आदिम प्रवृत्तियों से है। ऐसा भेद भ्रामक है। चिरन्तन मानवीय प्रवृत्तियों को हम सामाजिकता से अलग काट कर व्यक्तिवाद के घेरे में नहीं डाल सकते। सामाजिकता केवल सामयिकता का पर्याय नहीं है।

जहाँ तक साहित्य सम्बन्धी मान्यताओं और दृष्टिकोणों का प्रश्न है विवाद तो लगा ही रहता है। किन्तु नगेन्द्र जी ने जिस किसी सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है उसे उन्होंने शास्त्रीय पृष्ठभूमि प्रदान की है और शास्त्रीय विवेचन के साथ-साथ उसे नवीन मनोविज्ञान और सौन्दर्य शास्त्र (समाजशास्त्र का उपयोग प्रायः नहीं किया) से भी पुष्ट किया है। देव और उनकी कविता में शृंगार रस का विवेचन मेरे उपर्युक्त कथन का समर्थन करेगा। शास्त्रीय, आध्यात्मिक, मनोवैज्ञानिक और वैज्ञानिक विवेचनों के आलोक में यह पुराना विषय नवीन छवि से जगमगा उठा है। इनमें विचारों का नीरस पिष्टपेषण नहीं है बल्कि मौलिक चिन्तन है। इसी प्रकार 'साहित्य में कल्पना का उपयोग' आदि निबन्ध भी शास्त्रीय और नवीन विवेचन पर आधारित हैं। इन निबन्धों में विचारों की अत्यधिक स्वच्छता है, लेखक को जो बात कहनी है वह निभ्रांत और सुलझी हुई शैली में व्यक्त हुई है। इन सब गुणों के बावजूद इनके इन निबन्धों के विषय में यह कहा जा सकता है कि वे कोई मौलिक प्रश्न नहीं उठाते और न उनमें विवेचन की गहनता ही लक्षित होती है।

कहीं-कहीं तो यह शैली अध्यापन शैली सी प्रतीत होने लगती है जिसमें भिन्न-भिन्न मतों को सरसता और कुशलता के साथ अनस्यूत कर दिया जाता है।

व्यावहारिक समीक्षा

सिद्धान्तों के क्षेत्र में डा० नगेन्द्र उतना नहीं दे सके जितना व्यावहारिक समीक्षा के क्षेत्र में। व्यावहारिक समीक्षा सम्बन्धी उन्होंने अनेक पुस्तकें लिखीं जिनमें रीतिकाल और देव, देव और उनकी कविता, सुमित्रानन्दन पन्त, साकेत एक अध्ययन, आधुनिक हिन्दी नाटक, महत्वपूर्ण हैं। 'विचार और अनुभूति' के अधिकांश निबन्ध व्यावहारिक समीक्षा से ही सम्बद्ध हैं। नगेन्द्र जी की व्यावहारिक समीक्षाएँ अनेक तत्त्वों की संश्लिष्ट रूप हैं जिनकी ओर मैंने पहले ही संकेत कर दिया है। नगेद्र जी स्वयं कवि हैं (या रहे हैं) अध्ययनशील हैं, विचारक हैं, पूर्व और पश्चिम की साहित्य परम्पराओं से परिचित हैं, नवीन मनोविज्ञान के ज्ञाता और समर्थक हैं। साहित्य में व्यक्तिवादी चेतना को प्रमुखता देने वाले हैं। इन अनेक बातों का मिला जुला प्रभाव उनकी आलोचनाओं में लक्षित होता है। डा० नगेन्द्र ने समीक्षा विषयक जो मान्यताएँ स्वीकार की हैं उन्हें हम उनकी समीक्षा पद्धति की विशेषताएँ मान सकते हैं।

(१) साहित्य का मूल्य साहित्यकार के आत्म की महत्ता और अभिव्यक्ति की संपूर्णता एवं सचाई के अनुपात से ही आँकना चाहिए। अन्य मान एकांगी हैं, अतः प्रायः धोखा दे जाते हैं।

(२) साहित्य वैयक्तिक चेतना है, सामूहिक नहीं।

(३) समीक्षा में भी मैं समीक्षक की आत्माभिव्यक्ति—जिसमें उसकी भावुकता अर्थात् रसज्ञता, बुद्धि, मानसिक संतुलन आदि सभी कुछ आ जाता है—को प्रमुख मानता हूँ। मानव जगत् में विशेषकर साहित्य जगत् में वस्तु का एकान्त वस्तुगत रूप भी ग्रहण किया जा सकता है यह मैं नहीं मानता।

(४) स्वभावतः साहित्य के अन्य अंगों की भाँति समालोचना में भी साधारणीकरण को मैं अनिवार्य मानता हूँ।

—अर्थात् आलोचक एक विशेष रस-ग्राही पाठक है और आलोचना उस गृहीत रस को सर्व सुलभ करने का प्रयत्न। इस प्रयत्न में आलोच्य

कृति के सहारे आलोचक जितनी सचाई और सफाई के साथ अपने को व्यक्त कर सकेगा उतना ही उसकी आलोचना का मूल्य होगा।[१]

'देव और उनकी कविता' डा० नागेन्द्र की व्यावहारिक समीक्षा सम्बन्धी सबसे प्रमुख पुस्तक है। लेखक ने बड़े गम्भीर अध्ययन और मनन के आधार पर देव के साहित्य का सर्वांगीण विवेचन किया है। पहले ही कहा जा चुका है कि नगेंद्र शास्त्रीय विवेचन का पल्ला बड़ी मजबूती से पकड़े रहते हैं, शास्त्रीयता के आधार पर ही वे अपने विवेच्य विषय का विभाजन भी करते हैं इससे विषय का स्पष्ट बोध हो जाता है विचारों में सफाई रहती है और साहित्य के विद्यार्थी के लिए यह शास्त्रीय निरूपण का ढंग बड़े काम का सिद्ध होता है। एक बात स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि 'नगेंद्र ऐसा करते हैं' कहने का तात्पर्य यह नहीं कि वे नवीन साहित्य को भी किसी रूढ़ शास्त्रीय मानदण्ड से परखते हैं बल्कि इसका अभिप्राय यह है कि वे प्राचीन और नवीन दोनों साहित्यों की परीक्षा करने के लिए कुछ स्पष्ट शीर्षक बना लेते हैं—वे शीर्षक विषय की नवीनता और प्राचीनता के अनुरूप भिन्न-भिन्न तरह के हो सकते हैं किन्तु उनकी स्पिरिट शास्त्रीयता की ही होती है। क्या देव, क्या सुमित्रानन्दन पन्त, क्या प्रसाद, क्या मैथिलीशरण गुप्त, क्या छायावाद, क्या प्रगतिवाद, क्या गुलेरी जी, क्या महादेवी जी सभी कवियों और प्रवृत्तियों की विशेषताओं के विश्लेषण में इस स्वरूप के दर्शन होते हैं। इस प्रसंग में यह भी कह देना आवश्यक है कि वे अपने अधिकांश निबन्धों के अन्त में निष्कर्ष के रूप में अपने वक्तव्य का सारांश दे देते हैं। यह प्रवृत्ति भी शास्त्रीय प्रवृत्ति के ही परिवार की है लेकिन जैसा पहले कहा जा चुका है कि डा० नगेंद्र की शास्त्रीय पद्धति अन्य अनेक गुणों के समन्वय के कारण न रूखी है, न बोझिल, न केवल चर्वित-चर्वण करने वाली है और न शास्त्रीयता के आधार पर निर्मित होने वाला अध्यापकी नोट ही है। बल्कि वह एक सरस साहित्यिक समीक्षा पद्धति है। सके अतिरिक्त नगेन्द्र जी के कुछ ऐसे निबन्ध भी हैं जिनमें उन्होंने काव्यात्मक और नाटकीय वातावरण की सृष्टि करके बड़े ही सरल ढंग से गंभीर से गंभीर बात कहने की चेष्टा की है। 'यौवन के

---

[१] विचार और अनुभूति, डा० नगेन्द्र, पृ० १८।

द्वार पर', 'साहित्य की प्रेरणा', 'हिन्दी उपन्यास', 'वाणी के न्याय मन्दिर में' आदि इस प्रकार के निबन्ध हैं। कुछ निबन्ध ऐसे भी हैं जिनमें छोटे-छोटे वर्ग विभाजन की प्रवृत्ति नहीं है वरन् समष्टिगत रूप में किसी विचार का प्रतिपादन है।

किन्तु इन विभिन्न शैलियों में लिखे गये उनके निबन्धों की मौलिक चेतना एक सी है। डा० नगेंद्र अपनी व्यावहारिक आलोचनाओं में अधिक सहानुभूति शील और साहित्यिक बने रहने की कोशिश करते हैं। वे प्रत्येक विषय के पूर्व पक्ष और उत्तर पक्ष को बहुत ही सफाई से प्रस्तुत करते हैं, साथ-साथ अपना निष्कर्ष भी देते चलते हैं। जहाँ तक साहित्यिक व्याख्या और मार्मिक सूझ-बूझ का प्रश्न है, नगेंद्र जी कुशल समीक्षक हैं। निष्कर्षों में वे अपना दृष्टिकोण निश्चय ही लाद देते हैं जैसा कि अति स्वाभाविक है। कोई भी साहित्य-समीक्षक अपने दृष्टि-कोण से अपने को कैसे भिन्न कर सकता है? और इसीलिए डा० नगेंद्र प्रेमचन्द को द्वितीय श्रेणी का कलाकार मान लेते हैं। इसीलिए वे प्रगतिशील साहित्य को अनेक संकीर्ण सीमाओं से आबद्ध और सतही मान लेते है। इसीलिए वे व्यक्तिवादी मनोविश्लेषणवादी कृतियों में अधिक गहराई पा लेते हैं, महादेवी जी के निबन्धों को काव्य के शाश्वत सिद्धान्तों के अमर व्याख्यान स्वीकार करते हैं। और छायावादी आदि काव्यों में अनेक बार कुंठा की अभिव्यक्ति खोजते पाये जाते हैं। मैं यह नहीं कहता कि वे इन खोजों में कहाँ तक सही हैं, कहाँ तक गलत। मेरा कहना यह है कि इन अनेक विषयों का परीक्षण उन्होंने अपने दृष्टि-कोण से किया है जिन्हें मानने में औरों को थोड़ी या बहुत आपत्ति हो सकती है और है। इतना होने पर भी इनकी आलोचनाएँ अपेक्षा-कृत अधिक सहानुभूतिपूर्ण, मार्मिक व्याख्याशील और स्वस्थ साहित्य की स्वीकृति देने वाली होती हैं।

'आधुनिक हिन्दी नाटक' में डा० नगेन्द्र ने हिन्दी के आधुनिक नाटकों का बड़ा ही वैज्ञानिक विवेचन किया है, इन नाटकों के सृजन की प्रेरणाएँ कहाँ-कहाँ से प्राप्त हुईं, उनमें किस प्रकार सांस्कृतिक, नैतिक, राष्ट्रीय, पौराणिक चेतनाएँ व्यक्त हुई हैं, किस प्रकार वे व्यक्ति और समाज की अनेकमुखी समस्याओं को स्वर दे सके हैं, और इन नाटकों की शैलियाँ कौन-कौन सी हैं, आदि का बड़ा ही मार्मिक विवेचन हुआ

है। इसी प्रकार की सर्वांगीणता उनकी सभी कृतियों में उपलब्ध है किन्तु इसकी वैचारिक गम्भीरता 'देव और उनकी कविता' जैसी पुस्तकों में ही प्राप्त है। 'सुमित्रानन्दन' पन्त और 'साकेत एक अध्ययन' में वैचारिक गम्भीरता का स्थान अध्यापक सुलभ सरल विस्तार और खतियाने की प्रवृत्ति ने ले लिया है। किन्तु इनके छोटे-छोटे निबन्धों के सम्बन्ध में ऐसा नहीं कहा जा सकता।

श्री सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन 'अज्ञेय'

इस धारा के आलोचकों में अज्ञेय जी का नाम बड़े आदर से लिया जाता है। अज्ञेय जी की प्रतिभा बहुमुखी है और वे मुख्यतया कृतिकार हैं। कविता, कहानी, उपन्यास, निबन्ध सबमें उनकी अच्छी पैठ और गति है। मुख्यतया कृतिकार होने के नाते वे आलोचना के पीछे कम पड़ते हैं किन्तु आलोचना को मुख्य पेशा के रूप में न ग्रहण करते हुए भी वे सोचने विचारने वाले साहित्यकार हैं। इन्होंने आलोचना के क्षेत्र में लिखा बहुत कम है किन्तु जितना लिखा है उतना ठोंक-पीटकर लिखा है। जिस तरह वे मितभाषी हैं किन्तु जब बोलते हैं तो काम की बात, उसी तरह आलोचना कम लिखते हैं, लिखते हैं तो काम की चीज़। वे अत्यधिक चिन्तनशील, मननशील और अध्ययनशील कलाकार हैं। समय-समय पर चिन्तन और मनन के परिणाम स्वरूप उन्होंने साहित्य के संबंध में अपनी जो कुछ मान्यताएँ व्यक्त की हैं उनसे उनकी दृष्टि, समीक्षा की प्रतिभा स्वरूप और धारणाओं का बड़ा सक्षम उद्घाटन होता है। 'त्रिशंकु' उनके आलोचनात्मक निबन्धों का संग्रह है।

'अज्ञेय' जी पर फ्रायड की अपेक्षा एडलर के सिद्धान्तों का प्रभाव अधिक लक्षित होता है। वे कला की परिभाषा यों करते हैं—"कला सामाजिक अनुपयोगिता की अनुभूति के विरुद्ध अपने को प्रमाणित करने का प्रयत्न—अपर्याप्तता के विरुद्ध विद्रोह—है[१]।' इस स्थापना में एडलर की 'हीनता की अनुभूति और उसकी कला द्वारा क्षतिपूर्तिवाला सिद्धान्त

---

[१] त्रिशंकु, कला का स्वभाव और उद्देश्य, श्री सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन 'अज्ञेय' पृ० २३।

ध्वनित है । अज्ञेय जी पुराने—आदिम—युग तथा नवीन युगों से उदाहरण प्रस्तुत कर अपनी स्थापना और अधिक स्पष्ट करते हैं तथा इस मनोवैज्ञानिक सत्य को कला की शाश्वत प्रेरणा मानते हैं ।

क्रौंच-वध से आहत होकर वाल्मीकि की आर्तवाणी कविता के रूप में फूट पड़ी । सबसे पहली कविता वहीं बनी और इस प्रकार सबसे पहली कविता वेदना से फूटी, अर्थात् कविता की मूल प्रेरणा आत्मा का आर्त चीत्कार है । अज्ञेय जी इस कहानी को एक बहुत सुन्दर कल्पना मानते हैं इससे अधिक कुछ मानने को तैयार नहीं । उनका कहना है कि इस घटना की व्याख्याएँ भिन्न-भिन्न हो सकती हैं । और दूसरे कविता ने अपने को प्रस्फुटित करने के लिए वाल्मीकि-युग की—जो कि भारतीय संस्कृति के पर्याप्त विकास का युग था—प्रतीक्षा न की होगी । अज्ञेय जी अपने सिद्धान्त के प्रतिपादन के लिए उस मानव समाज की कल्पना करते हैं जो कन्दराएँ खोदकर रहता था और घासपात या कभी पत्थर या तांबे के फरसों से आखेट करके मांस खाता था । फिर वे इस समाज के एक ऐसे व्यक्ति की कल्पना करते हैं जो युवावस्था में ही किसी कारण—सर्दी खाजाने से, या पेड़ पर से गिर जाने से, या आखेट में चोट लग जाने से—किसी तरह कमजोर हो गया है । "समाज के प्रत्येक व्यक्ति का समाज के प्रति कुछ दायित्व होता है । समाज जितना ही कम विकसित हो उतना ही दायित्व अधिक स्पष्ट और अनिवार्य होता है—अविकसित समाज में विकल्प की गुंजाइश कम रहती है ।"

"स्पष्ट है कि हमने जिस किसी कारण कमजोर व्यक्ति की कल्पना की है वह अपने समाज का यह धर्म न निभा सकता होगा । अतएव सामाजिक दृष्टि से उसका अस्तित्व अर्थहीन होता होगा । कौटुम्बिक-स्नेह, मोह या ऐक्यभावना के कारण कोई उस व्यक्ति को कुछ कहता न भी हो तो भी मूक करुणा का भाव और उसके पीछे छिपा हुआ उस व्यक्ति के जीवन की व्यर्थता का ज्ञान समाज के प्रत्येक सदस्य के मन में होता ही होगा ।"

"और क्या स्वयं उस व्यक्ति को इसका तीखा अनुभव न होता होगा । क्या बिना बताए भी वह इस बोध से तड़पता न होगा कि वह अपात्र है, किसी तरह घटिया है, क्षुद्र है । क्या उसका मुँह इससे छोटा न होता होगा और स अकिंचनता के प्रति विद्रोह न करता होगा ?"

यह कहना कठिन है कि इस अपर्याप्तता के ज्ञान से एक ही प्रकार की प्रेरणा मिल सकती है। यह वास्तव में व्यक्ति के आत्मबलपर निर्भर है कि उसमें क्या प्रतिक्रिया होती है। वह आत्महत्या भी कर सकता है और शत्रु से लड़ने जाने का विराट प्रयत्न भी कर सकता है। लेकिन सब संभाव्य प्रतिक्रियाओं की जाँच यहाँ अप्रासंगिक होगी। हम ऐसे ही व्यक्ति को सामने रखें जिसमें इतना आत्मबल है कि इस ज्ञान की प्रतिक्रिया रचनात्मक (पाज़िटिव) हो न कि आत्मनाशक।"

ऐसे व्यक्ति के अहम् का विद्रोह अनिवार्य रूप से सिद्धि की सार्थकता के जस्टिफिकेसन की खोज करेगा। वह चाहेगा कि यदि वह समाज का साधारण धर्म निवाहने में असमर्थ हैं तो वह विशेष धर्म की सृष्टि करे।

अज्ञेय जी उस व्यक्ति के इस चाहने को चेतन, तर्कना द्वारा सिद्ध न मानकर स्वभाव सिद्ध या अज्ञात रूप से प्रेरित मानते हैं (जैसा कि एडलर आदि मनोविश्लेषण वादियों का मत है)। वह व्यक्ति कला की सृष्टिकर अपनी अपर्याप्तता—सामाजिक अक्षमता—के प्रति विद्रोहकर अपनी सार्थकता प्रमाणित करेगा।

आगे अज्ञेय जी समाज और अपर्याप्तता के सभी संभव रूपों की व्याख्या करते हैं। ये उन्हें किसी एक युग के परिपार्श्व में बद्धकर रूढ़ नहीं कर देते बल्कि विकसित नवीन युगों में उनके रूपों की क्या संभावनाएँ हैं इस पर भी विचार करते हैं और यह निष्कर्ष निकालते हैं कि अपर्याप्तता के स्वरूप भिन्न-भिन्न युगों में भिन्न-भिन्न हो सकते हैं किन्तु यह एक सर्व स्वीकृत सत्य है कि "कला अपर्याप्तता के प्रति विद्रोह है। प्रत्येक कला की चेष्टा की जड़ में एक अपर्याप्तता की भावना काम करती रहती है।"

कला के स्वभाव का परीक्षण करने के पश्चात् अज्ञेय जी कला के उद्देश्य का प्रश्न उठाते हैं। 'कला का उद्देश्य क्या है?' यह बड़ा ही पुराना फिर भी नया प्रश्न है। विभिन्न आचार्य और कलाकार अपने-अपने ढंग से इस प्रश्न का उत्तर देते आये हैं। कोई स्वानुभूति की व्यंजना ही कला का उद्देश्य मानता है, कोई सामाजिक यथार्थ का चित्रण और समाज का उत्थान कला का लक्ष्य मानता है और ऐसा करते समय कभी-कभी विचारक लोग आत्यंतिक सीमाओं पर जा पहुँचते हैं। कुछ ऐसे विचारक भी हैं जो साहित्य और कलाकार के आत्म-सुखों के

संबंधों का सम्यक् विश्लेषण करते हुए सामाजिकता का चित्रण और लोक हितैषिता को ही कला का परम लक्ष्य मानते हैं। कुछ कलाकार पर पड़े हुए सामाजिक और युगीन प्रभावों की व्याख्या करते हुए अन्ततोगत्वा कला को आत्माभिव्यक्ति ही मानते हैं। अज्ञेय जी ने अपने सिद्धान्तों के आलोक में कला के उद्देश्य को बड़ी ही कुशलता से व्यक्ति और समाज के साथ जोड़ा है। उनका कहना है कि कला सामाजिक अपर्याप्तता की अनुभूति के विरुद्ध अपने को प्रमाणित करने का प्रयत्न है। यह प्रयत्न व्यक्ति करता है। व्यक्ति अपने को—अपने अहं को—अक्षुण्ण रखने का प्रयास करता है। वह अपने को अक्षुण्ण रखने के लिए कला द्वारा सामाजिक हित में आत्मदान करता है। "अपनी सृष्टि के प्रति कलाकार में एक दायित्व भाव रखता है—अपनी चेतना के गूढ़तम स्वर में वह स्वयं अपना आलोचक बनकर जाँचता रहता है कि जो उसके विद्रोह का फल है, जो समाज को उसकी देन है वह क्या सचमुच इतना आत्यंतिक मूल्य रखती है कि उसे प्रमाणित कर सके, सिद्धि दे सके। इस प्रकार कला-वस्तु-रचना का एक नैतिक मूल्यांकन निरन्तर होता रहता है। इस क्रिया को हम यों भी कह सकते हैं कि सच्ची कला कभी भी अनैतिक नहीं हो सकती। और यों भी कह सकते हैं कि प्रत्येक शुद्ध कला-चेष्टा में अनिवार्य रूप से एक नैतिक उद्देश्य रहता है अथवा सच्ची कला-वस्तु अन्ततः एक नैतिक मान्यता (इथिकल वैल्यू) पर आश्रित है एक नैतिक मूल्य रखती है। हाँ, यह ध्यान दिला देना आवश्यक होगा कि हम श्रेष्ठ नीति (इथिक) की बात कह रहे हैं निरी नैतिकता (मारैलिटी) की नहीं[1]।"

दूसरा पक्ष भी एक है। अज्ञेय जी का कहना है कि कला एक प्रकार का आत्मदान है जिसके द्वारा व्यक्ति का अहं अपने को सिद्ध प्रमाणित करना चाहता है। अहं को छोटा करके व्यक्ति संपूर्ण नहीं रह सकता, शायद जी भी नहीं सकता। इस प्रकार कलाकार का आत्मदान केवल एक नैतिक मान्यता के लिए ही नहीं होता, सच्चे अर्थ में स्वान्तः सुखाय भी होता है। अज्ञेय जी का मत है कि "कला कला के लिए' झूठ नहीं है वह अत्यन्त सत्य है लेकिन एक विशेष अर्थ

---

[1] त्रिशंकु—कला का स्वभाव और उद्देश्य, श्री अज्ञेय, पृ० २८।

में। यदि कला कला के लिए का अर्थ है निरे सौन्दर्य की खोज, किन्हीं विशेष सिद्धान्तों के द्वारा एक रासायनिक सौन्दर्य की उपलब्धि, तब वह कला और कलाकार को कोई सुख नहीं दे सकती न आत्मदान का न आत्मबोध का, वह कला बन्ध्या है। सच्चा कलाकार वही है जिसकी विशाल आत्मा समाज के अन्तर्गत समूचे मौलिक जगत् को खींच सकती है। पहले ही कहा जा चुका है कि मनोविश्लेषणवाद से प्रभावित हिन्दी आलोचकों में परस्पर अत्यधिक विषमताएँ हैं। इन भिन्न-भिन्न आलोचकों ने अपनी स्थापनाओं का निर्माण विभिन्न तत्त्वों से किया है। अज्ञेय जी पर एडलर, फ्रायड आदि मनोविश्लेषणवादियों, टी. यस. इलियट, डी. एच. लारेंस आदि साहित्यिकों, सामाजिक यथार्थ के दृष्टिकोणों और शुद्ध कलात्मक संस्कारों का संमिलित प्रभाव है। अज्ञेय जी साहित्य की व्यक्तिगत और सामाजिक दोनों चेतनाओं को सम्यक् महत्व देते हैं। वे साहित्य को ऐतिहासिक और सामाजिक परिस्थितियों के साथ देखने के पक्षपाती हैं। कलाकार केवल एक सामूहिक प्राणी नहीं है। वह समष्टि का एक अंग होने के अलावा एक सचेतन व्यक्ति भी है। व्यक्तिता का अधूरा भी ज्ञान होते ही उसमें इच्छा होती है कि उसकी रुचियाँ, उसके विचार और दृष्टिकोण उसकी भावनाएँ, सामाजिक स्वीकृति पाएँ। अज्ञेय जी सामाजिक परिवृत्ति का अर्थ समान खानपान, आचरण और अनुभूति वाले लोगों के समूह से लेते हैं। कलाकार की कृति को समाज द्वारा स्वीकृति मिलनी चाहिए। समाज द्वारा स्वीकृत मान्यताओं पर ही सर्वोत्तम कृतियों की बुनियाद कायम है। और तभी कलाकार को पूर्ण संतोष होता है।

यदि सामाजिक परिवृत्ति व्यक्ति की रुचियों के अनुकूल नहीं है या रूढ़िग्रस्त और ह्रासोन्मुख है तो ऐसी सामाजिक परिवृत्ति से व्यक्ति का सम्बन्ध अनिच्छापूर्ण होगा। प्रतिभाशाली व्यक्ति ऐसी परिस्थितियों में पड़कर एक विद्रोह करेगा, सामाजिक परिवृत्ति को बदलने के लिए सचेष्ट होगा। प्रतिभाशील या कम प्रतिभा वाले कलाकार की समाज से स्वीकृति पाने की माँग कुण्ठित हो जायगी। इससे एक असंतोष उत्पन्न होगा जो रचनाशील नहीं है। जो केवल एक अतृप्ति एक भूख, एक अस्पष्ट अशक्त कामना भर होगी—एक दौर्हृद मात्र जो ठीक घर की याद के दौर्हृद जैसा होगा।

इस स्थापना के पश्चात् आधुनिक सामाजिक जीवन और उसमें व्यक्ति की स्थिति का विश्लेषण करते हुए अज्ञेय जी अपना मत व्यक्त करते हैं कि हमारा युग संक्रान्ति युग है : "समाज के संगठन में, राज्य-व्यवस्था में, नीति में, आचार में—साहित्य की ओर आएँ तो पाप और पुण्य, ऊँच और नीच की व्याख्या में, वस्तु और शैली में, तुक और छन्द में—सर्वत्र घोर परिवर्तन हो रहा है। अतएव जीवन का दबाव मन पर बहुत बढ़ गया है अतएव भौतिक जीवन पर यांत्रिक संगठन का, और जीवन पर इस तीव्र परिवर्तन का—इस दुहरे दबाव के नीचे आज के व्यक्ति की स्थिति शान्तिजनक नहीं है—विशेषतया वैसे व्यक्ति की जिसको हमने अपने अध्ययन का केंद्र बनाया है। भारतीय साहित्यिक पाता है उसके आस-पास सब कुछ बदल रहा है, जो मान्यताएँ ध्रुव सी अटल मानी जा रही थीं वे सब सहसा संदिग्ध हो उठी हैं। इस डगमग स्थिति में, इस आमूल परिवर्तन की लहर से सहसा हत्बुद्धि होकर वह किसी आश्रय की, किसी आड़ की, 'घर' की खोज में विह्वल हो उठा है। "कभी-कभी व्यक्ति सोचता है कि उसके आस-पास कुछ भी नहीं बदला है केवल वही बदल गया है। दोनों स्थितियों में वह 'बिन पानी की मछली की तरह' छटपटाता है। संतोषजनक सामाजिक दल की माँग करता है। हमारे देश की आधुनिक अवस्था में यह अनुकूलता की, संतोषजनक सामाजिक परिवृत्ति की मांग दुस्सह हो उठी है। इस मांग के कुंठित हो जाने से जो दौहृद, जो क्लान्त अतृप्ति पैदा होती है वह एक विशेष प्रकार के साहित्य को ही प्रेरित करती है। "आज का हिन्दी साहित्य अधिकांश में अतृप्त का या कह लीजिए लालसा का, इच्छित विश्वास (विशफुल थिंकिंग) का साहित्य है।"

लेखक यह अतृप्ति या इच्छित विश्वास वर्तमान काल के अनेक लेखकों—प्रेमचंद, प्रसाद, जैनेन्द्र, बच्चन, महादेवी में खोजने का प्रयत्न करता है। और वह मृत्योन्मुखी प्रतिगामी चेतनाओं की अभिव्यक्ति को यथार्थ से बचने का व्यर्थ प्रयत्न मानता है। ऐसे साहित्य में युयुत्सा का भाव नहीं, जीवन नहीं है।

इस सम्बन्ध में एक बात और उठाई गई है। व्यक्ति समाज को कहाँ तक स्वीकार करे ? कहाँ तक यह स्वीकृति उसके लिए स्वाभाविक और अनिवार्य है ? "वह (व्यक्ति) किसी व्यक्ति के या किसी दल के या किसी नियम के आगे झुके न भी तो भी यह तो उसे मानना ही

होगा कि अन्य व्यक्तिगत अनुभव और दल का समष्टिगत अनुभव उसकी निजी अनुभूति के साथ गहरा सम्बन्ध रखते हैं और उसका मूल्य आँकने के लिए अवश्य विचारणीय हैं। "अपनी अनुभूति को जातिगत या समूहगत अनुभवों पर जाँचते-जाँचते व्यक्ति का व्यक्तित्व क्रमशः पुर्निर्मित होता चलता है और उसमें सामाजिक मान्यताओं और परंपरा तथा संस्कृति की भावना अधिक गहरी होती चलती है।"

व्यक्ति अपने को समाज के अनकूल गढ़ता है वह अपना बहुत कुछ समाज को देकर ही महान बनता है लेकिन व्यक्ति की अपनी मौलिकता भी होती है। जब उसकी मौलिकता का मर्म आहत होता है तब वह विद्रोह या चीत्कार कर उठता है और वह फुफकार उठता है कि तुम कहते हो कि मैं गलती पर हूँ। कौन हो तुम कहने वाले ?

परम्परा और मौलिकता का सम्बन्ध भी साहित्य के लिए एक विचारणीय प्रश्न है। अज्ञेय जी ने रूढ़ि को परम्परा के अर्थ में ग्रहण कर एक भ्रामक प्रयोग किया है। तो भी हम उन्ही का अर्थ यहाँ मान कर चलें। रूढ़ि का सम्बन्ध ऐतिहासिक चेतना से है। अज्ञेय जी के मतानुसार साहित्यकार में साहित्य के 'आसीत' और 'अस्ति' की परस्परता का ज्ञान बना रहना आवश्यक है। आधुनिक हिन्दी लेखक में यदि यह ऐतिहासिक चेतना होगी तो उसकी रचना में न केवल अपने युग, अपनी पीढ़ी से उसका सम्बन्ध बोल रहा होगा, बल्कि उससे पहले की अनगिनत पीढ़ियों की और उनके साथ अपनी पीढ़ी की संलग्नता और एकसूत्रता की भी तीव्र अनुभूति स्पन्दित हो रही होगी।

"प्रत्येक नई रचना के आते ही पूर्ववर्ती परम्परा के साथ उसके सम्बन्ध उनके परस्पर अनुपात और सापेक्ष मूल्य अथवा महत्व का फिर से अंकन हो जाता है तथा 'पुरातन' और 'नूतन' रूढ़ और मौलिक परम्परा और प्रतिभा में एक नया तारतम्य स्थापित हो जाता है। आधुनिक साहित्य-कार को मानना पड़ता है कि वह चाहे या न चाहे उसे अतीत द्वारा, रूढ़ि द्वारा उतना ही नियमित होना पड़ा है जितना वह स्वयं उसे परिवर्तित अथवा परिवर्धित करता है।" अज्ञेय जी इतिहास की चेतना को जीवित चेतना के रूप में स्वीकार करते हैं। यह ऐतिहासिक चेतना केवल पुस्तकों के अध्ययन से नहीं प्राप्त होती। वह कुछ को अनायास

प्राप्त हो जाती है। ऐतिहासिक चेतना, परम्परा के ज्ञान से कलाकार का व्यक्तित्व लघुता से महानता की ओर अग्रसर होता है। रूढ़ि के, परम्परा के विरुद्ध हमारा कोई विद्रोह हो सकता है तो यह कि हम अपने को परम्परा के आगे जोड़ दें।

कलाकार रूढ़ि के आगे आत्मोत्सर्ग करता है। इस स्थापना की परीक्षा के लिए अज्ञेय जी दूसरा मोड़ लेते हैं। ऊपर जिस सिद्धान्त की स्थापना हुई है और जो होने जा रही है वह सर्वथा टी० यस० इलियट के विचारों पर आश्रित है। उसका कथन है कि "कविता भावों का उन्मोचन नहीं है बल्कि भावों से मुक्ति है। वह व्यक्तित्व की अभिव्यंजना नहीं बल्कि व्यक्तित्व से मोक्ष है[1]।' अज्ञेय जी इलियट के ही दृष्टान्तों को लेकर इसे पुष्ट भी करते हैं। ये लोग मानते हैं कि रचना करनेवाला प्राणी अनुभव करनेवाले प्राणी से भिन्न होता है। वह तटस्थ होता है। अतएव लेखकों के बड़े छोटे व्यक्तित्वों के कारण उनकी रचनाएँ बड़ी छोटी नही हो सकतीं और न तो वे वर्ण्य-विषय या भाव की श्रेष्ठता या भव्यता के कारण महान हो सकती हैं। जितनी ही तटस्थता से कवि का स्रष्टा मन विभिन्न अनुभूतियों पर असर डालकर उनके मिश्रण और संगति का माध्यम बनता है कला उतनी ही उच्चकोटि की होती है। मानस वह धातु है जिसके बिना विभिन्न अनुभूतियाँ आपस में मिश्रित होकर काव्य-रूप धारण नहीं कर पातीं किन्तु वह कवि-मानस उन्हें काव्य रूप देने का एक माध्यम मात्र होता है स्वयं अप्रभावित सा ज्यों का त्यों रहता है। इलियट ने इस प्रक्रिया की तुलना प्लाटिनम (कवि मानस) के संयोग से सल्फ्यूरस एसिड (कविता) के रूप में डायक्साइड और आक्सीजन (विभिन्न अनुभूतियों) के परिणत हो जाने की क्रिया से की है।

वे तत्त्व क्या हैं जिनके मिश्रण से तटस्थ कवि मानस एक चामत्कारिक योग या रस उत्पन्न करता है। वे हैं स्थायी भाव और संचारी भाव। काव्य रस एक या अनेक अनुभूतियों के सम्मिश्रण से उत्पन्न हो सकता है।

---

[1] Poetry is not a turning loose of emotion, but an escape from emotion; it is not the expression of personality, but an escape from personality.

हो सकता है कि अन्य अनुभूतियों के साथ कवि के भोक्ता मन की भी अनुभूतियाँ संमिलित हों। इस संबंध में दूसरी बात ध्यान देने की यह है कि कवि नयी धातुओं का शोधक नहीं होता वह हमारी जानी-पहचानी हुई धातुओं से ही नया योग ढालने और उससे नया रस उत्पन्न करने की चेष्टा करता है इसी में उसकी सफलता है।

ऊपर हमने वात्स्यायन जी की साहित्य संबंधी मान्यताएँ देखीं। थोड़े में उनकी उपलब्धियों और सीमाओं पर विचार करें। वात्स्यायन जी किसी बँधे-बँधाये ढर्रे या बँधी-बँधाई विचार-पद्धति का अन्धानुसरण करते नहीं चलते। अध्यापक तो हैं नही इसलिए उनके निबन्धों में शास्त्रीय ज्ञान की क्रमबद्ध (पर घिसी पिटी) परिपाटी नहीं मिलती और न तो व्यास-शैली में अनावश्यक सरल विस्तार की ही प्रवृत्ति लक्षित होती है। साहित्य की नवीन और मौलिक समस्याओं को बड़े ही मौलिक और संक्षिप्त ढंग से पाठकों के सामने रखने की कोशिश करते हैं। पुरानी बात को या पाश्चात्य पंडितों के मतों को भी इस ढंग से प्रस्तुत करते हैं कि उनमें नवीनता, मौलिकता और गंभीरता लक्षित होती है। वास्तव में उनकी सारी मान्यताएँ स्वयं के चिन्तन का परिणाम नही हैं, वे अनेक लोगों और सिद्धान्तों के प्रभाव से निर्मित हुई हैं तो भी उन्हें समेटने और प्रस्तुत करने की पद्धति में तो अज्ञेय जी की अपनी मौलिकता है ही। यह दूसरी बात है कि आप सभी जगह उनसे सहमत न हों।

अज्ञेय जी ने साहित्य को परंपरा, परिस्थिति और युग की सापेक्षता में रखकर उस पर विचार किया है। अतीत के साथ वर्तमान के सम्बन्ध पर इलियट के विचारों के आलोक में सोचा है। यह सही है कि अतीत के ज्ञान के समेटे बिना वर्तमान का निर्माण और विश्लेषण संभव नहीं है या कि वर्तमान अतीत की परंपरा में एक कड़ी है। इस सम्बन्ध में लेखक ने अनेक ग्राह्य और सुविचारित तथ्य सामने रखे हैं। किन्तु एकाध बातें विचारणीय हैं। "सामूहिक मन परिवर्तित हो सकता है, विकासशील है, पर इस विकास और परिवर्तन में वह अपने किसी अंग का परित्याग अथवा वहिष्कार नही करता केवल उसके प्रति एक नई चेतना पैदा कर देता है[१]।" कुछ लोगों का मत है कि परिवर्तन में

[१] त्रिशंकु, श्री अज्ञेय, पृ० ३४।

बहुत सी अग्राह्य वस्तुएँ छूट जाती हैं जो जीवन्त तत्त्व होते हैं वे ही बच रहते हैं। नई चेतना प्राप्त सामाजिक मन पुरानी रूढ़ियों को स्वीकार नहीं करता और उन्हें छोड़कर विकसित होता है। परंपरा केवल जीवन्त तत्त्वों की ही बनती है और परंपरा की किसी कड़ी को हम तत्कालीन सामाजिक परिपार्श्व से अलग काटकर केवल एक चिरन्तन सत्य के रूप में स्वीकार नहीं कर सकते।

अज्ञेय जी साहित्य पर सामाजिक, राजनीतिक और अन्यान्य प्रभावों को स्वीकार करते हैं। अन्य मनोविश्लेषणवादियों की अपेक्षा वे सामाजिक चेतना को अधिक स्थान देते हैं। उनकी स्पष्ट घोषणा है कि साहित्य समाज के लिए ही बनता है जिसमें लेखक की आत्म-तुष्टि भी संमिलित होती है। किन्तु अपनी सामाजिक चेतना की व्याख्या में कुछ औरों से अलग हो जाते हैं। वे परिस्थितियों, सामाजिक परिवृत्ति की आवश्यकता का विश्लेषण करते समय इस बात की जी जान से कोशिश करते हैं कि आधुनिक समाजवादी दर्शन की कहीं गन्ध उनकी व्याख्याओं में न उतर आये। वे अधिक मौलिक होने की कोशिश करने में एक अत्यधिक महत्त्वपूर्ण सामाजिक दर्शन को दृष्टि से ओझल कर देते हैं। इसीलिए उनका सामाजिक यथार्थ का विश्लेषण सीमित है। वे व्यक्ति या लेखक के सामाजिक परिवृत्ति के साथ के संघर्ष को देख सके (जिससे इनकार नहीं किया जा सकता) किन्तु सामाजिक परिवृत्ति के साथ व्यक्तियों या लेखकों के सामूहिक संघर्ष को वे नहीं देख सके। वे आज को संक्रान्ति का युग मानते हैं जिसमें कलाकार अनुकूल सामाजिक परिवृत्ति की मांग करता है और मांग पूरी न होने पर अतृप्त हो जा रहा है। वह आवश्यकता के वशीभूत हो अपना साहित्य बेंचता है। लेखक मध्यमवर्ग का जागरूक व्यक्ति है। मजदूर वर्ग उस पर विश्वास नहीं करता और भद्र वर्ग थोड़ी बहुत शिक्षा के बल पर उस प्रबुद्ध व्यक्ति को समझ लेने का दावा करता है। और वह उसे एक घटिया ढंग का आदमी मानता है। इस प्रकार साहित्यकार दुहरे अज्ञान और उपेक्षा के आगे बेकार सा हो जाता है और वह अपने नाम की कीमत पाने के लिए अपने नाम को बेंच सकता है। अज्ञेय जी ने वर्तमान पूँजीवादी समाज में असहाय विवश मध्यम वर्गीय कलाकार को देखा है, उसके निरुपाय असंतोषों और निराशाओं को पहचाना है और पहचाना है उनसे

उद्‌भूत उसके साहित्य को। उन्होंने देखा है मशीनयुग की सभ्यता में टूटती बिखरती हुई सांस्कृतिक सामाजिक साहित्यिक आस्थाओं को और भरते हुए बाजारू सस्तेपन को। अज्ञेय जी के पास गहरी संवेदनशीलता है, सूक्ष्म दृष्टि है। किसी वस्तु के भीतर पैठ जाने की क्षमता है, कला की परख है, जाग्रत सौन्दर्य बोध है। इसलिए वे जिस क्षेत्र में प्रवेश करते हैं वहाँ की अनेक वस्तुगत सूक्ष्मताओं और गहनताओं को समझ लेते हैं। वे उनकी व्याख्या भी समर्थ ढंग से करते हैं। अपनी इन अनेक क्रियाओं में वे सर्वथा मौलिक होने का प्रयत्न करते हैं। मौलिक होने का तात्पर्य यह नहीं कि वे कोई नई बात लादते हैं। बल्कि वे अपने ढंग से वस्तुओं का सही स्वरूप पा लेने की चेष्टा करते हैं, प्रतिपादन की शैली भी उनकी अपनी ही होती है। ये विशेषताएँ उपर्युक्त विवेचन में लक्षित होती हैं। किन्तु उनका दृष्टिकोण सीमित है। वह यथार्थ के पक्ष विशेष को ही देख पाते हैं। इसीलिए उभरती हुई सामाजिक चेतना और नया उत्साह लेकर आनेवाले नव निर्माण और भविष्य को उन्होंने नहीं पहचाना, सामाजिक संघर्ष में वे विश्वास नहीं कर सके। और सामाजिकता का, युग यथार्थ का दंभ भरते हुए भी उन्होंने यह फतवा दिया कि दुःख-सुख गरीब-अमीर सभी को है, गरीबों ने ही दुःख का ठीका नहीं ले रखा है। साहित्य का धर्म है कि वह गरीब अमीर वर्गों से ऊपर उठकर मानवता को देखे। जैसे वे कहना चाहते हों कि गोदान के गरीब होरी के दुःख और संघर्ष से बढ़कर शेखर का और 'नदी के द्वीप' के भुवन का दुःख और संघर्ष अधिक तीव्र अतएव मानवोचित है। गरीब-अमीर सभी को दुःख अवश्य है किन्तु अमीरों का दुःख व्यक्तिगत और काल्पनिक है। भौतिक ऐश्वर्य अधिकाधिक बढ़ाते चलने की चिन्ता और उसके परिणाम स्वरूप उत्पन्न दुःख काल्पनिक ही हैं। दैवी दुर्घटनाएँ तो सब पर समान रूप से लागू होती हैं वे दुःख यथार्थ हैं किन्तु अमीरों के पास उन्हें सहन कर लेने की सुविधा अधिक होती है। ये दुर्घटनाएँ भी रोटी के लिए संघर्ष करते हुए मजदूरों को ही अधिक सहनी पड़ती हैं। गरीबों का दुःख यथार्थ और अमीरों द्वारा ढाया गया होता है। वे भौतिक असुविधाओं में तड़पते हैं, संघर्ष करते हैं। वे समाज के सशक्त अंग हैं। उन्हीं के दुःखों का चित्र खींचना मानवोचित है।

अज्ञेय जी का कहना है कि कलाकार अनिवार्य रूप से गतिमात्र है। उसमें एक बलवती प्रेरणा काम करती है। यह गति आगे की ओर है या पीछे की ओर? प्रगति है या प्रतिगति है या अधोगति? इसका निर्णय साहित्य के भीतर से नहीं होता। अज्ञेय जी की यह घोषणा किसी स्वस्थ दृष्टिकोण का परिणाम है ऐसा नहीं कहा जा सकता। वे साहित्य में नैतिकता स्वीकार करते हैं, गति स्वीकार करते हैं किन्तु उनका स्वरूप क्या है यह सब रहस्य है। इस अनिवार्य गति के मूल्यांकन की कसौटी क्या है यह भी समझ में नहीं आता।

इलियट के साथ आप स्वीकार करते हैं कि कविता या साहित्य कलाकार के व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति नहीं, उससे मुक्ति है। मनोविश्लेषणवादी कला को कलाकार की दमित वासनाओं की अभिव्यक्ति मानते हैं या हीन भावनाओं की क्षतिपूर्ति मानते हैं। अज्ञेय भी मनोविश्लेषणवादी हैं फिर इन दोनों सिद्धान्तों में संगति कहाँ है? और अज्ञेय 'शेखर एक जीवनी' को या 'नदी के द्वीप' को व्यक्तित्व से मोक्ष या उसकी अभिव्यक्ति क्या मानेंगे? इन दोनों सिद्धान्तों के सम्बन्ध में अलग-अलग से मुझे कुछ नहीं कहना है क्योंकि वे दोनों मतों का प्रतिनिधित्व करते हैं और इनके पक्ष-विपक्ष में अनेक बातें उठ खड़ी हो सकती हैं जिनके लिए यहाँ अवकाश नहीं है। मुझे केवल इन दोनों सिद्धान्तों को अलग-अलग स्वीकार करने वाले अज्ञेय जी से यह जिज्ञासा है कि अन्ततोगत्वा वे किसे स्वीकार करते हैं? अन्त में हमें कहना यह है कि इन सब संगतियों, असंगतियों, उपलब्धियों और सीमाओं के बीच अज्ञेय जी बहुत ही चिन्तक कलाकार आलोचक हैं। उन्होंने सच्चे अर्थों में हिन्दी आलोचना में एक अध्याय जोड़ा है जिसकी परम्परा में आज अनेक नए आलोचक चल रहे हैं। प्रगतिवादी आलोचक राजनीति के बहाव से हट कर साहित्यिक क्षेत्र में ही सोचने विचारने तथा साहित्य का साहित्य की दृष्टि से मूल्यांकन करने के लिये सावधान हो गये, वैयक्तिक चेतनाओं और मध्यम वर्गीग कुंठाओं, अतृप्तियों आदि का भी साहित्यिक और सामाजिक मूल्याकन आज के लोग सहानुभूति से करने लगे।

अज्ञेय जी ने साहित्य का मूल्यांकन कलात्मक चेतना के साथ किया किसी बाहरी आरोपित मानदण्ड या सतही दृष्टिकोण से नहीं। छाया-

वादियों ने भी साहित्यिक मानदण्ड ही उपयुक्त समझा लेकिन उनमें इनमें अन्तर यह है कि जहाँ वे सामाजिक, राजनैतिक, नैतिक आदि मानदण्डों के भावों को अस्वीकार करके चले और कभी-कभी साहित्यिक संस्कार को ही अलम् मानकर एकान्त प्रभाववादी बन बैठे, वहाँ अज्ञेय जी ने यह स्वीकार किया कि कला में कलाकार का स्वांतः सुख और सामाजिक दायित्व दोनों निहित रहते हैं और कला पर राजनैतिक और सामाजिक दबाव का अनिवार्य प्रभाव पड़ता है, कला के विवेचन और निर्माण के लिए ऐतिहासिक परम्परा का ज्ञान आवश्यक है, कला में सौन्दर्य बोध और नैतिकता दोनों का गाढ़ आलिंगन है। सौन्दर्य बोध को अज्ञेय जी अतीन्द्रिय लोक की कोई ऐसी वस्तु नहीं मानते जो केवल प्रवृत्तिमूलक हो, बुद्धि के परे हो, शाश्वत हो और क्या क्या हो········· । "गोचर अनुभव का कार्य-कारण-ज्ञान के सहारे, बुद्धि द्वारा प्राप्त किया हुआ निचोड़ ही हमारे सौन्दर्य बोध का आधार है।" "बुद्धि भी विकासशील है और इसलिए हमारे मूल सौन्दर्य तत्व-यानी मूल्य भी विकासशील है।" "नैतिक मूल्य यानी शिवत्व के मूल्य और सौन्दर्य के मूल्य हैं तो अलग-अलग और अलग-अलग विचार माँगते हैं·········किन्तु उच्चकोटि का नैतिक बोध और उच्चकोटि का सौन्दर्य बोध, कम से कम कृतिकार में साथ-साथ चलते हैं। इसलिए कि दोनों बोध, मूलतः बुद्धि के व्यापार हैं, मानव का विवेक ही दोनों के मूल्यों का स्रोत है और दोनों के प्रतिभावों या मानदण्डों का आधार[१]।"

इसी प्रकार अज्ञेय जी ने यह भी स्वीकार किया कि बढ़ते हुए बुद्धि वैभव के साथ नैतिकता ेध भी बढ़ता है (यद्यपि कहीं-कहीं अपनी व्याख्याओं में इसके विपरीत बात कह गये हैं)। अज्ञेय जी ने बाह्य घटित घटनाओं और आभ्यंतर घटित घटनाओं, वाह्य परिस्थितियों और मनोवैज्ञानिक सत्यों, सबों का महत्व स्वीकार किया। इसीलिए व्यावहारिक समीक्षा में, कविताओं के मूल्यांकन में (जैसे प्रतीक और तार सप्तक में) उन्होंने सभी प्रकार की अच्छी कविताओं को (चाहे वे किसी दृष्टिकोण की हों) महत्व दिया है।

---

[१] समालोचना और नैतिक मान (आलोचना का आलोचनांक) पृ० १३२।

अज्ञेय जी ने विचार की एक नई दिशा दी है। कला में कलात्मक सौन्दर्य, उदार नैतिकता और मानववादिता को चित्रित करने का पक्ष उठाया है यद्यपि उनकी यह अस्वरूप उदारता अनेक स्थलों पर (विशेषतया व्यवहार में) अपना अनैतिक और समाज विरोधी रूप दिखा देती है जिसे शायद अज्ञेय जी उच्चकोटि की नैतिक और समाज सेवी रचना मानते हों क्योंकि उनकी नैतिकता और सामाजिक चेतना की कोई रूपरेखा स्पष्ट तो है नहीं, उसमें तो यह भी सही वह भी सही की गुंजाइश भलीभाँति हो सकती है।

पंचम उत्थान (स्वच्छन्द समीक्षा)

वर्तमान काल

आधुनिक हिन्दी समीक्षा के क्षेत्र में मुख्यतया तीन प्रकार के आलोचक लक्षित हो रहे हैं। (१) वे लोग जो सामाजिक जीवन-दर्शन को साहित्य का मूलाधार मानकर कृतियों का मूल्यांकन और सिद्धांत स्थापन करते हैं, (२) वे लोग जो मनोविश्लेषणवादियों की मान्यताओं के आधार पर व्यक्ति के अवचेतन में अवस्थित वासनाओं को ही साहित्य की मौलिक चेतना और प्रेरणा स्वीकार करते हैं। यद्यपि इस क्षेत्र के सभी आलोचक पूर्णरूपेण इस मत को स्वीकार न करके केवल उसके मूल दर्शन के प्रभाव को ग्रहण करते हैं और अन्य सिद्धान्तों के मेल से अपने अलग-अलग मार्ग निर्मित करते हैं तो भी एक बात में वे किसी भी तरह समान हैं वह इस बात में कि साहित्य में व्यक्ति की वैयक्तिकता सामाजिकता के ऊपर है और मूल्यांकन में इसका ध्यान रखना चाहिए और (३) वे आलोचक जो इन दोनों वादों के आग्रहों से मुक्त होकर खुली दृष्टि, खुले हृदय और अपने विवेक से परंपरा और नूतनता की उपलब्धियों को स्वीकार कर स्वतंत्र मानदण्ड निर्मित करते हैं। स्वतंत्र का तात्पर्य यह नहीं कि वे अपने मन के अनुकूल चाहे जैसा भी विचित्र, असामान्य और अतिवैयक्तिक मानदण्ड कल्पित कर लेते हैं। वे परंपरा की चेतना और वर्तमान नवीन दृष्टिकोणों और वादों की अवगति से समृद्ध हैं और वे इन वैयक्तिक और सामाजिक चेतनाओं के बीच से ही अपना पथ-निर्माण करते हैं। वे वादोन्मुखी समीक्षकों से इसी अर्थ में भिन्न हैं कि वे किसी वाद के प्रति आग्रह नहीं व्यक्त करते हैं और वादों की सीमाओं का स्पष्ट निर्देश भी करते हैं। इस संबंध में एक बात ध्यान देने की यह है कि वादों से मुक्त होकर जहाँ समर्थ और विवेकशील आलोचक उत्कृष्ट कोटि की समीक्षा प्रस्तुत कर सकता है वहाँ विवेकहीन असमर्थ आलोचक अंधेरे में टटोलने लगता है। बात यह है कि सभी वादों और प्रवादों के ऊपर मानव का विवेक है। वाद और प्रवाद हैं क्या ? जीवन को देखने के दृष्टिकोण। विवेक भी दृष्टिकोण ही है और सभी दृष्टिकोणों के ऊपर है। इसलिए जहाँ

विराट संवेदनशील और प्रबुद्ध विवेकशील समालोचक वादों वाले दृष्टिकोणों से मुक्त होकर भी उच्च कोटि का रचनात्मक और आलोचनात्मक साहित्य की सृष्टि कर सकता है वहाँ असमर्थ विवेकहीन साहित्यकार अपनी और वादों द्वारा प्रदत्त दोनों दृष्टियों से हीन होकर लुंज-पुंज हो जाता है। वह कितना भी स्वतंत्र मानदण्ड गढ़ने का दम्भ क्यों न करे, वास्तव में वह दम्भ मात्र ही है। प्रत्येक वाद के मूल में महान विचारकों का जीवन-दर्शन, युग-दर्शन और उनका अपना विवेक सन्निहित होता है इसलिए वादों के पथ पर अशक्त व्यक्ति भी सरलता से चल कर कुछ अच्छी बात कह सकता है (क्योंकि उसे पहले से एक रीढ़ प्राप्त है) किन्तु वाद-मुक्त पथ पर अशक्त व्यक्ति गिर कर बिखर जाता है।

पहले दोनों प्रकार की समीक्षाओं का विस्तार से विवेचन हो चुका है। यहाँ इसी तीसरे प्रकार की समीक्षा के स्वरूप पर विचार किया जायगा। इस समय हिन्दी में यह स्वर सुनाई पड़ने लगा है कि प्रगतिवाद और मनोविश्लेषणवाद दोनों जीवनगत और साहित्यिक सत्यों की दो सीमाएँ हैं, इनमें ही संपूर्ण जीवन और साहित्य को बाँध देने से विकास अवरुद्ध हो जायगा। साहित्यकार किसी भी दार्शनिक, राजनीतिक या सामाजिक वाद का अनुयायी क्यों हो ? उसकी अपनी स्वतन्त्र सत्ता है और साहित्य को साहित्यिक दृष्टिकोण से ही देखना श्रेयस्कर है। यह स्पष्ट है कि इस साहित्यिक स्वतंत्रता का रूप विभिन्न लेखकों की अपनी-अपनी क्षमता के अनुकूल निर्मित होगा। कुछ लेखक ऐसे होंगे जो अधिक अध्ययनशील होंगे, जिन्हें अपनी परंपरा की सम्पत्ति पर अधिकार होगा और जो खुले हृदय से नवीन चेतनाओं का भी स्वागत करेंगे, जो साहित्य को संपूर्ण सामाजिक विकास के परिपार्श्व में देखेंगे और इसलिए वे सामाजिक चेतना के विभिन्न स्वरूपों (राजनीतिक, दार्शनिक, आर्थिक, साहित्यिक, सांस्कृतिक चेतनाओं) का अध्ययन, मनन और चिन्तन करेंगे, यह जानने का प्रयत्न करेंगे कि जीवन का निर्माण करने वाले ये विभिन्न तत्त्व जीवन की अभिव्यक्ति—साहित्य—को किस मात्रा में प्रभावित कर रहे हैं। वे यह जानना चाहेंगे कि जीवन की ही अभिव्यक्ति और पोषण करने वाला साहित्य युग और परंपरा, व्यक्ति और समाज के किन-किन जीवन्त तत्त्वों को अपने में समेट कर प्राणवान

हो सका है। वे इस बात की परीक्षा करेंगे कि अमुक साहित्य केवल वैयक्तिक वासना का ऊहापोह तो नहीं है जिसमें सामाजिक स्वास्थ्य के लिए कहीं कोई पौष्टिक तत्त्व विद्यमान नहीं है या उसमें केवल समाज के स्थूल और सतही सम्बन्धों को ही तो नहीं लिपिबद्ध किया गया है या केवल कला की अभिव्यक्तिगत बारीकियों की ही तो पच्चीकारी नहीं की गयी है या विषय के एकान्त मोह में अभिव्यक्तिगत सौन्दर्यों का दामन हाथ से एक दम तो नहीं छूट गया है ?

इनके अतिरिक्त कुछ ऐसे समीक्षक होंगे जिनका अध्ययन मनन तो विस्तृत होगा, सौन्दर्यबोध भी परिष्कृत होगा, कलात्मक बारीकियों की पहचान भी प्रौढ़ होगी किन्तु कोई दृष्टि नहीं होगी। ऐसे विद्वान् अपने विस्तृत अध्ययन, मनन और कलात्मक सूझ-बूझ का सम्यक् उपयोग नहीं कर पायेंगे, वे अपनी कोई दृष्टि न होने से अपना कोई दृढ़ मानदंड नहीं निर्धारित कर पायेंगे और ये लोग बड़े-बड़े विद्वानों के उद्धरणों से अपनी आलोचनाओं को भाराक्रान्त कर पठकों को चौंकाने की चेष्टा करेंगे। ये किस प्रकार की रचना के विषय में किस समय क्या मत व्यक्त कर देंगे इसका कोई ठीक नहीं क्योंकि इनका दृष्टिकोण साफ नहीं है।

तीसरे प्रकार के समालोचक वे होंगे जिनका अध्ययन भी विस्तृत और गहरा नहीं है और जिनकी कलात्मक सूझ-बूझ भी बड़ी पैनी नहीं है, जिनकी सौन्दर्यचेतना भी अधिक उद्बुद्ध नहीं है, जिनकी साहित्य समझने की शक्ति भी सीमित और परिपाटी-आश्रित है और सबके ऊपर कोई दृष्टि नहीं है। ऐसे समीक्षकों से आलोचना के सैद्धांतिक और व्यावहारिक दोनों क्षेत्रों में किसी गंभीर कृति की आशा व्यर्थ है—वे यहाँ का पत्थर और वहाँ का रोड़ा लेकर भानुमती का कुनबा जोड़ने के अतिरिक्त और कुछ नहीं कर सकते हैं ? वे लोग एक अध्ययन, एक समीक्षा आदि नामों से विद्यार्थियों के लिए नोट तैयार करते हैं। साहित्य के विभिन्न स्वरूपों की व्याख्या करते समय बीस-तीस पौर्वात्य और इतने ही के करीब पाश्चात्य विचारकों की परिभाषाएँ उठा कर रख देंगे, बहुत हुआ तो सबको एक में गूँथने की चेष्टा करते हुए अपनी एक समन्वयात्मक परिभाषा भी अन्त में जोड़ देंगे। इनके साथ न्याय करने के लिए एक बात की ओर संकेत कर देना आवश्यक है कि इनमें कुछ ऐसे अवश्य हैं जो नई समस्याओं, नये सामाजिक और साहित्यिक प्रश्नों,

नवीन कलात्मक मान्यताओं के प्रति जागरूक न होकर भी किसी पूर्व प्रचलित सिद्धांत को अपनी दृष्टि में रखकर शास्त्रीय पद्धति पर अपेक्षाकृत अच्छी व्यावहारिक आलोचनाएँ प्रस्तुत कर रहे हैं। उनकी आलोचनाओं से किसी रचनाकार विशेष का सरल, सांगोपांग विवेचन प्रस्तुत हो जाता है। पहली श्रेणी के विचारकों में डा० देवराज अन्यतम हैं। दूसरी श्रेणी में नलिनविलोचन शर्मा और प्रभाकर माचवे के नाम उल्लेख्य हैं। तीसरी श्रेणी में आज के अधिकांश समालोचक प्रवर परिगणित हो सकते हैं। इस श्रेणी के अच्छे आलोचकों में केसरीनारायण शुक्ल, कृष्णशंकर शुक्ल, विश्वंभर मानव, सत्येन्द्र आदि का नाम लिया जा सकता है।

डा० देवराज

डा० देवराज दर्शन के अध्येता रहे हैं और प्रारंभ से ही साहित्य के क्षेत्र में चिन्तन, मनन करने की ओर उन्मुख। उन्हें भारतीय और पाश्चात्य दर्शनों का सम्यक् ज्ञान है और पूर्व-पश्चिम की साहित्यिक परंपराओं से भी पूर्ण रूपेण परिचित हैं। डा० साहब की दृष्टि नयी है। वे साहित्य और समाज के विकासशील–युग और देश सापेक्ष–रूप के द्रष्टा हैं। दर्शन के अध्ययन ने उनकी समीक्षाओं को वैचारिक और तार्किक गांभीर्य दिया है। साहित्य के अध्ययन ने उन्हें साहित्यिक संस्कार प्रदान किया है। वे साहित्यिक सौंदर्य को रागात्मक और संवेदनात्मक गहराई में पा लेना चाहते हैं। नयी मुक्त दृष्टि ने अनेकमुखी सांस्कृतिक विकासधाराओं से अवगत होकर सामाजिक चेतना और यथार्थ को साहित्य का मूलाधार स्वीकार करने की उन्हें स्वस्थ प्रेरणा दी है। डा० देवराज के निबन्ध इन्हीं आधार भूमियों पर आश्रित हैं। 'साहित्य चिन्ता' उनके निबन्धों का पहला संग्रह है। उनके इधर के निबन्ध 'आधुनिक समीक्षा' में संगृहीत हुए हैं। 'छायावाद का पतन' उनकी सर्वप्रथम समीक्षात्मक कृति है जो छायावाद की व्यावहारिक आलोचना से संबंध रखती है।

संग्रह में कुछ निबन्ध ऐसे होते हैं जो लेखक की अपनी वास्तविक मान्यताओं को–आलोचन सिद्धान्तों को–व्यक्त करते हैं। हम उन्हीं निबन्धों के द्वारा लेखक की समूची कृतियों में व्याप्त उसके दृष्टिकोण का पता लगा सकते हैं। डा० देवराज ने निवेदन में स्वीकार किया है कि

निबन्धों में अधिकांश का लक्ष्य मूल्यांकन के मानों को स्थिर करना है। "साहित्य की प्रत्येक उल्लिखित विशेषता का संबंध किसी व्यापक मानदंड से होना चाहिए, फलतः नर-चरित्र के मानों की तरह यहाँ भी मान अनेक हैं। फिर भी उनमें कुछ मुख्य हैं अथवा परीक्षक विशेष को और युग विशेष को जान पड़ते हैं। इस दृष्टि से 'कल्पना और वास्तविकता' तथा 'साहित्य और संस्कृति' इस संग्रह के केन्द्रगत निबन्ध कहे जा सकते हैं।" इसलिए पहले हम इन्हींको देखें।

डा० देवराज ने संस्कृति को आदर्शमूलक धारणाओं की परंपरा माना है। संस्कृति का इतिहास भी है और चूँकि संस्कृति का संबंध मानव समाज के उत्तरोत्तर विकास से है इसलिए विभिन्न संस्कृतियों का आपस में तुलनात्मक मूल्यांकन हो सकता है। डा० साहब ने माना है कि संस्कृति केवल मनुष्यों की होती है वह इसलिए कि पशुओं से भिन्न उसके पास मानसिक एवं बौद्धिक अवगति या चेतना होती है। वह अपने परिवेश और जीवन के अनुभवों को सचेत भाव से मस्तिष्क में बटोर कर रख लेता है। यहीं से उसकी संस्कृति का आरंभ होता है। इस प्रकार मनुष्य अपनी भावना-शक्ति द्वारा अनुभूत जगत् का मानसिक अनुवाद करके अपने अस्तित्व का प्रसार या विस्तार करता है। "देश-काल की सीमाओं का अतिक्रमण करके इस प्रकार आत्म प्रसार की चेष्टा संस्कृत व्यक्तित्व की प्रधान विशेषता है।" डा० साहब संस्कृति की प्रतिष्ठा व्यापक मानव-समाज की पृष्ठभूमि पर करते हैं। मानव को संस्कृत होने के लिए आत्म प्रसार करना आवश्यक है किन्तु यह आत्म प्रसार व्यापक जीवन और जगत्, अतीत और वर्तमान की मार्मिक छवियों और अनुभूतियों को ग्रहण कर सकने पर ही संभव है। लेखक स्पष्ट स्वीकार करता है कि "मनुष्य का मानसिक जीवन, उसकी चेतना का संसार, वह जीवन जिसके द्वारा वह अपने अस्तित्व का प्रसार करता है मुख्यतः सामाजिक अथवा मानवता का जीवन है। इस विशाल जीवन-समुद्र में असंख्य व्यक्तिगत जीवनों के छोटे-वड़े सोते अहर्निश आकर मिलते एवं विलीन होते रहते हैं और उसके उष्ण वाष्प समूह से असंख्य मेघ-खण्ड सांस्कृतिक आकाश में उत्थित होकर नवोदित चेतना-केन्द्रों को पुष्पित और पल्लवित बनाते हैं[१]।"

---

[१] साहित्य चिन्ता, डा० देवराज, पृ० १०० ।

वे यह मानते हैं कि व्यक्ति विशेष की सौन्दर्यानुभूति तब तक संस्कृति की परिचायक नहीं मानी जा सकती जब तक समाज के काफी सदस्य उसे उस रूप में ग्रहण या स्वीकार न करें। यही बात वैज्ञानिक सत्य एवं नैतिक निर्णयों पर लागू है। डा० देवराज संस्कृति के अन्तर्गत उन सभी प्रयत्नों को लेते हैं जो मानव जाति के सामान्य चेतना मूलक जीवन को विकसित कर सके हैं। प्रत्येक संस्कृत व्यक्ति को अपने युग तक विकसित इन अनेक प्रयत्नों की अवगति प्राप्त करना अत्यंत आवश्यक है। साहित्य भी इन्हीं अनेक प्रयत्नों में से एक है। अतः यहाँ यह पहले ही स्पष्ट हो जा रहा है कि साहित्य सामाजिक चेतना का प्रयत्न है न कि अतिवैयक्तिक। और आरंभ से ही साहित्य की ऐतिहासिक प्रगति में मानव जीवन की अर्थवती छवियों का स्पष्टतर प्रकाशन होता आया है। साहित्य का स्वरूप मानव जीवन के अनुकूल ही परिवर्तित होता रहता है। ज्यों-ज्यों मानव जीवन की जटिलता बढ़ती गयी है त्यों-त्यों साहित्यिक अभिव्यक्ति भी अधिक जटिल एवं सूक्ष्म होती गई है। उपर्युक्त मान्यता में—लेखक के अनुसार—दो प्रचलित धारणाओं का खण्डन हो गया है। (१) डा० रिचार्ड् की इस धारणा का कि साहित्य में प्रयुक्त शब्द किसी वस्तुगत यथार्थ का संकेत नहीं करते। वे केवल आवेग जगाने का काम करते हैं। (२) इस धारणा का कि साहित्य का विषय मानवी आवेग और वेदनाएँ हैं आत्मनिष्ठ तत्त्व हैं, वाह्य तत्त्व नहीं। स्पष्ट है कि यह दूसरा मत मनोविश्लेषणवादी और छायावादी आलोचकों का है।

डा० रिचार्ड और आत्मनिष्ठवादियों का जैसे उत्तर देता हुआ लेखक यह घोषित करता है कि काव्य-साहित्य में मानव जीवन और उसके परिवेश का प्रगतिमान उद्घाटन होता है। इस प्रगति तथा उद्घाटन के दो पक्ष हैं। एक ओर हम भूत प्रकृति तथा मानव प्रकृति के अपेक्षाकृत स्थायी तत्त्वों से क्रमशः अधिक परिचित होते जाते हैं तो दूसरी ओर मनुष्य के विकासमान अथवा परिवर्तनशील सामाजिक-नैतिक परिवेश की गत्यात्मक चेतना प्राप्त करते जाते हैं। इस प्रकार प्राचीन और नवीन साहित्य में कोई विरोध नहीं है, वे विकासशील कलात्मक चेतना के विभिन्न सोपान मात्र हैं। लेखक साहित्य की इस ऐतिहासिक विकास की व्याख्या में अन्य विवेकशील साहित्यकारों की भाँति दो बातें स्वीकार

करता है । (१) नवीन परिवेश में साहित्य का रूप नवीन हो उठता है अर्थात् युग की अनेक नैतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक आदि समस्याएँ और वातावरण तत्कालीन साहित्य को प्रभावित करते हे जिससे साहित्य विकासशील है । (२) युग का साहित्य परंपरागत साहित्य की श्रृंखला में ही जुड़ा होता है और प्राचीन साहित्य में आज भी रस इसलिए लेते हैं कि साहित्य का सम्बन्ध प्रमुखतः समग्र जीवन के सुख-दुःख, राग-विराग, सरसता एवं विरसता मूलक प्रतीतियों और अनुभूतियों से है । और मानवीय राग-विराग अपने मूल रूप में सभी युगों में प्रायः समान होते हैं, उनमें परिवर्तन कम होते हैं । स्पष्ट ही लेखक यहाँ प्रगतिवादी समीक्षकों के समीप है और अपनी व्याख्याओं में अधिक तटस्थ और सही । वह परंपरा और प्रगति के उचित समन्वय पर बल दे रहा है । जीवन के बहुमुखी क्षेत्रों से साहित्य का विषय ग्रहण करने का आग्रह कर रहा है । उसके मतानुसार साहित्य का प्रतिपाद्य किसी एक व्यक्ति या वर्ग का जीवन नहीं है । यहाँ लेखक मनोविश्लेषणवादियों के व्यक्तिवाद और उथले प्रगतिवादियों के वर्गवाद दोनों से ऊपर उठकर मानवतावाद के समर्थक के रूप में दिखाई देता है । सुलझे हुए सच्चे प्रगतिशील लेखक भी किसी एक वर्ग के जीवन से अपने साहित्य को नहीं बाँधते, वे विभिन्न वर्गों के सामाजिक सम्बन्धों का चित्रण करते हैं, हाँ, वे यह देखते हैं कि इन सम्बन्धों में कहाँ शक्ति है कहाँ अशक्ति ? कहाँ जीवन और आस्था है कहाँ पतन और निराशा ? मैं समझता हूँ कि डा० देवराज का भी ध्यान इन शक्तियों और अशक्तियों की ओर अवश्य है क्योंकि वे युग और समाज की जागरूक चेतनाओं को साहित्य में ग्रथित करने के पक्षपाती हैं । कोई भी बडा कलाकार अपने युग की जीवनोन्मुख और मरणशील चेतनाओं को अवश्य पहचानता है और उनका चित्रण इस ढंग से करता है कि जनता जीवनोन्मुख चेतनाओं के प्रति आस्थाशील हो और मरणोन्मुख चेतनाओं के प्रति विरक्त ।

डा० देवराज साहित्य में जीवन की समग्रता देखने के कारण नाटकों, महाकाव्यों तथा उपन्यासों को ही श्रेष्ठ साहित्य मानते हैं । निश्चय ही वे अपनी इस मान्यता में आचार्य शुक्ल से प्रभावित हैं । वे छायावादी काव्य, रोमांटिक काव्य में इस समग्रता का अभाव देखकर उसे उच्चकोटि का स्थान देने को प्रस्तुत नहीं हैं और न रवीन्द्रनाथ टैगोर की इस

घोषणा से ही सहमत हैं कि वर्तमान युग महाकाव्यों का युग नहीं है अपितु वे स्वीकार करते हैं कि आज महाकाव्यों की अनिवार्यता और उत्कट हो गयी है। इस आधार पर शुक्ल जी के ही अनुसार रवीन्द्रनाथ की कविताओं को भी उच्चतम कोटि की कलाकृति स्वीकार नहीं करते।

''अज्ञेय' ने 'त्रिशंकु' में यह प्रश्न उठाया है कि 'कविता की, कला वस्तु की श्रेष्ठता उसमें वर्णित विषय या भाव की श्रेष्ठता या भव्यता में नहीं है।'' छायावादी आलोचक भी विषय की श्रेष्ठता स्वीकार नहीं करता, छोटे से छोटे विषय से महान से महान कविता निर्मित हो सकती है, वह इसका समर्थक है। लेकिन छायावादियों और अज्ञेय आदि में एक स्पष्ट अन्तर है। छायावादी कवि अपनी वैयक्तिक संवेदनाओं और भावात्मक आवेगों को किसी विषय के माध्मम से अभिव्यक्त करते हैं उनकी कविताओं में विषयगत चित्रण का महत्त्व नहीं होता है महत्त्व होता है उनकी निजी अनुभूतियों के आवेग और कल्पना विलास का। अज्ञेय जी इलियट के साथ विषय की महत्ता तो स्वीकार नहीं ही करते, साथ ही साथ वे लेखक की व्यक्तिगत अनुभूनि को तो कला की महत्ता के लिए सर्वथा अनुपयुक्त मानते हैं। वे कला की श्रेष्ठता वस्तुओं को तटस्थ भाव से परस्पर संग्रथित करने की कलाकार का क्षमता में मानते हैं।

डा० देवराज प्रगतिशील आलोचकों की भाँति विषय की महत्ता स्वीकार करते हैं। वे यह स्पष्ट रूप से व्यक्त करते हैं कि महान कला जीवन की मार्मिक अर्थवती छवियों पर ही निर्मित हो सकती है उसमें जीवन के अनेकानेक मार्मिक ज्वलंत प्रश्न और समस्याएँ मुखर होनी चाहिए। निश्चय ही महान वस्तु उच्चकोटि की संवेदना जगा सकती है। बुद्ध का महाभिनिष्क्रमण और सिगरेट का कश दोनों समान कोटि की अनुभूति नहीं जगा सकते। और निश्चय ही पहले विषय पर उच्चकोटि का काव्य निर्मित हो सकता है क्योंकि वह हमारे जीवन के अत्यधिक मौलिक प्रश्नों और रागात्मक संबंधों से संबद्ध है। किन्तु साथ ही साथ लेखक विषय की महानता से ही महान कला की सृष्टि की संभावना नही कर लेता। वह इस सत्य की ओर संकेत करता है कि इन छवियों को परस्पर संबद्ध कर देना भी आवश्यक होता है। ''काव्य-साहित्य में भी रसज्ञ पाठक जीवन के मर्म चित्रों को संबंध-सूत्र में पिरोये हुए देखना चाहता है। संसार के श्रेष्ठतम कलाकार इन

चित्रों या छवियों का जो संबद्ध रूप प्रस्तुत करते हैं वह पाठकों को यथार्थ ही मालूम पड़ता है[१] ।"

इन अनेक अर्थवती छवियों को परस्पर संबद्ध करने के लिए कल्पना की अपेक्षा होती है । कल्पना के विविध स्वरूपों पर विचार करते हुए लेखक ने यह प्रतिपादित किया है कि कल्पना का सर्वोत्तम उपयोग कृत्रिम आरोपों और संबंधों की सृष्टि करने में नहीं, अनुभव जगत से उठायी हुई वस्तुतः मार्मिक छवियों के मार्मिक संगठन में प्रवृत्त होने में है । 'मर्म छवियों का ऐसा संगठन' सिर उछाल-उछाल कर "अपना अस्तित्व घोषित नहीं करता वह पाठकों को यथार्थ जगत का अंग या चित्र ही मालूम पड़ता है । अज विलाप के सबसे प्रसिद्ध पद्यों में कालिदास ने प्रेमी पति के दृष्टि-विन्दु पर खड़े होकर उन अनेक गहरे अभावों को चित्रित कर दिया है जो प्रियतमा के मरने से जीवन को घेर लेते हैं[२] ।" लेखक इस सत्य को निर्भ्रान्ति रूप से समझता है कि महाकवि अथवा प्रथम श्रेणी का कलाकार कहलाने का अधिकारी वही हो सकता है जिसकी यथार्थ विषयक दृष्टि अपार, अपरिमित जान पड़ती है, जिसकी वाणी में जीवनानुभूति का समुद्र लहराता प्रतीत होता है ।

विदग्ध कल्पना का स्थान दूसरा है । विदग्ध कल्पना के भी दो रूप हैं (१) जो मर्म छवियों का निपुण अथवा कृत्रिम संगठन करती है यह द्वितीय कोटि की कला-कृति होती है । (२) जहाँ कल्पना अमार्मिक चित्रों का निपुण संगठन करती है । यह कलाकृति तीसरी कोटि की होती है । अलंकारों का विधान करने वाली कल्पना वहीं सार्थक होती है जहाँ उसका लगाव वास्तविकता से लगा रहता है । अर्थात् जहाँ कल्पना वास्तविकता का स्वरूप और स्पष्ट तथा दीप्त करने के लिए अलंकार विधान करती है वहाँ वह सार्थक होती है, कोरा चमत्कार विधान करने वाले अलंकारों की सृष्टि में कल्पना का सारा श्रम व्यर्थ सिद्ध होता है । अपनी इन मान्यताओं में भी डा० देवराज आचार्य शुक्ल से अत्यधिक प्रभावित हैं ।

'कलागत सौन्दर्य और महत्ता' में लेखक ने एक बड़ा ही महत्वपूर्ण प्रश्न उठाया है । वह यह कि क्या 'सौन्दर्य और महत्ता' कला के दो

---

[१] साहित्य चिन्ता (कल्पना और वास्तविकता पृ० ७८) ।

[२] वही, पृ० ८० ।

अलग-अलग मानदण्ड हैं ? उन्होंने प्रसिद्ध दार्शनिक और विचारक एस० एलेक्जेण्डर के इस मत को उद्धृत किया है कि कला का सौन्दर्य एक बात है और उसकी महत्ता दूसरी। सौन्दर्य का अधिष्ठान कला विशेष का माध्यम होता है जब कि उसकी महत्ता उसकी विषय-वस्तु पर निर्भर करती है। लेखक ने एलेक्जेण्डर के इस दुहरे मानदण्ड को अस्वीकार किया है। उसने यह माना है कि सौन्दर्य यदि काव्य साहित्य का गुण है तो वह शब्द वद्ध अनुभूति का गुण ही हो सकता है न कि भाषा या माध्यम का। यह भी कहा जा सकता है कि शब्दों के सौन्दर्य का कारण उनसे बँधी हुई अथवा सांकेतिक वस्तुगत छवियाँ ही होती हैं। अतः कला की महत्ता ही नहीं उसका सौन्दर्य भी माध्यम द्वारा प्रकाशित विषय वस्तु से निरूपित होता है।

दूसरा प्रश्न यह है कि क्या विभिन्न महत्ता वाली कृतियों का सौन्दर्य समान हो सकता हैं जैसा कि एलेक्जेण्डर मानता है। लेखक इससे असहमति व्यक्त करते हुए कहता है कि विषय-वस्तु के विस्तार अर्थात् विषयगत महत्ता का प्रभाव रचना के सौन्दर्य पर भी पड़ता है वस्तुतः अनुभूति या विषय वस्तु की महत्ता और सौन्दर्य परस्पर निरपेक्ष गुण नहीं हैं जो एक दूसरे को प्रभावित नहीं करते। सौन्दर्य माध्यम में नहीं अनुभूति में है। महत्तम अनुभूतियों में सौन्दर्य अधिक होगा यह स्पष्ट है। और यह भी है कि श्रेष्ठ काव्य की पूर्णता का मूल कारण विषय की महत्ता और उसकी पूर्ण अभिव्यक्ति है यह पूर्णता सौन्दर्य का पर्याय नहीं। सुन्दरता भी श्रेष्ठ काव्य का एक उत्तम गुण हो सकता है किन्तु श्रेष्ठ काव्य सदैव सुन्दर ही नहीं होते हैं। कलात्मक अनुभूति का विषय जीवन और जगत् में पिरोये सब प्रकार के मूल्य सत्व (वैल्यूज़) हैं।

दो बातें और विचारणीय हैं 'साहित्य का मानदण्ड क्या हो ?' और 'साहित्य का प्रयोजन क्या है ?' ये दोनों प्रश्न एक दूसरे से संबद्ध हैं। 'साहित्य का प्रयोजन' विषय पर अनेक युगों में अनेक लेखकों ने विचार किये हैं लेकिन लगता है कि इस विषय पर फिर फिर विचार करने का अवकाश रह ही जाता है। डा० देवराज ने कुछ प्रसिद्ध मतवादों का उल्लेख कर उनकी सीमाओं का निर्देश किया है और अपनी स्थापना प्रतिष्ठित करने की चेष्टा की है। वे मतवाद ये हैं—

(१) क्रोंचे के अनुयायी स्पिनगार्न का कहना है कि कला का उद्देश्य न

केवल शिक्षा देना है, न केवल आनन्द, न दोनों। कला का एक ही लक्ष्य है अभिव्यक्ति। पूर्ण अभिव्यक्ति ही सौन्दर्य है और सौन्दर्य ही साहित्य का साध्य है। ब्रेडले का मत भी उसी से मिलता-जुलता है।

(२) टालसटाय आदि नैतिकवादी विचारक ठीक इसके प्रतिकूल मत व्यक्त करते हैं। उनका कहना है कि कला की मुख्य कसौटी नीति और धर्म है। मैथ्यू आरनाल्ड भी इसी मत के समर्थक हैं।

(३) टी० यस० इलियट, आइ० ए० रिचार्ड आदि बीच का मार्ग ग्रहण करते हैं। आचार्य मम्मट ने भी आनन्द और उपदेश दोनों को काव्य का प्रयोजन माना था।

डा० देवराज अभिव्यंजनावादियों के मत से बिलकुल सहमत नहीं हैं। वे नीति और साहित्य का घना संबंध स्वीकार करते हैं। लेकिन इलियट के साथ वे यह भी स्वीकार करते हैं कि काव्य के नैतिक धार्मिक तत्त्वों का निरूपण युग-विशेष के स्वीकृत नीति-शास्त्र तथा धर्म भावना द्वारा ही नहीं हो सकता। जिस अन्तर्दृष्टि पर काव्य-साहित्य निर्भर करता है वह प्रचलित नीतिवाद से आगे और कभी-कभी उसके विरुद्ध भी चली जाती है। काव्य और नैतिकता का सम्बन्ध ठीक-ठीक व्याख्येय नहीं है। यह स्थापना प्रगतिवादियों की तत्विषयक स्थापना से निश्चय ही उदार है। इसी क्रम में लेखक ने वर्ड्सवर्थ आदि विचारकों के इस मत का कि 'कविता वेगपूर्ण संवेदनाओं तथा आवेगों का सहज उद्गार है' और रिचार्ड्स की इस धारणा का कि साहित्य अंतर्प्रवृत्तियों का संगठन या सामंजसकरण है' विरोध किया है। इन धारणाओं को मान लेने से कलाकार को अपने भीतर झाँकने मात्र की आवश्यकता होगी, उसे न किसी शिक्षा-दीक्षा की आवश्यकता है और न अपने आवेष्टन से प्रभावित होने की। निश्चय ही ये विचार संकीर्ण हैं। अतः डा० देवराज ने साहित्य का प्रयोजन मनुष्य और उसके आवेष्टन का विशेष सम्बन्ध स्थापित कराना कहा है। उन्होंने भौतिक प्रकृति, नर-नारी और उसके व्यापार ही नहीं बल्कि संपूर्ण मानवता के सब प्रकार के विचार-विकार, संशय-संदेह, सुख-दुख, आशाकांक्षाओं, मानवता के संपूर्ण इतिहास और स्मृतियों को आवेष्टन के अन्तर्गत लिया है। इस प्रकार कला अपार विश्व के साथ हमारे रागात्मक संबंध स्थापित कर हमारे अस्तित्व का प्रसार

करती है और दूसरे वह हममें मानव-जीवन के मूल्यांकन की क्षमता उत्पन्न करती है ।

लेखक इन्हीं आधारों पर साहित्य का मानदण्ड निर्धारित करता है । स्वस्थ परंपराओं, अतीत की चेतनाओं, देश और विदेश के मानवीय सम्बन्धों को वहन करने वाले, स्वयुगीन व्यापक सामाजिक सम्बन्धों को अभिव्यक्त करने वाले महाकाव्यों का अध्ययन साहित्य का मूल्यांकन करने के लिए अत्यंत आवश्यक है । महाकाव्यों के अध्ययन से ही उच्चकोटि की कविताओं के आभ्यंतर और वाह्य गुणों का बोध आलोचक को हो सकता है ।

'आधुनिक समीक्षा' नाम से लेखक के नये निबन्धों का संग्रह हाल में प्रकाशित हुआ है । इन निबन्धों में उपर्युक्त आधारभूत साहित्यिक मान्यताओं का विकास है । 'समाज शास्त्रीय आलोचना' में लेखक ने अपनी दृष्टि से उसकी उपलब्धियों और सीमाओं पर प्रकाश डालने की चेष्टा की है । और यह चेष्टा पुरानी होने पर भी (औरों द्वारा इस विषय पर बहुत विचार हो चुका है) लेखक की मौलिक चिन्तन पद्धति के कारण ताजी है । 'प्रगतिवादी दृष्टि की कुछ सीमाएँ' में उपर्युक्त आलोचन सिद्धान्त के व्यावहारिक पक्ष पर विचार किया गया है । लेखक के विचार सर्वस्वीकृत न होने पर भी सर्वत्र विचारणीय हैं । 'प्राचीन साहित्य शास्त्र की उपयोगिता' एक आवश्यक प्रश्न है । आधुनिकता की धुन में प्राचीन साहित्य शास्त्र की उपेक्षा हो रही है दूसरी ओर दकियानूस आलोचक उसकी सीमाओं से चिपके हुए हैं । लेखक ने बड़े ही वैज्ञानिक ढंग से उसके ग्राह्य और अग्राह्य अंशों को समेटने और छोड़ने की समस्या पर विचार किया है । इसी प्रकार उसने 'अतीत का साहित्य' क्लासिक की परिभाषा में यह प्रश्न दुहराया है (प्रगतिशील लेखकों द्वारा यह प्रश्न बार-बार उठाया गया है) कि अतीत का साहित्य हम क्यों पढ़ते हैं । इस प्रश्न पर विभिन्न लेखकों और विचार संप्रदायों द्वारा विभिन्न मत व्यक्त किये गये हैं । डा० देवराज ने बड़े ही तर्कसंगत ढंग से यह प्रतिपादित किया है कि अतीत का साहित्य हम उसी कारण से पढ़ते हैं जिस कारण से वर्तमान साहित्य को । "अतीत साहित्य को हम इसलिए पढ़ते हैं कि वह आज भी हमारे जीवन स्पन्दन को वेगपूर्ण एवं समृद्ध बनाने की क्षमता रखता है । आज भी वह यथार्थ की अर्थवती छवियों में हमारी चेतना का प्रसार करता हुआ हमारे व्यक्तित्व को

अधिक सचेत, रसमय और सृजनशील बनाता है। जिस साहित्य की यह क्षमता इतिहास के वर्तमान समय-विन्दु तक निश्शेष नहीं हुई है वह 'क्लासिकल' साहित्य है[1]।" 'आलोचना सम्बन्धी मेरी मान्यताएँ' में लेखक ने अपना दृष्टिकोण स्वयं स्पष्ट किया है। इसमें लेखक ने आलोचक और आलोचना के उत्तरदायित्वों का विवेचन करते हुए उसके 'विश्लेषण और मूल्यांकन' दोनों क्रियाओं पर मार्मिक विचार प्रस्तुत किये हैं।

व्यावहारिक समीक्षा

डा० देवराज की सूझबूझ, मर्म की पकड़ और विश्लेषण की शक्ति अच्छी है किसी वस्तु के भीतर घुसने की गहरी दृष्टि भी है। सैद्धांतिक समीक्षाओं में तो उनकी ये विशेषताएँ लक्षित होती ही हैं व्यावहारिक समीक्षाओं में भी इनका सम्यक् स्वरूप दृष्टिगोचर होता है। लेखक ने स्वीकार किया है कि उस पर शुक्ल जी का प्रभाव है। शुक्ल जी का प्रभाव इस अर्थ में स्वीकार किया जा सकता है कि शुक्ल जी की तरह ही उनमें लोक-जीवन को काव्य का विषय बनाने का आग्रह है, शुक्ल जी की भाँति उनमें अपने पक्ष-स्थापन की निर्भीकता है, शुक्ल जी की ही भाँति वे विषय पक्ष पर बल देते हैं, कल्पना के रूपों पर विचार करते हैं, शुक्ल जी की ही भाँति वे छायावादी कविताओं या अन्य व्यक्तिवादी साहित्य को उच्चकोटि की वस्तु मानने से इनकार करते हैं। शुक्ल जी की ही भाँति वे प्रबन्ध काव्यों को मुक्तकों से श्रेष्ठ स्वीकार करते हैं और उन्हींकी भाँति कृति के भीतर घुसने की चेष्टा करते हैं किन्तु वे शुक्ल जी से एक वस्तु नहीं पा सके हैं वह है शुक्ल जी की रसग्राहिता। स्वयं देवराज के ही शब्दों में इतनी ठोस रसज्ञता वाले पाठक और आलोचक बहुत कम पैदा होते हैं। जो कोई भी शुक्ल जी के गहरे संपर्क में आता है वह उनकी इस शक्ति से चकित और अभिभूत हुए बिना नहीं रह सकता। स्वदेश में अथवा विदेश में रसग्राहिता के ऐसे असंदिग्ध क्षमतासंपन्न समीक्षक कम मिलेंगे। कौन सा काव्य वस्तुतः सुन्दर, वस्तुतः महान है इसे पहचानने में शुक्ल जी की अन्तर्भेदिनी दृष्टि कभी धोका नही खाती, भले ही वे सदैव उस दृष्टि का सफल विवेचनात्मक मण्डन प्रस्तुत न कर सकें। इसी रसग्राहिता के अभाव में देवराज की व्यावहारिक आलोचनाएँ कभी-कभी नीरस और एकांगी हो उठती हैं।

---

[1] आधुनिक समीक्षा, डा० देवराज, पृ० २७।

कभी-कभी वे आलोच्य कृतियां के सामाजिक पक्ष और प्रेषणीयता के विवेचन के फेर में पड़ कर उनकी अन्यान्य साहित्यिक छवियों को उपेक्षित कर जाते हैं। आचार्य शुक्ल सिद्धान्तों के विश्लेषण के समय चाहे जिस किसी मत का खण्डन या समर्थन करते रहे हों आलोच्य कृतियों के कलात्मक सौष्ठव की कभी उन्होंने उपेक्षा नहीं की। डा० देवराज की व्यावहारिक समीक्षा का मुख्य क्षेत्र छायावाद है। छायावाद के सिद्धान्त-पक्ष के समर्थन और विरोध में अनेक आलोचक पहले बहुत कुछ कह चुके थे, देवराज ने अपेक्षाकृत उसका व्यावहारिक पक्ष लिया (उसमें सैद्धांतिक पक्षों की चर्चा न हो ऐसी बात नहीं)।

ऊपर कहा जा चुका है कि देवराज की सूझ-बूझ, मर्म की पकड़, विश्लेषण की शक्ति अच्छी है इसलिए उन्होंने छायावाद के संबंध में जो बातें कही हैं या जो दोषनिदर्शन किये हैं वे तर्कसंगत हैं और उनकी मौलिकता तथा बौद्धिक सूक्ष्मता का परिचय देते हैं किन्तु ऐसे अवसर पर कभी-कभी खतरा इस बात का हो जाता है कि समीक्षक अत्यंत मौलिक होने के फेर में समस्त पूर्व निश्चित मान्यताओं का खण्डन करने लगता है। यह खण्डन उस अवस्थामें नहीं अखरता है जब कि आलोचक किसी पूर्व उपेक्षित वस्तु को मान्यता प्रदान करता है बल्कि उस अवसर पर लोगों को झकझोर देता है और चौकन्ना कर देता है जब कि वह पूर्व प्रशंसित और बहुमान्य कृति को अत्यंत सामान्य कोटि की करार देता है। इसलिए जब डा० देवराज ने छायावाद के अनेक दोषों का निर्ममतापूर्वक उद्घाटन कर छायावादी कविताओं को अति सामान्य कोटि का कहा तो लोग चौंक पड़े और कहने लगे कि कुछ नयी बात कहने के फेर में ये ऐसा अन्याय कर रहे हैं। मैं ऐसी घोषणा नहीं करता कि डा० देवराज सचमुच ही इसी मनोवृत्ति से परिचालित होकर लिखते हैं मैं लोगों की स्वाभाविक प्रतिक्रियाओं की बात कह रहा था।

हाँ, तो देवराज ने छायावाद का विवेचन करते समय उसके असामयिक पतन के कारणों पर विचार किया है। छायावाद का पतन इसलिए हुआ कि उसमें व्यर्थ का शब्द-मोह, चित्र-मोह और कल्पना-मोह था, उसमें केंद्रापगामी व्यंजना-प्रवृत्ति थी, उसमें विचारगत और रागात्मक असामंजस्य था, वास्तविकता के साथ उसने बलात्कार किया, छायावादी काव्य मूड का काव्य है, उसने लोक-संवेदना का तिरस्कार किया, उसमें

अर्धमुक्त मनोदशाएँ थीं। कोई भी प्रबुद्ध और पूर्वग्रह हीन पाठक देवराज की इन शिकायतों से असहमत नहीं होगा और न वह यही कह सकता है कि ये सारी दलीलें निराधार हैं बल्कि वह डा० साहब की बौद्धिक पकड़ की दाद देगा। किन्तु मेरे साथ संभवतः वह भी कह बैठे कि ये दोष सत्य हैं पर लेखक द्वारा आत्यंतिक रूप में व्यक्त किये गये हैं, दूसरे यह कि छायावाद के सौन्दर्यो को इनके संतुलन में नहीं रखा गया है इसलिए ये और तीखे हो गये हैं, तीसरे विवेचन की पद्धति बौद्धिक अधिक हो गयी है रसात्मकता का अभाव है—रसात्मकता का अभाव लेखक की शैली की विशेषता भी हो सकता है और विषय के प्रति सहानुभूति और सहिष्णुता के अभाव का परिणाम भी। लेखक ने स्वयं स्वीकार किया है कि "जहाँ उक्त पुस्तक (छायावाद का पतन) लिखते समय हमारा ध्यान प्रधानतया छायावाद की उन अशक्तियों पर था जो उसके निराकरण या लोप का कारण हुई, वहाँ प्रस्तुत निबंध में (छाया-वादी कवियों का कृतित्व में) हम उनकी उपलब्धियों का विश्लेषण करने की चेष्टा करेंगे जो छायावादी काव्य को हमारे साहित्य का उल्लेखनीय अध्याय बनाती हैं[१]।" यह प्रणाली गलत है कि उपलब्धियों और सीमाओं को अलग-अलग पुस्तकों में देखा गया। यों इस उपलब्धि संबंधी निबन्ध में भी उन्होंने छायावाद को कुछ अधिक महत्व नही दिया है। और तो और कामायनी को उन्होंने अत्यंत असफल काव्य माना है क्योंकि उसमें प्रबन्ध काव्य की पूर्वमान्य प्रवहमानता नही है, उसमें मनोवैज्ञानिक दृष्टि से हद की असफलता है। उसमें केवल दो चार फुटकल गीतात्मक अंश ही अच्छे हैं। उसमें प्रेषणीयता का अत्यंत अभाव है। डा० साहब ने यहाँ भी कुछ असहिष्णुता से काम लिया है।

जैनेन्द्र और दिनकर पर लिखे गये उनके निबन्ध संतुलित हैं। उनका सबसे स्वस्थ निबन्ध है 'पं० रामचन्द्र शुक्ल—एक मूल्यांकन'। पं० रामचंद्र शुक्ल से लेखक प्रभावित है किन्तु उनकी सीमाओं के उद्घाटन में वह कहीं संकोच नहीं करता। किन्तु चूँकि वह साथ ही साथ उनकी महान उपलब्धियों और देनों को स्वीकार करता हुआ उनका मार्मिक विश्लेषण करता चलता है इसलिए शुक्ल जी के संबंध में उनके समस्त

---

[१] साहित्य चिन्ता, डा० देवराज, पृ० १९६।

विचार संतुलित लगते हैं (आचार्य शुक्ल पर लिखते समम इन मान्यताओं पर विचार हो चुका है) ।

एक बात और विचारणीय है । लेखक अपने सिद्धान्तों में लोक संवेदना पर अधिक जोर देता है और मानता है कि जीवन और जगत की बहुमुखी चेतना को एक साथ समेट लेने के कारण महाकाव्य उच्च कोटि के काव्य हैं अर्थात् वे प्रबंधेतर काव्यों से उच्चतर हैं । वह यह भी मानता है कि गीतों में वैयक्तिक अनुभूतियों को ही अभिव्यक्त होने की संभावना होती है (इसीलिए वे रवीन्द्र जैसे महाकवि को द्वितीय कोटि के कलाकारों में रखते हैं) । फिर वे विश्व के महाकवियों की श्रेष्ठता का क्रम निर्धारित करते हुए कहते हैं कि वाल्मीकि, व्यास, सूर (गीति काव्यकार)···का स्थान $अ_१$ कालिदास, तुलसी (महाकाव्यकार) ···का स्थान $अ_२$ और कीट्स, वर्ड्सवर्थ, रवींद्र का स्थान $अ_३$ है । यथार्थ की पकड़ और जीवन की व्यापकता की दृष्टि से सूर तुलसी से कैसे बड़े हो गये ? फिर वे कई स्थलों पर बिहारी को अत्यंत श्रेष्ठ कवि स्वीकार करते हुए दिखाई पड़ते हैं और छायावादी कवियों की तुलना में लाकर खड़ा करते है और बिहारी सतसई में कलात्मक सौष्ठव की जो पूर्णता वे देखते हैं वह हिन्दी साहित्य में बहुत कम है । सौन्दर्य को विषय पर, अनुभूति पर आधारित मानने वाले डा० देवराज ने जैसे यहाँ अभिव्यक्ति मूलक सौन्दर्य को मान लिया है ।

'आधुनिक समीक्षा में' उनके कई एक महत्पपूर्ण निबन्ध दिखाई पड़े जिनमें गतानुगतिकता से मुक्त होकर लेखक ने विचार किये हैं । 'रामचरित मानस—एक मूल्यांकन' निबन्ध तुलसी की सर्वमान्य सर्वश्रेष्ठता और विशेषतया उनके रामचरित मानस के सर्वश्रेष्ठ महाकाव्यत्व के आगे प्रश्नवाची चिन्ह लगाता है । इस विषय में लेखक की स्थापनाएँ ये हैं—(१) सूर तुलसी से बड़े कवि हैं । (२) मानस की अपेक्षा तुलसी की फुटकल कृत्तियाँ (कवितावली, गीतावली) श्रेष्ठ हैं । इस स्थापना का कारण यह है कि सूर में तुलसी की अपेक्षा और कवितावली, गीतावली में मानस की अपेक्षा मानवीय संवेदनाएँ अधिक प्राकृत और वेगवान रूप में आयी हैं । "आज हम मानते हैं कि काव्य साहित्य का एक मात्र विषय मानव जीवन है ।······गोस्वामी जी का विचार है कि कविता का, वाणी का, प्रकृत विषय प्राकृत नर का चरित्रगान नहीं है—उसका विषय

भगवान का विरुद गान है। इस मान्यता के बावजूद यदि गोस्वामी जी आधुनिक पाठकों की दृष्टि में कवि ही नहीं महाकवि हैं तो इसका कारण यह है कि उनके आराध्य भगवान को मनुष्य का रूप धारण कर मानवोचित व्यवहार करना पड़ा।"

"फिर भी तुलसीदास का चिन्तित या अभीष्ट उद्देश्य मानवता के जीवन अथवा अन्तर्विकारों को चित्रित करना नहीं है। अपने प्रधान गंथ रामचरित मानस में सचेत भाव से वे जिस जगत का चित्र खींचना चाहते थे वह मुख्यतः धार्मिक एवं पौराणिक कल्पना द्वारा निर्मित जगत था मानव जगत नहीं। लेखक के मत से इसीलिए मानस में मानवीय प्रेम आदि की अनुभूतियाँ प्रस्फुटित नहीं हो सकी हैं। लेखक की इस स्थापना में मतभेद की काफी गुंजाइश है। तुलसी ने जो 'कीन्हें प्राकृत नर गुन गाना सिर धुन गिरा लाग पछिताना' की घोषणा की, उसे हमें आश्रयदाताओं की बेहूदी प्रशंसा में निर्मित होने नर काव्य की पृष्ठ भूमि देखना होगा। विवाद की काफी गुंजाइश होने पर भी उस सत्य को अस्वीकार नहीं किया जा सकता जिसकी ओर लेखक ने निर्देश किया है। मानव का बहुत सा अंश निश्चय ही सर्वथा मौलिक है और बहुत सा अंश निश्चय ही सर्वथा बौद्धिक है और बहुत से रागात्मक स्थल अध्यात्म और आदर्श के गांभीर्य के कारण अप्रस्फुटित। यह एक प्रश्न है इस पर विचार होना चाहिए।

इसके अतिरिक्त 'एक भूमिका', 'दो उपन्यास', 'प्रयोगवादी कविता', 'तुलसी और भारतीय संस्कृति,' 'हिंदी समीक्षा एक दृष्टि', आदि व्यावहारिक समीक्षा प्रस्तुत करने वाले महत्वपूर्ण निबन्ध हैं। डा० देवराज में चिन्तन-शक्ति है। उनके सोचने का ढंग अपना है। इस क्रम में वे ऐसी बातें कह जाते हैं जिनसे लोग चौंक जाते हैं। अतिवादिता का दोष भी संभव है। किन्तु हर्ष है कि डा० देवराज सतत् विकासशील हैं। ये अपनी कमियों को पहचानने और स्वीकार करने के लिए सदैव जागरूक रहते हैं। यह उनकी शक्ति और निरन्तर संबर्द्धना का शुभ लक्षण है।

श्री प्रभाकर माचवे और श्री नलिनविलोचन शर्मा

पाण्डित्य और समीक्षा एक ही वस्तु नहीं। समीक्षक होने के लिए पंडित होना आवश्यक है किन्तु केवल पंडित होना समीक्षक

होना नहीं। समीक्षक के लिए सबसे बड़ी बात है अपनी दृष्टि जो समस्त तथ्य खण्डों, ज्ञान खण्डों और तत्त्व खण्डों को एक सूत्र में गुंफित करती है अर्थात् अपनी निजी दृष्टि के कारण समीक्षक सभी उपकरणों को अपना बना लेता है। जीवन और साहित्य के संबन्ध में उसकी अपनी कुछ धारणाएँ होती हैं। यह दूसरी बात है कि वह अपनी धारणाएँ जीवन और साहित्य के विविध रूपों के अध्ययन और अनुभव से बनाता है लेकिन जब अपनी धारणा बना लेता है तब अपनी धारणा या दृष्टिकोण के अनुकूल समस्त बाहरी और भीतरी तथ्यों का उपयोग करता है। अर्थात् उसे कुछ कहना होता है। पांडित्य की सार्थकता उसके दृष्टिकोण को, उसके जीवन दर्शन को समृद्ध, उदार और दृढ़ बनाने में है। पांडित्य वहाँ दूषित हो उठता है जहाँ वह साहित्यकार या किसी भी विचारक की प्रतिभा को अपनी गहन छाया से आच्छन्न कर देता है। या जहाँ सभी क्षण अपनी कोई धारणा न स्पष्ट कर या स्पष्ट करने के लिए पग-पग पर विभिन्न विद्वानों के उद्धरण पेश करता है। जहाँ वह उद्धरणों की भाषा में ही बोलता है वहाँ आलोचना का रूप धूमिल और विकृत हो जाता है। साहित्य या जीवनगत कोई जीवन या चिरन्तन-समस्या उभर कर नहीं आ पाती, किसी समीक्षागत प्रश्न का रूप सुस्पष्ट नहीं हो पाता और न लेखक का इन प्रश्नों, समस्याओं पर अपना कोई चिन्तन और मनन ही व्यक्त होता है। होता यह है कि ऐसा समीक्षक पग-पग पर पाठकों को अपने बहुभाषा और बहुसाहित्य-ज्ञान से आतंकित करना चाहता है।

प्रभाकर माचवे के विविध निबन्धों से ऐसा ज्ञात होता है कि ये भारत की विविध भाषाओं और साहित्यों का ज्ञान तो रखते ही हैं, विदेशी साहित्यों का भी इनका व्यापक अध्ययन है। स्वदेश और विदेश के अनेक ग्रन्थ इन्होंने छान डाले हैं। साहित्येतर विषयों का भी इनका अच्छा अध्ययन है। किन्तु लगता है कि ये इस अत्यंत प्रसारगामी ज्ञान का सदुपयोग नहीं कर पाते हैं। इस पांडित्य और व्यापक अध्ययन के गहन सेवार में मौलिक विचार धारायें अवरुद्ध सी जान पड़ती हैं। समस्त शारीरिक अवयवों को संगठित करने वाली रीढ़ की हड्डी का कहीं पता ही नहीं चलता है। इसका कारण क्या है?

मूल कारण है कि प्रभाकर माचवे की अपनी कोई साहित्यिक मान्यता

नहीं है, यदि है तो उनके निबन्धों द्वारा स्पष्ट नहीं है। यदि एकाध स्थल पर लेखक की घोषणाओं में स्पष्ट भी है तो अन्यत्र उसका निर्वाह नहीं है। प्रभाकर माचवे ने एक स्थान पर स्पष्ट किया है कि वे द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद में विश्वास रखते हैं। किन्तु यह विश्वास उनकी आलोचनाओं में ध्वनित नहीं है। जब वे कोई साहित्यिक प्रश्न उठाते हैं तो इसी अपनी साहित्यिक मान्यता के अभाव में कोई निष्कर्ष नहीं निकाल पाते हैं, उनका निष्कर्ष व्यंजित भी नहीं होता। वे उस प्रश्न के पक्ष-विपक्ष में उठाये गये अनेक आलोचकों और विचारकों के मतों को उन्हीं की भाषा में उठाकर रख देते हैं। इसीलिए प्रभाकर माचवे इतना व्यापक अध्ययन और गहरी सूझ-बूझ लेकर भी उच्चकोटि के समीक्षक नहीं हो सके हैं। किन्तु माचवे के साथ पूरा न्याय तब हो पायेगा जब कि हम उनकी उपलब्धियों पर भी दृष्टिपात करेंगे। उनके उद्धरणों के संबंध में एक बात ज्ञातव्य है—वह यह कि वे पिटे-पिटाये, सामान्य पाठकों से भी सुपरिचित उद्धरण प्रस्तुत नहीं करते, वे चुन-चुन कर ऐसे-ऐसे उद्धरण सामने लाते हैं जो हिन्दी पाठकों को आतंकित करने के साथ कुछ नया मसाला भी देते हैं, जो उन्हें नयी चीजें पढ़ने को प्रेरित करते हैं। वे पिष्टपेषित न मालूम होकर ताजा मालूम पड़ते हैं।

दूसरी बात यह कि माचवे जी कभी-कभी बड़ा ही मौलिक प्रश्न उठाते हैं। प्रश्न उठाते भर हैं उन पर वह अपना विचार या समाधान नहीं दे पाते हैं। जहाँ माचवे जी नया प्रश्न भी उठाते हैं, अनेक विचारकों के मतों के साथ अपना सुविचारित मत भी व्यवस्थित रूप से निरूपित करते हैं और अपने दृष्टिकोण के प्रति आस्था बनाये रखते हैं वहाँ से बहुत ऊँची चीज दे जाते हैं (क्योंकि उनमें आलोचना की पर्याप्त क्षमता है किंतु लगता है कि उसके प्रति ईमानदारी नहीं बरत पाते हैं) और इस दृष्टि से मार्क्सवाद और सौन्दर्य शास्त्र, औचित्य क्या, उपन्यास में मनोविज्ञान[1] आदि निबन्ध उल्लेख्य हैं। जहाँ तक प्रश्न उठाने का प्रश्न है वह आपको इनके प्रायः सभी निबन्धों में मिल जायगा।

माचवे जी के निबन्धों में यद्यपि कोई एक समन्वित दृष्टिकोण या साहित्यिक मान्यता उपलब्ध नहीं है किन्तु खण्ड रूप से उन्होंने स्थान-

---

[1] सन्तुलन, श्री प्रभाकर माचवे।

स्थान पर अपने साहित्यिक विचार व्यक्त किये हैं । यह कहा जा सकता है कि साहित्य के नये रूपों को वे उदारता से देखने और समझने की चेष्टा करते हैं, कलावादी नहीं हैं, प्रगतिवादी भी नहीं हैं (यों वे अपने को मार्क्सवादी कहते हैं) साहित्य का परीक्षण बाहरी मानदण्डों की अपेक्षा वे कलागत मानदण्डों से ही करना चाहते हैं यद्यपि वे यह भी कहते हैं कि इतिहास, दर्शन, समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र, प्राणी विज्ञान, मनोविज्ञान आदि-आदि वाह्य मूल्य महत्वपूर्ण हो गये हैं । वे रस चर्चा में केवल जुगाली का सा आनन्द मानते हैं । अन्त में कहना यह है कि माचवे जी आलोचना को विश्लेषणात्मक के साथ-साथ विधायक और रचनात्मक रूप में देखना अधिक पसन्द करते हैं ।

माचवे जी की व्यवहारिक समीक्षाएँ अपेक्षाकृत अधिक जीवन्त होती हैं । रचनाओं के मर्म की पकड़, मौलिकता की खोज, ऐतिहासिक परंपरा—ज्ञान और नवीनता की आकांक्षा, निर्भीकता, साथ ही साथ निष्पक्षता ये उनकी व्यावहारिक समीक्षाओं के गुण हैं । वे निर्भीक इतने हैं कि बड़े से बड़े कवि के रोब में न आकर उसके दोषों का स्पष्ट उद्घाटन करेंगे ओर नये से नये व्यक्ति की उगती हुई शक्तियों को पहचान कर उसकी ओर इंगित करेंगे । 'व्यक्ति और वाङमय' और 'समीक्षा की समीक्षा' उनकी व्यावहारिक आलोचना के रूप हैं । व्यक्ति और वाङमय की भूमिका में उन्होंनें स्वीकार किया है "मैं ऐतिहासिक द्वन्द्ववाद में विश्वास करना चाहता हूँ केवल कला के लिए कला वाले सिद्धान्त पर मुग्ध रह कर नहीं रह जाना चाहता ।" पहले कहा जा चुका है कि प्रभाकर माचवे का यह विश्वास उनकी कृतियों में सर्वत्र क्या अधिकांश स्थलों पर भी ध्वनित नही हुआ है । अपेक्षाकृत इनके व्यक्ति और वाङमय के सभी निबन्धों में इसका उपयोग हुआ है वह भी केवल एक अर्थ में कि साहित्य को देखने के साथ साहित्यकार के व्यक्तित्व को भी देखना चाहिए । केवल व्यक्तित्व से साहित्य का परीक्षण करना वैसा ही है जैसे कमल को कीचड़ से पैदा होने के नाते कीचड़ कह देना । और वाङमय को व्यक्ति से अलग काटकर देखने का तात्पर्य होता है कमल को कीचड़ से अलग करके उसके मूल को ही न देखना । सत्य दोनों के बीच में है । व्यक्ति और वाङमय के संबंध ऐतिहासिक द्वन्द्ववादिता के न्याय से जुड़े हुए हैं । आलोचना के मान भी किसी ऐतिहासिक अनि-

वार्यता से निर्णीत होते रहते हैं। माचवे जी ने प्रस्तुत पुस्तक में संस्कृत, प्राकृत, हिंदी, बंगला, मराठी, गुजराती, पंजाबी और दक्षिण भारत के उत्कृष्ट कवियों पर विचार किया है। माचवे ने साहित्येतर विषयों पर भी निबन्ध लिखे हैं। इस प्रकार वे एक महत्वपूर्ण कार्य यह कर रहे हैं कि हिन्दी साहित्य की रचना और परीक्षण के लिए व्यापक पट-भूमि तैयार कर रहे हैं।

माचवे के निबंधों की शैली बड़ी ही जीवन्त होती है किन्तु उनमें दुरूह वाक्य योजनाओं और मराठी के प्रभाव के कारण व्याकरणगत परिवर्तनों की भी कमी नहीं है।

श्री नलिनविलोचन शर्मा

माचवे के संबन्ध में जो बातें कही गई हैं उनमें से कुछ अधिक सीमा तक शर्मा जी पर भी लागू होती हैं। एक निश्चित दृष्टिकोण का अभाव इनमें भी है। यद्यपि इनके निबन्धों के संग्रह का नाम दृष्टिकोण है किन्तु उससे उनका कोई दृष्टिकोण साफ नहीं होता। उद्धरणों का आधिक्य इनके निबन्धों में भी है यद्यपि उस सीमा तक नहीं जिस सीमा तक माचवे में। फिर भी उस सीमा तक अवश्य जिससे लेखक का अपनापन अवरुद्ध हो जाता है। इनके उद्धरण प्रायः विदेशी भाषाओं के होते हैं। माचवे की भाँति ये स्वदेश की बहुभाषाओं के विज्ञ नहीं हैं इसलिए उन पर लिखने या उनसे उद्धरण प्रस्तुत करने का प्रश्न ही नही उठता। हाँ साहित्येतर विषयों में इनकी भी रुचि है और उन पर लिखना पसन्द करते हैं।

प्रतिपाद्य विषय पर कुछ न कह कर या बहुत कम कह कर, अपनी कोई शृंखलित विचार-सरणि न प्रस्तुत कर उद्धरणों की भाषा में सभी कुछ कह जाने का अच्छा नमूना मिल सकता है प्रस्तुत लेखक के 'यथार्थ-वाद और आधुनिक हिन्दी कविता[१]' शीर्षक निबन्ध में। लेखक ने जानकीवल्लभ शास्त्री की भाषा की भूमिका लिखी है किन्तु पुस्तक के संबन्ध में कितना कहा गया है पढ़ने वाले समझ सकते है। कहाँ-कहाँ

---

[१] दृष्टिकोण, श्री नलिनविलोचन शर्मा

से अनावश्यक प्रसंग उठा-उठा कर बहुत देर तक उनका लम्बा-चौड़ा हवाला दे देकर हर प्रसंग के अंत में एकाध वाक्य में लेखक की एकाध विशेषता की ओर संकेत कर दिया गया है। इतना ही नहीं, उस भूमिका का नाम रखा गया है 'यथार्थवाद और हिन्दी कविता'। माचवे और शर्मा जी दोनों के अधिकांश निबन्धों के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि वे किसी सिद्धांत की स्थापना, या स्थापना नहीं सही तो कम से कम उस पर सुव्यवस्थित विचार नहीं कर पाते बल्कि विभिन्न क्षेत्रों से अमूल्य साहित्यिक सूचनाएँ एकत्र कर देते हैं। हाँ, कुछ निबन्धों में ये नये प्रश्न अवश्य उठाते हैं (माचवे अधिक, शर्मा कम) किन्तु उनके सम्बन्ध में दूसरों की धारणाएँ संचित कर अलग हट जाते हैं।

माचवे का दृष्टिकोण खंड-खंड रूप में यत्र-तत्र कुछ सीमा तक स्पष्ट भी होता है तो शर्मा जी के दृष्टिकोण का कहीं पता ही नहीं चलता। फिर भी माचवे की तरह ही शर्मा जी के भी समीक्षा-निबन्धों में चर्वित-चर्वण का सा बासी मजा नही रहता। पुराने बँधे-बँधाये शास्त्रीय ढर्रे पर न चल कर नये ढंग से बात कहने की पद्धति ही शायद उसका रहस्य है।

नूतन-समीक्षा-सिद्धान्तों की पकड़ और उनकी सशक्त स्थापना यद्यपि इनमें नही है (तथापि नई-नई विदेशी स्थापनाओं से सुपरिचित हैं) किन्तु कृतियों के मूल्यांकन की बहुत अच्छी क्षमता इनमें है। अर्थात् ये चाहें तो अच्छी व्यावहारिक समीक्षा प्रस्तुत कर सकते हैं (यदि ये उद्धरणों से पाठकों को आतंकित करने की प्रणाली को तरह दे जायँ) क्योंकि इनमें अध्ययन है, नयी-नयी प्रवृत्तियों की अभिज्ञता और उनके प्रति सहानुभूति है, साहित्यिक या कलात्मक संस्कार है, कला परखने की क्षमता है। इस दृष्टि से 'प्रेमचन्द और जैनेन्द्र, 'तुर्गनेव तथा दास्तावस्की, बहुत ही उच्चकोटि के निबन्ध है। इनमें लेखक किसी भी प्रकार के पूर्वग्रह से आतंकित नही है। उसने कला की बाहरी भीतरी प्रेरणाओं और जीवन तत्त्वों को परखा है।

श्री कृष्णशंकर शुक्ल

पिछले एक अध्याय में आचार्य शुक्ल की साहित्यिक मान्यताओं और उनकी रस-दृष्टि का विवेचन हो चुका है। साथ ही साथ यह भी

निर्देश किया गया है कि आचार्य शुक्ल के सिद्धान्तों को स्वीकार कर चलने वाली उनकी एक शिष्य-परंपरा है। यह शिष्य परंपरा आचार्य शुक्ल के साहित्यिक सिद्धान्तों को बहुत सीमा तक या सर्वतः ज्यों का त्यों स्वीकार कर लेती है। वह फिर साहित्यिक मान्यताओं की स्थापना के बखेड़े में नहीं पड़ती। जहाँ ऐसे अवसर आते भी हैं वहाँ वह शुक्ल जी से आगे बढ़ कर नये प्रश्नों पर नये ढंग से सोचने की चेष्टा नहीं करती वरन् सर्वत्र शुक्ल जी को प्रमाण मान लेती है।

इस परंपरा की मुख्य रुझान व्यावहारिक समीक्षाएँ प्रस्तुत करने में है। व्यावहारिक समीक्षाओं के क्षेत्र में निश्चय ही इन लोगों ने अधिक काम किया है। कहीं-कहीं ये लोग आचार्य शुक्ल के व्यक्त मतों से थोड़ा भिन्न मत भी प्रस्तुत कर गये हैं किन्तु ये भिन्न मत-स्थापनाएँ इनमें से अधिकांश आलोचकों की मौलिक चिन्ता का नहीं वरन् युग के अन्य समीक्षकों के प्रभाव का परिणाम होती हैं। चूँकि इनमें से अधिकांश न तो नये साहित्य से परिचित हैं और न उनसे सहानुभूति रखते हैं। इसलिए एक ओर इनकी दृष्टि अपेक्षाकृत पुरानी है तो दूसरी ओर इनके विषय-प्रतिपादन का ढंग भी परिपाटी से बँधा-बँधा सा है। तीसरे ये नये साहित्य पर नहीं लिख सकते क्योंकि नये साहित्य के भीतर घुस कर उसकी अनेक उपलब्धियों को पाने की चेष्टा नही की है। आचार्य शुक्ल में ये अनेक विशेषताएँ थीं जो उनकी परंपरा के लोगो को बद्ध दृष्टि के कारण नहीं प्राप्त हैं। सबसे ऊपर शुक्ल जी की रस-दृष्टि थी जो न तो उनके अनुयाइयों को मिल सकी है और न अन्य किसी समालोचक को।

शुक्ल जी की परंपरा के कतिपय उत्कृष्ट समालोचकों की चर्चा पिछले किसी अध्याय में हो चुकी है। यहाँ हम श्री कृष्णशंकर शुक्ल, केसरीनारायण शुक्ल, डा० सत्येंद्र का नामोल्लेख करना चाहेंगे। और लेखकों से इन्हें अलग करके देखने का कारण यह है कि वे लोग यद्यपि अब भी लिख रहे हैं किन्तु वे समय की दृष्टि से पुराने पड़ते हैं अर्थात् वे लोग बहुत दिनों से लिख रहे हैं। और ये आलोचक इसी युग के लेखक हैं। इसलिए मूलतः एक ही परंपरा के होने पर भी इन्हें अलग-अलग देखना पड़ा।

'कविवर रत्नाकर' और 'केशव की काव्य कला' कृष्णशंकर शुक्ल की

दो उल्लेख्य कृतियाँ हैं। कवि रत्नाकर में लेखक ने रत्नाकर की काव्य भूमि, अभिव्यंजना शैलियों, विभाव चित्रण, भाव व्यंजना, भक्ति भावना, अलंकार भाषा, उद्धव शतक, गंगावतरण पर विचार किया है। प्रस्तुत पुस्तक में रत्नाकर जी की काव्यगत समस्त विशेषताओं का उद्‌घाटन करने की चेष्टा है। रत्नाकर जी अनुभाव और भाव चित्रण में अत्यंत कुशल हैं, इन विशेषताओं का विस्तृत उद्‌घाटन लेखक ने किया है। पुस्तक की विशेषता यही है कि एक स्थान पर रत्नाकर जी की काव्यगत बाहरी-भीतरी विशेषताओं को एकत्र किया गया है। मोटे रूप में प्रचलित काव्य के अंगों-उपांगों के शीर्षकों के अन्तर्गत ये सारी विशेषताएँ परखी गयी हैं। और काव्य के प्रत्येक अंग-उपांग पर स्थान-स्थान पर मोटे तौर पर संक्षिप्त सैद्धांतिक विवेचन प्रस्तुत किया गया है। उन विवेचनों में न तो कोई मौलिकता है और न गंभीरता, शुक्ल जी के विचारों की छाया है। एक बात और इसके संबंध में कहना आवश्यक प्रतीत होता है कि किसी एक अनुभाव या भाव या किसी भी विशेषता को जब अनेक उद्धरणों से स्पष्ट किया जाता है तब उसका परिणाम अगंभीर प्रसार और पुस्तक का कलेवर मोटा होने के सिवा और कुछ नहीं होता है। एक बात अवश्य है कि पुस्तक में सर्वत्र लेखक की सहृदयता के दर्शन होते है।

'केशव की काव्य कला' में केशव के उन अनेक गुणों और सीमाओं का विस्तृत उद्‌घाटन हुआ है जिनकी ओर शुक्ल जी ने सूत्र रूप से संकेत किया था। शुक्ल जी की तरह ही इन्होंने भी केशव को कलावादी कवि माना है और चूँकि केशव का संबंध इन्द्रजीत के अखाड़े में विचरण करने वाले दरबारियों से रहा है और केशव को इसी प्रकार के, अपेक्षित काव्य-चेतना से हीन दरबारियों को प्रसन्न करने के लिए कविताएँ लिखनी पड़ी थीं इसलिए केशव के काव्य में हम वैसी गंभीरता और वैसी भावुकता नहीं पाते। शुक्ल जी के अनुसार ही कृष्णशंकर जी भी मानते है कि केशव पर पतनोन्मुख संस्कृत साहित्य का प्रभाव पड़ा था। इस प्रकार लेखक ने केशव के विवि पक्षों पर विचार किया है। केशव की मौलिकता और उन पर पड़े बाहरी प्रभावों की भी विवेचना हुई है।

श्री केसरीनारायण शुक्ल

श्री केसरीनारायण शुक्ल की दृष्टि अपेक्षाकृत सामाजिक है। उन्होंने 'आधुनिक काव्यधारा' में काव्य के स्वरूप को निर्मित करने वाली अनेक चेतनाओं—राष्ट्रीय चेतना, सामाजिक चेतना, राजनीतिक चेतना, आर्थिक चेतना—का विश्लेषण किया है। भिन्न-भिन्न युगों की बदली हुई चेतनाओं के विवेचन पर भी ध्यान रखा है। आधुनिक काव्य धारा को लेखक ने तीन उत्थानों में विभाजित किया है जिसे भारतेंदु युग, द्विवेदी युग और छायावाद युग कह सकते हैं। तृतीय उत्थान में लेखक छाया-वादेतर कविताओं की चेतना और उसके स्वरूप पर विचार करने में असमर्थ रहा है। यह इस धारा के आलोचकों की विशेष सीमा है।

लेखक ने आधुनिक काव्यधारा में रीतिकालीन कविताओं का शुक्ल जी के आधार पर परिचय दिया है। फिर भारतेन्दु काल की कविता को जनता से संबद्ध माना है। विभिन्न आन्दोलनों के परिणामस्वरूप काव्य का स्वरूप बदला और उसका स्वर लोक सत्ता की ओर अभिमुख हो गया। इस प्रकार डा० शुक्ल ने आधुनिक कला की सभी काव्य चेतनाओं को परखने की कोशिश की है। फिर भी यह नहीं कहा जा सकता है कि इन्होंने पहली बार इस ढंग से विचार करने की दिशा दी और न यही कहा जा सकता है कि पुस्तक अपने ढंग की बड़ी ही गंभीर और मौलिक गहरे विवेचनों पर आधारित है। हाँ, इतना अवश्य कहना पड़ेगा कि लेखक ने उदारता से और परिश्रम से आधुनिक कविता और उसे प्रभावित करने वाले तत्त्वों के सभी रूपों को एक स्थान पर देखा है। 'आधुनिक काव्य धारा का स्रोत' इनकी दूसरी पुस्तक है जो मूलतः पहली से भिन्न नहीं है।

डा० सत्येन्द्र

डा० सत्येन्द्र भी मूलतः व्यायहारिक समीक्षा लिखने में ही रस लेने वाले आलोचक हैं यद्यपि उन्होंने 'समीक्षा के सिद्धान्त' भी समझने समझाने की चेष्टा की है। डा० सत्येन्द्र की व्यावहारिक मूल्यांकन सम्बन्धी महत्वपूर्ण पुस्तकें हैं—'गुप्त जी की कला', 'प्रेमचन्द और उनकी कहानी कला', 'व्रज लोक साहित्य का अध्ययन', 'हिंदी एकांकी', 'साहित्य की झाँकी' आदि।

सत्येन्द्र जी यद्यपि मूलतः शुक्ल-परंपरा के ही हैं किन्तु इस परंपरा के नये लोगों में ये निश्चय ही अधिक शक्ति-संपन्न और नवीन दृष्टिशील आलोचक हैं। इनमें मौलिक चिन्तन भी पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध है। इनके विचार करने का ढंग भी अपेक्षाकृत नया है। 'व्रज लोक साहित्य का अध्ययन' में खोज और साहित्य का मूल्यांकन दोनों का संयोग है। लेखक ने बड़े परिश्रम से लोक साहित्य के अनेक सामान्य रूपों और तत्त्वों तथा उनके इतिहास पर विचार किया है। साथ ही व्रज के लोक-साहित्य का विशिष्ट रूप भी विवेचित है। साहित्यिक गीतों तथा कहानियों का सम्बन्ध इन लोक-साहित्य के गीतों और कहानियों से कैसा और कितना है इसका अच्छा उद्‌घाटन किया गया है।

'हिन्दी एकांकी' में हिन्दी एकांकी नाटकों के उद्‌भव और विकास का विश्लेषण हुआ है। हिन्दी के प्रमुख एकांकीकार, एकांकी की प्रमुख प्रवृत्तियाँ तथा कुछ विशेष एकांकी नाटक आदि पर इस पुस्तक में विचार किया गया है। इसी प्रकार 'प्रेमचन्द और उनकी कहानी कला' में प्रेमचन्द की कहानी-कला की विशेषताएँ उद्‌घाटित की गयी हैं।

इसी श्रेणी में आज आपको हिन्दी आलोचना का अधिकांश भाग देखने को मिलेगा। उपर्युक्त लेखकों के अतिरिक्त अनेक नये पुराने आलोचक इस पद्धति पर कार्य कर रहे हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि यह आलोचना का सबसे कठिन और सबसे सरल मार्ग है। किसी कृति को सामने रखकर उसकी वस्तुगत और व्यक्तिगत विशेषताओं, सूक्ष्म कलात्मक बारीकियों, जीवन के स्पन्दनों और दृष्टिकोणों का पता लगाना, उसकी विषय-वस्तु के सौन्दर्य और गौरव की परीक्षा करना, उसकी अभिव्यक्तिगत कुशलताओं की जाँच करना, उसमें परंपरा के निर्वाह के साथ आये हुए नवीन तत्त्वों को पकड़ना और उनका मार्मिकता से विश्लेषण करना तथा समूची कृति को साहित्य की परंपरा में रखकर उसपर निर्णय देना अधिक प्रतिभासंपन्न, अध्यनशील, गतिशील जीवन के प्रति आस्थावान और गहरी रस दृष्टि तथा सौन्दर्यबोधशाली आलोचक के लिए ही सम्भव हो पाता है। ऐसी क्षमता कम हिन्दी आलोचकों में है और विशेषतया इस धारा के केवल व्यावहारिक समीक्षा लिखने वाले लेखकों में तो सुलभ नहीं है। ऊपर जिन आलोचकों की चर्चा आयी है वे केवल इसी क्षेत्र में कार्य करते हुए भी अन्य वर्गीय आलो-

चकों की तुलना में कम महत्वशाली हैं। प्रतिभासंपन्न लेखक जो काम केवल एक निबन्ध में कर देता है वह काम अभ्यासशील आलोचक पूरे ग्रंथ में नहीं कर पाते हैं। कारण इसका यही है कि ये आलोचक साहित्य के कुछ मोटे-मोटे अंगों को सामने रख कर आलोच्य कृति की विवेचना प्रस्तुत करते हैं—जैसे अमुक कृति में रस कौन-कौन से है, प्रकृति चित्रण कहाँ-कहाँ हुआ है, भाव, अनुभाव कहाँ-कहाँ आए हैं, कितने अलंकार प्रयुक्त हुए हैं, लेखक की भाषा शैली कैसी है, कौन-कौन छन्द प्रयुक्त हुए हैं, कहाँ-कहाँ छायावाद रहस्यवाद है आदि आदि। और यह काम भी वे अगल-बगल कुछ पोथे रख कर, उनसे राय ले लेकर, उन्हें संकलित कर करके करते हैं।

उपर्युक्त हिन्दी आलोचक इस धारा के आलोचकों में स्वस्थ कहे जा सकते हैं। इनके अतिरिक्त अनेक ऐसे हैं जो चर्वित-चर्वण और विभिन्न मतों के संकलन के सिवा और कुछ करते ही नहीं, वे छात्रों के लिए कुंजी लिखते हैं। उन्हें यहीं छोड़िये। इन आलोचनाओं का महत्व इस बात में स्वीकार करना चाहिए कि वे हिन्दी साहित्य की विविध रचनाओं का सामान्य पाठकों में प्रसार कर रही हैं किन्तु साथ ही क्या वे पाठकों की बौद्धिक चेतना और साहित्यिक संस्कारों का स्तर नीचा करने का खतरा नही पैदा कर रही हैं ?

विविध

१

विविध

हिन्दी आलोचना के क्षेत्र में प्रचलित विविध प्रवृत्तियों और प्रमुख व्यक्तित्यों का विश्लेषण करने की मैंने चेष्टा की। यहाँ तक मेरा प्रयास रहा कि शुद्ध साहित्यिक समीक्षा के क्षेत्र में होने वाले प्रमुख प्रयत्नों और इन्हें प्रवाहित करने वाली परिस्थितियों की मीमांसा हो जाय। किन्तु समीक्षा की इस मुख्य धारा के अतिरिक्त कुछ ऐसी चेष्टाएँ लक्षित होती है जिन्हें समीक्षा क्षेत्र के भीतर किसी न किसी प्रकार परिगणित करने को बाध्य हैं। इन समीक्षाओं में साहित्य के न तो किसी सिद्धांत-पक्ष की विवेचना होती है, न साहित्य और जीवन के अनेकानेक सम्बन्धों की व्याख्या होती है और न कृतियों का व्यावहारिक मूल्यांकन होता है, इनमें किसी प्राचीन कृति या प्रवृत्ति या साहित्य के क्षेत्र में आने वाले किसी सम्प्रदाय से सम्बद्ध ऐतिहासिक तथ्यों की छानबीन तथा उनका निरूपण होता है। यह कार्य शुद्ध गवेषणात्मक होता है, इसमें कर्त्ता के व्यक्तित्व और दृष्टिकोण की उतनी आवश्यकता नही पड़ती जितनी कि ऐतिहासिक तथ्यों को खोज-खोज कर उनके आधार पर उनकी सामान्य विशेषताओं का वर्गीकरण करने की। इसीलिए कुछ समीक्षकों ने इसे शुद्ध समीक्षा के क्षेत्र में परिगणित नहीं किया है और यह ठीक भी है किन्तु इन कार्यों का प्रभाव परोक्ष रूप से साहित्य समीक्षा पर पड़ता है इसीलिये इन पर संक्षेप मे विचार कर लेना अप्रासंगिक न होगा।

इस समीक्षा के भीतर लोग उन समीक्षाओं को भी समेट लेते हैं जिनमें किसी प्राचीन कवि या कृति का मूल्यांकन किया गया हो। वास्तव में यह कोई विभाजन का आधार नही है। पुरानी और सम-सामयिक कृतियों को लेकर केवल उनके काल-भेद से दो भिन्न प्रकार की समीक्षा-शैलियों का नामकरण कर देना समीचीन नही है। बात यह है कि कवि पुराना हो या नया उसकी कृति का मूल्यांकन करते समय एक दृष्टिकोण-सम्पन्न आलोचक का दृष्टिकोण तो उसके साथ रहेगा ही। वह दोनों प्रकार की कृतियों को एक ही कसौटी पर जाँचेगा। यह जरूर है कि वह विभिन्न कृतियों को उन्हीं के सामाजिक परिवेश में

देखने की चेष्टा करेगा। उसमें लेखक का अपना व्यक्तित्व और दृष्टि-कोण संपृक्त रहेगा। काव्यात्मक विशेशताओं को व्यंजित करने के लिए या उनका सम्पूर्ण स्वरूप समझाने के लि उनके उन साम्प्रदायिक, दार्शनिक, धार्मिक, राजनैतिक, आर्थिक आदि अनेक मूलाधारों की मीमांसा वह करेगा जिनके परिवेश में उस रचना की सृष्टि की गई है। इस प्रकार की समीक्षाओं में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, बाबू श्यामसुन्दर दास, पं० नन्ददुलारे वाजपेयी, पं० हजारी प्रसाद द्विवेदी, डा० रामकुमार वर्मा, डा० राम विलास शर्मा आदि की कुछ आलोचनाओं को ले सकते हैं। ऐसी आलोचनाएँ ऐतिहासिक तथ्यों का आधार लेकर भी शुद्ध समीक्षा के अंतर्गत आती हैं। इन पर विचार किया गया है।

यहाँ हम जिन ऐतिहासिक शोधपरक आलोचनाओं की बात कर रहे हैं उनमें या तो केवल ऐतिहासिक तथ्यों की खोज होती है या तथ्यों की खोज के साथ उसी ग्रंथ में दूसरी ओर कुछ काव्यगत विशेषताएँ भी दिखाई जाती हैं। इनमें ऐतिहासिक आलोचना और साहित्यिक आलो-चना दोनों का मिश्रित रूप मिलता है। ऐतिहासिक शोधपरक समी-क्षाओं में यह कोई जरूरी नही है कि किसी महत्वपूर्ण कवि या कवियों से सम्बद्ध ऐतिहासिक सत्यों का विश्लेषण किया जाय। उनमें संतों, सिद्धों, नाथों, भक्तों की परम्परा और उसमें प्रचलित सामान्य प्रवृत्तियों की गहरी छानबीन हो सकती है। या फिर किसी महत्वपूर्ण कृति की प्रामाणिकता और किसी महत्वपूर्ण साहित्यकार के जीवन सम्बन्धी तथ्या-तथ्य का गहरा निरूपण हो सकता है। यह कार्य शुद्ध शोध मूलक होता है। इन समीक्षाओं में समीक्षित विषयों का साहित्य से सम्बन्ध होता है किन्तु बहुत ही परोक्ष। जैसे यदि सिद्धों की परम्परा दिखाई जा रही है तो उसका लक्ष्य उन मूल विशेषताओं को उद्घाटित करना हो सकता है जो परवर्ती सन्त साहित्य में विकसित हो रही थीं। इस प्रकार की समीक्षाओं में भी दो रूप लक्षित होते हैं। एक तो वह रूप जिसमें लेखक कुछ ऐतिहासिक तथ्यों की गवेषणा करके उन्हें एकत्र कर देता है या उनके आधार पर कोई निष्कर्ष निकालता है। दूसरा रूप वह है जिसमें लेखक ऐतिहासिक तथ्यों की खोज करके तत्कालीन जीवन और साहित्य के सम्बन्धों की विवेचना करता है। वह केवल स्थूल तत्वों को सजा देने और उनकी मोटी-मोटी प्रवृत्तियों का वर्गीकरण

कर देने मात्र से संतुष्ट नहीं होता वह उन्हें सदैव जीवन और साहित्य के विश्लेषण के लिए ग्रहण करता है और वह अपनी सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि से उन स्थूल तथ्यों की तह में घुस कर अदृष्ट सूक्ष्मताओं को पकड़ता है । इन समीक्षकों में स्तर भेद हो सकता है और होता है, यहाँ मैं केवल प्रवृत्ति की बात कह रहा हूँ ।

भारतीय साहित्य का मध्यकाल अंधकाराच्छन्न है । इसके कारणों की छानबीन न करके हम इस बात की ओर निर्देश करना चाहते हैं कि इस काल में शोध के लिए अपार क्षेत्र पड़ा हुआ है और इसीलिए आधुनिक काल में इस काल के इतिहास की खोज करने की ओर विद्वानों की प्रवृत्ति दिखाई पड़ रही है । 'हिन्दी साहित्य के इतिहास' इसी दिशा में किये जाने वाले साहित्यिक प्रयास है । हिन्दी साहित्य के इतिहासों में दो तरह के इतिहास दिखाई पड़ते हैं । एक में केवल कवियों के जीवन वृत्त और उनकी पुस्तकों की कोरी खोज की प्रवृत्ति लक्षित होती है, दूसरे में जीवन वृत्त और कृतियों की प्रामाणिकता के निरूपण के साथ विभिन्न युगों में सामाजिक स्थितियों और उनके बीच से फूटने वाले साहित्यों की सामान्य प्रवृत्तियों की मार्मिक विवेचना मिलती है और साथ ही विभिन्न कवियों की व्यक्तिगत काव्य छवियों की भी मीमांसा । आचार्य शुक्ल के पहले लिखे गये साहित्य के इतिहासों में पहला स्वरूप ही दृष्टिगत होता है । इसका कारण यह भी हो सकता है कि इन लेखकों के सामने साहित्य के इतिहास-लेखन का कोई आदर्श स्पष्ट नही था । इनमें 'इस्त्वार दला लितेरात्यूर ऐंदूई ऐं ऐंदुस्तानी' (लेखक गार्सै द तासी), 'भाषा काव्य संग्रह' (ले० महेशदत्त शुक्ल), 'शिवसिंह सरोज' (ले० शिवसिंह सेंगर), माडर्न वरनाक्यूलर लिट्रेचर आव् हिन्दोस्तान' (ले० ग्रियर्सन), 'हिन्दी कोविद रत्नमाला' (ले० बाबू श्यामसुंदर दास), 'मिश्रबन्धु विनोद' (ले० मिश्रबन्धु) आदि ग्रंथों को परिगणित कर सकते हैं । मिश्रबन्धुओं के 'मिश्रबन्धु विनोद' और 'हिन्दी नवरत्न' में इतिहास लेखक के उत्तरदायित्व का निर्वाह भले न हो पाया हो किन्तु उनमें समीक्षा का पर्याप्त पुट है । आचार्य शुक्ल से आरंभ होने वाले हिन्दी साहित्य के संपूर्ण या खण्ड इतिहासों में युगीन प्रवृत्तियों का विश्लेषण तथा कृतियों का मूल्यांकन दृष्टिगत होता है । इनमें 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' (ले० पं० रामचन्द्र शुक्ल), 'हिन्दी

साहित्य' (ले० डा० श्यामसुन्दर दास), 'आदि काल', 'हिन्दी साहित्य की भूमिका', 'हिन्दी साहित्य' (ले० पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी), 'बिहारी', 'आनन्दघन', 'भूषण' (ले० पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र) आदि प्रमुख ऐतिहासिक चेष्टाओं की दृष्टियों और उनकी वैज्ञानिकता पर इन आलोचकों की आलोचना के प्रसंग में विचार हो चुका है। इनके अतिरिक्त और भी अनेक पुस्तकें इस दृष्टिकोण से महत्व रखती हैं जैसे 'हिन्दी भाषा और उसके साहित्य का इतिहास' (ले० पं० आयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध), 'हिन्दी साहित्य का विवेचनात्मक इतिहास' (ले० डा० सूर्यकान्त शास्त्री). 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' (ले० रमाशंकर शुक्ल 'रसाल), 'आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास' (ले० श्री कृष्णशंकर शुक्ल), 'साहित्य की झांकी' (ले० डा० सत्येन्द्र), 'खड़ी बोली हिन्दी साहित्य का इतिहास' (ले० श्री व्रजरत्नदास), 'सन्त साहित्य' (ले० भुवनेश्वर मिश्र मावध), 'आधुनिक हिन्दी साहित्य' (ले० डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय), 'आधुनिक हिन्दी साहित्य' (ले० डा० श्रीकृष्णलाल) आदि। इतिहास में ऐनिहासिक शोध की लगन और आलोचनात्मक प्रतिभा दोनों की आवश्यकता पड़ती है।

किन्तु केवल ऐतिहासिक शोध से संबंध रखने वाली पुस्तकें भी होती हैं अर्थात् इनमें साहित्य के क्षेत्र को किसी न किसी प्रकार प्रभावित करने वाली सामाजिक, दार्शनिक, धार्मिक, सांस्कृतिक धाराओं का गवेषणात्मक विवेचन होता है और उनकी सामान्य वृत्तियों का निरूपण। हिन्दी में इस क्षेत्र में कुछ लोग बड़ी लगन से कार्य कर रहे हैं और पीएच० डी० की अनेक थीसिसों के भी विषय कुछ इसी प्रकार के हो रहे हैं। आचार्य शुक्ल के पहले लिखे गये हिन्दी साहित्य के इतिहासों में गवेषणात्मक गहराई तो नहीं है किन्तु वे हैं कुछ इसी प्रकार के प्रयास। इस धारा में विशेष कार्य हुआ है हिन्दी के आदिकाल और मध्यकाल पर। हिन्दी के मध्यकाल के सन्तों की कुछ कारणों से उपेक्षा हुई, उन्हें विजातीय और सामाजिक-मर्यादा-विरोधी-स्वर ऊँचा करने वाला कहा गया। उनकी बानियों में केवल अटपटापन देखा गया। सगुणमार्गी कवियों और उनकी संस्कृति की तुलना में निर्गुणियों को कुछ अच्छी निगाह से नहीं देखा गया। इसकी प्रतिक्रिया में कुछ लेखकों ने निर्गुण धारा के सन्तों का सच्चा स्वरूप उद्घाटित करने का प्रयत्न किया और यह दिखाना चाहा कि निर्गुणिया सन्तों की बानियों का अपनी भारतीय

परंपरा से सम्बन्ध है। उनकी बानियों का स्वर सिद्धों, नाथों के स्वरों का विकसित रूप था। इस प्रकार सन्तों के अध्ययन के साथ उनके पूर्ववर्ती बौद्धों, नाथों, सिद्धों, जैनी कवियों का अध्ययन आवश्यक हो गया। और विद्वानों ने हिन्दी साहित्य के आदिकाल का नाम वीरगाथा काल उपयुक्त न समझ कर अन्यान्य कविताओं के आधार पर उसका नाम आदि काल ही उपयुक्त समझा और उसकी तथाकथित कालसीमा के और पीछे हट कर भूमिका के अध्ययन पर भी वे बल देने लगे। इन कार्यों के मूल्यांकन में एक बात ध्यान रखने की है कि खोज की सामग्रियाँ निरन्तर प्रकाश में आती हैं और निरन्तर उपलब्ध सफलताओं को लेकर आने वाले शोधक कार्य को आगे बढ़ाया करते हैं। उनकी कृतियों में अपेक्षाकृत अधिक संपूर्णता और सत्यता दीख सकती है। किन्तु इस संपूर्णता और सत्यता का बहुत कुछ श्रेय उस विकास को है जो सतत् पुरानी उपलब्धियाँ लेकर आगे बढ़ता है। इसके साथ-साथ लेखक की प्रतिभा और दृष्टिकोण का भी इस सफलता और संपूर्णता पर प्रभाव पड़ता है। किसी धारा के प्रति पहले से ही कोई पूर्वग्रह और दृष्टिकोण बना लेने से उसका वस्तुगत विवेचन कर पाने में कठिनाई पड़ती है किन्तु जीवन और साहित्य के ऊपर उसका कैसा प्रभाव पड़ा है इसका निर्णय बिना किसी स्वस्थ दृष्टिकोण के नहीं हो सकता है। ऊपर जिन विद्वानों के नाम आये हैं उनके शोध का महत्व शोध की भी दृष्टि से है और साहित्यिक विवेचन की भी दृष्टि से। उनके अतिरिक्त कुछ ऐसे हैं जिनका महत्व अथक परिश्रम के साथ गहन शोध करने के कारण ही स्वीकार किया जायगा। पृथ्वीराज रासो या वीरगाथाओं में आने वाली अन्य संदिग्ध पुस्तकों और लेखकों की प्रामाणिकता अप्रामाणिकता सिद्ध करने के लिए इधर अनेक प्रयास हुए और हो रहे हैं। सन्तों, योगियों, नाथों, सिद्धों आदि पर भी निरन्तर शोध चल रहा है, सगुण मार्गी और रीतिकालीन प्रमुख कवियों की (और अब तो अप्रसिद्ध कवियों की भी जीवन-गाथाओं, पुस्तकों आदि की भी) गवेषणा चल रही है। ये समस्त कार्य इसी क्षेत्र में परिगणित हो सकते हैं। उपर्युक्त प्रमुख समीक्षक शोधकों के अतिरिक्त कुछ ऐसे महत्वपूर्ण शोधक समीक्षक हैं जिनकी चर्चा यहाँ आवश्यक है। और वे हैं महापंडित राहुल सांकृत्यायन, डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल, डा० माताप्रसाद गुप्त, पं० परशुराम चतुर्वेदी, डा० दीनदयाल गुप्त और पं० बलदेव उपाध्याय आदि।

राहुल जी ने 'हिन्दी काव्यधारा' में अपभ्रंश की कविताओं की धारा का विवेचन किया है और उन्हें हिन्दी काव्य धारा के अन्तर्गत सम्मलित किया है। डा० दीनदयाल गुप्त की 'अष्टछाप के कवि और 'वल्लभ संप्रदाय' पुस्तक अष्टछाप के कवियों के जीवन, दर्शन और साहित्य सम्बन्धी अनेक महत्वपूर्ण तथ्यों का उद्घाटन करती है। 'भागवत संप्रदाय' में पं० बलदेव उपाध्याय ने भागवत संप्रदाय का विस्तृत निरूपण किया है। डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल ने इस क्षेत्र में बड़ा महत्वपूर्ण योग दिया है। उनकी 'हिन्दी काव्य में निर्गुण संप्रदाय' और 'योग प्रवाह' इन दो पुस्तकों में निर्गुण धारा के सन्तों के विविध पक्षों का विश्लेषण हुआ है। हिन्दी में सन्तों के सम्बन्ध में इतने विस्तार और गंभीरता से सर्व प्रथम डा० बड़थ्वाल ने ही विचार किया। उन्होंने 'हिन्दी काव्य ˘ निर्गुण संप्रदाय' के प्रथम अध्याय में बड़ी मार्मिकता से उन परिस्थियों का अध्ययन किया जिन्होंने संत मत को फूटने और फैलने का अवसर दिया। इस प्रसंग में उन्होंने सन्त मत के आविर्भाव का सम्बन्ध तत्कालीन इस्लामी राजनैतिक, धार्मिक स्थितियों, हिन्दुओं की वर्ण्य व्यवस्था की ऊँच नीच की भावना, सिद्धों नाथों की कुछ विचार परंपराओं और दक्षिण के दार्शनिक संप्रदायों से जोड़ा है। और इस प्रकार उन्होंने बहुत से ऐसे सूत्र दिये हैं जिनके आधार पर बाद में आने वाले विचारकों ने विस्तार से काम किया है। दूसरे अध्याय में 'निर्गुण सन्त सम्प्रदाय के प्रसारक' तीसरे अध्याय में निर्गुण सं दाय के दार्शनिक सिद्धान्त' चौथे में 'निर्गुण पन्थ' पांचवें में 'पन्थ का स्वरूप' छठें में 'अनुभूति की अभिव्यक्ति' पर शोधपूर्ण अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। 'योग प्रवाह' लेखक के १९ फुटकल निबन्धों का संग्रह है। भिन्न-भिन्न निबन्धों में भिन्न भिन्न सन्तों और सन्त मत में प्राप्त कुछ दार्शनिक प्रतीकों पर विचार किया गया है।

डा० बड़थ्वाल के शोध में दोष हो सकते हैं और हैं जैसा कि पहली पुस्तक की भूमिका में पं० परशुराम चतुर्वेदी ने निर्देश किया है। किन्तु ऊपर यह कहा गया है कि खोज कार्य में सीमाएँ होती हैं और प्राप्त सामग्रियों के आधार पर ही शोधक अपने मत व्यक्त करता है।

इधर पं० परशुराम चतुर्वेदी हिन्दी के मध्यकालीन भक्त सम्प्रदायों की सामान्य वृत्तियो के विश्लेषण में अधिक व्यस्त दिखाई पड़ते हैं। इस

दृष्टि से 'उत्तरी भारत की सन्त परंपरा', 'कबीर साहित्य की परख', 'हिन्दी काव्यधारा में प्रेम प्रवाह', 'वैष्णव धर्म', 'भारतीय साहित्य की सांस्कृतिक रेखाएँ' महत्वपूर्ण पुस्तकें हैं। वास्तव में इन पुस्तकों का महत्व नवीन सामग्रियों की खोज और उनके आधार पर अभिप्रेत विषय के प्रवृत्ति-निरूपण में ही है। 'उत्तरी भारत की सन्त परंपरा' में लेखक ने सन्तों के विभिन्न सम्प्रदायों का पता लगाया है और विभिन्न संप्रदायों के मूल उद्देश्यों, उनके अनेक साधकों के जीवन वृत्तों, कृतियों और अन्यान्य ज्ञातव्य बातों का अनुसंधान किया है। 'विषय प्रवेश' में सभी सन्त संप्रदायों की कुछ सामान्य विशेषताओं की चर्चा की है। जैसे सन्त शब्द का क्या अर्थ है? उसकी व्युत्पत्ति कब हुई? सन्तों के लक्षण क्या हैं? रूढ़िगत सन्त शब्द का क्या तात्पर्य है? दक्षिण और उत्तर के सन्तों में पारस्परिक संबंध कैसा रहा? पथ प्रदर्शक सन्त कौन-कौन से हुए? उत्तरी भारत की सन्त परंपरा कैसे विकसित हुई? उसकी अपनी विशेषता क्या है? सन्त मत का वर्ण्य विषय क्या है? उनका काल विभाग कैसे किया जा सकता है? आगे भारतीय साधना का प्रारंभिक विकास दिखाया गया है। फिर साधना, साधना के भेद, वैदिक साधना में विषम परिस्थिति, अर्जुन व श्रीकृष्ण, गीतोक्त समाधान, समन्वय की प्रवृत्ति, प्रतिक्रिया, पौराणिक भक्ति, योग साधना, ज्ञान वाद, सदाचार वाद, तांत्रिक पद्धति, ग्रंथ रचना, शास्त्र विधि व सुधार, मतभेदों का जंजाल, गौतम बुद्ध का मार्ग आदि की चर्चा कर विषय को पूर्ण बनाने का प्रयास किया गया है। विभिन्न अध्यायों में कबीर साहब के समसामयिक सन्त, पंथ निर्माण का सूत्रपात, सामान्य परिचय, समन्वय व साम्प्रदायिकता, आधुनिक युग, आदि शीर्षकों और उनसे संबद्ध अनेक उपशीर्षकों से सन्त मत का विस्तार से अध्ययन किया गया है।

'भारतीय साहित्य की सांस्कृतिक रेखाएँ' पुस्तक में लेखक के १७ फुटकल निबन्ध संगृहीत हैं—जैसे भारतीय साहित्य में भक्ति धारा, भारतीय प्रेमाख्यानों की प्रवृत्तियाँ, भारतीय सूफियों का सांस्कृतिक योग, हिन्दी सन्त साहित्य, सन्त साहित्य और जैन हिन्दी कवि, आदि। प्रस्तुत पुस्तक में साहित्य की चर्चा भी आई है किन्तु वह समीक्षा नहीं है परिचय ही है। 'कबीर साहित्य की परख' और 'हिन्दी काव्य धारा में

प्रेम प्रवाह' में अपेक्षाकृत अधिक गहराई से विषय के साहित्यक पक्षों का निरूपण हुआ है किन्तु लगता ऐसा है कि वह चतुर्वेदी जी का क्षेत्र नहीं है। उनकी मूल वृत्ति तथ्य-संघटन करने में ही लक्षित होती है। उनकी गवेषणाओं में भी पूर्व-प्राप्त और स्वशोध-प्राप्त सामग्रियों का संचय करने की प्रवृति का प्राधान्य है (और यह इस क्षेत्र की पुस्तकों में होना ही चाहिए ताकि परिचय की समस्त रेखाएँ एक स्थान पर पुंजीभूत हो उठें)। किन्तु उनमें उस व्याख्यात्मक प्रतिभा का अभाव लक्षित होता है जो एक नवीन मार्ग निर्मित कर सके, तथ्यों से नहीं वरन् तथ्यों के भीतर निहित तत्त्वों से।

मैंने हिन्दी समीक्षा की प्रवृत्तियों के विश्लेषण में इस बात की चेष्टा की है कि प्रमुख प्रवृत्तियों और उनके प्रमुख आलोचकों की मीमांसा हो जाय। किन्तु आज हिन्दी आलोचना के क्षेत्र में अनेक लेखक उत्साह से कार्य कर रहे हैं। उन लेखकों में कुछ तो प्रतिभा सम्पन्न हैं और उनमें भविष्य की सम्भावनाएँ छिपी है। कुछ ऐसे हैं जो जीविकोपार्जन या ख्याति के लिये पिटे-पिटाये मार्ग से लिखते रहते हैं। डी०लिट्०, पीएच०डी० की थीसिसों में भी इन दोनों स्तरों की चीजें मिलती हैं। कुछ ऐसी कृतियाँ निकल आती हैं जो किसी न किसी दृष्टि से समीक्षा की समृद्धि में योग देती हैं। कुछ महत्वपूर्ण प्रयत्नों का उल्लेख इस प्रकार हो सकता है।

(१) कुछ आलोचकों ने पूर्वी और पश्चिमी, प्राचीन और नवीन समीक्षा सिद्धांतों को उनके वास्तविक रूप में रखने का प्रयत्न किया है। इनमें लेखक ने अपने चिन्तन-मनन से कुछ नया जोड़ने का प्रयास नहीं किया है वरन् पूर्वप्राप्त सामग्रियों को अपनी व्याख्याओं के साथ प्रस्तुत किया है, जैसे—

(१) भारतीय साहित्य शास्त्र प्रथम भाग, (पं० बलदेव उपाध्याय)

(२) ,, ,, द्वितीय भाग, ,,

(३) रोमांटिक साहित्य शास्त्र (डा० देवराज उपाध्याय)

(४) समीक्षा शास्त्र (पं० सीताराम चतुर्वेदी)

(५) आलोचना इतिहास तथा सिद्धांत (डा० एस० पी० खत्री)

(६) हिन्दी काव्य शास्त्र का इतिहास (डा० भगीरथ मिश्र)

(२) विविध-वादों सम्बन्धी प्रमुख कृतियाँ—

(१) छायावाद और रहस्यवाद (श्री गंगाप्रसाद पाण्डेय)
(२) छायावाद (डा० रामरतन भटनागर)
(३) छायावाद युग (डा० शम्भूनाथ सिंह)
(४) छायावाद (डा० नामवर सिंह)
(५) आधुनिक साहित्य की विविध प्रवृत्तियाँ (डा० नामवर सिंह)
(६) वाद समीक्षा (श्री कन्हैया लाल सहल)
(७) रहस्यवाद (डा० रामरतन भटनागर)
(८) हिन्दी काव्य में प्रगतिवाद (श्री विजय शंकर मल्ल)
(९) प्रतिवाद की रूपरेखा (श्री शिवचन्द्र)
(१०) प्रगतिवाद (डा० धर्मवीर भारती)

(३) साहित्य की विविध विधाओं पर लिखी गई आलोचनाएँ—

(१) हिन्दी उपन्यास (श्री शिवनारायण श्रीवास्तव)
(२) उपन्यास कला (श्री विनोदशंकर व्यास)
(३) कहानी कला ,,
(४) हिन्दी कहानियों की शिल्पविधि का विकास (डा० लक्ष्मी नारायण लाल)
(५) हिन्दी कथा साहित्य (श्री गंगाप्रसाद पाण्डेय)
(६) कहानी के तत्त्व (श्री शिवनन्दन प्रसाद)
(७) वीर काव्य (डा० उदयनारायण तिवारी)
(८) हिन्दी आलोचना की अर्वाचीन प्रवृत्तियाँ (डा० एस० पी० खत्री)
(९) नई समीक्षा (श्री अमृत राय)
(१०) हिन्दी आलोचना का उद्भव और विकास (डा० भगवत् स्वरूप मिश्र)
(११) समीक्षा और आदर्श (डा० रांगेय राघव)

(१२) काव्य कला और शास्त्र (डा० रांगेय राघव)
(१३) साहित्य दर्शन (श्री जानकीवल्लभ शास्त्री)
(१४) चिन्ता धारा ,,
(१५) मिट्टी की ओर (श्री दिनकर)
(१६) कला (श्री हंसकुमार तिवारी)
(१७) हिन्दी निबन्ध (श्री ठाकुर प्रसाद सिंह)
(१८) हिन्दी एकांकी और एकांकीकार (श्री रामचरन महेन्द्र)
(१९) हिन्दी नाटक, उद्भव और विकास (डा० दशरथ ओझा)
(२०) हिन्दी नाटकों का विकास (श्री शिवनाथ, एम० ए०)
(२१) अभिनव नाट्य शास्त्र (पं० सीताराम चतुर्वेदी)
(२२) हिन्दी काव्य पर आंग्ल प्रभाव (डा० रवीन्द्र सहाय वर्मा)
(२३) प्रकृति और काव्य (डा० रघुवंश)
(२४) प्रकृति और कवि (संस्कृत खण्ड) (डा० रघुवंश)
(२५) ,, ,, (हिन्दी खण्ड) ,,
(२६) दोआब (श्री शमशेर बहादुर सिंह)
(२७) महाकाव्य विवेचन (डा० रांगेय राघव)
(२८) काव्य के मूल विवेचन ,,
(२९) आधुनिक हिन्दी काव्य में नारी भावना (डा० शैलकुमारी)

(४) साहित्यकारों पर लिखी गईं प्रमुख पुस्तकें—

(१) विद्यापति पदावली (श्री रामवृक्ष बेनीपुरी)
(२) तुलसी (श्री रामबहोरी शुक्ल)
(३) तुलसी एक अध्ययन (श्री विश्वम्भर मानव)
(४) तुलसी रसायन (डा० भगीरथ मिश्र)
(५) मानस दर्शन (डा० श्रीकृष्ण लाल)
(६) तुलसीदास और उनका युग (डा० राजपति दीक्षित)
(७) रास पंचाध्यायी–भँवर गीत (डा० सुधीन्द्र)

(८) भारतेन्दु हरिश्चन्द्र (डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय)
(९) भारतेन्दु की कविता (डा० बच्चन सिंह)
(१०) भारतेन्दु युगीन निबन्ध (श्री शिवनाथ)
(११) महावीरप्रसाद द्विवेदी और उनका युग (डा० उदयभानु सिंह)
(१२) कवि प्रसाद की काव्य साधना (श्री रामनाथ सुमन)
(१३) प्रसाद का काव्य (डा० प्रेमशंकर)
(१४) कामायनी अनुशीलन (डा० रामलाल सिंह)
(१५) क्रांतिकारी कवि निराला (डा० बच्चन सिंह)
(१६) कहानी कला और प्रेमचन्द (श्री श्रीपत राय)
(१७) कथाकार प्रेमचन्द (श्री मन्मथनाथ गुप्त)
(१८) शान्ति के योद्धा प्रेमचन्द (श्री अमृत राय)
(१९) प्रेमचन्द (डा० त्रीलोकी नारायण दीक्षित)
(२०) प्रेमचन्द की उपन्यास कला (श्री जनार्दन प्रसाद झा)
(२१) प्रेमचन्द और गोर्की (श्री शचीरानी गुर्टू)
(२२) महादेवी वर्मा (श्री विश्वम्भर मानव)
(२३) आचार्य रामचन्द्र शुक्ल (श्री शिवनाथ)

उपसंहार

प्रगतिशील, मनोविश्लेषण वाद से प्रभावित और स्वच्छन्द ये तीनों प्रकार की समीक्षायें आज साथ-साथ चल रही हैं। तीनों धाराओं के प्रौढ़ आलोचक (जिनकी चर्चा पिछले अध्यायों में हो चुकी है) अपनी-अपनी दृष्टियों और सम्वेदनाओं के अनुसार समीक्षा साहित्य को समृद्ध कर रहे हैं। तीनों धाराओं के समीक्षक कभी-कभी एक दूसरे पर आक्रमण कर बैठते हैं। उनके बिचारों में दिखाई पड़ने वाले वैभिन्य की व्याख्या की जा चुकी हैं। इन प्रौढ़ आलोचकों के अतिरिक्त अनेक नये आलोचक इन विविध धाराओं की परम्परा आगे बढ़ाने के लिए प्रयत्नशील दिखाई दे रहे हैं।

नयी प्रगतिशील समीक्षा सामाजिक जीवन की संवेदना, मनोवैज्ञानिक सत्यों की बारीकियों और भविष्य के प्रति आस्था के साथ आगे बढ़ रही है। वह उदारता से अन्य चिन्तन-धाराओं के स्वस्थ प्रभावों को अपना रही है। उसका आधार मार्क्सवादी चिन्तन-पद्धति ही है किन्तु सांप्रदायिक कट्टरता के कारण पिछले प्रगतिशील आलोचकों ने जिन तत्त्वों को दृष्टि से ओझल कर दिया था (किन्तु जो साहित्य-निर्माण में अनिवार्य साधन होते हैं) या उनका मूल रूप में निर्देश कर दिया था उन्हें नई प्रगतिशील समीक्षा प्रकाश में ला रही है और साहित्य-निर्माण की व्यावहारिक समस्याओं को ध्यान में रखकर उनका विश्लेषण कर रही है। प्रगतिशील रचनात्मक साहित्य का निरन्तर विकास हो रहा है। वह मानव-जीवन की स्थूल आवश्यकताओं के साथ-साथ उसकी मानसिक आकांक्षाओं की निरन्तर अभिव्यक्ति करता जा रहा है। अर्थात् वह जीवन को अधिक स्वाभाविक और संश्लिष्ट रूप में देखने का प्रयत्न कर रहा है। मेरा तात्पर्य यह नहीं है कि पिछले प्रगतिशील रचनाकारों की अपेक्षा आज कोई बड़े रचनाकार पैदा हो गये हैं। मेरा तात्पर्य इतना ही है कि आज की विविध रचनाओं की सामूहिकता निश्चय ही

अधिक कलात्मकता से समाज-मानव की वहिरंतर भूख को उसकी अटूट आस्था के साथ व्यक्त करने में प्रयत्नशील है, वह मनुष्य को उसकी समस्त मनुष्यता के साथ चित्रित करना चाहती है। वह कवि और लेखक तथा उनके पात्रों के व्यक्तित्वों के कुछ अनिवार्य अधिकारों को छीनना नहीं चाहती वरन् उन्हें वह उनके सामाजिक दायित्यों के शैल-प्रसार में झीलों सा लहरा देती है। मानव का सहज सौंदर्य बोध (जो सहज रूप से सामाजिक और युगीन परिवेश में निर्मित होता है) अपने रूपों में फूटना चाहता है। नयी प्रगतिशील समीक्षा रचनात्मक प्रगतिशील साहित्य के इस विकास के साथ-साथ अपना विकास कर रही है।

प्रगतिशील लेखकों ने आज तक लेखक के व्यक्तितत्व पर या यों कहिए कि साहित्य-सृजन की व्यावहारिक समस्याओं पर अपेक्षाकृत कम ध्यान दिया है। वे बस साहित्य में सामाजिक यथार्थ देखना चाहते थे। किन्तु वह सामाजिक यथार्थ साहित्य में जिस लेखक के माध्यम से व्यक्त होता है उस लेखक के व्यक्तितत्व का विश्लेषण गम्भीर रूप से नहीं हुआ यद्यपि इसका सूत्र शुक्ल जी के इस कथन में मिल जाता है—'काव्य का लक्ष्य सर्वभूत को आत्मभूत कराके अनुभव कराना ही है'। और शिवदान सिंह चौहान ने भी लेखक के व्यक्तितत्व से सम्बद्ध कुछ तत्त्वों का निर्देश किया है किन्तु उसे एक अत्यंत महत्वपूर्ण साधन मान कर उसके विविध रूपों की गम्भीर परीक्षा नहीं की। दूसरी ओर व्यक्तिवादी समीक्षकों ने लेखक के व्यक्तित्व पर जोर तो दिया किन्तु उसे उन्होंने सामाजिक जीवन से विच्छिन्न कर अहम् के घेरे में सीमित कर दिया। आज की नई प्रगतिशील समीक्षा लेखक के व्यक्तितत्व की वस्तुवादी व्याख्या कर रही है। लेखक का व्यक्तितत्व ही रचना की उत्कृष्टता, निकृष्टता का उत्तरदायी है। लेखक का व्यक्तितत्व सामाजिक परिवेश में बनता और विकसित होता है। सामाजिक जीवन के स्रोत से विच्छिन्न होकर उसका व्यक्तितत्व ठूंठ हो जाता है वह अपने ही घेरे में आबद्ध होकर अपने को खरोंच-खरोंच कर रचना करने लगता है। सामाजिक जीवन के स्रोत से संबद्ध लेखक का व्यक्तितत्व निरंतर विकास करता है और वह निरंतर अपने माध्यम से नवीन और व्यापक जन-जीवन को चित्रित कर उच्चतर साहित्य की सृष्टि करता है। व्यक्तिवादियों की यह घोषणा कि साहित्यकार की प्रतिभा ही ऊँचा

साहित्य निर्मित करती है गलत है। सामाजिक जीवन को व्यक्तित्व से विच्छिन्न करने के लिए व्यक्तिवादियों का यह एक हथकण्डा है[१]।

नवीन प्रगतिशील समीक्षा नवीन साहित्य में अभिव्यक्त अनुभूति के विविध रूपों की परीक्षा के लिए सजग है। मनोवैज्ञानिक सत्यों को अधिक गहराई से पकड़ना और उन्हें रचनात्मक साहित्य में व्यक्त देखना चाहती है। वह अभिव्यक्त प्रणाली के अनेकानेक स्वरूपों–छन्द, भाषा, प्रतीक-विधान आदि–का विश्लेषण कर रही है। प्रयोगवाद की शैलीगत उपलब्धियों को स्वीकार करना चाहती है उस मात्रा में जिस मात्रा में प्रगतिवादी वस्तु के प्रकाशन में वे सहायक हो सकें। इस प्रकार इसका निरन्तर विकास हो रहा है। मार्क्सवाद विकास की व्याख्या है, सीमा नहीं। इसलिए उसे स्वीकार करने वाले समीक्षक सदैव आने वाले युगों के परिवेश में निर्मित होने वाले साहित्यों को जाँचने के मानदण्ड विकसित करते जायँगे।

विदेश की मुखापेक्षिता आज अधिकांश हिन्दी समीक्षा की प्रकृति बन गयी है। समीक्षा तो समीक्षा कुछ लोग रचना में भी विदेशी साहित्य का अनुकरण कर रहे हैं। मनोविश्लेषणवादी या उससे प्रभावित समीक्षा में स्वदेशी कुछ भी नहीं है। यह विदेशी होकर भी असामाजिक है। प्रयोगवाद का दार्शनिक संबंध इसी स्कूल से है। इस स्कूल के लोग सामाजिक यथार्थ के स्थान पर व्यक्ति की दुखती रंगों, टूटती आस्थाओं और छटपटाती पीड़ाओं को रूप देना साहित्य का उद्देश्य मानते रहे हैं। उनकी दृष्टि में आज के युग और समाज की यही देन है। यही उनका सत्य है और वृहत्तर मानव समुदाय इसी सत्य के सूत्र से परस्पर अनुस्यूत है। उनकी दृष्टि में समाजवादी देशों की स्थितियाँ व्यक्ति को मशीन समझकर उसकी स्वच्छन्दता का शोषण करती हैं। वे व्यक्ति के स्वाभाविक विकास में बाधक होती है और उससे एक सुनियोजित

---

[१] देखिये श्री नामवर सिंह की पुस्तक 'इतिहास और आलोचना' का 'समाज और साहित्य के बीच की कड़ी लेखक का व्यक्तित्व' शीर्षक निबन्ध तथा कल्पना में प्रकाशित श्री नेमिचंद जैन द्वारा लिखित 'बीज' और 'मेला आँचल' की आलोचना।

ढ़ंग का साहित्य लिखवाती है तथा उसकी अपनी अनुभूतियों का दमन करती हैं । मार्क्सवाद इतना ही अपराध नहीं करता, वह मनुष्य को झूठी आशा दिलाता है अर्थात् वह एक नवीन नियतिवाद की सृष्टि करता है । इन्हीं मूल विचारणाओं पर वैयक्तिक स्वतंत्रता चाहने वाले संप्रदायों की मान्यताएँ अवलम्बित हैं । व्यक्ति के मनोविश्लेषण को अपना दार्शनिक आधार मानकर प्रयोगवाद (इक्सपेरिमेन्टलिज्म) चला और उसने मार्क्सवादी दर्शन, सामाजिक यथार्थ और भविष्य के प्रति आस्था को अवास्तविक और अवांछनीय माना । प्रयोगवाद का स्वर अब ठण्डा पड़ गया है । मनोविश्लेषणवाद की भी संकीर्णता इन आलोचकों को दिखाई पड़ने लगी है । इसलिए उन्होंने व्यक्तिवादी स्वर को एक नया और अपेक्षाकृत परिमार्जित तथा व्यापक रूप देने की इधर चेष्टा की है । और ये साहित्य में नयी मर्यादा, व्यक्तिगत स्वतंत्रता और सामाजिक साहित्य, सांस्कृतिक स्वाधीनता और साहित्य, वर्तमान संकट और मानवीय मूल्यों का विघटन, आदि-आदि नामों से नवीन मानव मूल्यों (?) की स्थापना कर रहे हैं । जैसे मनोविश्लेषणवाद और प्रयोगवाद के मूल स्रोत पश्चिम के व्यक्तिवादी विचारक रहे हैं उसी प्रकार इस नवीन विकास का भी मूल स्रोत पश्चिम में ही है । आर्थर केस्टलर, डैविड, लिलिएन्थाल, ब्राउन, जेम्स वर्नहम आदि विद्वान् इस सांस्कृतिक स्वाधीनता के सिद्धान्तकार हैं । जून सन् १९५० में वर्लिन में 'सांस्कृतिक स्वाधीनता संघ' (कांग्रेस फार कल्चरल फ्रीडम) का संमेलन हुआ था जिसमें उपर्युक्त विद्वानों ने भाग लिया था और यह घोषणा की थी कि स्वाधीनता जनता को गुलाम बनाने वाले समाजवादी देशों पर आक्रमण कर रही है । स्वाधीनता का असली रूप न समाजवादी देशों में नहीं दिखाई पड़ता, व्यक्तिवादी स्वतंत्रता तो पूँजीवादी देशों में ही लक्षित होती है । इन बुद्धिजीवियों की यह स्वाधीनता की भावना निश्चय ही अमेरिका आदि पूँजीवादी देशों की संकीर्ण नैतिकता से प्रेरित है ।

डा० रामविलास शर्मा ने सांस्कृतिक स्वाधीनता के इस अभियान के भीतर छिपी हुई अमेरिकी नीति और मानव मूल्यों के नाम पर प्रचारित समाज-विरोधी नीयत को स्पष्ट किया है । उन्होंने उद्धरणों से यह सिद्ध किया है कि इन आन्दोलनकारियों का सारा आक्रोश सोवियत जैसे

समाजवादी देशों के प्रति है । संक्षेप में हम सांस्कृतिक स्वाधीनता वालों का पक्ष उपस्थित करें--

(१) आज की दुनियाँ में समाजवाद और पूँजीवाद जैसे शब्दों का परस्पर विरोध निरर्थक हो गया है । वर्तमान संसार की गति ऐसी है कि वर्गों का आपसी संघर्ष मिट गया है और उसके बदले वर्गों से परे एक अस्थिर संघर्ष कायम हो गया है[1] ।

(२) समाजवाद और पूँजीवाद समस्या के सस्ते समाधान हैं । असली समाधान है स्वाधीनता । किन्तु इस संबंध में दो बातें विचारणीय हैं । एक तो यह की स्वाधीनता की कोई रूपरेखा स्पष्ट नहीं । दूसरे यह कि सिद्धांत रूप से पूँजीवाद और समाजवाद दोनों को सस्ता समाधान मानते हुए भी ये सोवियत संघ को विनाशक और अमेरिका को रक्षक मानते हैं । ये सोवियतसंघ के बने हुए अणुबमों के खिलाफ हैं और अमेरिकी बमों के पक्ष में । जेम्स वर्नहम का यह मत है[2] ।

(३) मार्क्सवाद एक रहस्य है । प्रगतिवाद का वास्तविक संबंध मार्क्सवाद से नहीं है । "आधुनिकतम वैज्ञानिक चिन्तन का सुझाव इस मत की ओर अधिक है कि प्रगति की मर्यादा मनुष्य की आन्तरिक मर्यादा है । गिन्सवर्ग ने बड़ी कुशलता से पिछली तीन शताब्दियों की वास्तविक प्रगति और उसकी व्याख्या करने वाले प्रगति सिद्धांतों का पर्यवेक्षण करके यह निर्धारित किया है कि विवेक पर आधारित न्याय के प्रति मानववादी आग्रह ही प्रगति की मूल प्रेरणा है और एक विवेकवादी सामाजिक नैतिकता ही उसकी मूल्य मर्यादा हो सकती है । वह यह भी मानता है कि इस विवेकवादी नैतिकता में सभी के लिए कोई

---

[1] But in fact, recent developments have abolished the static trench-war fare between the classes and have transformed it into a fluid war of movement.

[2] I am against those bombs, now stored or to be stored later in Siberia or the Caucasus, which are designed for destruction of Paris, London, Rome, Brussels, Stockhalm, New Yark, Chicago, Berlin and of western civilization generally, But I am—yesterday and today at any rate—for those bombs made in Los Alamas, Handford and oak Ridge......American deserts.

यांत्रिक अभिनियम या सभी के लिए एकसी पोशक नहीं होती[१] । इसमें मानवता के विभिन्न आयामों के पूर्णतम उदय (सर्वोदय) की सुविधा है । प्रगति की ओर मनुष्य को उन्मुख करने वाली इस वृत्ति को विभिन्न विचारकों ने विभिन्न नाम दिए हैं । गिन्सवर्ग इसे विवेकवादी नैतिकता कहता है, अधिकांश ईसाई–चिन्तक (चाहे वे कैथोलिक हों, प्रोटेस्टेन्ट हों या अस्तित्ववादी) इसको ईसाई संज्ञा देते हैं, गांधी विनोबा इसे सर्वोदय वृत्ति कहते हैं, अरविन्द इसे मनुष्य की भविष्यत् मुखी चेतना कहते है[२] ।"

मार्क्सवाद एक भाग्यवाद है क्योंकि यह भविष्य के किसी अदृश्य वर्ग-हीन समाज की स्थापना के नाम पर मानववादी मूल्यों का तिरस्कार करता है । इसलिए विवेकवादी सामाजिक नैतिकता (?) भविष्य के सहारे न बैठकर भविष्य के स्वप्नों को इसी क्षण आचरण और जीवन-पद्धति में प्रतिष्ठित करने का उद्योग करती है । मार्क्सवाद भाग्यवादी रुग्ण दृष्टिकोण है, प्रगतिशील दृष्टिकोण नहीं । "वर्डेन इसकी नई व्याख्या देता है । वह इसको पलायन वृत्ति मानता है जो वर्तमान की कायरता और निष्क्रियता की क्षतिपूर्ति भविष्य के कल्पित स्वप्न में करती है[३] ।" तात्पर्य यह है कि यह नयी विचारधारा मार्क्सवाद की कुछ थोड़ी सी ऐतिहासिक महत्ता दिखाकर हर प्रकार से उसे बेइज्जत करने पर तुली है और अनेक थोथे तर्कों की आजमाइश कर रही है । श्री रामविलास शर्मा ने इस विवेकवादी सामाजिक नैतिकता के प्रवर्तकों और अनुयाइयों की नीयत का पर्दाफाश उनके स्वयं के अन्तर्विरोधों को दिखला कर दिया है । "भारती को प्रगतिशील शब्द मार्क्सवादी का ही रूपान्तर मालूम होता है, इसलिए इस दूषित शब्द से भी वह सख्त नाराज हैं । वह प्रेमचन्द की इस उक्ति को दोहराते नहीं थकते कि प्रगतिशील-साहित्य यह नाम ही गलत है । लेकिन सांस्कृतिक स्वाधीनता का अमरीकी संस्करण प्रगतिशील है यह उन्हें कहने में संकोच नही है । समाजवाद के लिए जो लोग कल्पित स्वाधीनता की कल्पित बलि देते हैं उन्हें

---

[१] आइडिया आव प्रोग्रेस, मारिस गिन्सबर्ग ।

[२] साहित्य की नई मर्यादा, आलोचना डा० धर्मवीर भारती ।

[३] वही ।

सावधान करते हुए भारती कहते हैं 'किन्तु यह भाग्यवादी रुग्ण दृष्टिकोण है प्रगतिशील स्वस्थ दृष्टिकोण नहीं।' तात्पर्य यह कि तुम प्रगतिशील-का भेद करो तो गलत, हम करें तो ठीक[१]।" इसी प्रकार शर्मा जी ने समाजवाद को भाग्यवाद कहने वाले इन विवेकवादियों को रूस, चीन आदि जैसे समाजवादी देशों के नव निर्माण की ओर आँख खोल कर देखने की सलाह दी है और भारतवर्ष के समाजवादोन्मुख रुख की ओर भी संकेत किया है।

ये नये विवेकवादी मनोविश्लेषणवाद की संकीर्णताओं की ओर भी इशारा करते हैं। हमें ऐसा लगता है कि इनके मस्तिष्क में समाजवाद का आतंक अधिक छा गया है। इसलिए ये लोग इससे जितना भागना चाहते हैं और इसे जितना घृणित सिद्ध करना चाहते हैं उतना उसके स्थान पर नवीन निर्माण और विकास की कोई सुलझी हुई योजना रखना नही। इनके समस्त बिचारों को पढ़ लेने पर ऐसा आभास होता है कि ये बहुत बड़ी बात कह रहे हैं किन्तु क्या कह रहे है कुछ समझ में नहीं आता। इनकी शब्दावली में सांस्कृतिक, साहित्यिक, सामाजिक और न जाने क्या-क्या की ध्वनि बजती है किन्तु इसके भीतर-भीतर खोंखलेपन के सिवा कुछ नजर नहीं आता। ईसा, गौतम, भक्तिकालीन प्रभु, अरविंद, गाँधी, विनोबा, पश्चिमी व्यक्तिवादी विचारकों और साहित्यिकों की चिन्ता-सरणियों और पदावलियों को लेकर ये नवीन मानवता का एक आतंक खड़ा कर रहे हैं और समस्त पिछली वैज्ञानिक विचारधाराओं और भौतिकवादी परिस्थितियों को मानव मूल्यों के विघटन के लिए उत्तरदायी मानते हैं। जो भी हो हिन्दी के क्षेत्र में कुछ लेखों और आलोचना-पत्रिका के माध्यम से इस प्रकार की एक आवाज विदेशी व्यक्तिगत स्वतंत्रतावादियों की आवाज दुहरा रही है। अभी इस विचारधारा का कोई स्वरूप स्पष्ट नहीं हुआ है और न सर्जनात्मक और समीक्षात्मक साहित्य के निर्माण और उनकी मान्यताओं के लिए कोई विशेष प्रेरणा मिल सकी है (कुछ व्यक्ति हैं जो इस प्रकार की आजमाइश साहित्य के दोनों पक्षों में कर रहे हैं) इसलिए विस्तार से इसके विषय में कुछ कहना संभव नहीं है। अभी तो यह एक नकारात्मक सिद्धांत ही लग

---

[१] सांस्कृतिक स्वाधीनता और साहित्य, नयापथ, डा० रामविलास शर्मा।

रहा है। यदि कुछ स्वीकारात्मक है तो बड़ा ही अस्पष्ट और देखने में धूएँ सा ऊर्ध्वमुखी, प्रभुमुखी पर निःसत्व बिखरा हुआ।

चाहे रचना हो चाहे समीक्षा वह सामाजिकता का पक्ष छोड़कर जी नहीं सकती। और सामाजिकता का स्वरूप भी स्पष्ट होना चाहिए। मानवतावादी स्वच्छन्दता की आड़ में गोलमटोल बात करने से बात बनती नहीं। हिन्दी का रचनात्मक और आलोचनात्मक साहित्य निरन्तर असामाजिक और कलावादी मान्यताओं के अवरोधों से लड़ता सामाजिक भाव धारा और चेतना के साथ विकसित होता आया है। आज भी उसका विकास इसी रास्ते से होगा। प्रगतिशील आलोचना सामाजिकता के सभी स्वस्थ पक्षों का उत्तरोत्तर विकास करते हुए आगे बढ़ती है। यदि वह साम्प्रदायिक आग्रहों और विदेश की मुखापेक्षिता को छोड़कर स्वदेशी परिस्थितियों और परम्पराओं को आधार बनाकर आगे बढ़ती गयी तथा अन्य उपलब्धियों को उदार किन्तु विवेकशील दृष्टि से अपनाती गयी तो भविष्य उसका है। यह सत्य है कि नई समीक्षा में कोई बड़ा व्यक्तित्व नहीं दिखाई पड़ रहा है किन्तु बड़े व्यक्तित्व की पूर्ति छोटे-छोटे किन्तु प्रतिभासम्पन्न व्यक्तित्वों की सामूहिक शक्ति करेगी। बड़े व्यक्तित्वों के दिखाई न पड़ने से समीक्षा का उच्चतम उत्कर्ष भले ही न दिखाई पड़े किन्तु उसकी धारा सतत प्रवाहमान रहेगी। आचार्य शुक्ल जैसे बड़े व्यक्तित्व के बाद उनसा कोई व्यक्तित्व फिर दिखाई नहीं पड़ा किन्तु यह कहना भूल है कि उनके बाद हिन्दी समीक्षा आगे नहीं बढ़ी है। यह अवश्य है कि वैसे बड़े व्यक्तित्व को पाकर आलोचना की विकासमानधारा अत्यंत उन्नत और समृद्ध हो उठेगी।

पुस्तकों और पत्रिकाओंकी अनुक्रमणिका

पुस्तक	लेखक	पृष्ठ
प्रकृति और काव्य (संस्कृत खंड)	रघुवंश	४५८
प्रगतिवाद	शिवदान सिंह चौहान	१९४,३३१,३३७, ३३९,३४४
प्रगतिवाद	धर्मवीर भारती	४५७
प्रगतिवाद की रूपरेखा	शिवचंद्र	४५७
प्रगतिशील साहित्य की समस्याएँ	रामविलास शर्मा	३५८
प्रतिष्ठान	शान्तिप्रिय द्विवेदी	२६८,२६९,२७०, २७२,२७५,२७६
प्रसाद का काव्य	प्रेमशंकर	४५९
प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन	जगन्नाथ प्रसाद शर्मा	१५९
प्रेमचन्द	त्रिलोकी नारायण दीक्षित	४५९
प्रेमचन्द्र और गोर्की	शचीरानी गुर्टू	४५९
प्रेमचन्द की उपन्यास कला	जनार्दन प्रसाद झा	४५९
प्रिन्सिपल ऑफ क्रिटिसिज्म	आइ. ए. रिचार्ड्स	१३७
फाउन्डेशन ऑफ इण्डियन सिविक्स	पुणताम्बेकर	१४
बिहारी	विश्वनाथ प्रसाद मिश्र	१८२
बिहारी और देव	लाला भग ान दीन	७९,८०,८१
बिहारी की वाग्विभूति	विश्वनाथ प्रसाद मिश्र	१७०
बिहारी की सतसई	पद्मसिंह शर्मा	६६,६७,६९,७०
बीज	अमृत राय	४६१
भागवत् सम्प्रदाय	बलदेव उपाध्याय	४५४
भारतीय साहित्य की सांस्कृतिक रेखाएँ	परशुराम चतुर्वेदी	४५५
भारतीय साहित्य शास्त्र (प्रथम, द्वितीय)	बलदेव उपाध्याय	४५६
भारतेन्दु की कविता	बच्चन सिंह	४५९
भारतेन्दु ग्रन्थावली भाग—१	भारतेन्दु	२०,२१,२२
भारतेन्दु युगीन निबन्ध	शिवनाथ	४५९

प्रमुख सहायक ग्रन्थों की सूची

अशोक के फूल ··· ··· ··· डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी

आचार्य रामचंद्र शुक्ल और हिंदी आलोचना डा० रामविलाश शर्मा

आदिकाल ··· ··· ··· डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी

आचार्य रामचंद्र शुक्ल ··· ··· श्री शिवनाथ, एम० ए०

आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ ··· श्री नामवर सिंह

आधुनिक समीक्षा ··· ··· डा० देवराज

आधुनिक हिंदी नाटक ··· ··· डा० नगेंद्र

इन्ट्रोडक्शन टु फिलासफी ··· ··· पैट्रिक

इल्यूजन एण्ड रियलिटी ··· ··· काडवेल

कहानी का रचना विधान ··· ··· डा० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा

कवि और रत्नाकर ··· ··· पं० कृष्ण शंकर शुक्ल

केशव की काव्य कला ··· ··· ,, ,,

काव्य में रहस्यवाद ··· ··· आचार्य रामचंद्र शुक्ल

कालिदास की निरंकुशता ··· ··· आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी

केशवदास ··· ··· ··· पं० चंद्रवली पांडेय

काव्य में अभिव्यंजनावाद ··· ··· श्री लक्ष्मी नारायण सुधांसु

काव्य कला तथा अन्य निबन्ध ··· श्री जयशंकर प्रसाद

गद्य-पथ ··· ··· ··· श्री सुमित्रा नंदन पन्त

गाइड टु माडर्न थाट ··· ··· श्री जोड

गोस्वामी तुलसीदास ··· ··· आचार्य रामचंद्र शुक्ल

घनानंद ··· ··· ··· पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र

चिंतामणि ··· ··· ··· आचार्य रामचंद्र शुक्ल

जायसी ग्रंथावली ··· ··· ,, ,,

ज्योति विहग ··· ··· ··· पं० शांतिप्रिय द्विवेदी

तुलसीदास ··· ··· ··· श्री चंद्रवली पांडेय

त्रिशंकु ··· ··· ··· श्री अज्ञेय

देव और उनकी कविता ··· ··· डा० नगेंद्र

देव और विहारी ··· ··· पं० कृष्ण विहारी मिश्र

दृष्टिकोण ... ... श्री नलिन विलोचन शर्मा

नया साहित्य नये प्रश्न ... ... श्री नंददुलारे वाजपेयी

नाट्य शास्त्र ... ... श्री भरत मुनि

निराला ... ... डा० रामविलास शर्मा

भारतेंदु ग्रंथावली ... ... ,, ,,

भारतेंदु युग ... ... ,, ,,

भूषण ... ... पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र

मतिराम ग्रंथावली ... ... पं० कृष्ण विहारी मिश्र

महादेवी का विवेचनात्मक गद्य ... ,, ,,

महादेवी वर्मा ... ... श्री विश्वम्भर मानव

महाकवि सूरदास ... ... पं० नंददुलारे वाजपेयी

महावीर प्रसाद द्विवेदी और उनका युग ... डा० उदयभानु

पल्लव ... ... श्री सुमित्रा नंदन पन्त

प्रगतिवाद ... ... श्री शिवदान सिंह चौहान

प्रगतिशील साहित्य की समस्याएँ ... डा० रामविलास शर्मा

प्रबंध पद्म ... ... पं० सूर्यकांत त्रिपाठी निराला

प्रबंध प्रतिभा ... ... ,, ,,

प्रिंसिपुल्य आव लिटरैरी क्रिटसिज्म ... श्री आइ० ए० रिचार्ड्स

रस मीमांसा ... ... आचार्य रामचंद्र शुक्ल

रोमांटिक साहित्य शास्त्र ... ... डा० देवराज उपाध्याय

वांग्मय विमर्श ... ... पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र

विहारी की वाग्विभूति ... ... ,, ,,

विहारी और देव ... ... लाला भगवानदीन

बिहारी सतसई ... ... पं० पद्म सिंह शर्मा

विक्रमांक देव चरित चर्चा ... ... आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी

विचार और अनुभूति ... ... डा० नगेंद्र

विवेचना ... ... श्री इलाचंद जोशी

विश्व साहित्य ... ... श्री पदुमलाल पुन्नालाल वख्शी

संतुलन ... ... श्री प्रभाकर माचवे

संस्कृति और साहित्य ... ... डा० रामविलास शर्मा

साकेत एक अध्ययन ... ... डा० नगेंद्र

सामयिकी ··· ··· ··· पं० शांतिप्रिय द्विवेदी
साहित्य ··· ··· ··· श्री रवींद्रनाथ टैगोर
साहित्य का साथी ··· ··· डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी
साहित्य की परख ··· ··· श्री शिवदान सिंह चौहान
साहित्य समालोचना ··· ··· डा० रामकुमार वर्मा
साहित्य चिन्ता ··· ··· ··· डा० देवराज
साहित्यालोचन ··· ··· ··· बाबू श्यामसुंदर दास
साहित्य सर्जना ··· ··· ··· श्री इलाचंद जोशी
सुभद्रानंदन पन्त ··· ··· ··· डा० नगेंद्र
सिद्धान्त और अध्ययन ··· ··· बाबू गुलाब राय
हिन्दी कवि चर्चा ··· ··· श्री चंद्रवली पांडेय
हिन्दी साहित्य ··· ··· ··· बाबू श्यामसुंदर दास
हिन्दी काव्य शास्त्र का इतिहास ··· डा० भगीरथ मिश्र
हिन्दी गद्य के युग निर्माता ··· ··· डा० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा
हिन्दी गद्य शैली का विकास ··· ··· ,, ,,
हिन्दी नवरत्न ··· ··· ··· मिश्रबंधु
हिन्दी साहित्य ··· ··· ··· डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी
हिन्दी साहित्य का आदिकाल ··· ,, ,,
हिन्दी साहित्य की भूमिका ··· ··· ,, ,,
हिन्दी साहित्य का इतिहास ··· ··· आचार्य रामचंद्र शुक्ल
हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास डा० रामकुमार वर्मा
हिन्दी साहित्य बीसवीं शताब्दी ··· पं० नंददुलारे वाजपेयी

———